महामनस्वी आचार्य श्री कालूगणी की जन्म-शताब्दी
के उपलक्ष मे

संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा

दिशा-निर्देश

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

सम्पादक-मण्डल

मुनि श्री चन्दनमल मुनि श्री नथमल

मुनि श्री छत्रमल्ल मुनि श्री बुद्धमल्ल

डॉ० नथमल टाटिया श्रीचन्द रामपुरिया

पं० दलसुख भाई मालवणिया

सम्पादक

मुनि श्री दुलहराज

डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम० ए० (त्रय), पी-एच० डी०
भूतपूर्व प्राध्यापक
प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

डॉ० प्रेमसुमन जैन
सहायक प्रोफेसर—
प्राकृत-संस्कृत विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय

प्रकाशक

श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति
छापर (राजस्थान)

प्रबन्ध सपादक
मोतीलाल नाहटा
प्रधान मन्त्री ·
श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति,
छापर (राजस्थान)

प्रथम सस्करण
आचार्य श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी दिवस
फाल्गुन शुक्ला २, स० २०३३
[२० फरवरी, १९७७]

मूल्य
पैंतालीस रुपये

मुद्रक मॉडर्न प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्रकाशकीय

तेरापथ का उद्भव एक क्रान्तिपूर्ण इतिहास की कड़ियो से जुडा है। इसके आविर्भावक महान् लौहपुरुष आचार्य भिक्षु एक क्रान्ति-द्रष्टा साधक थे, जिन्होने अध्यात्म-जगत् मे अद्भुत क्रान्ति की। उन द्वारा उप्त क्रान्ति-वीज से अकुरित, सवर्द्धित, पल्लवित एव पुष्पित तेरापथ का महान् वटवृक्ष सतत विकास पाता गया, जिसकी फलान्विति आज अनेक रूपो मे दृष्टिगोचर है।

नूतन और पुरातन की भूल-भुलैया मे न पड सत्य और यथार्थ का अवलम्बन करते हुए अग्रसर होते रहना तेरापथ का मूल मत्र है। यही कारण है कि तेरापथ मे समय-समय पर जव जैसे अपेक्षित हुए, विकास के नये-नये उन्मेष आते गए, सवर्द्धन, उन्नयन और विकास होता गया। सयम और श्रुत दोनो दृष्टियो से तेरापथ एक उत्कर्षशील धर्म-सघ है। आचार्य भिक्षु के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक दृष्टियो से इसकी सतत अभिवृद्धि की।

जैन धर्म आचार-प्रधान धर्म है। शुद्ध आचार-सवाहकता जैन श्रमण का जीवन-सत्त्व है। आचार के साथ श्रुत शास्त्रज्ञान विद्या का भी अपना महत्त्व है क्योकि उससे आचार को सवल वैचारिक पृष्ठभूमि प्राप्त होती है।

तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी ने अपने आचार-समुन्नत अन्तेवासियो को अधिकाधिक श्रुत-समुन्नत करने का अपने शासनकाल मे अत्यधिक प्रयत्न किया। उसी के अन्तर्गत सघ मे हुए सस्कृत विद्या, प्राकृत भाषा आदि के गभीर अध्ययन का पक्ष आता है। आचार्य श्री कालूगणी चाहते थे, उनके साधु-सघ मे सस्कृत विद्या का भरपूर प्रसार हो, क्योकि इससे शास्त्र-परिशीलन मे विशेष आनुकूल्य होगा। आचार्य श्री कालूगणी परम दृढ निश्चयी थे, उसी का यह परिणाम हुआ कि तेरापथ मे सस्कृत के अनेक पारगामी विद्वान् साधु-साध्वी तैयार हुए। इतना ही नही, सस्कृत और प्राकृत मे अभिनव व्याकरण तक लिखे गए। प्रात स्मरणीय आचार्य श्री कालूगणी द्वारा सचालित यह महान् प्रयास उनके उत्तराधिकारी महामहिम आचार्य श्री तुलसी द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा।

यह बहुत सुन्दर हुआ कि परमाराध्य आचार्य श्री की प्रेरणा और मुनि श्री नथमलजी के मार्ग-दर्शन से एक इस कोटि के स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का 'समिति' द्वारा निश्चय किया गया, जो आचार्य श्री कालूगणी के विद्या-जीवन से अनन्य-रूपेण सम्बद्ध व्याकरण आदि विषयो पर आधृत हो। उसका साकार रूप प्रस्तुत ग्रन्थ है।

हम इसे आचार्य प्रवर तथा मुनि श्री नथमल जी के आशीर्वाद का ही फल मानते है कि इस कोटि के स्मृति-ग्रथ का दु साध्य कार्य इतने अल्प समय मे सपन्न हो सका है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे प्राच्य विद्या के अध्येता मुनि श्री दुलहराज जी, प्राकृत जैन शोध सस्थान, वैशाली (विहार) के भूतपूर्व प्राध्यापक डॉ० छगनलाल जी शास्त्री तथा उदयपुर विश्वविद्यालय के प्राकृत के सहायक प्रोफेसर डॉ० प्रेम सुमन जी जैन ने वडी लगन के साथ श्रम किया है। इसके लिए समिति उनका हृदय से आभार मानती है। ये तीनो ही विद्वान् सस्कृत-प्राकृत क्षेत्र के सुप्रसिद्ध सेवी है। इनके सपर्क व प्रयास का ही यह परिणाम है कि वहुत कम समय मे इतनी उपादेय सामग्री आज विद्वानो के समक्ष उपस्थित की जा सकी है।

सम्पादक मडल के आदरास्पद मुनिजनो एव सम्माननीय सदस्यो के भी हम आभारी हैं, जिनका सवल व मार्गदर्शन हमे सहज प्राप्त रहा है।

स्मृति ग्रन्थ के लिए जिन विद्वानो ने अपने शोधपूर्ण निवन्ध प्रेपित कर इसे समृद्ध वनाया है, उनके प्रति हम हृदय मे कृतज्ञ है।

साहित्य प्रकाशन सम्वन्धी कार्य के सम्यक् निर्वाह हेतु समारोह समिति के अन्तर्गत एक साहित्य समिति परिगठित की गई थी। साहित्य समिति के सभी सदस्यो का मुझे हार्दिक सहयोग प्राप्त रहा, जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

समिति की साहित्यिक योजना तथा कार्यों मे हमारे सम्माननीय सदस्य, जैन विश्व भारती, लाडनू के कुलपति श्री श्रीचद जी रामपुरिया का प्रारम्भ से लेकर प्रकाशन की अन्तिम वेला तक जो सहयोग और श्रम प्राप्त हुआ, वही आज फलीभूत होकर हमारी इस योजना को सफल वना पाया है। आदरणीय श्री रामपुरिया जी की सेवाओ के लिए सदा-सदा हमारी समिति कृतज्ञ रहेगी। प्रमुख समाज सेवी श्री मानिकचन्द जी सेठिया, श्री सतोपचन्द जी वरडिया एव श्री गोपीचन्द जी चोपडा का समय-समय पर जो सत्परामर्श एव मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा, उसके लिए हम उनके भी हृदय से आभारी हैं।

समारोह समिति के सम्माननीय अध्यक्ष श्रीमान् मोतीलालजी कोठारी, उपाध्यक्ष श्रीमान् भीखमचदजी वैद, जिनके महत्त्वपूर्ण, उपयोगी सुझाव मुझे वरावर मिलते रहे, का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। निरन्तर यन्त्रवत् कार्यरत श्रीमान्

मानिकचदजी चोरडिया का आभार मानना मै अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनका प्रस्तुत कार्य मे मुझे हर समय साथ मिलता रहा। समारोह समिति के सभी सदस्यो को मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, जिनकी सद्भावना, सहयोग तथा साहचर्य से मैं अपने कार्य मे गतिशील रह सका।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन-कार्य मे प० श्री शकरलालजी पारीक बी० ए० साहित्यरत्न, विज्ञानरत्न ने अपने अनवरत श्रम से जो स्तुत्य योग प्रदान किया, उसके लिए मैं अपना हार्दिक धन्यवाद देना नही भूल सकता।

आशा है, प्राच्य विद्या जगत् के अध्येता, अन्वेष्टा तथा जिज्ञासु प्रस्तुत ग्रन्थ से लाभान्वित होगे।

छापर
चूरू (राजस्थान)
वसत पचमी, स० २०३३

मोतीलाल नाहटा
प्रधान मन्त्री
श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति
छापर (राजस्थान)

सम्पादकीय

भाषा और भाव का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। भावो की सवाहकता मे भाषा का अपना एक ऐसा दायित्व है, जिसे अनन्य-साधारण कहा जा सकता है। विभिन्न भाषाओ की अपनी-अपनी क्षमताए होती हैं क्योकि शताब्दियो और सहस्राब्दियो के प्रयोगो के अनन्तर कोई एक भाषा परिनिष्ठित रूप प्राप्त करती है। इसे उस भाषा का शक्ति-अर्जनकाल अथवा क्षमता-सम्पादन का समय कहा जा सकता है। परिनिष्ठित, परिष्कृत तथा परिपक्व रूप प्राप्त भाषाओ मे संस्कृत का अपना अद्वितीय स्थान है। संस्कृत के शब्दो की कुछ ऐसी अनुपम क्षमता है कि गहनतम विषयो के निरूपण मे भी उसका अपना विशेष महत्त्व है। संस्कृत की इस कोटि की परिनिष्ठितता मे उसके अपने वैज्ञानिक एव परिपूर्ण व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि अत्यन्त कसे हुए व्याकरण के नियम भाषा को ससीम अवश्य बनाते है पर साथ ही साथ उसमे एक विशिष्ट शक्ति का आपादन भी करते है। संस्कृत का व्याकरण विश्व की भाषाओ के व्याकरणो मे अपनी इसी विशेषता के कारण अनुपम है।

संस्कृत भाषा के इतिहास का यह गौरवमय पृष्ठ है कि जैन परम्परा के विद्वानो, आचार्यो और सन्तो ने संस्कृत के पल्लवन और विकास मे बहुत बडा योगदान किया। जैन आगम-साहित्य की भाषा प्राकृत होते हुए भी उन्होने संस्कृत मे साहित्य के विविध अगो पर प्रचुर रचनाए की। अपने आगम-वाङ्मय की व्याख्या, विश्लेषण तथा विवेचन मे भी उन्होने सोत्साह संस्कृत भाषा का उपयोग किया। इससे जहाँ एक ओर उनकी विचार-सम्पदा विद्वद्भोग्य बनी, दूसरी ओर संस्कृत-साहित्य की भी असाधारण श्री-वृद्धि हुई। संस्कृत विद्या की निधि को आपूर्ण करने मे जैन-मनीषियो का बहुत बडा योगदान रहा है।

तेरापथ मे संस्कृत-प्राकृत की प्रगति

यह बडे हर्ष का विषय है कि संस्कृतविद्या, जिसकी आज देश मे चर्चा तो

बहुत चलती है पर क्रियात्मक रूप से जिसका पठन-पाठन दिनानुदिन क्षीण और क्षीणतर होता जा रहा है, का तेरापथ सघ मे आज भी उत्तरोत्तर विकासमान प्रचलन है। शताधिक साधु, साध्वियाँ सस्कृत मे पारगत हैं। वे केवल अध्ययन और अनुशीलन ही नही, विविध प्रकार के अभिनव साहित्य के निर्माण मे भी तत्पर और कुशल है। तेरापथ के वर्तमान अधिनायक युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन और मार्ग-दर्शन मे सस्कृतविद्या के अभिवर्धन-उन्नयन का यह क्रम सतत प्रगतिशील है।

तेरापथ मे हुए सस्कृतविद्या के विकास के इतिहास का पर्यवेक्षण करे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि परमाराध्य आचार्य श्री तुलसी के गुरुवर्य, तेरापथ के अष्टमाचार्य प्रात स्मरणीय श्री कालूगणी ने इसमे बहुत बडा कार्य किया। उन्होंने जीवन भर इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्न किया कि उनके धर्म-सघ मे सस्कृत विद्या के विशिष्ट अध्येता और वेत्ता साधु तैयार हो। आचार्य श्री कालूगणी पल्लवग्राही पाडित्य के पक्षपाती नही थे, वे ठोस तथा मूलग्राही ज्ञान को महत्त्व देते थे। इसी लिए सस्कृत के अध्ययन मे उनका व्याकरण के पठन पर बहुत जोर था। नि सन्देह यह एक अनुकरणीय तथ्य है कि उन्होने प्रौढावस्था मे स्वय व्याकरण का गभीर अध्ययन किया एव अपने अन्तेवासी साधु-साध्वियो को इस ओर प्रेरित किया। व्याकरण शब्दो के शुद्ध प्रयोग की शिक्षा देता है। प्रयोग के लिए प्रयोक्ता के पास शब्दो का बहुत अच्छा सग्रह होना चाहिए। आचार्य श्री कालूगणी ने इसका अनुभव किया और कोश के अध्ययन तथा कठस्थीकरण का विशेष क्रम उन्होने चालू किया। फलत अनेक साधु-साध्वियो ने आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित अभिधान-चिन्तामणि आदि कोषो को कठाग्र कर लिया। सस्कृत व्याकरण के साथ-साथ प्राकृत व्याकरण के अध्ययन पर भी आचार्य श्री कालूगणी ने बल दिया। आचार्य श्री कालूगणी का शासनकाल तेरापथ मे वास्तव मे विद्या-विकास का काल कहा जा सकता है।

सस्कृत, प्राकृत, कोश आदि के ठोस अध्ययन के पश्चात् तेरापथ मे एक ऐसा काल शुरू होता है, जब मौलिक साहित्य, विशेषत लक्षण-ग्रन्थो का सर्जन चालू हुआ। उसके अन्तर्गत सृष्ट ग्रन्थो मे मुनि श्री चौथमलजी द्वारा रचित भिक्षु-शब्दानुशासन का अपना अनन्य स्थान है। मुनि श्री चौथमलजी ने देश मे प्रचलित, अप्रचलित अनेक व्याकरणो का गभीर परिशीलन किया तथा सरलतम, कोमलतम शैली मे इसकी रचना की। इस प्रसग पर आशुकविरत्न, आयुर्वेदाचार्य प० रघुनन्दन शर्मा (अलीगढ, उत्तरप्रदेश) का नाम बडे आदर के साथ स्मरणीय है, जो मुनि श्री के इस व्याकरण-प्रणयन के ऐतिहासिक कार्य मे अनन्य सहयोगी रहे तथा इस शब्दानुशासन पर बृहद् वृत्ति की रचना भी उन्होने की।

भिक्षुशब्दानुशासन लिगानुशासन, उणादि, न्यायदर्पण आदि के साथ एक सर्वांगसम्पन्न व्याकरण है। तेरापथ मे इसका पठन-पाठन चालू हुआ। एक प्रकार

मे यह व्याकरण का एक अभिनव पीठ (New school of grammar) प्रतिष्ठित हुआ। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को सुसम्पादित रूप मे शीघ्र प्रकाशित करने की योजना है।

सस्कृत का व्याकरण अन्यान्य भाषाओ की तरह साधारणतया भाषा के शिक्षण या वाक्य-रचना-प्रकार-बोधन का मात्र माध्यम नही है। वह तो स्वय अपने आप मे एक सर्वथा परिपूर्ण शास्त्र का रूप लिए हुए है। तभी तो कभी उसके लिए यह जनश्रुति प्रचलित हुई 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणमधीयते' अर्थात् बारह वर्ष मे व्याकरण का अध्ययन पूर्ण होता है। कहने का आशय यह है कि सस्कृत व्याकरण मे निरन्तर विकास होता गया। टीका, व्याख्या, वृत्ति, वार्तिक, पजिका, फक्किका, प्रक्रिया आदि के रूप मे विविध प्रकार का साहित्य निर्मित होता रहा। मुनि श्री चौथमलजी ने भी अपने शब्दानुशासन की एक सक्षिप्त प्रक्रिया तैयार की, जिसका उन्होने अपने श्रद्धेय गुरुवर्य के नाम पर 'कालुकौमुदी' नाम रखा। यह कहना अतिरजन नही है कि आचार्य श्री कालूगणी के शासनकाल मे उनके अन्तेवासी मुनि श्री चौथमलजी द्वारा प्रणीत भिक्षुशब्दानुशासन सस्कृत के व्याकरण-वाड्मय को एक अप्रतिम देन है। भिक्षुशब्दानुशासन पर एक लघुवृत्ति की भी रचना हुई, जिसके लेखक भ्रातृद्वय श्री धनमुनि एव श्री चन्दन मुनि है। आचार्य श्री कालूगणी के समय मे और भी अनेक विषयो पर सस्कृत मे नूतन रचनाए हुई।

आचार्य श्री कालूगणी के दिवगमन के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी तेरापथ के वर्तमान सघाधिपति, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने सस्कृत विद्या के इस विकास को न केवल बनाए रखा वरन् उसे और अधिक गतिशील किया है। आचार्य श्री तुलसी को बचपन से ही सस्कृत से अनन्य अनुराग है। किशोरावस्था से ही उनको सस्कृत के सहस्रो श्लोक कण्ठस्थ हैं। वे व्याकरण, न्याय, काव्य, कोश आदि अनेक विषयो के मार्मिक अध्येता हैं। यह उनके द्वारा रचित जैनसिद्धान्त-दीपिका, भिक्षुन्यायकर्णिका, मनोनुशासन जैसे प्रौढ ग्रन्थो से प्रकट है। आचार्य-पद का उत्तरदायित्व अपने पर आने से पूर्व तो वे अपना अधिकाश समय शास्त्र-परिशीलन मे लगाते ही थे, अब भी आचार्य-पद के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वो का वहन करते हुए भी शास्त्र-पर्यवेक्षण मे वे समय देते है। उन्होने स्वय तो सस्कृत विद्या के अगोपागो का अत्यन्त मार्मिक अध्ययन कर अनेक विषयो मे पारगामिता प्राप्त की ही, अनेक साधुओ एव साध्वियो को भी तैयार किया। आज तेरापथ मे सस्कृत के इतने उच्चकोटि के जो विद्वान् दिखाई देते है, इसका बीज-वप्ता के रूप मे आचार्य श्री कालूगणी को तथा सिंचक और सवर्धक के रूप मे आचार्य श्री तुलसी को बहुत बडा श्रेय है।

आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल मे सस्कृत की तरह प्राकृत भाषा के अध्ययन पर भी बहुत जोर दिया गया।

एक प्रसग है वि० स० २०११ का चतुर्मास बम्बई मे था। पेनिस्लेविया (अमेरिका) यूनिवर्सिटी के सस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ० नॉरमन ब्राउन आचार्य श्री के पास आए। वे सस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकाड पडित थे। साधु-साध्वियो के सस्कृत अध्ययन से वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होने आचार्य श्री से प्रार्थना के स्वर मे कहा 'महाराज! सस्कृत मे बहुत कुछ सुना है। अब एक इच्छा है कि मैं भगवान् महावीर की भाषा प्राकृत मे कुछ सुनू।' आचार्य श्री ने उनकी तीव्र उत्कठा को देखा और मुनि नथमल जी को प्राकृत मे प्रवचन देने का निर्देश दिया। मुनि श्री ने लगभग बीस मिनट तक प्राकृत भाषा मे धाराप्रवाह रूप से बोलते हुए परिषद् को आश्चर्यचकित कर दिया। प्राकृत भाषा मे प्रवचन सुनते-सुनते प्राच्य विद्वान् ब्राउन हर्षविभोर हो उठे और उनकी आखो से हर्ष के आसू टपक पडे। उन्होने कहा 'आज मेरी चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। मैं कृतकृत्य हो गया।'

श्रुतधर आचार्य श्री तुलसी ने जैन आगमो के सपादन तथा विवेचन का कार्य अपने हाथ मे लिया। योजना बनी। आचार्य श्री वाचना-प्रमुख रहे और मुनि नथमल जी सपादक और विवेचक। उनके निर्देशन मे अनेक साधु-साध्वी इस कार्य मे जुटे। कार्य गतिशील हुआ और दो दशको के इस कार्य-काल मे अनेक आगम सुसपादित और विवेचित होकर जनता के सामने आए। विद्वद्वर्ग ने उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की और वे ग्रन्थ आगम सपादन के मेरुदड बन गए। इस योजना के अतर्गत भगवान् महावीर की पच्चीसवी निर्माण-शताब्दी पर ग्यारह अगो का सुसपादित सस्करण 'अगसुत्ताणि' तीन भाग के रूप मे प्रस्तुत हुआ। वह भी अपने-आप मे एक अमूल्य अर्घ्य था। आगम सपादन के कार्य ने अनेक साधु-साध्वियो को प्राकृत भाषा के अध्ययन की ओर अग्रसर किया। अनेक साधु-साध्वी इसमे निष्णात हुए, लेखक और वक्ता बने।

श्री चन्दन मुनि ने प्राकृत भाषा मे 'णीइधम्मसुत्तीओ', 'रयणवालकहा' तथा 'जयचरिअ' ये तीन ग्रन्थ लिखे। अन्यान्य साधु-साध्वियो ने भी प्राकृत मे स्फुट रचनाए की। इतना ही नही, प्राकृत के व्याकरण का भी नव सर्जन हुआ। प्रौढ विद्वान् एव चिन्तक मुनि श्री नथमल जी ने तुलसीमजरी के नाम से सिद्ध हेमशब्दानुशासन के अष्टम अध्याय के आधार पर एक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की, जो मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका पैशाची, अपभ्रश और आर्ष प्राकृत का एक सुन्दर और सुगम व्याकरण है।

सस्कृत व्याकरण के विकास की शृखला मे मुनि श्री सोहनलाल जी (चूरू) द्वारा रचित तुलसीप्रभा नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ से एक कडी और जुड जाती है। मुनि

श्री सोहनलालजी सिद्धहेमशब्दानुशासन के अच्छे पाठी थे। उन्होने वर्तमान सघ-नायक आचार्य श्री तुलसी के नाम पर सिद्धहेमशब्दानुशासन पर इस नवीन प्रक्रिया-ग्रथ की रचना की। मुनि श्री सोहनलालजी एक कविहृदय मनीषी थे। उन्होने व्याकरण जैसे नीरस तथा दुरूह विषय मे जो सरसता और मृदुता का अपा-दान किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार स्वनामधन्य आचार्य श्री कालूगणी से प्रारभ हुआ सस्कृत विद्या का अभियान निर्बाध गति से आगे वढता गया, प्रसार पाता गया। इसकी फल-निष्पत्ति का यथार्थ अकन विद्वानो को तब प्रतीत हुआ, जब आचार्य श्री तुलसी अपने अनेक श्रमण-श्रमणी-समुदाय सहित भारत मे सस्कृत के विशिष्ट केन्द्र पूना तथा वारा-णसी जैसे स्थानो मे गए। पूना मे भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टीट्यूट, डेक्कन कॉलेज तिलक विद्यापीठ, सस्कृत वाग्वर्धिनी सभा तथा वाराणसी मे वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय आदि सस्थानो मे अनेक कार्यक्रम आयोजित हुए, जिनमे आचार्य श्री के मेधावी अन्तेवासी मुनि नथमलजी के सस्कृत-भाषण तथा आशुकवित्व से वहा के विद्वान् आश्चर्यान्वित हो उठे। अनेक तटस्थ विद्वानो का तो यहा तक कहना रहा कि आचार्य तुलसी का धर्मसघ वास्तव मे सस्कृत विद्या का एक जगम विश्वविद्यालय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना

आचार्य श्री कालूगणी की जन्म-शताब्दी का प्रसग आया। उस सन्दर्भ मे कर-णीय कार्यो पर चिन्तन चला। साहित्य सर्जन तथा प्रकाशन का जब प्रश्न सामने आया तो आचार्यप्रवर की ओर से एक विशेष दिशा-सकेत इस प्रकार प्राप्त हुआ "आजकल अभिनन्दन ग्रन्थ तथा स्मृति ग्रन्थ तो वहुत अधिक निकल रहे हैं पर वे अधिकाशत व्यक्तिपरक या प्रशस्तिमूलक ही दृष्टिगोचर होते हैं, किसी महान् पुरुष की स्मृति का अर्थ मैं यह लेता हू कि उनके द्वारा जीवन मे जो महान् कार्य किये गए, उनमे से किसी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को लेकर उस पर ठोस और शोधपूर्ण सामग्री दी जाए, जो उस क्षेत्र मे कार्य करने वाले तथा अग्रसर होने वाले अनु-सन्धित्सु सुधी जनो के लिए एक प्रकाश-स्तभ का काम दे। आचार्य श्री कालूगणी के जीवन के अनेक ऐसे गरिमाशील पक्ष है, जिनसे आज भी हम प्रेरणा प्राप्त करते हुए अपने मे एक अभिनव शक्ति एव स्फूर्ति का सचार कर सकते हैं।

आचार्य श्री कालूगणी ने अपने जीवन मे अनेक महान् कार्य किए। अपने श्रमण-सघ मे सस्कृत, प्राकृत आदि प्राच्य विद्याओ के विकास मे जो सतत तत्परता और अध्यवसाय उन्होंने दिखाया, निश्चय ही वह स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है। उनके सतत कर्मठ और उद्यमशील जीवन की स्मृति आज भी हम लोगो मे एक नई चेतना का जागरण करती है। सस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, कोश आदि के गहन

अध्ययन की जो प्रेरणा उनसे समस्त साधु-साध्वियों को प्राप्त होती रही, वह निःसन्देह विद्या-पथ पर अग्रसर होते अध्येताओं के लिए एक सबल सबल और पावन पाथेय है। कितना अच्छा हो, आचार्य श्री कालूगणी के जीवन के इसी पक्ष को लेकर संस्कृत प्राकृत व्याकरण, भाषा-विज्ञान तथा कोश वाङ्मय पर एक अनुसंधानपूर्ण स्मृति-ग्रन्थ तैयार किया जाए।"

वास्तव में आचार्य श्री के इस दिशा-दर्शन में गंभीर चिन्तन अनुस्यूत था। इस विषय को लेकर मुनि श्री नथमल जी के सान्निध्य में परिचर्चाएं चलीं। मुनि श्री ने एतद्विषयक स्मृति-ग्रन्थ की महत्ता एवं उपयोगिता बताते हुए व्यक्त किया कि यदि ऐसा हो सका तो भारतीय विद्या (Indology) के क्षेत्र में एक महनीय कार्य होगा। यह एक ऐसा सन्दर्भ-ग्रन्थ बन जाएगा, जिसका अनुसन्धित्सु विद्वान् सोत्साह उपयोग करेंगे।

मुनि श्री के मार्ग-दर्शन में हमने स्मृति-ग्रन्थ की एक परिकल्पना की। संस्कृत, प्राकृत व्याकरण, भाषा-विज्ञान तथा कोश संबंधी विषयों का चयन किया। इस संबंध में विशेष रूप से यह चिन्तन रहा कि विभिन्न विशिष्ट विषयों पर उन-उन विशिष्ट विद्वानों से निबन्ध प्राप्त किए जाएं, जो उन विषयों के गंभीर अध्येता और गवेषयिता हैं। संस्कृत, प्राकृत आदि के क्षेत्र में कार्यरत रहने के कारण वैसे विद्वानों से हमारा निकट का परिचय एवं सम्पर्क रहा है। हमने इस ग्रन्थ के संबंध में लिखने हेतु उन्हें निवेदन किया। यद्यपि जो विषय निर्धारित किए गए, वे इतने गम्भीर और गवेष्य थे कि उन पर लिखने के लिए पर्याप्त समयापेक्षी अध्ययन की आवश्यकता थी पर फिर भी विद्वानों ने थोड़े समय में भी प्रचुर श्रम करके अपने शोधपूर्ण निबन्ध तैयार कर प्रेषित किए। हमारा प्रारम्भ से ही यह चिन्तन रहा है कि कलेवर में सामग्री की बहुलता चाहे न रहे किन्तु गुणात्मकदृष्ट्या उसमें उच्चता, गहनता तथा सूक्ष्मता हो। हमें संतोष है कि हमारा अभीप्सित सध रहा है तथा विश्वास है कि इन विषयों में गहन अध्ययन करने वालों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी प्रमाणित होगा।

विषय-वस्तु

भारतीय वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का महत्त्व सर्वोपरि रहा है। आचार्य पाणिनि एवं पतंजलि आदि मनीषियों ने संस्कृत व्याकरणशास्त्र की जिस परम्परा को स्थापित एवं पुष्ट किया था, उसका विकास जैन परम्परा के वैयाकरणों—जैनेन्द्र, शाकटायन, हेमचन्द्र, मलयगिरि आदि के द्वारा हुआ है। इन्होंने अपने-अपने समय की शब्द-सम्पत्ति का संस्कार करने में विशेष प्रयत्न किया है। जैन आचार्यों ने संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं लिखकर उन्हें सुगम और सुबोध बनाया है। इतना ही नहीं, अपितु प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों का परिमार्जन कर

उनमे शब्द, धातु, एव गणपाठो की वृद्धि भी की है। सस्कृत के जैन महाकाव्यो मे ऐसे अनेक नवीन शब्दो का प्रयोग भी जैन कवियो ने किया है, जो व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भिक निबन्ध इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर आधुनिक युग तक सस्कृत व्याकरण शास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करते हैं।

सस्कृत की भाति प्राकृत भाषा भी भारतीय चिन्तन की सवाहक रही है। प्राकृत भाषाओ के व्याकरण को प्रस्तुत करना अधिक कष्टसाध्य था क्योकि उसके प्रयोग मे विविधता बनी रही है। किन्तु जैनाचार्यो ने इस क्षेत्र मे भी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। लोक मे प्रचलित प्राकृत के अनेक शब्दो को व्याकरण की दृष्टि से वैकल्पिक रूपो के अन्तर्गत अनुशासित किया गया है। चण्ड, वररुचि, हेमचन्द्र, मार्कण्डेय आदि वैयाकरणो ने ईसा की दूसरी शताब्दी से लगातार १८ वी शताब्दी तक प्राकृत के व्याकरण लिखे हैं। इधर १९-२०वी शताब्दी मे भी कई विद्वानो ने प्राकृत भाषाओ का विवेचन व्याकरण की दृष्टि से किया है। होयेफर, वेबर, कौवेल, याकोबी, पिशेल, डोल्ची आदि पाश्चात्य विद्वानो ने प्राकृत व्याकरणशास्त्र को प्रकाश मे लाने का अथक परिश्रम किया है। भारतीय विद्वानो मे वैद्य, घाटगे, कत्रे, उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन, सुकुमार सेन, प० बेचरदास, मुनि नथमल आदि ने प्राकृत भाषा के अनुसन्धान को गतिशील बनाया है। इस तरह भगवान् महावीर के बाद आधुनिक युग तक प्राकृत शब्दशास्त्र पर जो कार्य हुआ है, उसका सक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इस ग्रन्थ के निबन्धो का विषय है।

प्राकृत-अपभ्रश भाषाओ का प्रभाव जन-जीवन पर निरन्तर पडता रहा है। अत भारत की प्राय सभी आधुनिक भाषाओ का अध्ययन बिना प्राकृत-अपभ्रश को जाने नही हो सकता। हमारा यह प्रयत्न था कि इस विषय पर विस्तृत और सोदाहरण सामग्री प्रस्तुत की जाए। किन्तु कुछ लेखकों की स्वीकृति के उपरान्त भी हमे उनके लेख नही मिल सके। अत ग्रन्थ का यह अश कुछ अधिक सबल नही हो सका। किन्तु प्राकृत-अपभ्रश का राजस्थानी भाषा पर कितना प्रभाव है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ के एक लेख से अच्छी तरह प्रतिपादित हो सका है। इससे हमे इस दिशा मे और अधिक चिन्तन करने की प्रेरणा मिलती है।

जैनाचार्यो ने सस्कृत-प्राकृत व्याकरण और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे ही नही, अपितु कोश-साहित्य के निर्माण मे भी अपूर्व श्रम किया है। आगमो मे कई एकार्थक शब्दो की सूचिया प्राप्त होती हैं। व्याख्या-साहित्य मे कई शब्दो की व्युत्पत्तिया दी गई हैं। इस तरह भारतीय वाड्मय मे कोश-निर्माण की परम्परा जैन-आचार्यो के ग्रन्थो से प्रारम्भ होती है। धनपाल एव हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-कोशो मे ऐसे शब्दो का सग्रह किया है, जो भारत के सास्कृतिक इतिहास के निर्माण मे आधार-शिला का काम कर सकते है। इन शब्दसग्रहो के द्वारा जनभाषाओ के कई स्वरूप

सुरक्षित रह सके हैं। इस परम्परा को आधुनिक युग मे जैन आचार्यों ने पल्लवित और पुष्ट किया है। अत जैनकोशसाहित्य की उपलब्धिया भारतीय वाङ्मय के अनुसधान के लिये अपरिहार्य है। सस्कृत, प्राकृत की भाति अपभ्रश-कोश के निर्माण की नितान्त आवश्यकता भी स्पष्ट है। प्रस्तुत ग्रन्थ के एतद् विषयक निबन्ध असदिग्धतया अपनी उपयोगिता रखते है।

केवल कोशग्रन्थो मे ही नही, अपितु अर्धमागधी व शौरसेनी साहित्य मे भी अनेक ऐसे विशिष्ट शब्दो का प्रयोग हुआ है, जो कोशो मे सगृहीत होने की अपेक्षा रखते है। सस्कृत के जैन महाकाव्यो की शब्दावली सस्कृत भाषा के शब्दभण्डार की वृद्धि करती है। जैनाचार्यों ने बोलचाल की भाषा के जिन शब्दो का साहित्य मे प्रयोग किया है, वे 'देशी' शब्द मे अभिहित होते है। जैन साहित्य मे प्रयुक्त देशी शब्द भारतीय साहित्य की बहुत बडी थाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के निबन्धो ने इस विषय को चिन्तन के क्षेत्र मे लाकर विद्वत्समाज को उपकृत किया है, अनुसन्धान की दिशाए उजागर की है। ग्रन्थ के अग्रेजी निबन्ध भी सस्कृत प्राकृत-व्याकरण-शास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करने मे सहायक हुए हैं। इस प्रकार ग्रन्थ के विद्वान् लेखको का अध्ययन व परिश्रम अवश्य ही भारतीय साहित्य के मनीषियो को प्रभावित व लाभान्वित करेगा, ऐसी आशा की जाती है।

आभार

इस ग्रन्थ के रूप मे जो कुछ हम उपस्थापित कर रहे है, वह प्राच्य विद्या के महान् उन्नायक, युगपुरुष आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा व कृपा का फल है। मुनि श्री नथमल जी के मार्ग-दर्शन के सहारे ही हम इस कार्य मे गतिशील रह सके। इन महासत्त्वसम्पन्न साधको के प्रति शाब्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन तो नितान्त उपचार होगा। हम श्रद्धाभिनत हो उन्हे प्रणमन करते है। ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल के विद्वानो का भी हम सादर आभार मानते है।

जिन सम्मान्य विद्वानो ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए अपने बहुमूल्य निबन्ध लिखे हैं उनके हम हृदय से आभारी है। श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति, छापर ने अन्यान्य साहित्यिक कृतियो के साथ साथ इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन का जो निर्णय लिया, वह वास्तव मे स्तुत्य है। आचार्य श्री कालूगणी जैसे महान् विद्योन्नायक, श्रद्धेय प्रज्ञापुरुष की इससे अधिक क्या स्मृति हो सकती है? जिस परम श्रुताराधक अलौकिक पुरुष ने अपने जीवन मे श्रुत का सम्यक् सप्रसार करते हुए उसके विविध अगोपागो को सबलता और सपन्नता दी, उन महापुरुष के प्रति ऐसी ही श्रद्धाञ्जलि सर्वाधिक समीचीन है।

ग्रन्थ का प्रकाशन भी अल्प समय मे सम्पन्न हुआ है। आशा है, ग्रन्थ की विषय-वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण से सुधीजन लाभान्वित होगे।

१ जनवरी १९७७
राजलदेसर (राजस्थान)

मुनि दुलहराज
छगनलाल शास्त्री
प्रेमसुमन जैन

प्रस्तुति

आचार्यवर श्री कालूगणी की स्मृति उस प्रकाशपुज की स्मृति है, जिसकी रश्मियो से असख्य लोगो का जीवन-पथ प्रकाशित हुआ है। उन्होने समग्र जीवन मे विद्या की आराधना की। उनकी आराधना केवल स्वमुखी नही थी, किन्तु उभय-मुखी थी। दूसरो के लिए भी उनका अनुदान वहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य-स्वभाव उनके ऋण को स्वीकारता है, जिनसे कुछ अनुदान मिलता है। हम सव आचार्यवर के ऋणी है। ऋणी आदमी उऋण होने का भी प्रयत्न करता है। आगम-वाणी है कि गुरु, माता-पिता और स्वामी के ऋण से उऋण होना सरल काम नही है। हम ऋण से उऋण हो सके या नही, यह चिता करणीय नही है। करणीय यह है कि हम उऋण होने का प्रयत्न करे। यह प्रयत्न ही सही दिशा का सूचन है।

आचार्यवर की जन्मशती पर चतुर्विध धर्म-सघ ने कृतज्ञतापूर्ण भाव से उनके चरणो मे विनम्र श्रद्धाजलि समर्पित करने का सकल्प किया है। उस सकल्प के विभिन्न रूपो मे एक रूप है यह स्मृति-ग्रन्थ। इस स्मृति-ग्रन्थ की परिकल्पना और प्रकल्पना चालू परिपाटी से भिन्न है। इसमे उनके जीवन के विषय मे विशद वर्णन नही है और विविध विपयो पर लेख आमन्त्रित नही किए गए है। यह ग्रथ पुस्तकालय का शोभा-ग्रन्थ न वने, किन्तु उपयोगी ग्रथ वने, इस दृष्टि से यह एक निश्चित सीमा मे वधा हुआ ग्रन्थ है। इसमे विपयो का विशेपीकरण है और इस विशेपीकरण के आधार पर ही इसमे लेख आमन्त्रित किए गए है। इस योजना से यह ग्रथ जैन परम्परा मे निर्मित व्याकरण और शब्दकोश का सदर्भ ग्रन्थ वन गया है।

आचार्यवर के जीवन-वृत्त का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। श्रद्धाञ्जलि और सस्मरण एक पुस्तक मे सकलित है। उनके शिष्यो तथा प्रशसको द्वारा उनकी प्रशस्ति मे लिखित सस्कृत काव्य—'काव्यकुसुमाजलि' के रूप मे एक पुस्तक मे सकलित है। ये तीनो ग्रन्थ स्मृति-ग्रन्थ से जुडे हुए नही है, किंतु स्वतन्त्र है। साधारण पाठको के लिए

इनकी उपयोगिता अधिक है और विद्या के क्षेत्र मे अनुसधान करने वालो के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता अधिक है। दोनो भिन्नक्षेत्रीय उपयोगिताओ को एक क्षेत्रीय न बनाकर उन्हे पृथक्-पृथक् नियोजित किया है। इससे स्मृतिग्रन्थ का आकार अवश्य छोटा हुआ है पर प्रकार छोटा नही हुआ है।

जैन आचार्यो ने प्राकृत और सस्कृत—दोनो भापाओ मे ग्रन्थो का प्रणयन किया है। जैन आगम प्राकृत भापा मे है। प्राकृत के व्याकरण और शब्दकोश की रचना मे भी जैन आचार्यो का योगदान है। आचार्य हेमचन्द्र का देशी नाममाला जैसा विरल ग्रन्थ उस योगदान की एक विशेप उपलब्धि है। प्राकृत का अध्ययन हिन्दी तथा प्रादेशिक भापाओ और वोलियो के अध्ययन के लिए आज भी वहुत महत्त्व-पूर्ण है। उसकी उपयोगिता भापाशास्त्रीय अध्ययन ने और अधिक वढा दी है। भारतीय सभ्यता, सस्कृति, इतिहास, तत्त्वज्ञान और विज्ञान की वहुमूल्य सामग्री प्राकृत ग्रन्थो मे उपलब्ध है। इस दृष्टि से प्राकृत भापा के विविध पहलुओ पर उपलब्ध मीमासा इस ग्रन्थ की गौरववृद्धि करने वाली ही नही है किन्तु अतीत के प्रयत्नो का मूल्याकन और वर्तमान की उपयोगिता का भी दिशा-निर्देश है।

सस्कृत का महत्त्व सर्वविदित है ही। उसमे वैदिक, जैन और वौद्ध तीनो परपराओ का देय है। जैन-आचार्यो ने सस्कृत के व्याकरण और शब्द-कोशो के निर्माण मे भी अपने प्रज्ञा-कौशल का परिचय दिया है। उसका सही मूल्याकन अभी शेप है।

मुझे प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ की सयोजना ने एक नई दिशा का उद्घाटन किया है। आचार्यवर कालूगणी की स्मृति इसका निमित्त वनी है। उनकी स्मृति उनकी मनीषा के अनुरूप हुई है, इससे हम सव वहुत प्रसन्न है।

अल्प समय मे इसकी सामग्री का चयन और उपलब्धि हुई है, इसमे सपादको की तत्परता परिलक्षित होती है।

छापर आचार्यवर की जन्मभूमि है। वहा के निवासी श्रावक-गण ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व लिया है। इस ग्रन्थ से शोध-विद्यार्थियो को पथदर्शन प्राप्त हो सकेगा।

नाहर भवन,
राजलदेसर
२०-१-७७

आचार्य तुलसी

अनुक्रम

आचार्य श्री कालूगणी
(१६ वर्ष की अवस्था मे। आचार्य श्री माणकगणी के ग्रुप फोटो से)

आचार्य श्री कालूगणी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

जन्मभूमि

गोपालपुरा की पहाडिया लाडणू, सुजानगढ, छापर, चाडवास और बीदासर के मध्य मे स्थित है। उनके पास एक ताल है, जो मीलो मे फैला हुआ है और वह काले हिरनो के लिए प्रसिद्ध है। उसमे विशाल मात्रा मे नमक का उत्पादन हो रहा है।

पहाडियो की शृखला मे आठ पहाडिया हैं। उनके नाम इस प्रकार है

१ काली डूगरी, २ विनायक डूगरी, ३ सुलेर की डूगरी, ४ भेसास की डूगरी, ५. देवी डूगरी, ६ कोढणी डूगरी, ७ चरला की डूगरी, ८ विमर की डूगरी।

महाभारत काल मे यह स्थान छापर के नाम से प्रसिद्ध था। आचार्य भारद्वाज (द्रोणाचार्य के पिता) आचार्यवास मे रहते थे। उस युग का आचार्यवास ही वर्तमान का चाडवास है।

द्रोणाचार्य आजीविका की खोज मे पूर्व की ओर जा रहे थे। पाडवो और कौरवो से सहसा मिलन हो गया। वे उनके गुरु बन गए। उन्होने राजकुमारो को धनुर्विद्या मे प्रशिक्षित कर दिया। धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने द्रोणाचार्य को गुरुदक्षिणा के रूप मे 'छापर' प्रदेश दिया। द्रोणाचार्य ने काली डूगरी के पास द्रोणपुर बसाया। छापर प्रदेश मे १४४० गाव थे। तीन मुख्यालय थे १ द्रोणपुर-छापर, २ लाडणू, ३ किरातावाटी।

द्रोणाचार्य के बाद इस प्रदेश पर शिशुपाल के पौत्र पवार डाहलिया का अधिकार हो गया। नागौर पर बागडियो का अधिकार था। डाहलियो (चन्देलो) और बागडियो मे विरोध उभर आया। बागडियो ने डाहलियो को परास्त कर छापर प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। वि० सं० ६३१ तक यह प्रदेश बागडियो के प्रभुत्व मे रहा।

श्रीमोर प्रदेश के राणा का नाम था मोहिल। उनके पिता का नाम था राणा सुरजन। पिता और पुत्र मे अनबन हो गई। मोहिल ने नये राज्य की खोज मे दो गुप्तचरो को भेजा। द्रोणपुर की समतल भूमि पर अधिकार करना सरल है, गुप्तचरो से यह सूचना पा मोहिल ने १७ हजार सैनिको के साथ द्रोणपुर पर अचानक आक्रमण कर दिया। बागडियो के पास ५ हजार सैनिक थे, वे लडाई मे पराजित हो गए। द्रोणपुर पर मोहिल का अधिकार हो गया। मोहिल का शासन होने पर उस प्रदेश का नाम मोहिलवाटी हो गया। वि० स० १५३१ तक मोहिलो ने द्रोणपुर पर शासन किया।

वि० सं० १५२३ मे राठौड नरेश जोधा ने मोहिलो के राज्य को हथिया लिया। ४-५ महीनो के बाद मोहिलो ने फिर उनसे छीन लिया। छुट-पुट लडाइया होती रही। आखिर वि० स० १५३१ मे राठौड बीदा ने उस पर अपना स्थायी अधिकार कर लिया।[1] पूज्य कालूगणी का जन्म हुआ, तब छापर बीकानेर राज्य की सीमा मे था।

जन्म

वि० स० १९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया का पुण्य दिन। शुभ मुहूर्त और शुभ वेला। एक शिशु का जन्म हुआ। पिता का नाम मूलचन्दजी और माता का नाम छोगाजी। ओसवाल वश और कोठारी जाति।

मूलचन्दजी पहले ढढेरू गाव मे रहते थे। वहा के ठाकुर से अनबन हो गई। इसलिए वे सं० १९१८ मे छापर मे बस गए। हो सकता है कि एक महान् आत्मा को जन्म देने के लिए उसके उपयुक्त भूमि का चुनाव किया हो। अज्ञात मे कुछ ऐसा घटित होता है कि ज्ञात घटना उसकी व्याख्या नही दे सकती।

नाम-रूप

जन्म-राशि के अनुसार शिशु का नाम शोभाचन्द रखा गया। उनके परिवार मे 'काला-भैरू' की मान्यता थी। इसलिए माता-पिता और परिवार के लोग उन्हे 'कालू' नाम से सबोधित करने लगे। उनका प्रसिद्ध नाम यही है। वह कालू नाम शैशव मे माता को तृप्ति देता था। मुनि-जीवन मे वह मघवागणी को तृप्ति देने लगा। आचार्य-जीवन मे यह नाम लाखो श्रद्धालुओ के लिए आस्था का केन्द्र बन गया। यह नाम तेरापथ के गौरव का प्रतीक है। शिशु का वर्ण श्याम, छरहरा बदन सुडौल आकृति और शरीर सर्वांग-सुन्दर था।

शैशव

शिशु कालू का जन्म हुआ, तब छोगाजी की अवस्था बत्तीस वर्ष की थी।

स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और श्रम की आच मे पका हुआ जीवन कालू के लिए वरदान हो रहा था। पर केवल वरदान या केवल अभिशाप विश्व-व्यवस्था के अनुकूल नही है। उसमे वरदान और अभिशाप दोनो एक साथ चलते है।

कालू तीन माह का हुआ, उसके पिता मूलचन्दजी का अचानक वि० स० १९३४ मे देहावसान हो गया। छोगाजी को इससे गहरा आघात लगा। पर कालू के मुख को देख-देख उस प्रचण्ड वज्रपात को झेलने मे समर्थ हो गई।

छोगांजी के पिता का नाम था नरसिंहदास लूणिया। उनके छ पुत्र और तीन पुत्रिया थी। छोगाजी उन सबसे छोटी थी। नरसिंहदासजी कोटासर मे रहते थे। वि० स० १९४० मे वे डूगरगढ मे बस गए। छोगाजी बहुधा अपने पीहर मे रहने लगी। वहा साधु-साध्वियो का सुयोग सहज सुलभ था। वे साधु-साध्वियो के पास जाती थी। कालू भी उनके साथ-साथ जाता था। उस शिशु के मन मे धर्म के प्रति अनुराग जागृत हो गया। भावी जीवन का बीज कुछ-कुछ अकुरित होने लगा। कालू मा का इकलौता बेटा था। मा की सारी ममता उसे प्राप्त थी। पति के देहावसान के बाद वह और सघन हो गई। छोगाजी के लिए इस नश्वर ससार मे वही सब कुछ था। इसलिए उसके लालन-पालन मे उनकी सारी शक्ति लग रही थी।

कालू पाच वर्ष का था। तब आखें दुखने लगी। पन्द्रह दिन तक बहुत कष्ट रहा। आखें खुली ही नही। छोगाजी बहुत चिन्तित हो गईं। अचानक एक योगी घर पर आया। उसने कहा—माताजी! फराश की लकडी घिसकर बच्चे की आख मे आज दो। आखें ठीक हो जाएगी। छोगाजी ने वह उपचार किया। आखें ठीक हो गईं।

उन दिनो अध्यापक बच्चो की पिटाई करने मे स्वतन्त्र थे। मा नही चाहती थी कि मेरे शिशु के शरीर पर किसी का क्रोध से उठा हाथ लगे। इसलिए छोगाजी ने कालू को पढने के लिए स्कूल नही भेजा। कालू ने अपने मामा के पास ही थोडी-बहुत पढाई की।

मा की ममता कभी-कभी सीमा पार कर जाती है। बच्चे का मन खेलकूद मे लगता है। और, जो बचपन मे खेलने-कूदने नही जाता, वह कमजोर रह जाता है। पर छोगाजी कालू को खेल-कूद मे भी नही जाने देती। यह बच्चा है, कही हाथ-पैर मे चोट न लगा ले, यह आशक्षा बनी ही रहती। जब मा घर पर नही होती, तब साथी बच्चे खेलने के लिए कालू को बुलाते, पर मा को पूछे बिना कालू घर से बाहर नही जाता। कालू के शैशव का पूर्वार्द्ध मा की ममता भरी उगलियो के सरक्षण मे बीता। सस्कारो का वैभव दिन-प्रतिदिन समृद्ध होता गया।

सबोधि

साध्वीश्री मृगाजी के सत्संग में छोगाजी में वैराग्य का अंकुर फूट गया। उनका मन सांसारिक विषयों से उदासीन हो गया—वे साध्वी-दीक्षा के लिए तैयार हो गईं। कालू अभी अवस्था में छोटा था, केवल आठ वर्ष का था। वे चाहती थीं कि हम दोनों साथ ही दीक्षित हों। उन्होंने एक दिन कहा पुत्र! मेरा तुम्हारे प्रति और तुम्हारा मेरे प्रति अति स्नेह है। मैं तुम्हें एक क्षण के लिए भी छोड़ना नहीं चाहती और तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहते। पर कुछ बड़े होने पर तुम्हें कमाई के लिए परदेश जाना होगा। फिर हम साथ नहीं रह सकेंगे।

'मां! ऐसा कोई उपाय है, जिससे हम निरन्तर साथ रह सकें?'

'इसका उपाय है, पर बहुत कठिन है बेटे!'

'वह क्या है मां! मैं उसे जानना चाहता हूं।'

'यदि हम दीक्षित हो जाएं तो मघवागणी की सेवा में एक गांव में भी रह सकते हैं और यदि किसी दूसरे गांव में भी रहना पड़े तो भी कोई कष्ट नहीं होगा।'

यह उपाय कालू के हृदय में पैठ गया। आठ वर्ष के शिशु ने मां की भावना का समर्थन कर दिया। दीक्षा की पूर्व तैयारी शुरू हो गई। कालू साध्वी मृगाजी के पास तत्त्व-ज्ञान सीखने लगा। पच्चीस बोल, प्रतिक्रमण आदि जो दीक्षा से पूर्व कण्ठस्थ करने होते हैं, उस शिशु ने कण्ठस्थ कर लिए।

एक दिन कालू ने कहा 'मां! हम साधु कब बनेंगे?'

मां ने कहा 'हमारे आचार्य मघवागणी हैं। वे हमें साधु बनने की स्वीकृति देंगे, तब हम साधु बनेंगे।'

'मघवागणी कहां हैं?'

'सरदार शहर में हैं।'

'तो हम उनके पास चलें।'

सं० १९४१ का चतुर्मास मघवागणी सरदार शहर में बिता रहे थे। छोगाजी, कालू और कानकंवरजी - तीनों उनके दर्शन करने वहां पहुंचे। कानकंवरजी छोगाजी की भानजी थी। वह भी दीक्षित होना चाहती थी। उन दिनों थली प्रदेश में यातायात का मुख्य साधन बैलगाडी या ऊंट था। ये ऊंट की सवारी कर आ रहे थे। मघवागणी सरदार शहर के बाहर पधारे हुए थे। वहां तीनों ने उनके दर्शन किए और दीक्षा लेने की भावना उनके सामने रखी। प्रार्थना का पहला चरण सम्पन्न हो गया।

कुछ दिन मघवागणी की उपासना कर छोगाजी श्रीडूंगरगढ़ चली गईं। अब उनकी सम्बोधि के नव-अंकुर को सींचना मघवागणी का कर्तव्य हो गया। वे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक थे। समय पाकर साधु-साध्वियों को भी डूंगर-

गढ या छापर भेजकर वे कालू के उस वैराग्याकुर को सीचते रहे।

मुनि-दीक्षा

मघवागणी मारवाड और मेवाड की यात्रा कर फिर थली प्रदेश मे आए। लाडणू मे छोगाजी ने उनके दर्शन किए और दीक्षित करने की प्रार्थना की। उस समय आचार्यवर ने उन्हे साधु-प्रतिक्रमण सीखने की स्वीकृति दी। यह साधु-दीक्षा की पूर्व स्वीकृति होती है।

स० १६४४ का चतुर्मास बीदासर मे था। छोगाजी ने वहा मघवागणी के दर्शन किए। इस बार उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो गई। उन तीनो (छोगाजी, कालू और कानकवरजी) को दीक्षा की आज्ञा प्राप्त हो गई।

शोभाचन्दजी बैगानी बीदासर के वरिष्ठ श्रावक थे। धर्मिष्ठ, श्रद्धालु और सौभाग्यशाली। उन्होने कालू से पूछा "तुम दीक्षा ले रहे हो, पर जानते हो कि अपने यहा पारिवारिक जनो की स्वीकृति प्राप्त किए बिना दीक्षा नही हो सकती। क्या तुमने वह स्वीकृति प्राप्त कर ली ?" कालू ने कहा "मेरी मा मुझे दीक्षा की अनुमति देगी और उनको मैं दूगा, फिर और किसकी अनुमति लेनी है ? कालू के उत्तर ने शोभाचदजी का मन जीत लिया।'

छोगाजी छापर गई, अपनी जेठानी की अनुमति प्राप्त करने के लिए। जेठानी ने उन्हे अनुमति नही दी और कहा कालू को मैं दीक्षित नही होने दूगी। क्या मेरे देवर का घर उजाडना है ? छोगाजी ने सोचा, जेठानी मे अभी मोह का आवेश है। यह मेरी बात नही मानेगी। उन्होने गोविन्दरामजी नाहटा आदि प्रमुख श्रावको के सामने अपनी समस्या रखी और अपनी जेठानी को समझाने का अनुरोध किया। उन लोगो के कहने पर उसने अनमने भाव से दीक्षा की अनु-मति दी।

दीक्षा के समय शोभा-यात्रा निकाली गई। उस समय शोभाचदजी बैगानी ने कालू को बहुमूल्य हार पहनाना चाहा। पर कालू ने यह स्वीकार नही किया। बार-बार आग्रह करने पर भी उन्होने यह स्वीकार नही किया। कालू ने कहा "मा, क्या मैं हार के बिना अच्छा नही लगता ? जो घर मे है, वही जब हम छोड रहे हैं, फिर दूसरो का हार क्यो पहनना चाहिए ?" कालू की इस बात ने सबके मन मे आश्चर्य पैदा कर दिया।

स० १६४४ आश्विन शुक्ला तृतीया को बीदासर मे हजारो मनुष्यो की उपस्थिति मे दीक्षा की विधि सपन्न हुई। दीक्षा देनेवाले थे तेरापथ के पाचवें आचार्य श्री मघवागणी। दीक्षित होनेवाला था तेरापथ का भावी आचार्य मुनि कालू, छोगाजी और कानकवरजी। दीक्षा का स्थान था जीतमलजी दूगड का नोहरा।

शिक्षा और जीवन-निर्माण

मुनि कालू मे विनय और विवेक का मणि-काचन योग था। उनकी बुद्धि भी प्रखर थी। वे चरित्र की अनुपालना मे बहुत जागरूक थे। इन विशेषताओं ने मघवागणी को शीघ्र ही आकर्षित कर लिया। उनकी शिक्षा मघवागणी के पास ही होती रही।

मघवागणी सस्कृत के बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होने मुनि कालू को आगम-ग्रथो का अध्ययन कराया, अपना लिपि-कौशल सिखाया। उनकी हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी। वह सुन्दरता मुनि कालू ने भी हस्तगत कर ली। सारस्वत का पच-सन्धि प्रकरण कठस्थ कराया, पर सस्कृत विद्या का पर्याप्त ज्ञान नही किया जा सका। मुनि कालू को दीक्षित हुए पाच वर्ष हो रहे थे कि मघवागणी का स्वर्गवास हो गया।

मुनि कालू को मघवागणी की प्रतिकृति कहा जा सकता है। वही गति, वही चिंतन, वही रुचि और वही जीवन-क्रम। जीवन से जो सीखा जा सकता है, वह पुस्तको से नही सीखा जा सकता इस सिद्धात का जीवन्त भाष्य था मुनि कालू। उनके लिए मघवा एक व्यक्ति नही, आदर्श थे। जो मघवा मे नही था, वह उनके लिए मूल्यवान् नही था। इस पौद्गलिक जगत् मे मघवा का जीवत-शरीर नही रहा, पर कालू के मानस-पटल पर वह सदा अमिट रहा। वे उसे कभी नही भुला सके। आचार्य बनने के बाद भी वे जब कभी मघवागणी की चर्चा करते, उनकी आखें प्रेमाश्रुपूरित हो जाती। देखने वालो के सामने मानो मघवा की प्रतिमा साकार हो उठती।

मुनि कालू मघवा के प्रति समर्पित थे। समर्पण विनिमय के लिए नही होता। पर जहा समपर्ण होता है, वहा विनिमय अपने आप हो जाता है। मुनि कालू को मघवा का हृदय प्राप्त था, और पूर्ण विश्वास। एक स्थविर मुनि ने मघवागणी से निवेदन किया कालू प्रतिलेखन ठीक नही करता। मघवागणी ने कालू से बिना पूछे ही कहा तुम से ज्यादा ठीक करता है। विश्वास उसका नाम है, जिसमे कोई छेद नही होता।

मुनि कालू प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि मघवागणी के पास बैठकर ही किया करते थे। इसलिए वे कालू की मुनि-चर्या से भली-भाति परिचित थे। कालू के प्रति उनका आत्मीय भाव दिन-प्रतिदिन बढ रहा था। एक दिन मुनि कालू मघवागणी के उपपात मे प्रतिलेखन कर रहे थे। सर्दी का मौसम था। ठिठुरा देने वाली सर्दी पड रही थी। मुनि कालू ने प्रतिलेखन के लिए ओढने के सारे वस्त्र एक साथ उतार लिए। उनका शरीर कापने लगा। मघवागणी ने तत्काल अपनी पछेवड़ी उन्हे ओढा दी। इस घटना को हमारी परम्परा मे विरल घटनाओ मे गिना जाता है।

मुनि कालू के जीवन-निर्माण मे छोगाजी का भी वहुत बड़ा योग रहा है। वे दीक्षित होने के वाद भी मुनि कालू के जीवन-निर्माण का पूरा ध्यान रखती थी। मुनि कालू भी उनके प्रति बहुत कृतज्ञता का भाव रखते थे। एक बार मुनि कालू किसी मुनि के पास पाठ-वाचन कर रहे थे। उस समय साध्वी छोगाजी वहा आ गई। उन्हे देखते ही मुनि कालू उनके पास जाकर बोले मैं वात नही कर रहा था। मैं उनसे पाठ-वाचन कर रहा था।

मुनि कालू के जीवन को प्रभावित करने वाला तीसरा व्यक्तित्व था मुनि मगन। मुनि कालू दीक्षित होते ही मुनि मगन से अभिन्न हो गए। उनकी अभिन्नता निरन्तर प्रगाढ होती गई और जीवन भर उनमे कोई अन्तर नही आया। दो शरीर और एक आत्मा यह अनुभूति सबको होती रही। मुनि मगन बहुत प्रबुद्ध और विवेकमूर्ति थे। उनका परामर्श मुनि कालू का पथ-दर्शन करता रहा।

निमित्त सहायक ही होते हैं, मूल होता है उपादान। जिसमे योग्यता का उपादान होता है और अनुकूल निमित्त मिल जाते है, तब ज्योति प्रज्वलित हो जाती है।

मुनि कालू की योग्यता पर मघवा ने मुहर छाप लगा दी थी। मघवागणी प्रात काल प्रवचन करते थे। दोपहर और मध्याह्न मे दूसरे साधु व्याख्यान देते थे। एक दिन उन सबने व्याख्यान देने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। मघवागणी बहुत कोमल प्रकृति के थे। उन्होने उन साधुओ की स्वच्छदता को सह लिया। उन्होने कालू से कहा 'तुम व्याख्यान दोगे ?' कालू बोले—'गुरुदेव ! मैं दे सकता हू, पर मेरी कठिनाई है कि मुझे गीतिका की लय नही आती। न मुझे पदो का अर्थ ही आता है, फिर मैं कैसे व्याख्यान करूगा ? कैसे गाऊगा ? मघवा ने कहा—'लय मैं सिखा दूगा। अर्थ मैं वता दूगा।' 'गुरुदेव ! तव मै व्याख्यान दे दूगा।' और मुनि कालू व्याख्यान देने लगे। अपनी छोटी अवस्था मे ही मुनि कालू मघवा-गणी के लिए सहारा बन गए थे।

विकास का नया आयाम

स० १९६० मे डालगणी बीदासर मे विराज रहे थे। यह कस्वा ठाकुर हुकम सिंहजी के आधीन था। उनको सस्कृत के अध्ययन मे रुचि थी। उन्होने डालगणी के पास एक सस्कृत श्लोक भेजा और उसका अर्थ जानना चाहा।

डालगणी ने वह श्लोक मुनि कालू को दिया। वह यह है

"दोषास्त्वामरुणोदये रतिमितस्तन्वीरयात शिव,
यामैर्मामितथाः फलान्यदशुभ त्वय्यादृतेऽङ्गे च का।

नाराम नमजापयोधरहित मारस्य रगाहृद,
सोभाग्री गृहमेधिनाऽपि कुविगामीशोऽसि नन्दादिमू ॥"

मुनि कालू में संस्कृत विद्या का बीज-वपन मघवागणी ने किया था किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उसे अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला। इस श्लोक ने मुनि कालू के सुप्त संस्कार पर एक चोट की। वह चोट इतनी गहरी थी कि फिर वह संस्कार सो नहीं सका। इस श्लोक का अर्थ न समझ पाना उनके लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। उन्होंने सारस्वत का पूर्वार्द्ध कण्ठस्थ करना शुरू कर दिया, कुछ ही दिनों में वह कण्ठस्थ कर लिया। उन्हीं दिनों डालगणी चूरू पधारे। रायचन्दजी सुराणा संस्कृत विद्या में अति रुचि रखते थे। वे चूरू के सुराणा परिवार के प्रमुख व्यक्ति और प्रमुख श्रावक थे। वे पंडित घनश्यामदासजी के पास संस्कृत पढ़ा करते थे। मुनि कालू का उनसे परिचय हुआ। उन्होंने पंडितजी के सामने संस्कृत पढ़ने की भावना रखी। पंडितजी ने उसका समर्थन किया और उसके लिए अपनी सेवा समर्पित की। मुनि कालू की भावना, रायचन्दजी की शासन-भक्ति और पंडित घनश्यामजी की श्रद्धा का अद्भुत समन्वय हुआ और संस्कृत के अध्ययन का क्रम चालू हो गया।

'जैनों को संस्कृत व्याकरण पढ़ाना सांप को दूध पिलाना है' इस धारणा के पंडितों ने पं० घनश्यामजी का विरोध शुरू कर दिया। पं० घनश्यामजी बगड के रहने वाले थे। आजीविका के लिए चूरू में रह रहे थे। बहुत कट्टर क्रिया-काण्डी ब्राह्मण थे। मुनि कालू के साथ उनका ऐसा संस्कार जुड़ा कि उन्होंने किसी भी विरोध की परवाह नहीं की। वे मुनि कालू को पढ़ाने लगे। हमारे संघ में भी संस्कृत विद्या के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था। आगम सूत्रों के अभ्यास को जितना महत्त्व दिया जाता था, उतना महत्त्व संस्कृत के अध्ययन को नहीं दिया जाता था। अवैतनिक रूप में पढ़ाने वाले विद्वान् भी नहीं मिलते थे। उस समग्र वातावरण की निष्पत्ति डालगणी के इन शब्दों के द्वारा हुई 'पंडितजी खुले मुंह कैसे पढ़ाएंगे?' रायचन्दजी सुराणा ने कहा 'मुखवस्त्रिका बांधकर पढ़ा देंगे।' इसे नियति ही कहना होगा कि पंडितजी ने मुखवस्त्रिका बांधकर पढ़ाना स्वीकार कर लिया। यदि मुनि कालू के साथ उनका कोई पूर्व संस्कार नहीं होता तो वे इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मन में कोई स्वार्थ की प्रेरणा नहीं थी। उनकी अन्त प्रेरणा ही इसमें काम कर रही थी। चूरू-प्रवास में मुनि कालू संस्कृत का अध्ययन करते रहे। कुछ दिनों बाद वहां से प्रस्थान हो गया। मुनि कालू का अध्यवसाय अपरिवर्तनीय था। स्थान-परिवर्तन होने पर भी वह नहीं बदला। उनके अध्ययन का क्रम चालू रहा। बीच-बीच में पंडितजी का योग मिलता रहा।

भावी आचार्य की नियुक्ति

स० १९६६ मे डालगणी का शरीर अस्वस्थ हो गया। वे अपने दायित्व के प्रति सजग थे। मुनि मगनलालजी ने अपनी प्रार्थना भी आचार्यवर के चरणों मे प्रस्तुत कर दी। श्रावण कृष्णा एकम को अपने उत्तराधिकार का पत्र लिख दिया। उस समय रूपचन्दजी सेठिया और साध्वी प्रमुखा जेठाजी बाहर थे। तीसरा कोई व्यक्ति आसपास भी नही था। डालगणी ने उस पत्र को पुट्ठे मे सुरक्षित रख दिया और साधु-सघ को उसकी सूचना दे दी। समूचा सघ हर्ष-विभोर हो गया। अब सबका मन भावी आचार्य का नाम जानने को छटपटाने लगा। कुछ साधुओ और श्रावको ने डालगणी से प्रार्थना की आपने भावी व्यवस्था कर दी, उसके लिए हम आपके कृतज्ञ है। हम सबकी इच्छा है कि आप युवाचार्य का नाम प्रकट करें और वे आपके चरणो मे बैठकर आपके अनुभवो का लाभ लें। डालगणी ने इस प्रार्थना को एक मुस्कान मे ही टाल दिया। साधुओ और श्रावको की भावना पूरी नही हुई।

लाडणू के ठाकुर आणदसिहजी थे। वे डालगणी के प्रति बहुत ही श्रद्धा रखते थे। उन्हे पता चला कि डालगणी ने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। उनके मन मे जिज्ञासा पैदा हुई। वे डालगणी के पास आए। उन्होने कहा मैंने सुना है कि आपने उत्तराधिकारी का नाम लिख दिया है। मेरे मन मे उन्हे देखने की उत्सुकता है। इसलिए मैं अचानक अकेला आया हू। डालगणी उनके प्रति बहुत ही कृपालु थे। उन्होने एक साधु से कहा मुनि कालूजी को बुलाओ। साधु ने मुनि कालू से कहा—आचार्यवर आपको याद कर रहे है। वे तत्काल उस मुनि के साथ आए। मुनि कालू जैसे ही दृष्टिगोचर हुए, वैसे ही डालगणी ने उन्हे वापस भेज दिया। ठाकुर साहब ने भावी आचार्य के दर्शन कर लिए। डालगणी ने कहा—अभी यह नाम आप तक ही सीमित रहे। इसका कही भी प्रचार न हो। मैंने जानबूझकर इसे गुप्त रखा है और मैं अभी इसे गोपनीय ही रखना चाहता हू। ठाकुर साहब ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा आप निश्चिन्त रहे, यह रहस्य कही भी उद्घाटित नही होगा। ठाकुर साहब जैसे ही नीचे आए, लोगो ने उन्हे घेर लिया और भावी आचार्य का नाम जानने का प्रयत्न किया। ठाकुर साहब बोले आप मुझ से यह बात न पूछें। यदि भावी आचार्य का नाम प्रकट होता तो आप मुझे नही पूछते। यह प्रकट नही है। आचार्यवर ने यदि मेरे सामने उसे प्रकट किया है तो यह सोच समझकर ही किया है कि मैं उसे प्रकट नही करूगा। आचार्यवर का मुझ पर जो विश्वास है, उसे मैं कभी आघात नही पहुचाऊगा। आप धैर्य रखें, जो है वह अपने आप सामने आ जाएगा। डालगणी के जीवन काल मे पत्र रहस्य ही बना रहा। भावी आचार्य का नाम जानने की उत्सुकता पूरी नही हुई। अनुमान चलते रहे, लोग अटकलें लगाते रहे। मुनि कालू की

जीवनचर्या वैसी ही चल रही थी, जैसी युवाचार्य पद पर नियुक्त करने से पहले थी। डालगणी बडे अद्भुत व्यक्ति थे। उन्होंने मुनि कालू को अब भी कोई विशिष्टता प्रदान नही की। मुनि कालू की अपनी यही विशिष्टता थी कि वे प्रदत्त विशिष्टता से कभी विशिष्ट नही बने, जो बने वह अपनी ही आन्तरिक विशिष्टता से बने।

आचार्य पद का दायित्व

सवत् १९६६ भाद्रपद के शुक्ल पक्ष मे डालगणी का स्वास्थ्य अधिक गिर गया। अब उनके ठीक होने की सभावना क्षीण हो गई। उनका सकेत पाकर मुनि कालू ने आराधना सुनाई। वह समाधिपूर्ण मृत्यु का एक अनूठा सवल है। जैन-साधना मे समाधिपूर्ण जीवन का जितना महत्त्व है, उससे कही अधिक महत्त्व समाधिपूर्ण मृत्यु का है।

आराधना श्रीमज्जयाचार्य का अनुपम अनुदान है। उससे समाधिपूर्ण मृत्यु का वरण करने वाला हर व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है, और होता है। आरा-धना सुनते-सुनते डालगणी ने सबके साथ 'खमत-खामणा' किए। भाद्रपद शुक्ला वारस के दिन डालगणी स्वर्गवासी हो गए।

मुनि मगनलालजी ने कहा आप पद पर आसीन होकर हमे सनाथ करें। मुनि कालू ने सहज ही यह स्वीकार नही किया। उन्होंने कहा—पहले पत्र पढो, फिर वात करो। मुनिश्रेष्ठ मगनलालजी ने कहा पत्र पढ लिया। अब कौन-सा पत्र पढना वाकी है। सब सन्तो ने आग्रहपूर्वक मुनि कालू को पद पर आसीन कर दिया। वे उदासीन भाव से पद पर वैठे रहे। वे चाहते थे, यह सारा कार्य पत्र-वाचन के वाद मे हो, पर साधुओ के आग्रह ने उन्हे पद पर वैठने के लिए वाध्य कर दिया।

भाद्रशुक्ला त्रयोदशी को मध्याह्न के समय तीर्थ-चतुष्टय की विशाल परिषद् जुडी। उसमे मुनि मगनलालजी ने डालगणी द्वारा लिखित आचार्य-पद का नियुक्ति-पत्र पढा। वह इस प्रकार है

'भिक्षु पाट भारीमाल। भारीमाल पाट रायचद। रायचद पाट जीतमल। जीतमल पाट मघराज। मघराज पाट माणकलाल। माणकलाल पाट डालचद। डालचद पाट कालू। विशेप आज्ञा प्रमाणे चाल्या फायदो होसी। वि० स० १९६६ प्रथम श्रावण प्रतिपदा।'

इस पत्र-वाचन द्वारा साधुओ की भावना, कार्य और व्यवहार की पुष्टि हो गई। यह अज्ञात नहीं था, किन्तु जो ज्ञात था, वह सवादी प्रमाण से प्रमाणित हो सुज्ञात हो गया। अब मुनि कालू तेरापथ के भाग्य-विधाता हो गए। अष्टम आचार्य के जयघोप से वायुमडल गूज उठा। समूचा सघ हर्ष-पुलकित हो गया।

डालगणी के चयन-कौशल की सर्वत्र प्रशसा होने लगी। कालू जैसे अनासक्त और कर्मक्षम आचार्य को पाकर तेरापथ धर्मसघ धन्य हो गया। भाद्रशुक्ला पूर्णिमा को सकल कला से समन्वित उस पूर्णचन्द्र का आचार्यपदाभिषेक हुआ। तेरापथ का भाग्यचन्द्र अपनी अमल-धवल चादनी से जन-जन की मनोभूमि को उद्योतित करने लगा। सब लोग नए दायित्व के अभिनव सृजन की प्रतीक्षा करने लगे।

अध्ययन का पराक्रम

हमारे धर्मसघ मे सस्कृत विद्या के अध्ययन का श्रीगणेश जयाचार्य ने किया था। उन्होने अपने उत्तराधिकारी मघवा को सस्कृत का अध्ययन करवाया। वे कहा करते थे हमारे यहा मघजी पंडित हैं। मघवागणी मुनि कालू को सस्कृत पढाना चाहते थे। वे मुनि कालू को कहते सस्कृत हमारे आगमो की कुजी है। आगम प्राकृत भाषा मे है। उनकी टीकाए सस्कृत मे लिखी गई हैं। सस्कृत जानने वाला टीकाओ के माध्यम से आगमो के रहस्य को समझ सकता है। इसलिए हमे सस्कृत अवश्य पढ़नी चाहिए।

मघवागणी ने मुनि कालू के हृदय मे सस्कृत पढने की भावना का बीज बो दिया था, पर वे उसे पर्याप्त समय तक सिञ्चन नही दे पाए। फलतः वह बीज अकुरित नही हुआ।

डालगणी के शासनकाल मे फिर मुनि कालू सस्कृत पढने लगे। इस अध्ययन काल मे उन्हे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। उस समय हमारे सघ मे सस्कृत पढाने वाला कोई मुनि नही था। ब्राह्मण पडित जैन मुनि को सस्कृत पढाने मे सकुचाते थे। सबसे बडी समस्या थी अर्थ देकर विद्या न पढना। इन सब कठिनाइयो के होते हुए भी मुनि कालू ने अपना अध्ययन चालू रखा। उनका सस्कृत अध्ययन परिपक्व होने लगा।

मुनि कालू आचार्य बने, तब उनकी अवस्था ३३ वर्ष की थी। उस अवस्था मे भी वे विद्यार्थी बने हुए थे। ३६ वर्ष की अवस्था (सं० १९७०) मे छापर प्रवास हुआ। उस समय उन्होने फिर सस्कृत का अध्ययन शुरू किया। उन्होने अपने अध्यवसाय से यह प्रमाणित कर दिया कि ४० वर्ष के आसपास का आदमी भी विद्यार्थी हो सकता है और ७० वर्ष का भी हो सकता है। आचार्य पद का दायित्व उनके कन्धो पर आ गया। फिर भी उनके अध्ययन का क्रम नही टूटा। वे पहले केवल व्यक्ति थे अपने आपमे सिमटे हुए। अब उनकी सीमाए विस्तृत हो गई, उनका कार्य-क्षेत्र विशाल हो गया। समूचे सघ के हितो का यह ध्यान रखना उनका कर्तव्य हो गया। उन्होने अपने आचरण से यह प्रमाणित कर दिया कि व्यक्ति दायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए भी अध्ययन के लिए समय निकाल सकता है।

मुनि मगनलालजी स्वामी जनता के बीच रहते और आचार्यवर एकान्त मे बैठ अध्ययन करते। उस समय कण्ठस्थ करने की पद्धति चालू थी। बडे-बडे ग्रन्थ कण्ठस्थ कराए जाते थे। आचार्यवर ने भी सिद्धान्तचन्द्रिका का पाठ कण्ठस्थ कर लिया। प्रौढ अवस्था और सघ का दायित्व दोनो उनके दृढ अध्यवसाय मे सहायक बने और उनका स्वप्न साकार होता गया।

विकास के स्वप्न

कालूगणी के मन मे विकास के स्वप्न उठते रहते थे। उनका स्वभाव निस्तरंग समुद्र की भाति शान्त था। हलचल और कोलाहल से वे दूर रहते थे। पर विकास की तरगे उन्हे तरगित करती रहती थी। स्वप्न उसी व्यक्त भावना के प्रतीक हो सकते हैं। हो सकता है कि विकास की सूचना देने के लिए वे आते हो। कालूगणी ने एक स्वप्न देखा उनकी आखो के सामने एक सूखा वृक्ष है। वह देखते-देखते लहलहा उठा है। दूसरे दर्शन मे वह फलो से लदा हुआ है।

इस स्वप्न की व्याख्या उन्होने की अब मेरे सघ मे सस्कृत विद्या का सूखा वृक्ष पत्रो, पुष्पो और फूलो के भार से झुका हुआ होगा। अब हमारा भविष्य विद्या के तरु को शतशाखी बनायेगा।

पूज्य गुरुदेव ने एक स्वप्न देखा गाय के सफेद बछडे और बछिया चारो तरफ फैल रहे है। इस स्वप्न का अर्थ उन्होने लगाया श्वेत वस्त्रधारी अनेक तरुण साधु-साध्विया होगी। सचमुच ऐसा ही हुआ। कालूगणी के समय मे तरुण साधु-साध्वियो की बडी सख्या मे दीक्षा हुई। सघ बहुत शक्तिशाली हो गया।

कालूगणी जागृत अवस्था मे भी बहुत स्वप्न लिया करते थे। उन्होने अपने विकास को ही सीमा नही माना। अपने शिष्यो को भी विकास के पथ पर अग्रसर करना शुरू किया। अनेक साधु सस्कृत पढने लगे। आचार्यवर स्वयं उन्हे पढाते थे। सारस्वत और सिद्धान्तचन्द्रिका का प्रबल घोष सुनाई देने लगा।

आचार्यवर ने अनुभव किया सिद्धान्तचन्द्रिका का पूर्वार्द्ध अपर्याप्त है, सारस्वत का उत्तरार्द्ध अपर्याप्त है। वे अपने शिष्यो को सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्तचन्द्रिका का उत्तरार्द्ध पढाते थे। कुछ वर्षों बाद उनके मन मे इसका विकल्प खोजने की प्रेरणा जागी। प्रयत्न शुरू हुआ। मुनि मगनलालजी बहुत दूरदर्शी, सूक्ष्म-बुद्धि के धनी थे। वे यतियो के उपाश्रयो मे जाते, उनके पुस्तक-भंडार देखते और जो हस्तलिखित ग्रथ प्राप्त होते, उन्हे ले आते। उन्होने हस्तलिखित ग्रथो का महत्त्वपूर्ण सग्रह किया। उनमे अनेक दुर्लभ ग्रथ हैं। लिपि-सौन्दर्य की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीचन्दजी गणेशदासजी गधैया, बिरधीचन्दजी मदनचन्दजी गोठी, बालचन्दजी मालचन्दजी सेठिया सरदारशहर, ईसरचन्दजी चोपडा गगाशहर, तोलारामजी सुराना चूरू, मालचन्दजी

वैद रतनगढ तथा दानचन्दजी चोपडा सुजानगढ आदि कुछ परिवारो ने भी यतियो के पुस्तक-भडारो से अनेक ग्रथ खरीदे। इस प्रकार तेरापथ सघ के साधुओ तथा श्रावको के पास हस्तलिखित ग्रथो का एक अच्छा सग्रह हो गया।

कालूगणी को सारकौमुदी की एक प्रति प्राप्त हुई। उसे प्राप्त कर आचार्य-वर को सतोष हुआ। उन्होने कहा इसकी अष्टाध्यायी मिल जाए तो अच्छा रहे। जिसकी ऊर्जा आज्ञाचक्र की ओर प्रवाहित होती है, उसकी हर कल्पना वास्तविकता वन जाती है और हर सपना साकार हो जाता है। आचार्यवर का स्वप्न आकार लेने लगा। मुनि चम्पालालजी (मीठिया) भादरा (जिला गगानगर, राजस्थान) मे गए। वहा रावतमलजी पारख रहते थे। उनके पास यतियो के पुस्तक-भडारो से खरीदी हुई कुछ पुस्तके थी। मुनि चम्पालालजी ने पुस्तकें देखी। उनमे उन्हे विशालकीर्तिगणी द्वारा निर्मित विशाल शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) की एक प्रति मिली। वे उसे प्राप्त कर वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने सोचा आचार्यवर को जिसकी खोज है, वह शायद यही ग्रथ है। वे उस ग्रथ को ले आए। आचार्यवर को भेट किया। आचार्यवर ने उसे देख आश्चर्य-मिश्रित हर्ष प्रकट किया। उस उपलब्धि के लिए उन्हे साधुवाद दिया।

सघ जव विकासोन्मुख होता है, तव आचार्य और उनके अनुयायी सभी एक दिशा मे गतिशील हो जाते हैं। आचार्य कल्पना करते है और शिष्य-समुदाय उस काल्पनिक चित्र मे प्राण भरने का प्रयत्न करता है। कालूगणी ऐसे ही सौभाग्य-शाली आचार्य थे। उन्हे शिष्यो का ऐसा विनम्र समुदाय मिला, जो उनके इगित पर प्राण निछावर करने को तैयार रहता था। तेरापथ की परम्परा मे यह सामान्य वात रही है। पर, कालूगणी मे कुछ विशिष्ट चुम्वकीय प्रभाव था। वह शिष्यो के हृदय को सहज आकर्षित किये रहता था।

पडित रघुनन्दनजी

विकास का चरण जैसे-जैसे आगे वढता है, वैसे-वैसे सामग्री की अपेक्षाए भी वढती जाती है। ग्रथो की अपेक्षा पूरी हुई तो उन्हे पढानेवालो की अपेक्षा का अनुभव हुआ। जव विकास होता है तो अपेक्षा अपने आप पूरी होती है। आचार्य-वर स० १९७४ मे सरदारशहर का चतुर्मास सपन्न कर चूरू पधारे। वहा रावतमलजी यति थे। वे धर्मसघ के प्रति वहुत अनुराग रखते थे। आचार्यवर के प्रति उनके मन मे गहरा अनुराग था। उन्होने कहा--महाराज! यहा एक विद्वान् आया हुआ है। अभी युवक ही है। पर उसमे अद्भुत विशेषताए हैं। वह सस्कृत का पारगामी विद्वान् है। आयुर्वेदाचार्य है। एक दिन मे सैकडो श्लोक वना लेता है। आशुकवि है। किसी भी विपय पर धाराप्रवाह श्लोक वोल सकता है। ऐसा विद्वान् मैने पहले कभी नही देखा। वह सुनामई गाव (जिला—अलीगढ,

उत्तर प्रदेश) का निवासी है। यहा आजीविका-अर्जन के लिए आया है। यदि वह अनुकूल हो जाए तो अपने सघ मे संस्कृत विद्या का अच्छा विकास हो सकता है। उसका स्वभाव भी निराला है। वह एकान्तप्रिय है। विज्ञापन से दूर रहता है। गंभीर और धीर है। बहुत कम बोलता है। लोगो से मिलने-जुलने मे भी सकोच करता है। अपने आप मे मस्त है। रघुनन्दन शर्मा उसका नाम है।

यतिजी से एक सस्कृतज्ञ विद्वान् का परिचय पाकर कालूगणी को हर्ष हुआ। इस हर्ष के पीछे उनका गुणानुराग तो था ही, किन्तु अपनी अपेक्षा की पूर्ति की परिकल्पना भी थी। आचार्यवर ने कहा कभी योग मिला तो उस विद्वान् से बातचीत करेंगे।

यतिजी ने पडित रघुनन्दनजी के सामने पूज्य कालूगणी का परिचय दिया। उन्होने कहा वे जैन आचार्य हैं, तेरापथ के नेता है। उनका बहुत बड़ा सघ है। वे बहुत शक्तिशाली है। स्वय विद्वान् है और विद्या के अनुरागी हैं। विद्वान् को बहुत महत्त्व देते हैं। मैं चाहता हू कि तुम उनके पास चलो, मैं तुम्हे उनसे परिचित करा दूगा।

यतिजी की बात पडितजी सुन रहे थे। पर, समझ नही पा रहे थे। वे यतिजी का सम्मान करते थे। इसलिए उनकी बात को अस्वीकार करना भी नही चाहते थे। और अन्त करण मे जैनाचार्य और उसमे भी तेरापंथ के आचार्य के पास वे जाना नही चाहते थे। उन्होने प्रकारान्तर मे इस बात को टालना चाहा। यतिजी अपनी बात पर अडिग रहे। उन्होने पडितजी से कहा मुझे लगता है कि तुम्हारे मन मे जैन धर्म और तेरापथ के प्रति कुछ भ्रान्तिया है। उन भ्रान्तियो को दूर करने का यह अच्छा अवसर है। इस अवसर का लाभ उठाना दूरदर्शिता ही होगी। पडितजी ने यतिजी का अनुरोध स्वीकार कर लिया। वे दोनो आचार्यवर की सेवा मे उपस्थित हुए। प्रारभिक परिचय के बाद जैन धर्म और तेरापथ के बारे मे चर्चा चली। पडितजी के प्रश्नो का समाधान किया गया। अब पडितजी बिल्कुल ही बदल गए। भ्रान्तिकाल मे मनुष्य जो होता है, वह उनके निरस्त हो जाने पर नही होता, दूसरा ही हो जाता है। उनके मन मे प्रथम सपर्क मे ही सद् आकर्षण पैदा हो गया। उन्हे अनुभव हुआ कि वे पूज्य कालूगणी और उनके धर्मसघ की सेवा के लिए ही उत्तर प्रदेश से राजस्थान मे आए है।

वे दूसरे दिन फिर आचार्यप्रवर की सेवा मे उपस्थित हुए। उन्होने विनम्र मुद्रा मे आचार्यप्रवर को एक पाण्डुलिपि दी। आचार्यप्रवर ने पूछा 'पडितजी! यह क्या है?'

[illegible]।'

'[illegible]?'

'[illegible]।' पडितजी ने कहा। 'यतिजी मुझे यहा

नही लाते तो मेरा मन आपके प्रति घृणा से भरा ही रहता। मैं आपके सपर्क मे आया। मेरी शकाए निरस्त हो गई। मैंने अकारण ही आपके प्रति घृणा को पाला मुझे अपनी भूल का अनुभव हुआ। उसके प्रायश्चित्त स्वरूप यह साधु-शतक बना कर लाया हू। इसमे साधु की चर्या है। वह बहुत पवित्र है। उससे पापो का विनाश होता है। मैंने अपने मन मे पाली हुई घृणा का प्रायश्चित्त इन शब्दो मे किया है

"अत्रागत को न जहाति सत्ये रतो जनोऽसत्यसमूहजालम्।
न नीलिमा कस्य निवर्तते हि, ममीरिकायोगगतस्य सद्यः।"[२]

आचार्यवर! आपके चरणो मे आया हुआ कौन सत्यप्रेमी मनुष्य है, जो असत्य के जाल को नही छोड देता। ममीरा के स्पर्श से किस नीली वस्तु की नीलिमा दूर नही होती।[३]

आचार्यवर ने तीन घटा मे बनाई हुई उस कृति को देखा और देखा कि पंडितजी की ग्रहणशीलता कितनी प्रबल है। उन्होने एक बार के सपर्क मे साधु-चर्या को समझा और उसे काव्य मे गुम्फित कर दिया। पडितजी के प्रति आचार्य-वर के मन मे आकर्षण पैदा हो गया। उन्होने पडितजी मे वह सब पाया, जो यतिजी ने बताया था।

पडितजी के मन मे अगाध श्रद्धा पैदा हुई। उन्होने आचार्यवर के चरणो मे अपने आपको समर्पित कर दिया। साधुशतक के एक श्लोक मे उसकी स्पष्ट ध्वनि है

"नेदानी त्वा त्यक्तुमर्हामि साधो!
भक्ति मे त्व शीघ्रत सगृहाण।
हस्ताभ्यामाबद्धबन्ध प्रकार,
किं नाह स्या धारितानन्तसेवः॥"[४]

आचार्यवर! अब मैं आपको नही छोड सकता। आप मेरी भक्ति को स्वीकार करें। मैं हाथ जोडे हुए जीवन-पर्यन्त क्या आपकी सेवा मे नही रहूगा? अवश्य रहूगा।[५]

आचार्यवर ने पडितजी के अनुरोध को मूक स्वीकृति दे दी। वे अपना आयुर्वेद का काम करते और जब कभी अवकाश होता आचार्यवर की सेवा मे आ जाते। साधुओ को सस्कृत-अध्ययन का विशेष अवसर हाथ लग गया। पहले प० घनश्याम-दास जी पढाते थे। अब पडित रघुनन्दनजी और पढाने लगे। उनका ज्ञान बहुत विशद था। वे साधुओ को सारकौमुदी और विशाल शब्दानुशासन की अष्टा-ध्यायी पढाने लगे। स० १९७८ मे आचार्यवर लाडणू विराज रहे थे। उस

समय हेमशब्दानुशासन का एक प्रकाशित संस्करण जैचन्दलालजी वरमेचा के यहा उपलब्ध हुआ। साधुओ ने आचार्यप्रवर को वह दिखाया। वह सर्वांगसपूर्ण व्याकरण था। कुछ साधुओ ने उसे पढना शुरू किया।

भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण

विशालशब्दानुशासन के परिभाषा-सूत्र सरल थे, हेमशब्दानुशासन के कठिन। पडितजी दोनो को पढाते थे। आचार्यवर भी दोनो को देखते रहते थे। उनकी यह धारणा बन गई कि हेमशब्दानुशासन के सूत्र कठोर है। उसका प्रक्रिया-ग्रथ भी प्राप्त नही है। इसलिए विशालशब्दानुशासन मे ही आवश्यक सशोधन कर उसे अध्ययन मे प्रयुक्त करना चाहिए।

मुनि चौथमलजी[७] आचार्यवर की उस इच्छा की सपूर्ति मे लगे। वे विशाल शब्दानुशासन के अध्येता थे। उनका अध्यवसाय स्थिर था। वे श्रमपटु थे। जिस कार्य मे लग जाते, उसे बीच मे छोडना उन्हे पसन्द नही था। पडित रघुनन्दनजी का उन्हे सहयोग मिला। विशालशब्दानुशासन के परिष्कार का कार्य प्रारभ हो गया।

मुनि चौथमलजी ने विशालशब्दानुशासन के परिष्कार का कुछ कार्य सपन्न कर लिया। पडित रघुनन्दनजी ने उसकी बृहद् वृत्ति तैयार की। उसमे सिद्धान्त-कौमुदी और सिद्धहेमशब्दानुशासन आधार रहा। इस कार्य की सपूर्ति पर सबको बहुत प्रसन्नता हुई। आचार्यवर का स्वप्न पूरा हुआ। उन्हे इस बात का सतोष हुआ कि अब सस्कृत विद्या के अध्ययन का क्रम व्यवस्थित ढग से चल पाएगा।

विशालशब्दानुशासन को परिष्कृत करने का उपक्रम चला था। पर उसमे इतना परिवर्तन हो गया कि एक नया ही व्याकरण-ग्रथ बन गया। तब मत्री मुनि मगनलालजी के सुझाव के अनुसार उसका नाम 'श्रीभिक्षुशब्दानुशासन' रखा गया। वह नवीनतम शब्दानुशासन है। उसके सूत्र कोमल है। परिभाषा की जटिलता से वह मुक्त है। पडित रघुनन्दनजी ने हेमशब्दानुशासन की तुलना मे उसका चित्र प्रस्तुत किया है .

हैममिद मम दक्षिणहस्ते,
वामकरे भैक्षवमतिरम्यम्।
ब्रूहि किमिच्छसि कोमलबुद्धे!
कर्कश सूत्रमकर्कश सूत्रम् ॥[८]

भिक्षुशब्दानुशासन के प्रथम अध्येताओ मे मैं और मेरे सहपाठी मुनि धनराजजी और चन्दनमलजी थे। उस समय तक इसके प्रक्रिया-ग्रथ का निर्माण नही हुआ था। इसलिए हम लोगो ने पहले सिद्धान्तचन्द्रिका कण्ठस्थ की, फिर

भिक्षुशब्दानुशासन का पारायण किया। मुनि चौथमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन के प्रक्रिया-ग्रथ के रूप मे कालूकौमुदी की रचना की। इसके प्रथम अध्येताओ मे मेरे विद्यार्थी मुनि नथमल, बुद्धमल्ल आदि रहे।

पडितजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का पद्यवद्ध लिङ्गानुशासन तैयार किया। न्यायदर्पण, उणादिपाठ, धातुपाठ और गणपाठ भी तैयार हो गया। इस प्रकार देखते-देखते महाव्याकरण सर्वांगपूर्ण हो गया।

चर्चा के अवसर और समता का अवगाहन

कालूगणी का विहार क्षेत्र सस्कृतज्ञ विद्वानो का क्षेत्र था। उस समय रामगढ, फतेहपुर, चूरू, रतनगढ और बीकानेर मे सस्कृत विद्या के केन्द्र थे। इनमे सैकडो सस्कृतज्ञ विद्वान थे। जैसे-जैसे हमारे सघ मे सस्कृत विद्या का विकास हुआ, वैसे-वैसे उन विद्वानो का सपर्क बढने लगा। एक बार चन्द्रशेखरजी शास्त्री आचार्यवर के पास आये। बातचीत हो रही थी। मुनि सोहनलालजी ने पडितजी के सामने एक जिज्ञासा प्रस्तुत की। उन्होने कहा 'कथ द्वयेषामपि मेदिनी भृताम्' इस श्लोक मे 'द्वयेषा' का प्रयोग कैसे हुआ है ? यह व्याकरण से सिद्ध नही होता है। शास्त्रीजी ने इस जिज्ञासा को दूसरे अर्थ मे लिया। उन्होने सोचा, जैन मुनि महाकवि कालिदास के प्रयोगो मे त्रुटि निकालना चाहते हैं। वे उस शब्द की सिद्धि के लिए धाराप्रवाह सस्कृत मे बोलने लगे। वे बिना रुके बोलते ही गये। उन्होने दूसरो को अपनी बात कहने का मौका ही नही दिया। उनकी वाक्शक्ति पर सब आश्चर्यचकित थे। आचार्यवर को लगा कि यह समय का सदुपयोग नही हो रहा है। उन्होने कहा शास्त्रीजी! साधुओ ने जानकारी की दृष्टि से प्रश्न पूछा था। उनके मन मे कोई विरोधी भावना नही थी। आप इसे सहज रूप मे ही लें। आपकी वाक्-पटुता से मैं मुग्ध हू। पर जो कम बोलता है, उसे मैं कम समझदार नही समझता। आचार्यवर के इस वचन से शास्त्रीजी का विवेक जाग उठा। वे तत्काल सभल गये। विनम्रता पूर्वक बातचीत कर अपने स्थान चले गये।

तिरस्कार तिरस्कार की भावना को जगाता है और सम्मान सम्मान की भावना को। आचार्यवर ने शास्त्रीजी के सम्मान की सुरक्षा की। उनके मन मे भी आचार्यवर के प्रति सम्मान की भावना जागी। वे दूसरे दिन आये और विनम्र स्वर मे बोले —

सायतने गतदिने भवदीयशिष्यै, साक विवादविषयेऽत्र यते! प्रवृत्ते।
यत् किञ्चिदल्पमपि जल्पितमस्तु कोऽप्य, क्षन्तव्यमेव भवताऽत्र कृपापरेण ॥
विशदबोधविशुद्धमतिप्रभा, धवलिता ललिता वचनावलि।
भगवतो मुखपद्मविनिसृता, सुमुदमातनुतेऽननुतेजस ॥

आचार्यवर ने उनकी विनम्र भावनाओ को स्वीकार किया। वे जीवनभर

आचार्यवर के प्रति कृतज्ञ बने रहे।

सं० १९७० मे आचार्यवर रतनगढ पधारे। पं० हरिनन्दनजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। वे आचार्यवर के पास आये। प्रसंगवश आचार्यवर ने पूछा आपने कौन-सा व्याकरण पढा है? पंडितजी ने गर्वोक्तिपूर्ण वाणी मे कहा भट्टोजी दीक्षित रचित सिद्धान्त कौमुदी मैंने पढी है। वही एक मात्र संस्कृत व्याकरण है। उसके सिवाय दूसरा कोई सर्वांगपूर्ण व्याकरण है ही नही। महर्षि अगस्त्य जैसे तीन अंजुलियो मे समुद्र को पी गये, वैसे ही तीन मुनियो ने समग्र शब्द-सिन्धु का निपान किया है। ऐसा कोई शब्द शेष नही बचा है, जो इस त्रिमुनि रचित व्याकरण से सिद्ध न हो।

गर्वोक्ति किसी के लिए भी अच्छी नही होती। एक विद्वान् के लिए तो वह अच्छी होती ही नही। विद्या अनन्त है। उसका अन्त पाना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव ही नही है। फिर भी मनुष्य अपनी अल्पज्ञता के कारण समय-समय पर गर्वोक्ति कर बैठता है। यह कैसा आश्चर्य है कि सर्वज्ञ को गर्वोक्ति करने का अधिकार है पर वह करता नही। अल्पज्ञ को वह अधिकार प्राप्त नही है, फिर भी वह करता है। पंडितजी की गर्वोक्ति पर आचार्यवर को आश्चर्य हुआ। उन्होने कहा पंडितजी, मैं सिद्धान्त-कौमुदी का प्रशंसक हू। उसका महत्त्व भी समझता हू। पर, आपकी गर्वोक्ति ने मुझे बाध्य कर दिया है यह कहने के लिए कि आप सिद्धान्त-कौमुदी के द्वारा 'तुच्छ' शब्द की सिद्धि करे।

सिद्धान्त-कौमुदी की पुस्तक पंडितजी के पास थी। वे उसमे 'तुच्छ' शब्द को सिद्ध करने वाला सूत्र देखने लगे। पुस्तक को काफी टटोला पर वह सूत्र मिला नही। उन्होने कहा महाराज! आज वह सूत्र नही मिला है। कल उसे देखकर मैं आपकी सेवा मे उपस्थित होऊंगा। दूसरे दिन मध्याह्न मे वे आये। बातचीत के प्रसंग मे कहा—'तुच्छ' शब्द को सिद्ध करने वाला सूत्र मुझे नही मिला। मैंने गर्वोक्ति की, उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। आचार्यवर ने मुस्कान भरते हुए कहा—इस जगत् मे सब-कुछ अपूर्ण है, फिर हम पूर्णता और अपूर्णता को सापेक्ष दृष्टि से ही देखें। यही क्षमा है। यही हमारा मैत्री-सूत्र है, जो सबको जोडता है, किसी को किसी से दूर नही करता। सचमुच वह प्रसंग मधुरता मे बदल गया। आचार्यवर ने पंडितजी को पराजय का अनुभव नही होने दिया।

आचार्यवर के जीवन मे तत्त्वचर्चा के भी अनेक अवसर आए। वह वाद-विवाद का युग था। शास्त्रार्थ करना बहुत रसपूर्ण कार्य था। जय-पराजय की भावना प्रबल थी। इसलिए तत्त्वचर्चा की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व दिया जाता था कि कौन जीता और कौन हारा। आचार्यवर को भी इस युग के अनुभवो से गुजरना पडा। पर, उनका सहज रंग इसमे नही था। इसका श्रेय उनके जल कमलवत् निर्लेप स्वभाव को ही दिया जा सकता है।

सवत् १९७९ की बात है। भीनासर मे कुछ व्यक्ति तत्त्वचर्चा करने आए। चर्चा प्रारम्भ हो गई। उसके बीच आचार्यवर ने सूत्रकृताग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के ११वे अध्ययन (१६-२१) की टीका का एक पाठ उन्हे बतलाया। वे सस्कृत नही जानते थे। अत उन्होने कहा हम कल किसी सस्कृत विद्वान् को साथ लेकर आएगे। आपने जो अर्थ बताया वह हमे जचा नही। वह जचता भी कैसे, उस पाठ से उनके पक्ष को समर्थन नही मिल रहा था।

एक ही दिन बाद वे पडित गणेशदत्तजी को साथ लेकर आए। तत्त्वचर्चा को सुनने के लिए बीकानेर के लोग भी काफी सख्या मे उपस्थित थे। आचार्यवर ने फिर प्रसग को चालू करते हुए टीका का अर्थ उन्हे बताया। उन लोगो ने पडित जी से कहा आप बताइए, टीका के इस पाठ का अर्थ क्या है? पडितजी ने टीका का पन्ना अपने हाथ मे लिया, उसे ध्यान से पढा। उसका अर्थ समझने का प्रयत्न किया। फिर वे बोले मैं आपके साथ आया हू। आपका पक्षधर होकर आया हू। फिर भी मुझे यह कहना होगा कि टीका के इस पाठ का वही अर्थ है, जो पूज्य कालूगणी जी ने लिया है। उन लोगो ने कहा पडितजी! आप फिर इसे ध्यान से पढिये। यह अर्थ हमारी समझ मे नही आया है।

पडितजी ने दुबारा उसे पढा और कहा आपकी समझ मे आए या न आए, पर इसका अर्थ वही है, जो अभी-अभी आपको बताया गया था। सब लोग मौन हो गए। कनीरामजी बाठिया ने कहा—पडितजी! आप भले ही पूज्यश्री का समर्थन करें, मैं इस अर्थ को नही मानता। तब आचार्यवर ने कहा—'मैं नही मानता'—इसका उपाय मेरे पास भी नही है। शायद दुनिया की किसी भी शक्ति के पास नही है।

तत्त्वचर्चा के अनेक प्रसग आते थे। आचार्यवर की अन्तर्-आत्मा बहुत निर्मल थी। अत हर प्रसग निर्मलता के साथ ही सम्पन्न हो जाता था। कोई-कोई प्रसग खेदजनक भी बन जाता था। स० १९९१ की घटना है। आचार्यवर जोधपुर चतुर्मास के लिए यात्रा कर रहे थे। कालू पधारे। वहा के कुछ दिगम्बर भाई तत्त्वचर्चा के लिए आए। स्त्री की मुक्ति होती है या नही होती, इस विषय पर चर्चा हो रही थी। आचार्यवर ने गोम्मटसार की निम्नाकित गाथाए उद्धृत की, जिनसे स्त्री की मुक्ति का समर्थन होता है

"होति खवाइगि समये बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य।
उक्कुसेणट्ठुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा॥
पत्तेयबुद्ध तित्थयरत्थि णउसयमणोहिणाण जुदा।
दस छक्क वीस दस वीसट्ठावीस जहाकमसो॥
जेट्ठा वर बहु मज्झिम ओगाहणगादु चारि अट्ठेव।
जुगव हवति खवगा उपसमगा अद्धमेदेसि॥"[१०]

वे लोग गोम्मटसार की हस्तलिखित प्रति लाए। इस गाथा का पन्ना निकाला। वह पन्ना इधर-उधर लेते-देते फट गया। पता नहीं, किसके हाथ से फटा, पर फट गया। इस पर हगामा शुरू हो गया। तत्त्वचर्चा बीच मे ही रह गई। आक्रोश उभर आया। मध्याह्न मे लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक वातावरण तनावपूर्ण रहा। बीच-बीच मे आचार्यवर के प्रवास-स्थल पर पथराव भी होता रहा।

इस प्रकार की घटना से यह बोध-पाठ मिला कि ये तत्त्वचर्चा के प्रसंग कभी-कभी सार्थकता की अपेक्षा व्यर्थता को ही सिद्ध कर देते है। तत्त्वचर्चा के अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रसग मे आचार्यवर की समता को खंडित होते नही देखा। उनकी आकृति पर भृकुटि को तनते नही देखा। यह उनकी सहज सिद्ध क्षमा का ही अनुदान है।

सब व्यक्ति पूर्वधारणा की तुष्टि के लिए ही तत्त्वचर्चा नही करते। किन्तु ज्ञानधारा मे अभिनव उन्मेष लाने के लिए भी करते है। उनका वाद निश्चित ही ज्ञानवर्धक होता है। तत्त्ववेत्ता के जीवन मे इस प्रकार की तत्त्वचर्चा के भी अनेक प्रसग आते हैं।

नये प्रयोग : नई दिशाएं

(१)

आचार्य का पद बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। आचार्य के सामने अनेक समस्याए होती हैं। वे कभी-कभी नीद को भी प्रभावित कर देती हैं। आचार्यवर को जब नीद नही आती, तब वे स्वाध्याय का प्रयोग करते। कुछ लोग नीद की गोलिया खाकर नीद लेते है। यह स्वास्थ्य के लिए हितकर नही है। स्वाध्याय का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। मस्तिष्क मे तनाव नही रहता, ज्ञान-तन्तु कसे हुए नही रहते। स्नायविक तनाव नही होता, तब नीद अपने आप आ जाती है। कुछ लोग गिनती करते-करते नीद मे चले जाते है। कुछ लोग श्वास गिनते-गिनते नीद ले लेते हैं। आचार्यवर को नीद नहीं आती, तब वे मुझे बुलाकर कहते स्वाध्याय शुरू करो। मैं किसी ग्रथ के पाठ का पुनरावर्तन शुरू कर देता। आचार्यवर उसे सुनने लग जाते। कुछ ही मिनटो मे नीद आने लगती।

(२)

आचार्यवर आगम-सूत्रो का वाचन सस्कृत टीकाओ के माध्यम से किया करते थे। उस समय हमारे सघ मे वे ही एकमात्र इसके अधिकारी थे। दूसरा कोई सस्कृत का विद्वान् नही था। कोई विषय उनके ध्यान मे नही आता, उसे चिन्तन

के लिए छोडकर आगे बढ जाते। वह चिन्तन मे पडा रहता। कुछ दिनो बाद अर्द्ध-निद्रा मे उसका अर्थ ध्यान मे आ जाता। ऐसा अनुभव होता, मानो मघवागणी उन्हे वह अज्ञात् विषय समझा रहे है। ऐसी घटना उनके जीवन मे अनेक बार घटित होती थी। मनोविज्ञान इसकी व्याख्या अपने ढग से करता है कि अव-चेतन मन मे गया हुआ विषय स्वय समाधान प्रस्तुत कर देता है। आचार्यवर ने इसकी व्याख्या अपने ढग से की। पर वे इस मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते थे और उसमे सफल भी होते थे।

(३)

आचार्यवर के हाथ के लिखे हुए कुछ पन्ने प्राप्त हैं। उनमे सरस्वती-मत्र लिखे हुए हैं। सरस्वती की उपासना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। अनेक आचार्यों ने इस विषय मे अनेक मंत्रो की रचना की। आचार्यवर ने उनमे प्रमुख-प्रमुख मत्र अपने पन्नों मे लिखे थे। इससे पता चलता है कि उनके मन मे विद्या के विकास की भावना बहुत प्रबल थी। सभव है, उन्होने सरस्वती-मत्र की साधना भी की हो।

हमारे धर्मसघ मे आज विद्या की जितनी शाखाए विकसित हैं, उनका बीज-वपन आचार्यवर ने ही किया था। तेरापथ धर्मसघ वर्तमान युग मे एक प्रबुद्ध धर्मसघ के रूप मे प्रतिष्ठित है। उसके प्रबुद्ध साधु-साध्वियों के कर्तृत्व से विज्ञ-समाज प्रभावित है। उसका मूल श्रेय आचार्यवर की दूरदर्शिता को ही है। सस्कृत विद्या का विकास उनके युग मे ही हो चुका था। हेमशब्दानुशासन का आठवा अध्याय प्राकृत परिवार की छ भाषाओ का व्याकरण है। आचार्यवर ने मुझे और मेरे विद्यार्थी मुनि नथमलजी को उसका पाठ कठस्थ करा दिया था। न्यायशास्त्र के विषय मे उन्होने 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' का चुनाव किया। उसकी एक हस्त-लिखित प्रति वे अपने पास रखते थे और समय-समय पर उसका पारायण किया करते थे। साहित्य के क्षेत्र मे अनेक आयाम खुल चुके थे। उस समय का मुनि-गण काव्यपाठी ही नही था, काव्य-निर्माता भी हो चुका था। आचार्यवर कविता को बहुत प्रोत्साहन देते थे। वे स्वय बहुत अच्छे कवि थे, पर स्वय कविता नही लिखते थे। दग्धाक्षर की आशका से ही ऐसा हुआ था। वे कभी-कभी कविता लिखते, वह बहुत सुन्दर होती थी। स० १९९१ की बात है। मारवाड प्रदेश की यात्रा हो रही थी। आचार्यवर बडे गुडे मे विराज रहे थे। फाल्गुन वदी सप्तमी को सायकालीन प्रतिक्रमण के बाद मैं आचार्यवर की वन्दना करने गया। तब आचार्यवर ने मुझे लक्ष्य कर तत्काल एक सोरठा बनाकर मुझे कहा

सीखो विद्यासार, परहो कर परमाद नैं।
वधसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनैं॥

फाल्गुन वदी ९ को मध्याह्न मे आचार्यवर ने पुनः एक सोरठा कहा

शिशु मुनिवर सुविसेख, क्रिया नित्य निर्मल करो।
रच न चूको रेख, देख-देख पगला धरो ॥

यह पद्य उनकी ललित, प्रसन्न और मृदु शैली की काव्य-क्षमता की सूचना करते हैं। पर उक्त आशका ने उनकी क्षमता का उपयोग नही होने दिया।

(४)

आचार्यवर के जीवन की सन्ध्या का समय चल रहा था। वे मालवा-यात्रा से लौटकर चित्तौड पधारे। वहा वह प्राणघाती व्रण उठा। आचार्यवर को कुछ आन्तरिक आभास हो गया। उन्होने भक्तामर का पाठ शुरू किया। वे भक्तामर की एक हस्तलिखित प्रति अपने पास रखते थे। उस समय वह प्रति मुनि नथमल को दी हुई थी। उन्होने वह प्रति मगवाई और पाठ शुरू किया। वह पाठ प्रतिदिन चलता था। शारीरिक व मानसिक समस्या आने पर स्तुति-मन्त्रो के पाठ का वहुत महत्त्व है। वे उसका महत्त्व जानते थे। उनका ज्ञान सघ मे सक्रात हुआ। आज वह अनेक दिशाओ मे प्रसार पा रहा है।

(५)

जयाचार्य के समय महासती गुलावाजी ने भगवती-सूत्र की जोड की हस्तलिपि की थी। कुछ समय वाद उसकी एक हस्तलिपि वड़े कालूजी स्वामी ने की। उसके वाद उसकी कोई हस्तलिपि नही हुई। वह विशाल ग्रथ है। साठ हजार से अधिक उसके पद्य हैं। आचार्यवर के समय मे उसकी दो हस्तलिपिया हुईं। एक मुनि कुन्दनमलजी ने की और एक साध्वी खूमाजी ने। अन्य अनेक साध्वियो ने भी लिपि-कौशल का अद्‌भुत विकास किया।

मुनि कुन्दनमलजी का लिपि-कौशल वहुत चमत्कारी सिद्ध हुआ। स० १९७७ (भिवानी-चतुर्मास) मे उन्होने एक पत्र लिखा। उसमे समूचा उत्तराध्ययन सूत्र और व्यवहार चूलिका लिखी हुई है। उस ८'×४' इन्च के पन्ने मे लगभग अस्सी हजार अक्षर हैं। जितना सूक्ष्म, उतना ही सुन्दर। लिपि-कौशल के इतिहास मे उसका अद्वितीय स्थान है। मुनि सोहनलालजी चूरू, मुनि अमीचन्दजी सुजानगढ, मुनि सोहनलालजी चाड़वास आदि अनेक साधुओ ने ऐसी सुन्दर हस्तलिपिया की, जिन्हे देखकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्य-चकित हुए विना नही रह सकता।

सिलाई, पात्र की रगाई, रजोहरण आदि के निर्माण मे भी कला का इतना विकास हुआ कि उनकी कलात्मकता सहज ही आकर्षण का हेतु वन गई।

प्राचीनता और नवीनता की देहलीज पर

(१)

आचार्य कालूगणी उस समय अस्तित्व मे थे, जब हजार वर्ष की लम्बी परतत्रता के बाद हिन्दुस्तान स्वतत्रता की लडाई लड रहा था। महात्मा गाधी उस लडाई का नेतृत्व कर रहे थे। पुरानी धारणाए टूट रही थी, नई धारणाए स्थापित की जा रही थी। पुरानी परम्पराओ और सीमाओ का स्थान नई परम्पराए और सीमाए ले रही थी। उस सन्धिकाल मे कोई सर्वथा पुराना नही रहा था, और कोई भी सर्वथा नया नही हो पा रहा था। आचार्यवर नए विचारो के समर्थक थे, यह कहकर मैं अतिशयोक्ति करना नही चाहता। किन्तु यह अत्युक्ति भी नही होगी कि वे सन्धिकाल के अनुरूप प्राचीनता की मिट्टी मे नवीनता के बीज बो रहे थे। वे यथावत् स्थिति के पोषक नही थे। यथार्थ की स्वीकृति के लिए उनका मानस तैयार था। स० १९८४ का प्रसग है। आचार्यवर बीदासर मे विराज रहे थे। मानसिह जी (मुर्शिदाबाद, पश्चिम बगाल) दर्शन करने आए। उन्होने कहा महाराज श्री ! आप साधु-साध्वियो को बगाल प्रान्त मे क्यो नही भेजते ? आचार्यवर ने परम्परानुसारी उत्तर दिया वह अनार्य देश है। वहा हम लोग जा नही सकते। अपने कथन की पुष्टि के लिए आचार्यवर ने बृहत्कल्प का एक सूत्र उन्हे बताया, जिसमे मुनियो के विहार की सीमा बतलाई गई है। आचार्यवर ने कहा—इस सूत्र के अनुसार हम पूर्व मे अग-मगध, दक्षिण मे कौशाम्बी, पश्चिम मे थूणा और उत्तर मे कुणाल तक जा सकते हैं। यही आर्य क्षेत्र है। इससे आगे अनार्य क्षेत्र है। अत इस सीमा से आगे नही जा सकते। इससे आगे जाने पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की हानि होती है।[१२] मानसिहजी बोले महाराज श्री ! सीमा के बारे मे आपने जो कहा वह ठीक है किन्तु मैंने सुना है कि इस सीमा से आगे जहा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, वहा मुनि जा सकते हैं।

आचार्यवर ने बृहत्कल्प का टबा (भावानुवाद) देखा। उसमे उस्सपाति का अर्थ 'हानि होती है' किया था। उसके भाष्य और टीका मे इसका अर्थ 'वृद्धि होती है', किया था। आचार्यवर ने कहा वृद्धि का अर्थ ठीक है। उन्होने पृष्ठो मे 'हानि होती है' यह अर्थ कटवा दिया और उसके स्थान पर 'वृद्धि होती है' यह अर्थ लिखवा दिया। कुछ समय बाद आचार्यवर ने मुनि चौथमल जी से कहा टबा मे वह अर्थ किया हुआ था, जो अर्थ अब हमे पुन मान्य नही होगा, फिर भी वही कर दो। यद्यपि यह अर्थ सही नही है पर टबाकार द्वारा किया हुआ अर्थ हम कैसे बदल सकते हैं ? यह अर्थ अब हमे मान्य नही होगा, फिर भी हमे उसे बदलने का अधि-

कार नही।

साधु-साध्वियो को बगाल मे भेजने का अवसर आचार्यवर के सामने नही आया। पर सुदूर क्षेत्रो मे उन्हें भेजने का मार्ग खुल गया। बम्बई, पूना आदि क्षेत्रो मे साधु गए उसके पीछे इस धारणा का योग अवश्य होना चाहिए कि जहा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो वहा किसी भी क्षेत्र मे मुनि विहार कर सकते हैं।

(२)

धार्मिक पुस्तको का प्रकाशन पहले से ही होता रहा है। पर व्यवस्थित रूप मे सपादित होकर पुस्तक प्रकाशन आचार्यवर के समय से ही प्रारभ हुआ। गुलाबचन्द जी लूणिया (जयपुर) आचार्यवर के युग मे एक विशिष्ट श्रावक थे। उन्होने श्री जयाचार्य रचित प्रश्नोत्तर-तत्त्व-बोध का सम्पादन किया। उसको प्रकाशन हीरालाल जी आचलिया (गंगाशहर निवासी) ने किया। श्री जयाचार्य का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है भ्रम विध्वसन। उसमे तेरापथ के सैद्धान्तिक पक्ष का बहुत सूक्ष्म प्रतिभा से प्रतिपादन किया गया है। उसका प्रकाशन बेला (कच्छ) के श्रावक मूलचन्द जी कोलबी ने कराया था। वे तपस्वी और आस्थावान् श्रावक थे। उन्होने 'भ्रम विध्वंसन' देखा। उन्हे बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लगा। उन्होने साधुओ के पुट्ठे से उसकी प्रति निकाल ली और उसे प्रकाशित कर दिया। पर, वह बहुत ही अशुद्ध रूप मे प्रकाशित हुआ।

सं० १६७६ मे आचार्यवर का चतुर्मास बीकानेर मे था। उस समय सैद्धान्तिक चर्चाओ का दौर चलता था। भ्रम विध्वसन की बहुत उपयोगिता थी। तब अनायास ही उसके सपादन की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। आचार्यवर ने अपने शिष्य मुनि चौथमलजी आदि को उसके सपादन का आदेश दिया। उन साधुओ ने प० रघुनन्दनजी के सहयोग से उसका सपादन किया। ईसरचन्दजी चोपडा ने उसे प्रकाशित करवाया। वह उस समय की सुसपादित पुस्तक है। उसका चर्चा वार्ता मे बहुत उपयोग हुआ।

(३)

इन शताब्दियो मे आगम-सूत्रो को टबे के माध्यम से पढने की प्रवृत्ति चल रही थी। आचार्यवर ने सस्कृत टीकाओ के माध्यम से आगम पढने शुरू किए। वे बहुत बार कहते थे केवल शब्दार्थ से काम नही चलता। उसका तात्पर्य समझना चाहिए। वह समझने के लिए टीकाए पढना बहुत आवश्यक हैं।

परीक्षा के क्षण और प्रोत्साहन

(१)

शिक्षा का अगला चरण है परीक्षा। आचार्य शिष्यो को शिक्षा देता है और समय-समय पर उसकी परीक्षा भी लेता है। आचार्यश्री कालूगणी भी अनेक बार अपने शिष्यो की परीक्षा लेते थे। एक बार प्राय सभी सन्तो को आमन्त्रित कर कहा —'असवारी' (पूरी पक्ति है राणाजी थारी देखण द्यो असवारी) यह रागिनी गाओ।

मुनि कुन्दनमलजी, चौथमलजी, सोहनलाल जी, (चूरू) आदि सन्तो ने वह रागिनी गाई। पर आचार्यवर की दृष्टि मे वह ठीक नही गाई गई। आचार्यवर के निर्देशानुसार मैंने वह रागिनी गाई। मैंने कुछ दिन पहले ही आचार्यवर के पास बैठकर उस रागिनी को गाने का अभ्यास किया था। आचार्यवर ने कहा यह ठीक गाता है। परीक्षा मे मैं उत्तीर्ण हो गया।

(२)

पिछली रात के समय हम अनेक साधु आचार्यवर की सन्निधि मे बैठे थे। व्याकरण का प्रसग चल पडा। आचार्यवर ने कहा पठन के साथ-साथ मनन होना चाहिए। तुम लोग पढते हो, पर मनन कौन-कौन करते हो, यह बताओ। मनन के बिना व्याकरण व्याधिकरण बन जाता है। परीक्षा की मुद्रा मे आपने पूछा "कुमारीमिच्छति, कुमारी इव आचरति इति कुमारी ना" इसमे कौन-सी विभक्ति है ?

विद्यार्थी मुनि उलझन मे फस गए। कुमारी शब्द का तृतीया विभक्ति का रूप कुमार्या बनता है और यह 'कुमारीना' भी तृतीया विभक्ति जैसा प्रतीत होता है। क्या उत्तर दिया जाए।

मुझे सबोधित कर पूछा -मैंने उत्तर दिया यह प्रथमा विभक्ति है। ना पुरुषवाची पद है। कुमारी उसका विशेषण है। जो पुरुष कुमारी को चाहता है या उसके अनुरूप आचरण करता है, वह कुमारीना कहलाता है।

(३)

आचार्यवर का सस्कृतज्ञ विद्वानो से काफी सपर्क था। वे विद्वान् आते और विद्यार्थी साधुओ की परीक्षा ले लेते। कभी-कभी दूसरे सप्रदाय के मुनि भी परीक्षा ले लिया करते थे।

स० १९८७ के भीनासर प्रवास की घटना है। पायचदिया गच्छ के श्री पूज्य

जी देवचदजी ने आचार्यवर को अपने उपाश्रय मे आने के लिए निवेदन किया। आचार्यवर वहा पधारे। कुछ समय तक वार्तालाप होता रहा। आचार्यवर वापस जाने लगे, तव वहा उपस्थित सवेगी मुनि लावण्यविजयजी ने कहा 'कदागुरोकसो भवन्त ?' इसका सधि-विच्छेद करिए। मुनि सोहनलालजी (चूरू) ने तत्काल वताया कदा आगुः ओकसो भवन्तः अर्थात् आप घर से कव आए ? यह उत्तर सुनकर मुनि जी वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने आचार्यवर की ओर मुडकर कहा आप सन्तो को खूब अच्छे ढग से तैयार कर रहे हैं।

(४)

उसी वर्ष (स० १९८७) आचार्यवर वीकानेर मे प्रवास कर रहे थे। वहा यतियो और सवेगी मुनियो का प्रवास भी होता रहता था। कभी-कभी परस्पर मिलने के अवसर भी आते थे। मिलन के एक अवसर पर एक सवेगी मुनि ने पूछा 'कुमरी नव भूपस्य' इस पद मे सन्धि क्या है ? मुनि सोहनलालजी (चूरू) ने उसका उत्तर दिया कु अरीन् अव भूपस्य अर्थात् हे राजन ! पृथ्वी की रक्षा और शत्रुओ का अन्त कर। यह सुन मुनि वहुत प्रसन्न हुए और उन्होने आचार्य वर के नेतृत्व मे चल रहे विद्या-विकास के प्रति वहुत आदर व्यक्त किया।

(५)

आचार्यवर विकास की प्रक्रिया के कुशल ज्ञाता थे। वे उसकी साधना और साधनो को भी जानते थे। उनका अनुभव था कि परीक्षा एक प्रोत्साहन है। प्रोत्साहन के और भी अनेक उपाय हैं। उन्होने अन्य उपायो को भी काम मे लिया। वे विद्यार्थी और अध्यापन कराने वाले मुनियो को समर्थन देते, उन्हें पुरस्कृत भी करते।

मुनि भीमराजजी उस युग के प्रवुद्ध चेता विद्वान् थे। उनका विद्यानुराग और गुणानुराग अनुकरणीय था। वे समय और धुन के वडे पक्के थे। वे साधुओ को आगमसूत्र तथा सस्कृत ग्रन्थ पढाते थे। उनका सारा कार्य व समय दूसरो के लिए ही होता था। एक वार उन्होने कुछ विद्यार्थी साधुओ को अन्वय सहित 'सिन्दूर प्रकर' सिखाया। आचार्यवर को इसका पता चला। उन्होने विद्यार्थी मुनियो को वुलाकर उनसे सिन्दूर प्रकर के श्लोक सुने। स्पष्ट उच्चारण और अन्वय सहित श्लोको को सुनकर आचार्यवर वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने विद्यार्थी मुनियो और मुनि भीमराजजी—सभी को पुरस्कृत किया। परिष्ठापन एक सघीय व्यवस्था है। आचार्य अनुग्रह करते हैं, तव वे जमा होते हैं और प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर उनका उपयोग होता है। आचार्यवर ने विद्यार्थी मुनियो को पाच-पाच और मुनि भीमराजजी को इकावन परिष्ठापनो से पुरस्कृत किया।

(६)

विद्यार्थी मुनि अध्ययन मे जब कम रुचि लेते, तब आचार्यवर उन्हें बार-बार पुरस्कृत कर प्रोत्साहित करते। कभी सस्कृत का श्लोक कण्ठस्थ कराते और कभी मारवाडी का दोहा। उसका अर्थ बताते और उसका मनन करनेकी प्रेरणा देते। वे इतने बडे प्रेरणा-स्रोत थे कि उससे प्रेरणा की अनेक रश्मिया निकलती थी और मानस को आलोक से भर देती थी। स० १९८० की घटना है। आचार्यवर जयपुर मे चतुर्मास बिता रहे थे। मुनि घनराजजी और मुनि चन्दनमलजी दोनो ससार पक्षीय भाई, जिन्हे दीक्षित किए कुछ ही समय हुआ था, एक दिन दोनो मे विवाद हो गया। मुनि चन्दनमलजी ने कहा—मैं नही रटू गा। आप रटते जाइए, मैं सुन-सुन कर कठस्थ कर लू गा। मुनि धनराजजी ने कहा—मैं क्यो रटू ? सीखने की अपेक्षा तुझे है या मुझे है ? मुनि चन्दनमलजी ने कहा सिखाने की अपेक्षा आपको है या मुझे है ? इस विवाद को लेकर दोनो भाई आचार्यवर के पास पहुचे। उन्होने अपनी-अपनी बात आचार्यवर के सामने रखी। दोनो की बात सुनकर आचार्यवर ने उनके सिर पर हाथ रखकर कहा न तो इसे अपेक्षा है और न तुझे अपेक्षा है। अपेक्षा मुझे है, इसलिए जाओ ध्यानपूर्वक अध्ययन करो। विवाद समाप्त हो गया। सीखने और सिखाने का काम नए उत्साह से शुरू हो गया।

गगापुर का चतुर्मास

आचार्यवर उदयपुर चतुर्मास के बाद प्रस्थान कर गगापुर पहुचे। तब तक वे आठ सौ मील की यात्रा कर चुके थे। उनके घुटनो मे दर्द रहता था। मत्री मुनि मगनलालजी को भी चलने मे कष्ट होता था। फिर भी उन्होने मालवा की यात्रा बडे उत्साह से की। कौन जानता था कि यह उनकी अन्तिम यात्रा है। कौन जानता था कि गगापुर का चतुर्मास उनका अन्तिम चतुर्मास है। उनकी आयु षष्टि-पूर्ति नही कर पाई थी। उनका शरीर बहुत शक्तिशाली था। घुटने के दर्द को छोडकर बुढापा उन पर आक्रमण नही कर पाया था। कुछ ऐसी ही नियति बन गई कि मृत्यु ने असमय मे ही उन पर अपने डोरे डालने शुरू कर दिये। घटनाओ से निष्कर्ष निकलता है कि उन्होने उसका सहयोग किया। वे शरीर की उपेक्षा कर केवल मनोबल से जीवन-यात्रा चलाने लगे।

गगापुर मे चातुर्मासिक प्रवेश बडे उत्साह के साथ हुआ। आचार्यवर ने ५० मिनट तक पहला प्रवचन किया। प्रवचन के समय प्रतीत नही होता था कि उनका शरीर अस्वस्थ है। यदि हाथ पर बधी हुई पट्टी को न देखे तो कोई कह नही सकता कि आचार्यवर अस्वस्थ है।

रगलालजी हिरण के भवन (रग-भवन) मे आचार्यवर का निवास हुआ। उस

समय आचार्यवर के साथ चौवीस साधु और सत्ताईस साध्विया थी। साधुओ के छत्तीस और साध्वियो के पचास सिंघाडे (कुल ८६) अन्य क्षेत्रो मे चतुर्मास कर रहे थे। एक सौ इकतालीस साधु और तीन सौ चौतीस साध्विया उनके नेतृत्व मे आत्म-साधना और उसके साथ-साथ जन-कल्याण कर रही थी। उनके शक्ति-शाली नेतृत्व मे धर्मसघ अभ्युदय के शिखिर का स्पर्श कर रहा था। प्रगति के नये उन्मेष नई सभावनाओ को खोज रहे थे।

आचार्यवर गगापुर पहुचकर वहुत प्रसन्न हुए। प्रसन्नता का पहला कारण था वचन का निर्वाह और दूसरा कारण था शारीरिक बाधाओ के होने पर भी लक्ष्य की पूर्ति। आचार्यवर प्रतिदिन प्रवचन करते थे। और भी दैनिक कार्यक्रम पूर्ववत् चलता था। पर स्वास्थ्य दिन-दिन चिन्तनीय वनता जा रहा था। घाव भरा नही था। मधुमेह की मात्रा मे कमी नही हुई। अन्न की अरुचि हो गई। ज्वर सतत् रहने लगा। लीवर विकृत हो गया। खासी भी सताने लगी। शरीर मे शोथ हो गया। एक शरीर अनेक रोग। रोग ने एक ऐसे महापुरुष पर आक्रमण किया, जिसकी वेदना केवल उसी को नही, अनगिन श्रद्धालुओ को अभिभूत कर रही थी। रोगी वीर योद्धा की भाति रोगो से जूझ रहा था और उसके श्रद्धालु उस युद्ध मे उसका साथ नही दे पा रहे थे, किन्तु प्राण का मोह उन्हें त्रास दे रहा था।

प० रघुनन्दनजी की चिकित्सा

चतुर्मास का प्रारभ हुआ, तव प० रघुनन्दनजी के आगमन की प्रतीक्षा की जाने लगी। पंडितजी चतुर्मास मे प्राय आचार्यवर की सन्निधि मे रहते थे। वे श्रावण मे आते और दीवाली के आसपास अपने घर चले जाते। श्रावण के शुक्ल पक्ष मे पडितजी आए। आचार्यवर के शरीर को देखकर वे स्तब्ध रह गए। यह क्या हुआ जैसे शतदल कमल के वन पर तुषारापात हो गया हो। उन्हे अपनी आखो पर भरोसा नही हुआ। मत्री मुनि मगनलालजी से पूछा यह क्या हो गया? उन्होने कहा पडितजी! कुछ समझ मे नही आ रहा है। एक छोटी-सी फुन्सी निकली थी। यह सव उसी का विस्तार है। पुरानी कहावत चरितार्थ हो गई छोटा व्रण, चिनगारी, छोटे क्षण और अल्पप्राय कषाय की उपेक्षा नही करनी चाहिए। उपेक्षा करने पर उनका छोटा रूप भी वडा वन जाता है। हमने भी फुन्सी को छोटा समझकर उसकी उपेक्षा की। आज उसका रूप भयकर वन गया है। अव आप आचार्यवर के रोग का निदान कर चिकित्सा शुरू करें।

पडितजी के आने पर सभी वडे-वडे सत एकत्र हो गए। उनकी भावना का ज्वार प्रवल हो गया। वे वोले पडितजी! इस वार आपके आगमन से हमे उतना ही हर्ष हुआ है, जितना मेह के आने से मोर को होता है। यह छोटा क्षेत्र है। यहा

कोई अच्छा डाक्टर नही है। अच्छे वैद्य भी नही हैं। बाहर से आने वाले डाक्टरो और वैद्यो की दवा आचार्यवर ले नही रहे हैं। एक अच्छे वैद्य से निदान और उपचार की अपेक्षा थी। अब आप आ गए। बहुत अच्छा हुआ। आप शीघ्राति-शीघ्र रोग का निदान कर उपचार शुरू करें।

पडितजी समूचे सघ के मन को पढकर हर्ष से गदगद् हो रहे थे। सबके मन मे आज एक ही भावना है आचार्यवर शीघ्र स्वस्थ हो। मैं आचार्यवर के स्वास्थ्य-लाभ मे कारण बनू, यह मेरा सौभाग्य होगा। उन्होने नाडी की परीक्षा की। आखो, नाखूनो, जीभ, यकृत और प्लीहा को देखा। रोग का निदान कर आत्म-विश्वास के साथ रोग का उपचार शुरू कर दिया। पडितजी ने रोग का निदान इस प्रकार किया- उदर-व्याधि, मदाग्नि, विषम ज्वर, सूखी खासी, शोथ, उदर वृद्धि और मधुमेह।

पडितजी ने इस निदान के आधार पर चिकित्सा शुरू की। सब रोगो को निर्मूल करने के लिए अनेक औषधिया दी। उनकी औषधि की एक विशेषता थी कम मात्रा। उदर पर गोमूत्र का सिचन भी शुरू किया गया। प्रात और साय दोनो समय नाडी की परीक्षा करते और आवश्यकतानुसार औषधि मे परि-वर्तन भी। एक सप्ताह बीत गया। बीमारी मे कोई कमी नही हुई। दूसरा सप्ताह बीत रहा था, फिर भी विशेष लाभ प्रतीत नही हुआ। पडितजी ने सोचा—यह क्या हुआ? दीप जल रहा है। पर अन्धकार ज्यो का त्यो है। ठीक वैसे ही हो रहा है कि दवा चल रही है पर रोग ज्यो का त्यो है। यदि लाभ नही, तब दवा कब तक चलेगी? और यह समाज का प्रश्न है, आचार्यवर का शरीर एक व्यक्ति का शरीर नही है, यह समाज का शरीर है। यदि कोई घटना घटित होती है तो उसका समूचे समाज पर असर होता है। मैं दवा देना बद कर चिकित्सा से हाथ खीच लू, यह कैसे हो सकता है और लाभ न होने की स्थिति मे दवा चलती रहे, यह भी उचित नही। वे एक भारी मानसिक उलझन मे फस गये। उन्होने अपने मन की उलझन मत्री मुनि मगनलालजी के सामने रखी। उनसे परामर्श चाहा कि मुझे क्या करना चाहिए। इस परामर्श के मध्य एक बात ध्यान मे जची कि यदि स्वामी लच्छीरामजी आ सके तो मन को कुछ समाधान मिले। वे बहुत बडे अनुभवी कुशल चिकित्सक हैं। उनकी तुलना का वैद्य आसपास मे नही है। वे आचार्यवर के शरीर की परीक्षा कर औषधि का निर्णय करें।

पडितजी ने स्वामी लच्छीरामजी को सस्कृत मे २१ पद्यो का एक पत्र लिखा। उसमे रोग-निदान और रोग-चिकित्सा दोनो प्रस्तुत कर उनसे परामर्श मागा।"

वृद्धिचन्दजी गोठी और पूर्णचन्दजी चोपडा उस पत्र को लेकर स्वामी लच्छी-रामजी के पास जयपुर गए। उनके चिकित्सालय मे उनसे मिले। अपने आने का प्रयोजन बता पडित रघुनन्दनजी का पत्र उन्हे दिया। स्वामीजी पत्र को पढ

चिन्तन मे निमग्न हो गए। गोठीजी ने कहा —आप गगापुर चलें। उन्होंने कहा— अभी मैं वहा जाने की स्थिति मे नही हू। पडितजी को अपना परामर्श लिख दूगा। उन्होने सस्कृत मे छ श्लोको का एक परामर्श पडितजी को लिखा। गोठी-जी और चोपडाजी उस पत्र को लेकर गगापुर आए और वह पत्र उन्होने पडितजी को दे दिया। स्वामी लच्छीरामजी ने पडितजी की चिकित्सा का पूरा समर्थन किया। उन्होने कुछ औषधियाँ और जोडने का सुझाव दिया। पत्र के अन्त मे उन्होने एक मार्मिक सकेत भी दे दिया। उन्होने लिखा रोग कष्ट साध्य है, अवस्था वृद्ध है, रोगी सशक्त नही है, वर्षा ऋतु उपद्रव कर रही है। इस स्थिति को ध्यान मे रखकर ही आप चिकित्सा चलाए।[१४]

स्वामी लच्छीरामजी के पत्र से पडितजी को स्फूर्ति मिली। साधुओ तथा समाज के लोगो का भी विश्वास जमा। फिर नई उमग के साथ पडितजी ने चिकित्सा शुरू की। अडूसा के सूखे पत्ते के साथ एक दवा दी। उससे सूखी खासी का वेग बन्द हो गया। उससे बडी शान्ति मिली। कुछ नीद भी आई। सबको बडा उल्लास हुआ।

सरदारशहर से डॉ० श्यामनारायणजी आए। उन्होने आचार्यवर के शरीर की जाच की। पडितजी द्वारा सचालित चिकित्सा का अध्ययन किया। वे पडित-जी की चिकित्सा से प्रभावित होकर बोले -चिकित्सा बहुत सुन्दर चली है। इसके लिए पडितजी को जितना साधुवाद दिया जाय, उतना कम है। पर रोग बहुत जटिल स्थिति मे चला गया है। कलकत्ता, बबई आदि नगरो से भी डाक्टर और वैद्य आए। उनका भी अभिमत यही रहा। बीमारी की समस्या सुलझने के बजाय उलझती ही गई।

महाप्रयाण

भाद्र शुक्ला चौथ का दिन शाति मे बीता। रात को श्वास का प्रकोप बढ गया। साधुओ ने प्रार्थना की गुरुदेव! आज स्थिति नाजुक है। शरीर का रंग बदलने लग गया है। अब क्या किया जाए। आचार्यवर स्वय जागृत थे और अपने शिष्य-समुदाय का सकेत मिलने पर उनकी जागरूकता द्विगुणित हो गई। वे बोले अभी रात है। रात को कुछ खाना-पीना नही है। कल सवत्सरी है इसलिए सहज ही उपवास है। इस अवधि मे यदि प्राण-त्याग हो जाए तो मुझे यावज्जीवन चतुर्विध आहार का त्याग है।

आचार्यवर ने सशर्त अनशन स्वीकार कर लिया। उनकी साधना कसौटी पर चढ गई। जिसे शरीर त्यागे, वह साधक कसौटी मे अनुत्तीर्ण हो जाता है। जो पहले ही शरीर को त्याग दे, वही साधक कसौटी मे उत्तीर्ण होता है। आचार्यवर इस परीक्षा मे पूर्ण उत्तीर्ण हुए।

सवत्सरी पर्व जैन धर्म का सबसे बडा पर्व है। इस पर्व को समूचा जैन समाज त्याग, तपस्या के द्वारा मनाता है। इस दिन महत्त्वपूर्ण प्रवचन होते है। वर्ष भर नही आने वाले लोग भी उस दिन प्रवचन सुनने आते हैं। आचार्यवर सवत्सरी के दिन प्राय बारह बजे तक प्रवचन किया करते थे। आज वे प्रवचन नही कर सके। उनका यह कार्य मैंने किया। आचार्यवर उस दिन शात, मौन लेटे रहे। नाडी मन्द थी। वातावरण पूर्ण नीरव था। रात भी उसी प्रकार बीती। पिछली रात मे थोडी ठड हुई। आचार्यवर ने मौन खोलते हुए कहा—कल तो पूर्ण विश्राम किया। उसे (मुझे) पूछा भी नही कि लम्बे समय तक प्रवचन किया, उससे थकान आई या नही ? प्यास लगी या नही ? मुझे आमन्त्रित किया। मैं तत्काल वहा पहुचा और मैंने कहा आपकी कृपा से सब ठीक रहा।

छठ का सूर्य उदित हुआ। आचार्यवर का सकल्प पूरा हो गया। साधु-साध्वियो के अनुरोध पर आचार्यवर ने उपवास का पारणा किया। सबको कुछ आश्वासन मिला। ऐसा लगा मानो दुस्तर समुद्र तैर लिया गया हो। शरीर की इस क्षीणावस्था मे सवत्सरी का उपवास कैसे होगा, पानी बिना यह शरीर कैसे टिकेगा ? जब यह हो गया, तब समझा, अब खतरा टल गया। पर हमारी सद्-भावना और मन का स्वप्न नियति को मान्य नही था। हमारे मन का आश्वासन चिरकाल तक टिक नही सका। दिन का चौथा पहर आया। साझ ढल रही थी। आचार्यवर ने पूछा दिन कितना शेष है ? मैंने पता लगाकर बताया पौने छः बजे है। पैंतीस मिनट दिन शेष है। आचार्यवर बोले मुझे बैठा करो, पानी पीना है। मैंने प्रार्थना की-आज बैठने की शक्ति नही है इसलिए आप लेटे-लेटे ही जल लें, आचार्यवर ने कहा लेटे-लेटे तरल वस्तु नही पीनी चाहिए। साधुओ ने हाथ का सहारा दिया। आचार्यवर बैठ गये। थोडा-सा जल लिया। फिर लेट गये। जैसे ही लेटे, वैसे ही श्वास का प्रकोप हो गया। धीमी-सी आवाज मे आचार्यवर ने पूछा मगनलालजी स्वामी जगल से लौटे या नही ? मैंने कहा — अभी आये नही हैं, आने ही वाले हैं। तत्काल सत उनके सामने गए और इस घटना की उन्हे सूचना दी। मगनलालजी स्वामी तेज नही चल सकते थे पर जितनी शीघ्रता हो सकी, उतनी शीघ्रता से वहा पहुचे। मैंने कहा—मगनलालजी स्वामी आ गए हैं। आचार्यवर ने उनकी ओर देखकर कहा —'अबै ' इससे अधिक कुछ नही कहा जा सका।

मगनलालजी स्वामी ने पूछा अनशन करा प्रत्याख्यान कराए ? 'हा', कह-कर आचार्यवर ने स्वीकृति दी। मगनलालजी स्वामी ने ऊचे स्वर मे कहा आज से अर्हन्त, सिद्ध के साक्ष्य से आजीवन चतुर्विध आहार का त्याग है। इसके बाद वे जोर-जोर से बोलते गए 'अर्हन्तो की शरण है, सिद्धो की शरण है, हम सब भी आप की शरण है।' शरण-सूत्र की ध्वनि ने समूचे वातावरण को जागरण से

भर दिया और सब बातें विस्मृत हो गईं। केवल अर्हन्त और सिद्ध सब की आखो के सामने मूर्त हो गए। जागरण के उस पवित्र वातावरण मे सात मिनट का अनशन पूर्ण कर आचार्यवर समाधिस्थ हो गए। उनके प्राण आखो के मार्ग से बाहर चले गए केवल स्थूल शरीर शेष रह गया। आचार्यवर अन्तिम क्षण तक जागृत रहे। ऐसी जागृत मृत्यु किसी महान् साधक को ही उपलब्ध होती है।

विहंगावलोकन

जन्म	१६३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया
दीक्षा	१६४४ आश्विन शुक्ला तृतीया
आचार्यपद	१६६६ भाद्रपद पूर्णिमा
स्वर्गवास	१६६३ भाद्रपद शुक्ला षष्ठी
जन्मस्थान	छापर (राजस्थान)
दीक्षा-स्थान	बीदासर ,,
आचार्यपद-स्थान	लाडणू ,,
स्वर्गवास-स्थान	गगापुर ,,
गृहस्थ	१०॥ वर्ष
साधारण साधु	२२ वर्ष
आचार्य	२७ वर्ष
सर्व आयु	५६॥ वर्ष

टिप्पणी

१ छापर प्रदेश का विवरण राठोड रामदेव के विअक्खरी छन्दो पर आवृत है।
२ साधुशतक, १६।
३ ममीरा नेत्र की दवा है। उसकी यही परीक्षा है कि उसे नीले वस्त्र पर लगाने से उस की नीलिमा मिट जाती है।
४ साधुशतक, ६२।
५ विद्यावाचस्पति, राष्ट्रपति सम्मानित, राष्ट्रीय संस्कृत-विद्वान् प्रोफेसर विद्याधरजी शास्त्री का एक पत्र कुछ विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करता है। उसका अंश इस प्रकार है—

"पूज्य श्री कालूगणीजी महाराज के चूरू पधारने पर मुझे पूज्य पिताजी विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसादजी शास्त्री महाराज के दर्शनार्थ श्री रायचन्दजी सुराना

के अतिथि निवास मे ले गए थे। वहाँ श्री चौथमलजी मुनि भी उपस्थित थे और मेरे से लघु सिद्धान्त कौमुदी के प्रश्न पूछे गये थे। उस समय मुझे स्मरण है कि किसी प्रसग मे श्री रघुनन्दनजी ने अपने श्लोको मे से "आवृत किं न जानीते मिष्ट वस्तु पिपीलिका" यह पद सुनाकर मुझे मुग्ध कर दिया था। श्री रघुनन्दनजी अपनी आशुकवित्व-शक्ति प्रदर्शित करने के लिए श्री पूज्यजी महाराज की सेवा मे पधारे थे और वहा उन्होंने निर्वाध रूप से श्री कालूगणीजी की प्रशस्ति मे १०० श्लोक सुनाये थे।"

बीकानेर, २०-९-७६ [डॉ० छगनलालजी शास्त्री को लिखे गए पत्र से]

६ उसके प्रथम अध्येता थे मुनि भीमराजजी, मुनि सोहनलालजी (चूरु), मुनि कानमलजी और मुनि नथमलजी (बागोर)

७ कालूगणी के एक विशिष्ट शिष्य।

८ पडितजी का यह श्लोक महाकवि कालिदास के निम्नाकित श्लोक की छाया है

पद्ममिद मम दक्षिणहस्ते,
वामकरे लसदुत्पलमेतत्।
ब्रूहि किमिच्छसि पङ्कजनेत्रे!
कर्कशनालमकर्कशनालम् ॥

९ कनीरामजी बाठिया आदि।

१० गोम्मटसार, जीवकाण्ड, विचार ६। ६२९-६३१।

११ यह घटना 'चतराजी का गुडा' की है।

१२ वृहत्कल्प सूत्र १ ४७

कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा पुरत्थिमेण जाव अगमगहाओ एत्तए, पच्चत्थिमेण जाव थूणाविसयाओ एत्तए, दक्खिणेण जाव कोसम्बीओ एत्तए, उत्तरेण जाव कुणाल विसयाओ एत्तए, एयावयाव कप्पइ, एयावयाव आरिए खेत्ते, नो से कप्पइ एत्तो बाहिं, तेण पर जत्थ नाण दसणचरित्ताइ उस्सप्पति।

१३ श्रीमता वैद्य-वैद्याना, वारीन्द्राणा यशस्विनाम्।
लक्ष्मीरामाह्व साधूना, सेवायामिति तन्यते ॥ १ ॥
साम्प्रत श्री जिनाचार्य, कालूरामाभिधो महान्।
पीड्यते कृच्छ्रसाध्येन, रोगेणैकेन भूरिश ॥ २ ॥
चिकित्सा जायतेऽस्माक, यथावच्छास्त्रसम्मता।
तथापि क्रमशो लाभो, विशेषो न विलोक्यते ॥ ३ ॥
लिख्यते रोग नामापि, निर्णीत यन्मया स्वत।
लक्षणान्यपि दर्श्यन्ते, कार्या निर्धारणा बुधै ॥ ४ ॥
कुक्षेराध्मानमाटोप, शोथ पादकरस्य च।
इत्यादि लक्षणै स्पष्टैर्ज्ञायते ह्युदरामय ॥ ५ ॥
मन्दोऽग्नि वर्ततेऽनल्पो ऽनल्पकालसमुद्भव।
सर्वेषामिति कष्टाना, प्रारम्भो दृश्यते यत ॥ ६ ॥
दृश्यते ज्वरवैषम्यमेकाधिकशताङ्कगम्।
शुष्ककासो विशेषेण, पूर्वरात्रे च बाधते ॥ ७ ॥

व्याप्त. सर्वत्र देहेऽपि, तथापि क्रमयोर्द्वयो ।
शोथो विशेषता यातो, विस्मापयति मानवान् ॥ ८ ॥
करोति भिषजावर्य ! स्वकीया न क्रिया यकृत् ।
दृश्यते पाण्डुता तेन, त्वचि मूत्रे, मलेऽपि च ॥ ९ ॥
ज्वराधिक्ये क्वचित्तन्द्रा, हृल्लासश्चाशनान्तिके ।
उदरस्योन्नतिर्धीमन् ! कायकार्श्येऽपि वर्धते ॥ १० ॥
अर्यका पिडका जाता, मधुमेह-समुद्भवा ।
वामे पाणौ महाभाग, शल्यज्ञ सा विपाटिता ॥ ११ ॥
साम्प्रतं निम्बकल्कादि, योगेनायोजिताऽपि सा ।
शान्ताऽपि रोपण पूर्ण, भजते न विपायिता ॥ १२ ॥
चतु सख्य प्रतिशते, मधु-मूत्र-परीक्षके ।
निश्चित तस्य भागोऽपि, बुध्यते न भयावह ॥ १३ ॥
विना प्रमेहमप्येता, जायन्ते दुष्टमेदस ।
सत्यस्मिन् सुप्रमाणेऽपि, मधुमेहोऽनुमीयते ॥ १४ ॥
साम्प्रत मयका किं किं, क्रियतेऽत्र चिकित्सितम् ।
सक्षेपेण च तद् वक्ष्ये, विचार्यं वैद्यवल्लभै ॥ १५ ॥
यकृदरिर्व्वरारिश्च, सिंहनादरसस्तथा ।
मकरध्वजक प्राण-वल्लभो मेहकेशरी ॥ १६ ॥
हरीतकी च रोहीती, गोमूत्र च वृपो मधु ।
सत्त्व गुडूचिकायाश्च पिप्पली भूरिपेषिता ॥ १७ ॥
फाण्टे मन्येऽनुपाने च, प्रयुज्यन्ते यथा तथा ।
गामूत्रस्य च सेकोऽपि, क्रियतेऽथोदरोपरि ॥ १८ ॥
आहारे तु विशेषेण, पयो गव्य प्रदीयते ।
यवागू मुद्गदालिश्च, दीयतेऽपि कदाचन ॥ १९ ॥
केवलस्य तु दुग्धस्य, प्रयोगो नैव वर्तते ।
यद्यप्यस्य मतिर्भूयो, विज्ञवर्य ! प्रपद्यते ॥ २० ॥
कृपा विधाय रोगार्तेरक्षयश्च भिषग्यश ।
यत्करोति भवान् धीमान्, तत्कार्यमिति पूर्यताम् ॥ २१ ॥
१८ श्रीमन् ! भवद्दल प्राप्त, साम्प्रत पद्यपेशलम् ।
रोगलक्षणविज्ञान, व्यवस्था च प्रकाशयत् ॥ १ ॥
व्याधे स्वरूपमालक्ष्य, वलकालानुसारत ।
अनुमोदामहे साधु, व्यवस्था भवता कृताम् ॥ २ ॥
किन्तु यद्युदरे जात, सभाव्ये तोदक तदा ।
जलोदरारिनामान, मात्रया दीयता रस ॥ ३ ॥
पुनर्नवाष्टक क्वाथ, प्रात साय पिवेत् गदी ।
हृदयार्णवनामान, मधुना च लिहेद् रसम् ॥ ४ ॥
किं चाव केवल दुग्ध, धैनव वापि कारभम् ।
विहायान्न प्रसेवेत क्षिप्रमारोग्यकाङ्क्षया ॥ ५ ॥

रोग कष्टतमो वयो नहि नव नाप्यस्ति शक्तोगदी,
किं चोपद्रवपीडितोऽथ समयो घाराघर क्रोधन ।
इत्येतत् मनसाकलय्य यतता सम्यग् विविच्यात्मना,
तस्यारोग्यमह प्रपन्नशरण धन्वन्तरि प्रार्थये ॥ ६ ॥

संस्कृत के जैन वैयाकरण : एक मूल्यांकन

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

भारतीय वाङ्मय को समृद्ध करने मे जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होने ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ पर सहस्राधिक ग्रन्थो की रचना की है। भाषा और देशकाल के बन्धन मे वे कभी नही बन्धे। इसलिए प्राचीन भारतीय भाषाओ से लेकर आज तक की भाषाओ मे ग्रन्थ रचना की स्रोतस्विनी का अजस्र प्रवाह प्रवर्तमान है।

समय के दीर्घ अन्तराल मे भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थरत्न काल के कराल गाल मे समा गये। जैनाचार्यों की भी अनेक महनीय निधिया लुप्त हो गयी, फिर भी जितना शेष है, उससे भी भारत के सास्कृतिक इतिहास को जैनाचार्यों के महत्त्व-पूर्ण योगदान का मूल्याकन किया जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध मे हम सस्कृत व्याकरणशास्त्र को जैनाचार्यो के योगदान का मूल्याकन करेंगे। व्याकरणशास्त्र पर जैनाचार्यों ने जितने ग्रन्थ लिखे, उनमे से अनेक अब उपलब्ध नही है। अन्य ग्रन्थो मे उनके यत्र-तत्र बिखरे हुए जो सन्दर्भ मिलते हैं, उनसे उन ग्रन्थो की महनीयता का पता चलता है। वर्तमान मे जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वही इस मूल्याकन के आधार स्रोत है। मेरी राय मे यह मूल्याकन मुख्य रूप से निम्नलिखित दृष्टियो से किया जाना चाहिए।

१ जैनाचार्यो ने सस्कृत व्याकरणशास्त्र की दीर्घकालिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पूर्वाचार्यों की उपलब्धियो को अपने ग्रन्थो मे उदारतापूर्वक सरक्षित किया तथा प्राचीन ग्रन्थो पर न्यास, टीका आदि लिख कर सस्कृत व्या-करणशास्त्र का विस्तार, स्पष्टीकरण और सरलीकरण करके सस्कृत व्याकरण-शास्त्र की परम्परा को आगे बढाने मे जो योगदान दिया, उसका मूल्याकन इस प्रकार के अध्ययन का एक पहलू है।

२ भारत के सास्कृतिक इतिहास की जिस महत्त्वपूर्ण सामग्री को पूर्वाचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे सरक्षित किया था, उसे सुरक्षित रखते हुए उसमे समसामयिक

विशिष्ट सामग्री को जोडकर उदाहरणो आदि के माध्यम से अपने व्याकरण ग्रन्थो मे सुरक्षित किया। इसका मूल्याकन अध्ययन का दूसरा पहलू है।

३ जैन आचार्य इस बात के लिए विशेष जागरूक थे कि जैन तीर्थकरो ने दार्शनिक चिन्तन मे जिस एक विशेप दृष्टि को उद्भूत किया था, उसका प्रयोग ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओ मे किस प्रकार किया जाए। व्याकरण ग्रन्थो की रचना के समय भी जैनाचार्य इस विपय मे पूर्ण रूप से सजग रहे। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थो का मूल्याकन करने का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

जैन वाङ्मय मे व्याकरणशास्त्र की परम्परा

जैन आगमो मे बारहवा अग दृष्टिवाद है। वर्तमान मे यह पूर्ण रूप मे उपलब्ध नही है। दृष्टिवाद मे चौदह पूर्व शामिल थे। प्रत्येक पूर्व का वस्तु और वस्तु का अवान्तर विभाग 'प्राभृत' नाम से कहा जाता था। आवश्यक-चूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, सिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थभाष्यटीका और मलधारी हेमचन्द्र सूरिकृत अनुयोगद्वार सूत्रटीका मे 'शब्दप्राभृत' का उल्लेख मिलता है।

सिद्धसेनगणि ने कहा है कि पूर्वो मे जो शब्दप्राभृत है, उसमे से व्याकरण का उद्भव हुआ है। शब्दप्राभृत लुप्त हो गया है। वह किस भाषा मे था, यह निश्चित रूप मे नहीं कहा जा सकता। ऐसा माना जाता है कि चौदह पूर्व सस्कृत भाषा मे थे। इसलिए 'शब्द प्राभृत' भी सस्कृत मे रहा होगा।[1]

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है[2] कि सत्यप्रवाद पूर्व मे व्याकरणशास्त्र के सभी प्रमुख नियम आये है। इसमे वचन सस्कार के कारण, शब्दोच्चारण के स्थान, प्रयत्न, वचन-प्रयोग, वचन-भेद आदि का निरूपण है। वचन सस्कार का विवेचन करते हुए इसके दो कारण बताये गये हैं स्थान और प्रयत्न। शब्दोच्चारण के आठ स्थान बताये गये है—हृदय, कण्ठ, मस्तक, जिह्वामूल, दन्त, तालु, नासिका और ओष्ठ। शब्दोच्चारण के प्रयत्नो का विवेचन करते हुए स्पृष्टता, ईपत् स्पृष्टता, विवृतता, ईपद्विवृतता और सवृतता इन पाच की परिभापाए दी गयी है। वचन के शिष्ट और दुष्ट प्रयोगो के विश्लेपण मे शब्दो के साधुत्व और असाधुत्व का भी प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार 'सत्यप्रवादपूर्व' मे व्याकरणशास्त्र की एक स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार पूर्व ग्रन्थ भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। भगवान् महावीर के उपदेशो का जब सग्रह किया गया तो पूर्व ग्रन्थो को बारहवें दृष्टिवाद नामक अग मे शामिल कर लिया गया।

जैन आगमो की भाषा प्राकृत है। इनसे प्रतीत होता है कि प्राकृत मे रचा गया कोई प्राचीन प्राकृत व्याकरण रहा होगा।

अर्धमागधी आगम ग्रन्थो मे व्याकरण की अनेक बाते आई है। 'ठाणाग' के

अष्टम स्थान में आठ कारकों का निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वारसूत्र में तीन वचन, लिंग, काल और पुरुषों का विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थ में चार, पांच और दस प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख आया है। सूत्र १३० में सात समासों और पांच प्रकार के पदों का कथन किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत में व्याकरण ग्रन्थों के प्रणयन के पूर्व जैनाचार्यों ने प्राकृत में व्याकरण ग्रन्थों की रचना की होगी, जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि का अष्टाध्यायी सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याकरण है। यद्यपि पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में पूर्वज वैयाकरणों का उल्लेख किया है पर आज उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि का समय ईसा पूर्व ५०० से ४०० तक माना जाता है। जैन परम्परा में संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों की रचना कब से आरम्भ हुई, इसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है।

इस कथन में आंशिक सत्यता प्रतीत होती है कि 'जब ब्राह्मणों ने शास्त्रों पर अपना सर्वस्व अधिकार कर लिया तब जैन विद्वानों को व्याकरण आदि विषय के अपने ग्रन्थ बनाने की प्रेरणा मिली।'[१]

यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में जब संस्कृत में ग्रन्थ रचना होने लगी तो आचार्यों ने यह अनुभव किया कि उपलब्ध संस्कृत व्याकरणों से उनका पूरा काम नहीं चल सकता। वे इस बात के लिए भी अत्यधिक जागरूक थे कि तीर्थंकरों ने जिस दार्शनिक चिन्ताधारा का प्ररूपण किया था, उसका उपयोग व्याकरण शास्त्र में कैसे किया जाये। इसलिए उन्होंने स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थों की रचना की।

ऊपर शब्दप्राभृत या सद्दपाहुड के विषय में कहा गया है कि परम्परानुसार ऐसा ज्ञात होता है कि इसकी रचना संस्कृत में की गयी थी। शब्दप्राभृत पूर्व ग्रन्थों का अंग है। 'पूर्व' भगवान् पार्श्व की परम्परा के माने जाते हैं। पार्श्वनाथ का समय भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व माना जाता है। महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्वों की रचना ईसा पूर्व आठवीं शती में हुई होगी।

महावीर के समय में भी व्याकरण रचे जाने का उल्लेख मिलता है। ऐसी परम्परा एवं मान्यता है कि भगवान् महावीर ने इन्द्र के लिए एक शब्दानुशासन कहा। उसे उपाध्याय ने सुन कर लोक में ऐन्द्र नाम से प्रकट किया। आवश्यक-निर्युक्ति तथा हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति में कहा है

सँक्को अ। तत्समक्खं भगवंतं आसणे निवेसित्ता।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इंदं॥

डॉ० ए० सी० बर्नेल ने ऐन्द्र व्याकरण सम्बन्धी चीनी, तिब्बतीय और भारतीय

साहित्य के उल्लेखो का संग्रह करके 'आन द ऐन्द्र स्कूल आफ ग्रामेरियन्स' नामक ग्रन्थ लिखा है।

पूज्यपाद देवनन्दि के जैनेन्द्र व्याकरण को ही ऐन्द्र व्याकरण मानने का भ्रम भी बहुत समय से चलता रहा। यह भ्रम कम से कम सत्रहवी शती जितना पुराना तो है ही। उपाध्याय विनय विजय (स० १६९६) और लक्ष्मीवल्लभ मुनि (१८वी शती) ने जैनेन्द्र को भगवत्प्रणीत बताया है।

इस प्रकार के भ्रम फैलाने के लिए रत्नर्षि का 'भगवद्वाग्वादिनी' नामक ग्रन्थ जिम्मेदार है। रत्नर्षि नामक किसी मुनि ने लगभग वि० स० १७९७ मे देवनन्दि-कृत जैनेन्द्र व्याकरण के उत्तरवर्ती पाठ के सूत्रो को तोडमरोड कर उनकी दुर्व्याख्या करके ८०० श्लोक प्रमाण 'भगवद्वाग्वादिनी' नामक ग्रन्थ रचा और उसमे उन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण का कर्त्ता साक्षात् भगवान् महावीर को बताया। यही नही इसे महावीर की जीवनी मे इस प्रकार पिरोया कि सामान्य व्यक्ति को उस पर सन्देह भी नही हो सकता।[४]

ऐन्द्र व्याकरण के अतिरिक्त 'क्षपणक व्याकरण' के भी उल्लेख प्राप्त होते है। क्षपणक नामक किसी आचार्य ने इसकी रचना की थी। मैत्रेय रक्षित ने अपने 'तन्त्रप्रदीप' नामक ग्रन्थ मे क्षपणक व्याकरण का एकाधिक बार उल्लेख किया है। एक स्थान पर लिखा है

> "अतएव नावमात्मान मन्यते, इतिविग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्व बाधित्वा अमागमे सति 'नाव मन्ये' इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्।" (भारतकौमुदी भाग २, पृ० ८९३ की टिप्पणी)

तन्त्रप्रदीप सूत्र ४ १ १५५ मे 'क्षपणकमहान्यास' का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि क्षपणक रचित व्याकरण पर न्यास की भी रचना की गयी होगी।

'ज्योतिर्विदाभरण' मे विक्रमादित्य राजा की सभा के जिन नवरत्नो के नाम उल्लिखित है, उनमे क्षपणक का नाम सर्वश्रेष्ठ है "क्षपणकोऽमरसिहशङ्कूवेताल-भट्टघटकर्परकालिदासा। ख्यातो वराहमिहरो नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।"

क्षपणक रचित व्याकरण, उसका न्यास या उनका कोई अश अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।

पर्याप्त प्रमाणो के अभाव मे यह कहना युक्तिसगत नही होगा कि सिद्धसेन दिवाकर का ही दूसरा नाम क्षपणक था।[५]

सस्कृत व्याकरण साहित्य के इतिहास मे महर्षि पाणिनि, कात्यायन और पतजलि को मुनित्रय के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त है। उत्तरवर्ती व्याकरण शास्त्रकारो ने इस मुनित्रयी को अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है।

जैन व्याकरण साहित्य के इतिहास मे जिनेन्द्र, शाकटायन और हेम ऐसे ही मुनित्रय है। जिनेन्द्र अर्थात् आचार्य पूज्यपाद देवनदी, शाकटायन अर्थात् आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन तथा हेम अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र इन तीनो ने जैन व्याकरण के प्रवर्तन, प्रवर्धन और प्रसार मे सस्कृत व्याकरण शास्त्र के मुनित्रय के समान ही अनुपम कार्य किया। यद्यपि शाकटायन ने जैनेन्द्र पर तथा हेम ने जैनेन्द्र या शाकटायन पर कोई वृत्ति या महाभाष्य नही लिखा, फिर भी जैनेन्द्र की उपलब्धियो को शाकटायन ने सुरक्षित रखा और आगे बढाया तथा जैनेन्द्र और शाकटायन की उपलब्धियो को हेम ने अपने शास्त्र मे सुरक्षित किया और उसे आगे बढाया।

इस मुनित्रयी के व्याकरणो का अध्ययन सस्कृत व्याकरणशास्त्र मे जैनाचार्यो के योगदान को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करता है।

ऊपर हमने जिन तीन दृष्टियो से जैन व्याकरणशास्त्र के अनुशीलन की बात कही है, उनमे से प्रथम दो दृष्टियो से पाणिनि का अध्ययन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' मे किया है। इस प्रकार के अध्ययन का यह कीर्तिमान है। जैन व्याकरण के इस प्रकार के अध्ययन की भूमिका डा० अग्रवाल ने जैनेन्द्रमहावृत्ति की भूमिका मे प्रस्तुत की है। पूज्यपाद देवनन्दी को समर्पित उनका वह नैवेद्य उन्ही के लिए अर्घ्यदान के रूप मे यहा प्रस्तुत है।

डा० अग्रवाल ने सस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास की चर्चा से आरम्भ करते हुए लिखा है[1]

"भारतवर्ष मे व्याकरणशास्त्र का अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्ष से चला आ रहा है। भाषा के शुद्ध ज्ञान के लिए व्याकरण का महत्व सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरण को 'उत्तरा विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओ की अपेक्षा श्रेष्ठ कोटि मे माना गया। किसी भी भाषा के इतिहास मे धातु और प्रत्ययो की पहचान उस गौरवपूर्ण स्थिति की सूचक है जिसमे सूक्ष्म दृष्टि से भाषा के आन्तरिक सगठन का विवेक कर लिया जाता है, और शब्दो की उत्पत्ति और निर्माण की जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्य को आत्मसात् कर लिया जाता है। यो तो सभी मनुष्य अपनी-अपनी मातृभाषा मे बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते है, किन्तु व्याकरण की प्रक्रिया का जन्म उस राजपथ का निर्माण है जिस पर चलकर निर्भय भाव से हम भाषा के विस्तृत साम्राज्य मे जहा चाहे वहा पहुच सकते हैं और शब्दो मे भावप्रकाशन की जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते है। सस्कृत वैयाकरणो ने ससार मे सर्वप्रथम इस प्रकार का महनीय कार्य किया। शब्दो के विभिन्न रूपो के भीतर जो एक मूल सज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूप का निश्चय और प्रत्यक्ष जोडकर उससे बनने वाले क्रिया और सज्ञा रूपी अनेक शब्दो की रचना एव प्रत्ययो के अर्थो का निश्चय इस प्रकार के विविध विचार

की पद्धति का जिस शास्त्र मे आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया है।

संस्कृत साहित्य मे पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रो मे लौकिक और वैदिक संस्कृत का जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण का जो स्वरूप स्थिर किया उसी का विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदि के रूप मे लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनि के अतिरिक्त, पर मुख्यत उन्ही की निर्धारित पद्धति से और भी व्याकरण-ग्रन्थो का निर्माण हुआ। इस विषय मे एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है

इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायन ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका ॥

यह श्लोक मुग्धबोध के कर्ता प० वोपदेव का कहा जाता है। इस सूची मे वैयाकरणो की दो कोटिया स्पष्ट दिखाई पडती हैं। पहली कोटि मे इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि, ये पाच प्राचीन वैयाकरण थे। दूसरी कोटि मे अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र इन नवीन शाब्दिको की गणना है। पाणिनीय सूत्र 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' (४।२।६०) के एक वार्तिक पर काशिका मे 'पचव्याकरण' यह उदाहरण पाया जाता है, इसका अर्थ था पाच व्याकरणो का अध्ययन करने वाला या जानने वाला विद्वान्। (तदधीते तद्वेद)। इसमे जिन पाच व्याकरणो का एक साथ उल्लेख है, वे यही पाच प्राचीन व्याकरण होने चाहिए, जिनकी सूची मुग्धबोध के इस श्लोक मे है। इस पर सूक्ष्म विचार करने से यह तथ्य सामने आता है कि पाणिनि से पूर्वकाल मे व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन व्यापक रूप से हो रहा था, जैसाकि पाणिनीय व्याकरण के इतिहास से ज्ञात होता है। प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी मे लगभग ६४ आचार्यो के नाम आये हैं जिन्होने शब्दशास्त्र के सम्बन्ध मे उस प्राचीनकाल मे ऊहापोह किया था। इनमे से इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्न के व्याकरण इस समय उपलब्ध नही हैं, किन्तु पाणिनि से पहले वे अवश्य विद्यमान थे। ज्ञात होता है कि उन प्राचीन व्याकरणो की अधिकाश सामग्री के आधार पर एव स्वत अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोक से शब्द-सामग्री का सग्रह करके पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी का निर्माण किया। वह शास्त्र लोक मे इतना महान् और सुविहित समझा गया (पाणिनीय महत् सुविहितम्, भाष्य ५।३।६६) कि पाणिनि के उत्तरकाल मे नये व्याकरणो का रचना-क्रम एक प्रकार से बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरण का परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियो द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्य ने पाणिनि व्याकरण पर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिको की रचना करके उस महान् शास्त्र के प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र

व्याकरण रचने का उपक्रम नही किया। इसी प्रकार भगवान् पतजलि का महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरण की सीमा के भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाचवी शती विक्रम पूर्व मे नन्द राजाओ के समय मे हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य पर आश्रित जान पडती है जैसाकि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थ मे प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनि के बाद लगभग एक सहस्र वर्ष तक नूतन व्याकरण की रचना का प्रयत्न नही किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहास का यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण काल के लगभग सस्कृत भाषा को पुन सार्वजनिक रूप मे साहित्यिक भाषा और राजभाषा का पद प्राप्त हुआ। कनिष्क के समय मे अश्वघोष के काव्यो की रचना और रुद्रदामा के जूनागढ लेख से यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषा के क्षेत्र मे जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था ब्राह्मण साहित्य मे तो सस्कृत भाषा की परम्परा सदा से अक्षुण्ण थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्यों ने भी सस्कृत भाषा को उन्मुक्त भाव से अपना लिया और उसके अध्ययन से दोनो ने अपने क्षेत्र मे विपुल साहित्य का निर्माण किया जिसमे किसी समय सहस्रो ग्रन्थ थे। कुषाण काल से जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहा तक कि लगभग चौथी-पाचवी शती ईस्वी मे सस्कृत भाषा को न केवल भारत वर्ष मे अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वरच मध्य एशिया से लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तक के देशो मे पारस्परिक व्यवहार के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमि मे शब्दविद्या का पुन वह छूटा हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नए व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वय पाणिनीय व्याकरणो पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यास की रचना हुई। यह टीका के मार्ग से प्राचीन व्याकरण का ही विशदीकरण था, किन्तु बौद्ध और जैन दो बडे समुदाय सस्कृत भाषा की नयी शक्ति से परिचित हो रहे थे, उन्होने अपने अपने क्षेत्र मे दो नये व्याकरणो का निर्माण किया। बौद्धो मे आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनो मे आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युग मे अस्तित्व मे आए। ज्ञात होता है कि दोनो की ही रचना लगभग ५वी शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध मे हुई। चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति मे 'अजयद् जतो हूणान्' (१।२।८१) उदाहरण से सिद्ध है कि पाचवी शती के मध्य मे स्कन्दगुप्त ने हूणो पर जो वडी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरण मे अवशिष्ट है। इससे चान्द्रव्याकरण के रचनाकाल पर प्रकाश पडता है। पूज्य पाद देवनन्दी ने दो सूत्रो मे प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन (वेत्ते सिद्धसेनस्य, ५।१।७) और

समन्तभद्र 'चतुष्टय समन्तभद्रस्य' (५।४।१४०) का उल्लेख किया है। ये दोनो देवनन्दी से कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर का समय भी सर्वथा निश्चित नही है, किन्तु अनुश्रुति के अनुसार उन्हे विक्रमादित्य का समकालीन माना जाता है। विक्रम के नवरत्नो की सूची मे जिस क्षपणक का उल्लेख है उन्हे विद्वान् चन्द्रसेन दिवाकर ही मानते है। श्री राइस ने सिद्धसेन का समय पाचवी शती के मध्यभाग मे माना है, किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५-४१३) और सिद्धसेन की समसामयिकता का आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेन को चौथी शती के अन्त मे मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्र का होना चाहिए। श्री प्रेमी जी ने अपने पाडित्यपूर्ण लेख मे देवनन्दी के समय के विषय मे जो प्रमाण सगृहीत किये है उनकी सम्मिलित साक्षी से भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाचवी शती के अन्त मे हुए है। इस सम्बन्ध मे एक विशेष प्रमाण की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार सवत् ९९० मे बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थ मे कहा है कि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने दक्षिण मधुरा से ५२६ विक्रमी मे (४६९ ई०) द्राविड सघ की स्थापना की। इससे भी पूज्यपाद का समय ५वी शती के उत्तरार्ध मे सिद्ध होता है। इसी का समर्थन करने वाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित के अनुसार गग-वशीय राजा अविनीत (वि० स० ५२३) के पुत्र दुर्विनीत (वि० स० ५३८, ईस्वी ४८१) आचार्य पूज्यपाद के शिष्य थे, अतएव पूज्यपाद ५वी शती के उत्तरार्ध के सिद्ध होते है। महाराज पृथिवीकोकण के दानपत्र मे लिखा है श्रीमत्कोंकण महाराजाधिराजस्याविनीतनाम्न पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारती निबद्ध-बृहत्कथेन किरातार्जुनीयपचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन ' अर्थात् अविनीत के पुत्र दुर्विनीत ने शब्दावतार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। जैसे प्रेमी जी ने लिखा है शिमोगा जिले की नगर तहसील के शिलालेख मे देवनन्दी को पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यास का कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीत के गुरु पूज्यपाद ने वह ग्रन्थ रच कर अपने शिष्य के नाम से प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृखला की पहली कडी है जिसमे गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये-नये व्याकरणो की रचना होती चली गई। जैनेन्द्र (पाचवी शती), चन्द्र (पाचवी शती), शाकटायन (नवमी शती का पूर्वार्द्ध), सरस्वतीकण्ठाभरण (ग्यारहवी शती का पूर्वार्द्ध) और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन (बारहवी शती का पूर्वार्द्ध) इन सबने उन्मुक्त मन से और अत्यन्त सौहार्द भाव से पाणिनीय व्याकरण की मूल सामग्री का अवलम्बन लिया। इनमे भी जैनेन्द्र व्याकरण ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण को छोडकर अपने आपको पाणिनीय सूत्रो के सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरण के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्र ने पाणिनि सामग्री की प्राय अविकल रक्षा की है। केवल स्वर

और वैदिक प्रकरणो को अपने युग के लिए आवश्यक न जानकर उन्होंने छोड दिया था। जैनेन्द्र व्याकरण के कर्ता ने पाणिनीय गणपाठ की बहुत सावधानी से रक्षा की थी। मूल व्याकरण मे पाणिनि के गणसूत्रो को प्राय स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओ वाले और गोत्र सम्बन्धी गणो से सिद्ध होने वाले नामो का जैन साहित्य के लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरण की रचना हुई उस समय भाषा के विषय मे लोक की चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भाव से युक्त थी, अतएव जैनेन्द्र व्याकरण की प्रवृत्ति पाणिनि सामग्री के निराकरण मे नही, वरन् उसके अधिक से अधिक सरक्षण मे देखी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरण के साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूप से उपलब्ध न होकर अभयनन्दी कृत महावृत्ति के अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायन के वार्तिक और पतजलि के भाष्य की दृष्टियो मे जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हे देवनन्दी ने सूत्रो मे अपना लिया है, इसलिए भी यह व्याकरण अपने समय मे विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिका मे भी किसी अश मे आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणो मे भी बराबर पाई जाती है।

आचार्य अभयनन्दी की महावृत्ति लगभग काशिका के समान ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके कर्ता ने कात्यायन के वार्तिक और पतजलि के भाष्य से बहुत अधिक उपादेय सामग्री का अपने ग्रन्थ मे सकलन कर लिया है। महावृत्ति का काल आठवी शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दी ने काशिका वृत्ति का उपयोग किया था। वस्तुत किसी भी पाठक से यह तथ्य छिपा नही रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिका का ही रूपान्तर जैनेन्द्र पचाध्यायी और उसकी महावृत्ति मे प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्ति की सूक्ष्म तुलना करने पर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दी ने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिका मे उपलब्ध नही होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्री की शिक्षा की है जो काशिका से प्राप्त नही हो सकती। उन्होने जहाँ सम्भव हो सका वहाँ जैन तीर्थंकरो के, महापुरुषो के, या ग्रन्थो के नाम उदाहरणो मे डाल दिये है। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरण मे 'अनुशालिभद्रम् आढ्या, अनुसमन्तभद्र तार्किका, सूत्र १।४।१६ के उदाहरण मे 'उपसिहनन्दिन कवय, उपसिद्धसेन वैयाकरणा, सूत्र १।४।२० की वृत्ति मे 'आकुमारेभ्यो यश समन्तभद्रस्य, सूत्र १।४।२२ की टीका मे 'अभयकुमार श्रेणिकत प्रति, सूत्र २।१।९८ की टीका मे 'भरतगृह्य, भुजवलिगृह्य, सूत्र १।३।१० की वृत्ति मे 'आकुमार यश समन्तभद्रस्य ऐसे उदाहरण है जो वृत्तिकार ने मूलग्रन्थ के अनुकूल जैन वातावरण का निर्माण करने के लिए अपनी प्रतिभा से बनाये है। सूत्र १।३।५ की वृत्ति मे 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्वपूर्ण है, उसी के साथ 'सम्बन्धम्, सटीकम् अधीते' भी ध्यान देने

योग्य है। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृत से तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृत से था जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इसी का दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसी का भागविशेष 'बन्ध' या महाबन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) था जिसके अध्ययन से यहाँ अभयनन्दी का तात्पर्य ज्ञात होता है, अर्थात् उस समय भी विद्वानों में प्राभृत या षट्खण्डागम से पृथक् महाबन्ध का अस्तित्व था और दोनों का अध्ययन जीवन का आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' में जिस टीका का उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेन ने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतार के अनुसार महाकर्मप्राभृत पर आचार्य कुन्दकुन्द ने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सम्भवतः वही टीका प्राभृत और बन्ध के साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्र के उदाहरणों में किसी समय इष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मण के तत्तद् काण्डों का अध्ययन विद्या का आदर्श माना जाता था। देवनन्दी ने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्य का उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दी की महावृत्ति से सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोक में प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्,' यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोक-प्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्' 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्त की लोक-प्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं (श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशते, महा-वृत्ति १।३।५)। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरण में अभयनन्दी ने श्रीदत्त के विरचित ग्रन्थ को श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्त का बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। १।४।४ की वृत्ति में 'शरद मथुरा रमणीया, मास कल्याणी काञ्ची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दी की मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (२।३।५) की काशिका वृत्ति में मास कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मास कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दी ने किसी विशेष स्रोत से प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरी के मासव्यापी उत्सवों की विशेष शोभा की ओर इस उदाहरण में संकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंहवर्मन् आदि पल्लव नरेशों की राजधानी के सम्बन्ध में होना चाहिए। अतएव सप्तम शती से पूर्व यह उदाहरण भाषा में उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्ति में अभयनन्दी ने माघ के 'घटाछटाभिन्नघनेन विभ्रता ' श्लोक का उद्धरण दिया है। माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात के मन्त्री थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघ का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। इसके बाद ही अभयनन्दी ने महावृत्ति का निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६६ पर 'चन्द्रगुप्तसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परा में प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिका में जो 'पुष्पमित्रसभा' दूसरा उदाहरण

है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रखा है। उसी प्रकार काशिका (२।४।२३) मे केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दी ने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये है। कही-कही अभयनन्दी ने काशिका की अपेक्षा भाष्य के उदाहरणो को स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ मे औदालकि पिता, औद्दालकायन पुत्र' यह भाष्य का उदाहरण था, जिसे बदलकर काशिका ने अपने समय के अनुकूल आर्जुन पिता, अर्जुनायन पुत्र' (काशिका २।४।६६) यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकार के समय के अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्त की प्रयागस्तम्भ प्रशस्ति मे आर्जुनायनगण के उल्लेख से ज्ञात होता है। कही-कही महावृत्ति मे काशिका की सामग्री को स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये है जो सूचित करते है कि अभयनन्दी की पहुच अन्य प्राचीन वृत्तियो तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्ति मे 'उद्ध्येरावति' तो काशिका मे भी है किन्तु 'विपाट्चक्रभिदम् (विपाशा और चक्रभिद् नदी का सगम) उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ मे मयूरिकाबन्ध, क्रौचबन्ध, चक्रबन्ध, कूटबन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिका मे समान है, पर चण्डालिकाबन्ध और महिषिकबन्ध उदाहरण महावृत्ति मे नये हैं। काशिका का मुष्टिबन्ध महावृत्ति मे दृष्टिबन्ध और चोरकबन्ध चारकबन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ मे भी चारकबन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पान देशे' की वृत्ति मे काशिका के 'क्षीरपाणा उशीनरा' को 'क्षीरपाणा आन्ध्रा' और 'सौवीरपाणा बाह्लीका' को 'सौवीरपाणा द्रविणा' कर दिया है। 'द्रविणा' द्रमिल या द्रमिड का रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दी ने किसी प्राचीन वृत्ति के आधार पर या स्वय अपनी सूचना के आधार पर किये होगे। आन्ध्र देश मे दूध पीने का और तमिल देश मे काजी पीने का व्यवहार लोक मे प्रसिद्ध रहा होगा। कही-कही महावृत्ति मे कठिन शब्दो के नये अर्थ सग्रह करने का प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्ति मे 'अपडक्षीणो मन्त्र' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मन्त्र या परामर्श जो केवल राजा और मन्त्री के बीच मे हुआ हो (यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभि)। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' के अनुसार राजा और मुख्य मन्त्री की 'चार आखो' या 'चार कानो' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जाने की आशका रहती थी। अभयनन्दी ने काशिका के इस अर्थ को स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीति से। उन्होने 'अपडक्षीणो देवदत्त' उदाहरण को प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नाम का व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्र मे से किसी को न देखा हो। अर्थात् जो स्वय अपने पिता पितामह की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वय अपने पुत्र जन्म के कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेद को भी अपडक्षीणा कहा है (येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडत सोऽप्येवमुक्त)।

योग्य है। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृत से तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे था जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतवलि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इसी का दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसी का भागविशेष 'वन्ध' या महावन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) था जिसके अध्ययन से यहाँ अभयनन्दी का तात्पर्य ज्ञात होता है, अर्थात् उस समय भी विद्वानो मे प्राभृत या षट्खण्डागम से पृथक् महावन्ध का अस्तित्व था और दोनो का अध्ययन जीवन का आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' मे जिस टीका का उल्लेख है वह धवला टीका नही हो सकती क्योकि उसकी रचना वीरसेन ने ८१६ ई० मे की थी। श्रुतावतार के अनुसार महाकर्मप्राभृत पर आचार्य कुन्दकुन्द ने भी एक वडी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सम्भवत वही टीका प्राभृत और वन्धके साथ पढी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणो मे किसी समय इष्टि, पशुवन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मण के तत्तद् काण्डो का अध्ययन विद्या का आदर्श माना जाता था। देवनन्दी ने सूत्र १।४।३४ मे जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हे कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते है, परन्तु अभयनन्दी की महावृत्ति से सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोक मे प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्,' यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोक-प्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्' 'अहोश्रीदत्तम् प्रयोग भी श्रीदत्त की लोक-प्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते है (श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशते, महा-वृत्ति १।३।५)। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरण मे अभयनन्दी ने श्रीदत्त के विरचित ग्रन्थ को श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्त का वनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। १।४।४ की वृत्ति मे 'शरद मथुरा रमणीया, मास कल्याणो काची' ये दोनो उदाहरण अभयनन्दी की मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे' (२।३।५) की काशिका वृत्ति मे मास कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मास कल्याणी काची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दी ने किसी विशेष स्रोत से प्राप्त की थी। जिस काचीपुरी के मासव्यापी उत्सवो की विशेष शोभा की ओर इस उदाहरण मे सकेत हैं वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लव नरेशो की राजधानी के सम्वन्ध मे होना चाहिए। अतएव सप्तम शती से पूर्व यह उदाहरण भाषा मे उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्ति मे अभयनन्दी ने माघ के 'सटाछटाभिन्नघनेन विभ्रता ' श्लोक का उद्धरण दिया है। माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात के मन्त्री थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघ का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। इसके बाद ही अभयनन्दी ने महावृत्ति का निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६६ पर 'चन्द्रगुप्तसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परा से प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिका मे जो 'पुष्पमित्रसभा' दूसरा उदाहरण

है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रखा है। उसी प्रकार काशिका (२।४।२३) मे केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दी ने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये है। कही-कही अभयनन्दी ने काशिका की अपेक्षा भाष्य के उदाहरणो को स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ मे औदालकि पिता, औद्दालकायन पुत्र' यह भाष्य का उदाहरण था.जिसे वदलकर काशिका ने अपने समय के अनुकूल आर्जुन पिता, अर्जुनायन पुत्र '(काशिका २।४।६६)यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकार के समय के अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्त की प्रयागस्तम्भ प्रशस्ति मे आर्जुनायनगण के उल्लेख से ज्ञात होता है। कही-कही महावृत्ति मे काशिका की सामग्री को स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये है जो सूचित करते है कि अभयनन्दी की पहुच अन्य प्राचीन वृत्तियो तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्ति मे 'उद्ध्येरावति' तो काशिका मे भी है किन्तु 'विपाट्चक्रभिदम् (विपाशा और चक्रभिद् नदी का सगम) उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ मे मयूरिकावन्ध, क्रौचवन्ध, चक्रवन्ध, कूटवन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिका मे समान है, पर चण्डालिकावन्ध और महिषिकवन्ध उदाहरण महावृत्ति मे नये हैं। काशिका का मुष्टिवन्ध महावृत्ति मे दृष्टिवन्ध और चोरकवन्ध चारकवन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ मे भी चारकवन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पान देशे' की वृत्ति मे काशिका के 'क्षीरपाणा उशीनरा' को 'क्षीरपाणा आन्ध्रा' और 'सौवीर-पाणा वाह्लीका' को 'सौवीरपाणा द्रविणा' कर दिया है। 'द्रविणा' द्रमिल या द्रमिड का रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दी ने किसी प्राचीन वृत्ति के आधार पर या स्वय अपनी सूचना के आधार पर किये होगे। आन्ध्र देश मे दूध पीने का और तमिल देश मे काजी पीने का व्यवहार लोक मे प्रसिद्ध रहा होगा। कही-कही महावृत्ति मे कठिन शब्दो के नये अर्थ सग्रह करने का प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्ति मे 'अषडक्षीणो मन्त्र' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मन्त्र या परामर्श जो केवल राजा और मन्त्री के बीच मे हुआ हो(यो द्वाभ्यामेव क्रियते न वहुभि)। 'पट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' के अनुसार राजा और मुख्य मन्त्री की 'चार आखो' या 'चार कानो' से वाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जाने की आशका रहती थी। अभयनन्दी ने काशिका के इस अर्थ को स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीति से। उन्होने 'अपडक्षीणो देवदत्त' उदाहरण को प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नाम का व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्र मे से किसी को न देखा हो। अर्थात् जो स्वय अपने पिता पितामह की मृत्यु के वाद उत्पन्न हुआ हो और स्वय अपने पुत्र जन्म के कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेंद को भी अपडक्षीणा कहा है।(येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडत सोऽप्येवमुक्त)।

या तो ये अर्थ अभयनन्दी के समय मे लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्ति मे 'अपडक्षीण' का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमे खीचतान ही जान पडती है। सूत्र ३।४।१३४ मे 'अयानयीन' शब्द के अर्थ का भी महावृत्ति मे विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ मे इतिहास की विशेष महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गयी है। उसमे ये दो उदाहरण आए हैं

'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। अरुणद् यवन साकेतम्।'

व्याकरण की दृष्टि से यह आवश्यक था कि कोई ऐसा उदाहरण लिया जाता जो लोकप्रसिद्ध घटना का सूचक हो, जो कहने वाले के परोक्ष मे घटित हुआ हो किन्तु जिसका देख सकना उसके लिए सम्भव हो अर्थात् उसके जीवन काल की ही कोई प्रसिद्ध घटना हो, पर जिसे सम्भव होने पर भी उसने स्वय देखा न हो। भाष्यकार पतजलि ने इसका उदाहरण देते हुए अपनी समसामयिक दो घटनाओ का उल्लेख किया था 'अरुणद् यवन साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।' इनमे शाकल के यवन राजाओ द्वारा किये हुए उन दो हमलो का उल्लेख है जिनमे से एक पूर्व की ओर साकेत पर और दूसरा पश्चिम मे मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड के पास का वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते है और जहाँ खुदाई मे प्राप्त पुराने सिक्को पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजा ने किये थे उसका नाम पतजलि ने नही दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखको के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस राजा का नाम मिनन्डर था जिसे पाली भाषा मे मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्को पर तत्कालीन वोलचाल की प्राकृत भाषा मे उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्ति के 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' इस उदाहरण मे दो महत्वपूर्ण सूचनाए है। इसमे राजा का नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मति मे इसका मूलपाठ 'मेनन्द्र' था। पीछे के लेखको ने मेनन्द्र नाम की ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरण से सम्कृत साहित्य की भारतीय साक्षी प्राप्त हो जाती है कि पूर्व की ओर अभियान करने वाले यवनराज का नाम मेनन्द्र या मिनन्डर था। यवनराज मेनन्द्र ने पाटलिपुत्र पर दात गडा कर पहले धक्के मे मथुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे वढ कर साकेत को छेक लिया। साकेत पहुचने के लिए मथुरा का जीतना आवश्यक था। अव यह सूचना पक्के रूप मे अभयनन्दी के उदाहरण से प्राप्त हो जाती है। इसने यह भी पता लगता है कि काशिका के अतिरिक्त भी अभयनन्दी के सामने पाणिनि व्याकरण की ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।३६ की वृत्ति मे आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है

उलूखलैराभरणै पिशाची यदभापत्। एतत्तु ते दिवा नृत्त रात्रौ नृत्त तु द्रक्ष्यसि॥

काशिका २।१।४५ मे यह श्लोक किन्ही प्रतियो मे प्रक्षिप्त और किन्ही मे मूल के अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्ति से सिद्ध हो जाता है कि वह काशिका के मूल पाठ का भाग था। श्लोक के उत्तरार्द्ध मे जो 'दिवानृत्त रात्रौ नृत्त' पाठ है उसका समर्थन महाभारत की कुछ प्रतियो से होता है पर कुछ अन्य प्रतियो मे 'वृत्त' पाठ है जैसा कि काशिका मे और महाभारत के पूना सस्करण मे भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति को जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरण की पुष्कल सामग्री से भर दिया है, वह सर्वथा अभिनन्दन के योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति इन तीनो का तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूप से जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकार ने परम्परा से प्राप्त सामग्री की कितनी अधिक रक्षा अपने-अपने ग्रन्थ मे की थी। यह सन्तोष का विषय है कि इन कृतियो ने सावधानी के साथ प्राचीन सामग्री को बचा लिया।

आचार्य देवनन्दी ने पाणिनीय अष्टाध्यायी को आधार मानकर उसे पचाध्यायी मे परिवर्तन करते समय दो बातो की ओर विशेष ध्यान रखा था- एक तो धातु प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासज्ञाओ को भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण मे इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होने बीजगणित के जैसे अतिसक्षिप्त सकेतो मे बदल दिया है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दी ने छोड दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होने उदारता से काम लिया है, जैसे आनाय्य, धाय्या, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, (२।१।१०४-१०५), ग्रावस्तुत् (२।२।१५६) आदि वैदिक साहित्य मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो को रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण (३।२।२१-२८) मे शुक्र अपोनप्तृ, महेन्द्र, सोम, द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीपोम, वास्तोस्पति, गृहमेध आदि गृह्यसूत्र कालीन देवताओ के नातो को पाणिनीय प्रकरण के अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्येक मे आने वाले फ, ढ, ख, छ, घ, और यु, वु, एव उनके स्थान मे होने वाले आदेशो को भी ज्यो का त्यो रहने दिया है। (५।१।१, ५।१।२)। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण (३।३।७६-८०) मे वैदिक शाखाओ और ब्राह्मण ग्रन्थो के नाम भी ज्यो के त्यो जैनेन्द्र व्याकरण मे स्वीकृत कर लिये गए है। कही-कही जैनेन्द्र ने उन परिभाषाओ को स्वीकार किया जो प्राक्पाणिनीय व्याकरणो मे मान्य थी और जिनका उल्लेख भाष्य या वार्तिको मे आया है। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ मे उत्तरपद की द्युसज्ञा मानी गयी है। पतजलि के महाभाष्य मे सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिक मे द्यु पाठ है और वहां 'किमिद घोरिति उत्तरपदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्य मे अघु को अनुत्तरपद का पर्याय माना है पर कीलहार्न

का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ द्यु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्र के सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपद द्यु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्य मे भी द्यु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र और उससे सम्बन्धित असिद्ध प्रकरण को भी जो पाणिनि के शास्त्रनिर्माण कौशल का अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरण मे 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र (५।३।२७) मे स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्र के साढे चार अध्यायो के प्रति अन्त के लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्र के अन्तर्गत आते है। देवनन्दी ने अपनी पचाध्यायी मे पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम मे कम से कम फेरफार करके उसे जैसे का तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रो के शब्दो मे जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है।

पूज्यपाद देवनन्दी ने आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका का निर्माण किया था जो ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थ मे उन्होने कई स्थलो पर व्याकरण के सूत्रो का उद्धरण दिया है। उनमे बिना पक्षपात के जैनेन्द्र सूत्रो को भी और पाणिनीय सूत्रो को भी उद्धृत किया गया है। उदाहरण के लिए अध्याय ४ सूत्र १९ की सर्वार्थसिद्धि टीका मे दो सूत्रो का उल्लेख है 'तदस्मिन्नस्तीति' और 'तस्य निवास'। इनमे पहले के विषय मे यह कहना कठिन है कि वह किस व्याकरण से लिया गया है, किन्तु दूसरा पाणिनीय व्याकरण का ही है (४।२।६९) क्योकि उसका जैनेन्द्रगत पाठ 'तस्य निवासादूरभवौ' रूप मे मिलता है (सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५०)। पूज्यपाद ने न केवल नवीन व्याकरण सूत्रो की रचना की, वरन् उन पर जैनेन्द्र-न्यास भी बनाया था। उन्होने पाणिनीय सूत्रो पर शब्दावतार न्यास भी लिखा था किन्तु अभी तक ये दोनो ग्रन्थ उपलब्ध नही हुए है। इसमे सन्देह नही कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायन के वार्तिक और पतजलि के भाष्य के पूर्ण मर्मज्ञ थे, एव जैनधर्म और दर्शन पर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्तयुग के प्रतिभाशाली महान् साहित्कार थे जिनका तत्कालीन प्रभाव कोकण के नरेशो पर था, किन्तु कालान्तर मे जो सारे देश की विभूति बन गये।

डॉ० अग्रवाल ने जैनेन्द्र के उपर्युक्त विश्लेषण मे जो बाते कही हैं उन्हे विद्वान् शत प्रतिशत रूप मे ज्यो का त्यो स्वीकार कर ले, यह आवश्यक नही है। वे अपनी व्याख्या अलग दे सकते है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए यह आकाशदीप है, इसमे दो राय नही हो सकती।

जैन व्याकरण शास्त्र के अध्ययन की जिस तीसरी दृष्टि का हमने ऊपर जिक्र किया है, उसे किन्ही अर्थो मे पारस्परिक तरीके से देखने-सोचने की बात

भी कहा जा सकता है पर है वह एक विशेष दृष्टि। उस दृष्टि से भी जब हम देखते हैं तो सर्व प्रथम हमारा ध्यान जैनेन्द्र पर ही जाता है।

उपलब्ध जैन व्याकरण ग्रन्थों मे पूज्यपाद देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण प्रथम है। देवनन्दी दिगम्बर परम्परा के विश्रुत जैनाचार्य थे। उनके पूज्यपाद तथा जैनेन्द्रबुद्धि नाम भी प्रचलित थे। नन्दीसघ पट्टावली मे इसका उल्लेख निम्नप्रकार किया गया है

"यश कीर्तिर्यशोनन्दि देवनन्दी महामति ।
श्री पूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकर ॥"

श्रवणवेलगोल के ४०वे शिलालेख मे देवनन्दी का जिनेन्द्रबुद्धि नाम वताया गया है

"यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धि ।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम् ॥

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य का प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धि की महत्ता के कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये तथा देवो ने उनके चरणो की पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ। जिनेन्द्रबुद्धि नाम के एक बौद्ध साधु विक्रम की आठवी शती मे हुए। उन्होने पाणिनीय व्याकरण की काशिकावृत्ति पर एक न्यास की रचना की थी, जो 'जिनेन्द्रबुद्धिन्यास' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जिनेन्द्र बुद्धि पूज्यवाद जिनेन्द्रबुद्धि से भिन्न है। श्रवणवेलगोल के एक अन्य लेख १०८ (२८५) मे उनका उल्लेख इस प्रकार है

"जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत् स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णित ।"

पूज्यपाद अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। दर्शन और लक्षणशास्त्र के वे अद्वितीय पण्डित थे।

प० युधिष्ठिर मीमासक के अनुसार पूज्यपाद के 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' उदाहरण मे गुप्तवशीय कुमारगुप्त (४१३-४५५) की मथुरा विजय की ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है।[८] इससे ज्ञात होता है कि पूज्यपाद कुमार गुप्त के समकालीन थे।

पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण मे अपने पूर्ववर्ती छह आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है

१ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् । ।१।४।३४॥
२ कुवृषिभृजा यशोभद्रस्य ॥२।१।९९॥
३. राद् भूतवले (।३।४।८३॥
४. रात्रे कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४।३।१८०॥
५. वेत्ते सिद्धसेनस्य ॥५।१।७॥
६ चतुष्टय समन्तभद्रस्य ॥५।४।१४०॥

इन छह आचार्यों में से किसी एक का भी कोई व्याकरण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। न ही कहीं इनके वैयाकरण होने का उल्लेख मिलता है। इसलिए मात्र इन उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि इन आचार्यों ने व्याकरण ग्रन्थों की रचना की होगी। इतना अवश्य है कि ये आचार्य पूज्यपाद से पूर्ववर्ती तथा विश्रुत आचार्य हुए हैं। उनके ग्रन्थों में व्याकरण के प्रयोगों का जो वैशिष्ट्य मिलता है उसमें उनके वैयाकरण होने का प्रमाण मिलता है। पूज्यपाद के इन उल्लेखों में उक्त आचार्यों के समय निर्णय के लिए एक निश्चत आधार उपलब्ध हो जाता है।

जैनेन्द्र व्याकरण के दो पाठ

ऊपर बताया गया है कि उपलब्ध जैन व्याकरण-ग्रन्थों में पूज्यपाद देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण सर्वप्रथम है। वर्तमान में इसके दो पाठ मिलते हैं। दोनों पाठों पर अलग-अलग टीका या वृत्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

एक सूत्र पाठ के अनुसार जैनेन्द्रव्याकरण में कुल ३००० सूत्र हैं। इन पर आचार्य अभयनन्दीकृत महावृत्ति आचार्य प्रभाचन्द्र कृत शब्दाम्भोजभास्कर, श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तु नाम की प्रक्रिया तथा पंडित महाचन्द्रकृत लघु जैनेन्द्र टीका उपलब्ध हैं।

दूसरे सूत्र पाठ के अनुसार ग्रन्थ में कुल ३७०० सूत्र हैं। इस पर सोमदेव सूरि कृत शब्दार्णवचन्द्रिका तथा गुणनन्दी कृत प्रक्रिया उपलब्ध है। इस पाठ में ७०० सूत्र अधिक होने के अतिरिक्त शेष ३००० सूत्र भी पूर्णतया एक जैसे नहीं हैं। इस सूत्र पाठ के अनेक सूत्र परिवर्तित और परिवर्द्धित किये गये हैं। संज्ञाओं में भी भिन्नता है। इतना होने पर भी दोनों में पर्याप्त समानता है।

जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र पांच अध्यायों में विभक्त है। इस कारण इसे पंचाध्यायी भी कहा जाता है।

जैनेन्द्र व्याकरण की अनेक विशेषताएं हैं, जो उसे पाणिनी व्याकरण से अलग करती है। उदाहरण के लिए

१ जैनेन्द्र का सर्वप्रथम सूत्र है सिद्धिरनेकान्तात् ॥१।१।१॥ अर्थात् शब्द की सिद्धि अनेकान्त द्वारा होती है।

अनेकान्त जैन दर्शन का अन्यतम सिद्धान्त है। इसके द्वारा वस्तु की अनेक धर्मात्मकता का प्रतिपादन किया जाता है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। शब्द पुद्गल की पर्याय है। इसलिए वह भी अनन्त धर्मात्मक है। शब्द में नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। ऐसे शब्दों की सिद्धि अनेकान्त में ही सम्भव है। एकान्त सिद्धान्त से अनेक धर्मविशिष्ट शब्दों का साधुत्व नहीं बताया जा सकता।

२ "स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेपानारम्भ ॥१।१।९९॥ इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर एकत्व, द्वित्व, और वहुत्व मे प्रवृत्त होते है। अत एकशेष मानना निरर्थक है। इसी कारण जैनेन्द्र व्याकरण अनेक शेष है। पूज्यपाद की मान्यता है कि लोक व्यवहार मे जो चीज सर्वत्र प्रचलित है उसे सूत्रवद्ध निर्देश करने से शास्त्र का निरर्थक कलेवर वढता है।

पाणिनि ने 'रामा' जैसे वहुवचन के प्रयोगो की सिद्धि के प्रसग मे अनेक के स्थान पर एकशेप करने के लिए "सरूपाणामेकशेष" सूत्र की रचना की है। जैनेन्द्र ने इसे निरर्थक माना है।

३. जैनेन्द्र का सज्ञा प्रकरण वहुत ही मौलिक और साकेतिक है। इसमे धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महा-सज्ञाओ के लिए बीज-गणित जैसी अति सक्षिप्त और पूर्ण सज्ञाए दी गई है। पाणिनि की तुलना मे ये सज्ञाए अति सक्षिप्त हैं। दोनो की तुलना करके देखने पर इसका स्पष्ट ज्ञान होता है

पाणिनि की सज्ञाएं	जैनेन्द्र की सज्ञाए	पाणिनि की संज्ञाएं	जैनेन्द्र की संज्ञाएं
१ अर्द्धधातुकम्	अग	२ चतुर्थी विभक्ति	अप्
३ द्वितीया विभक्ति	इप्	४ सप्तमी विभक्ति	ईप्
५ उपधा	उड्	६ श्लु	उच्
७ वृद्धि	ऐच्	८ पचमी विभक्ति	का
९ सवुद्धि	कि	१०. लोप	ख
११ सज्ञा	खु	१२ उपसर्ग	गि
१३ अगम्	गु	१४ अगम्	गु
१५ लघु	घि	१६ अनुनासिकम्	ङ्
१७ भावकर्म	डि	१८ अभ्यास	च
१९. अव्ययम्	झि	२० कर्मव्यतिहार	त्र
२१ पष्ठी विभक्ति	ता	२२ गति	ति
२३. प्रत्यय	त्य	२४ अभ्यस्तम्	थ
२५. आत्मने पदम्	द	२६ प्रगृह्यम्	दि
२७ दीर्घम्	दी	२८ वृद्धम्	दु
२९ उत्तरपदम्	द्यु	३०. सर्वनाम स्थानम्	धम्
३१ अकर्मकम्	धि	३२. धातु	घु
३३ निपात	नि	३४ नपुसक लिगम्	नप्

३५	उपसर्जनम्	न्यक्	३६	प्लुत	प
३७	ह्रस्व	प्र	३८	बहुव्रीहि	बम्
३९	सबोधनम्	बोध्यम्	४०	तृतीया विभक्ति	आ
४१	परस्मै पदम्	मम्	४२	नदी	मु
४३	प्रातिपदिकम्	मृत	४४	कर्मधारय	य
४५	द्विगु	र	४६	गुरु	रु
४७	प्रथमा विभक्ति	वा	४८	उपपदम्	वाक्
४९	कृत्य	व्य	५०	तत्पुरुष	षम्
५१.	समास	स	५२	वर्तमानम्	सत्
५३	सयोग	स्फ	५४	सवर्णम्	स्वम्
५५.	सर्वनाम	स्नि	५६	सख्या	स्प
५७	अव्ययीभाव	ह	५८.	तद्धित	हृद्
५९	जुहोत्वादि	हृ्वादि			

४ जैनेन्द्र का विधानक्रम पाणिनि की तरह है, किन्तु जैनेन्द्र मे स्वर और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्रो का परित्याग कर दिया गया है। छान्दस प्रयोगो को भी लौकिक मान कर सिद्ध किया गया है।

५ सूत्र शैली की सबसे बडी विशेषता शब्द लाघव है। पाणिनि की अपेक्षा जैनेन्द्र के सूत्रो मे पर्याप्त लाघव है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित सूत्र दृष्टव्य है

पाणिनि व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
१ ल कर्मणि च भावेचाकर्मकेभ्य ।	ल कर्मणि च भावे चध्ये ।
२ हलोन्तरा सयोग ।	हलोऽन्तरा स्फ ।
३ ईदूदेद्विवचन प्रगृहयम् ।	ईदूदेद् द्विर्दि ।
४ भूवादयो धातव ।	भूवादयो घु ।
५ परिव्यवेभ्य: क्रिय ।	परिव्यवक्रिय ।
६ विपराभ्या जे ।	विपराजे ।
७ नेर्विश ।	निविश ।
८ व्याङ्परिभ्यो रम ।	व्याङ्श्च रम ।
९ विशेपण विशेष्येणम् बहुलम् ।	विशेषण विशेष्येवेति ।
१० पति समास एव ।	पति से ।
११ दूरान्तिकार्थैस्तृतीया ।	दूरान्निकार्थै स्ता च ।
१२. दिवादिभ्य श्यम् ।	दिवादे श्य ।
१३. सर्वादीति सर्वनामानि ।	सर्वादि सर्वनाम ।
१४ प्रादय ।	प्रादि ।

६ जैनेन्द्र मे "सैन्धौ" ।।४।३।६०।। को अधिकार सूत्र कह कर चतुर्थ अध्याय के तृतीय और चतुर्थ पाद तथा पचम अध्याय के कुछ सूत्रो मे सन्धि का निरूपण किया गया है। अधिकार सूत्र के बाद छकार के रहने पर सन्धि मे तुगागम का विधान किया गया है। तुगागम करने वाले चार सूत्र दिये गये हैं। इन सूत्रो द्वारा ह्रस्व, आङ्, माङ् तथा सज्ञको से परे प्रयोगो का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। यह प्रक्रिया पाणिनि के समान है, किन्तु इसमे अधिक सूत्रो की आवश्यकता उपस्थित नही होती। सज्ञाओ की मौलिकता के कारण ही यह सम्भव हुआ है।

७ जैनेन्द्र पचाग व्याकरण है। इसमे धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र तथा लिंगानुशासन के प्रयोग पूर्णतया उपलब्ध होते है।

जैनेन्द्रव्याकरण के सम्बन्ध मे इस प्रकार के मन्तव्य सर्वथा निराधार हैं तथा जैनेन्द्र व्याकरण विषयक इतिहास और अध्ययन की अज्ञता के द्योतक है कि "पिछले किन्ही दिगम्बर जैन विद्वानो ने पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रो को अस्तव्यस्त कर यह कृत्रिम व्याकरण बना कर देवनन्दि के नाम पर चढा दिया है।"[९] इतिहास ग्रन्थो मे इस प्रकार के मन्तव्यो को उद्धृत करना गैरजिम्मेदाराना ही कहा जाएगा।

स्वोपज्ञ जैनेन्द्रन्यास

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र पर स्वोपज्ञ न्यास की रचना की। इसके उल्लेख प्राप्त होते है। शिमोगा जिले मे प्राप्त एक शिलालेख मे पूज्यपाद द्वारा रचित स्वोपज्ञन्यास तथा पाणिनीय व्याकरण पर लिखे शब्दावतारन्यास का निम्नलिखित रूप मे उल्लेख प्राप्त होता है

न्यास जैनेन्द्रसज्ञ सकलबुधनत पाणिनीयस्य भूयो,
न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा।

इन दोनो न्यासो मे से वर्तमान मे कोई भी न्यास उपलब्ध नही है।

अभयनन्दीकृत जैनेन्द्रमहावृत्ति

जैनेन्द्र की उपलब्ध सभी टीकाओ मे अभयनन्दीकृत महावृत्ति सर्वाधिक प्राचीन है। अभयनन्दी दिगम्बर परम्परा के मान्य आचार्य थे। इनका समय विक्रम की ८-९वी शताब्दी माना जाता है। डा० बेल्वलकर ने इनका समय सन् ७५० बताया है।[१०]

जैनेन्द्र के एक अन्य टीकाकार श्रुतकीर्ति ने अभयनन्दी की इस महावृत्ति को जैनेन्द्रायव्करण रूप महल के किवाड की उपमा दी है। पच-वस्तु के अन्तिम दो पद्यो मे कहा गया कि जैनेन्द्रव्याकरणरूपी महल सूत्र रूपी स्तम्भो पर खडा किया गया है। न्यास रूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है। वृत्ति रूप उसके कपाट है,

भाष्यरूप शय्यातल है, टीका रूप उसके भाल या मंजिल है और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है।'

अभयनन्दी की यह महावृत्ति १२,००० श्लोक परिमाण है। काशिका की तरह वृहत् है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं

१. अभयनन्दी ने अपनी इस वृत्ति मे कात्यायन के वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य से सार लेकर वार्तिक, परिभाषा और उपाख्यान लिख कर उन व्याकरण नियमो की पूर्ति की है जिनकी कमी उन्हे जैनेन्द्र के सूत्रो मे महसूस हुई।

२ इस वृत्ति मे शिक्षासूत्र भी उपलब्ध होते हैं। सूत्र १।१।२ की व्याख्या मे लगभग ४० शिक्षा-सूत्र दिये गये है।

३ परिभाषाओ की व्याख्याए भी वृत्ति मे दी गयी है।

४ अभयनन्दी ने अपनी वृत्ति मे अनेक उणादिसूत्र उद्धृत किये है। इसमे कतिपय प्राचीन पचपादी से मिलते हैं और कुछ पाठान्तर है। इसलिए जैनेन्द्र के उणादि सूत्रो को जानने के लिए इस महावृत्ति का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

५ अनेक नवीन शब्दो का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। जैसे सूत्र १।१।६६ की व्याख्या मे 'प्रविनय्य' प्रयोग की सिद्धि मे असाधारण पाण्डित्य दिखाया गया है।

६ महावृत्ति मे दिये गये उदाहरणो से अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आते है। सूत्र १।४।४ की वृत्ति मे दिये गये 'शरद मथुरा रमणीया' मास कल्याणी कांची' उदाहरणो से ज्ञात होता है कि कांचीपुरी मे मासव्यापी उत्सव होता था तथा मथुरा मे शारदोत्सव मे विशेष शोभा की जाती थी।

७ महावृत्ति के उदाहरणो मे तीर्थंकरो, महापुरुषो, ग्रन्थो और ग्रन्थकारो के नाम भी आये हैं। जैसे

सूत्र १।४।१५ मे 'अनुशालिभद्रम्' आढ्या, 'अनुसमन्तभद्र तार्किका'।

सूत्र १।४।१६ मे 'उपसिहनन्दिन कवय', 'उपसिद्धसेन वैयाकरणा'।

सूत्र १।३।१० मे 'आकुमार यश समन्तभद्रस्य'।

प्रभाचन्द्र का शब्दाम्भोजभास्कर न्यास

आचार्य प्रभाचन्द्र ने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'शब्दाम्भोजभास्कर' नाम से न्यास की रचना १६,००० श्लोक परिमाण मे की थी। इस न्यास के अध्याय ४, पाद ३, सूत्र २११ तक की हस्तलिखित प्रतिया मिलती है। शेष ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ।

आचार्य प्रभाचन्द्र विक्रम की ११वी शती के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके ग्रन्थो की प्रशस्तियो और शिलालेखो[11] से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजदेव

और जयसिंह देव के राज्यकाल मे विद्यमान थे। एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि भोजदेव उनकी पूजा करता था। प० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने न्यास रचना का समय सन् ६८० से १०६५ बताया है।[१२]

प्रभाचन्द्र ने सर्वप्रथम पूज्यपाद और अकलक को नमस्कार करके न्यास रचना का आरम्भ किया है। अपने न्यास के विषय मे उन्होने कहा

शब्दानुशासनानि निखिलान्यध्यायताहर्निश,
यो य सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणाशो गत।
त स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषा चेतश्चमत्कारक-
सुव्यक्तेरसमै प्रसन्नवचनैर्न्यास समारभ्यते॥

इस आरम्भ वचन से प्रभाचन्द्र के व्याकरण विषयक पाण्डित्य का पता चलता है। प्रभाचन्द्र अपने समय के एक महान् टीकाकार और दार्शनिक विद्वान् थे। न्यास मे उन्होने दार्शनिक शैली अपनाई है और विवेचन स्फुटरीति से किया है।

श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु

पचवस्तु टीका (वि० स० ११४६) जैनेन्द्रव्याकरण का प्रक्रिया ग्रन्थ है। यह ३३०० श्लोक परिमाण है। शैली सुबोध और सुन्दर है। व्याकरण के प्रारम्भिक अभ्यासियो के लिए यह ग्रन्थ बडा उपयोगी है। जैनेन्द्रव्याकरण रूपी महल मे प्रवेश के लिए इस पचवस्तु को सोपानपक्ति की तरह बताया गया है। इसकी दो पाण्डुलिपिया भाण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना मे है। ग्रन्थ के आदि अन्त मे ग्रन्थकार का उल्लेख नही मिलता। एक स्थान पर सधि प्रकरण मे "सन्धि विधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्य" ऐसा उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इसके कर्त्ता श्रुतकीर्ति आचार्य थे।

नन्दीसघ की पट्टावली मे श्रुतकीर्ति को वैयाकरण भास्कर कहा गया है "त्रैविद्य श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्कर।"

कन्नड चन्द्रप्रभचरित के रचयिता अग्गलकवि ने श्रुतकीर्ति को अपना गुरु बताया है। यह ग्रन्थ शक स० १०११ (वि० स० ११४६) मे रचा गया था। यदि आर्य श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती एक ही हो तो 'पचवस्तु' वि० की १२वी शती मे रची गयी मानना चाहिए।

महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र

प० महाचन्द्र ने विक्रम की १२वी शताब्दी मे जैनेन्द्रव्याकरण पर अभयनन्दी की महावृत्ति के आधार पर 'लघु जैनेन्द्र' नामक टीका लिखी। इसकी एक प्रति अकलेश्वर दिगम्बर जैन मन्दिर मे तथा दूसरी अपूर्ण प्रति प्रतापगढ (मालवा) के दिगम्बर जैन मन्दिर मे है।

गुणनन्दीकृत शब्दार्णव

आचार्य गुणनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों को परिवर्तित और परिवर्धित करके इस व्याकरण को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। इसकी रचना वि० स० १०३६ के पूर्व हुई।

शब्दार्णवप्रक्रिया के अन्तिम श्लोक मे कहा गया है

सेषा श्रीगुणनन्दितानितवपु शब्दार्णवे निर्णय,
नावत्या श्रयतांविविक्षुमनसा साक्षात् स्वय प्रक्रिया।"

इससे ज्ञात होता है कि गुणनन्दी ने जैनेन्द्र के सूत्रो का विस्तार किया और उन पर प्रक्रिया भी लिखी।

गुणनन्दि ने जैनेन्द्र के आधे से अधिक सूत्र वही रखे है। सज्ञाओ और सूत्रो मे अन्तर किया है।

गुणनन्दी नाम के अनेक आचार्य हुए है। एक गुणनन्दी का उल्लेख श्रवण-बेलगोल के ४२, ४३ और ४७वें शिलालेखो मे है। उसके अनुसार वे बलाकपिच्छ के शिष्य, गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे। वे तर्क, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र के निपुण विद्वान् थे। उनके पास ३०० शास्त्रपारगत शिष्य थे। 'कर्णाटकक विचरिते' के लेखक ने गुणनन्दी का समय वि० स० ९५७ निश्चित किया है।

सोमदेवकृत शब्दार्णवचन्द्रिका

उपर्युक्त शब्दार्णव पर आचार्य सोमदेव ने शब्दार्णवचन्द्रिका नामक एक विस्तृत टीका की रचना की थी। ग्रन्थकार ने स्वय लिखा है

श्री सोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौ
प्रतीतगुणनन्दितशब्दवारिधौ।

अर्थात् शब्दार्णव मे प्रवेश करने के लिए नौका के समान यह टीका सोमदेव मुनि ने बनाई है।

शब्दार्णवप्रक्रिया

यह ग्रन्थ जैनेन्द्रप्रक्रिया नाम से प्रकाशित हुआ है।[11] ग्रन्थ के अन्त मे गुणनन्दि का उल्लेख निम्नलिखित रूप मे हुआ है

"राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिर जीयात्।"

इस उल्लेख के आधार पर इस प्रक्रिया का लेखक गुणनन्दी मानने मे कतिपय विद्वानो को सकोच है। उनका कहना है कि लेखक स्वय इस प्रकार आत्मप्रशसा नही कर सकता।

इसी ग्रन्थ के तीसरे पद्य मे श्रुतकीर्ति नाम का इस प्रकार उल्लेख है

"सोऽय य श्रुतकीर्ति देवयतिपो भट्टारकोत्तसक ।
रम्यान्मम मानसे कविपति सद्राजहसश्चिरम् ॥

यह श्रुतकीर्ति 'पचवस्तु' के रचयिता से भिन्न होगे क्योकि इसमे श्रुतकीर्ति को कवि पति कहा गया है। श्रवणवेलगोल के शिलालेख सख्या १०८ मे जिन श्रुतकीर्ति का उल्लेख है, सम्भवतया वही यह हो। इन्ही के शिष्य ने यह प्रक्रिया ग्रन्थ बनाया।

यह टीका ग्रन्थ सोमदेव की शब्दार्णवचन्द्रिका के आधार पर प्रक्रियावद्ध रूप मे लिखा गया है।

जैनेन्द्रव्याकरण पर कुछ अन्य टीकाओ की भी जानकारी प्राप्त होती है।

ऊपर जिस भगवद्वाग्वादिनि की चर्चा की है, उसे वि० स० १७९७ मे रत्नर्षि-नामक किसी मुनि ने लिखा था। इसमे जैनेन्द्र व्याकरण का शब्दार्णवचन्द्रिकाकार द्वारा मान्य सूत्र पाठ मात्र है जो ८०० श्लोक परिमाण है।

मेघविजयकृत जैनेन्द्रव्याकरणवृत्ति

राजस्थान के जैन शास्त्रभडारो की ग्रन्थसूची भाग २ पृ० २५० मे मेघविजय द्वारा लिखित वृत्ति का उल्लेख है। यदि वे हेमकौमुदी (चन्द्रप्रभा) व्याकरण के कर्ता ही हो तो इस वृत्ति की रचना १८वी शताब्दी मे हुई मान सकते हैं।

विजयविमलकृत अनिटकारिकावचूरि

जैनेन्द्रव्याकरण की अनिटकारिका पर श्वेताम्बर जैन मुनि विजयविमल ने १७ वी शती मे अवचूरी की रचना की है।

जैनेन्द्र पर इतने टीका ग्रन्थो से उसके प्रसार का पता चलता है।

पाल्यकीर्ति का शब्दानुशासन या शाकटायन व्याकरण

ऊपर हमने जैन व्याकरणशास्त्र की जिस मुनित्रयी का उल्लेख किया है, उसमे जैनेन्द्र के बाद आते है आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे आचार्य शाकटायन का उल्लेख किया है। सन् १८६४ मे बुहलर को जब पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन की पाण्डुलिपि का कुछ अश प्राप्त हुआ तो उन्होने सस्कृत जगत् को सूचित किया कि उन्हे पाणिनि द्वारा उल्लिखित शाकटायन व्याकरण उपलब्ध हो गया है। वास्तव मे यह भ्रम था। बाद मे ज्ञात हुआ कि उपलब्ध व्याकरण पाल्यकीर्ति शाकटायन का है। तब से लेकर अब तक शाकटायन व्याकरण के अध्ययन-अनुसन्धान के प्रयत्न बराबर होते रहे और इसका जो नवीनतम सस्करण अमोघवृत्ति सहित भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

से प्रकाशित हुआ है, उसकी अंगरेजी प्रस्तावना में जर्मन विद्वान् डा० आर० बिरवे ने शाकटायन व्याकरण का एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शाकटायन व्याकरण का मूल नाम शब्दानुशासन है। इसके रचयिता का नाम पाल्यकीर्ति प्राप्त होता है। किन्तु ग्रन्थ में सर्वत्र ग्रन्थकार का नाम शाकटायन ही उपलब्ध होता है।

पाल्यकीर्ति शाकटायन जैन परम्परा के यापनीय संघ के अग्रणी और प्रसिद्ध आचार्य थे। वे अमोघवर्ष के राज्यकाल में हुए। अमोघवर्ष शक संवत् ७३६ (वि० स० ८७१) में राजगद्दी पर बैठा। इसी के आसपास पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण ग्रन्थ की रचना की होगी।

पाल्यकीर्ति ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों में पाणिनि, चन्द्र, और जैनेन्द्र के व्याकरणों का गहन अध्ययन किया था। डा० बिरवे ने पाणिनि, चन्द्र, जैनेन्द्र तथा शाकटायन की तुलना करके यह स्पष्ट किया है कि शाकटायन के ४० से ५० प्रतिशत तक नियम उक्त व्याकरण ग्रन्थों के समान हैं। शाकटायन की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं है

१ शाकटायन का अध्याय विभाजन पूर्वाचार्यों से भिन्न है। पाणिनि में आठ, चन्द्र में छह तथा जैनेन्द्र में पांच अध्याय है, किन्तु शाकटायन व्याकरण चार अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। प्रथम अध्याय में ७२१ सूत्र, द्वितीय में ७५३, तृतीय में ७५५ तथा चतुर्थ में १००७ सूत्र हैं। इस प्रकार कुल सूत्र संख्या ३२३६ है। इसमें १३ शिव सूत्र शामिल नहीं है, जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपलब्ध हैं। अध्याय विभाजन में शाकटायन कातन्त्र के निकट है।

२ शाकटायन ने अपने व्याकरण की विषयवस्तु को भी पूर्वाचार्यों की तरह प्रस्तुत न करके उसे स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया है। यह विषयक्रम भी कातन्त्र के अधिक निकट है।

३ शाकटायन व्याकरण में कातन्त्र तथा जैनेन्द्र की तरह स्वर नियम नहीं दिये हैं। इसी प्रकार छान्दस प्रयोगों का भी सर्वथा अभाव है।

४ शाकटायन और पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों की तुलना करने पर निम्नलिखित तथ्य ज्ञात होते हैं

(क) शाकटायन तथा पाणिनि में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द समान हैं। जैसे अनुनासिक (१।१।६८), अनुस्वार (१।१।११०), अव्यय (१।१।३९), अव्ययीभाव (२।१।६) इत्यादि।

(ख) शाकटायन ने पाणिनि के शब्दों के स्थान पर नये शब्द दिये है जैसे पाणिनि के अंग के लिए प्रकृति (१।१।५९), अधिकरण के लिए आधार (१।२।१७६) आदि।

(ग) शाकटायन ने पाणिनि की अनेक परिभाषाओं को छोड दिया है।

जैसे अनुदात्त, उदात्त, कर्मप्रवचनीय, प्रातिपदिक, षष सहिता, सत्, सम्बन्धी और स्वरित् ।

५ शाकटायन मे नौ प्रकार के सूत्रो का कथन किया गया है १ सज्ञा, २ नियम, ३ निषेध, ४ अधिकार, ५ नित्यापवाद, ६ विधि, ७ परिभाषा, ८ अतिदेश और ९ विकल्प ।

सज्ञानियमनिषेधाधिकारनित्यापवादविधिपरिभाषा: ।
अतिदेशविकल्पाविति गतयशब्दानुशासने सूत्राणाम् ।।

६ शाकटायन पचाग है । सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, लिगानुशासन और उणादि ये पचाग हैं । इसमे पाणिनीय या जैनेन्द्र के समान वार्तिक, उपाख्यान अथवा अन्य नियम-वाक्यो की आवश्यकता नही है ।

७ शाकटायन मे सामान्य सज्ञाए बहुत कम है । स्वर्ण सज्ञा के मात्र दो सूत्र हैं । (१) इत्सज्ञा विधायक (२) स्वर सज्ञा विधायक । पूरे सज्ञा प्रकरण मे कुल छह सूत्र हैं । अन्य किसी भी व्याकरण मे इतने कम सूत्रो से सज्ञाओ का काम नही चलाया गया । सरलता और आशुबोधता की दृष्टि से इस सज्ञा प्रकरण का अधिक महत्व है ।

८ **प्रत्याहार सूत्र** शाकटायन मे तेरह प्रत्याहार सूत्रो का निरूपण किया गया । ये प्रत्याहार सूत्र न तो पाणिनि जैसे है और न इनका क्रम जैनेन्द्र से मिलता है । शाकटायन ने इन दोनो मे ही सशोधन और परिवर्तन किया है । शाकटायन के प्रत्याहार सूत्र इस प्रकार हैं—(१) अइउण्, (२) ऋक्, (३) एओड्, (४) ऐ ओच्, (५) हयवरल, (६) मड्गणनम्, (७) जबगडदश् (८) झभघढधष्, (९) खफछठथट्, (१०) चटतव्, (११) कपय्, (१२) शषस अ अ क पर, (१३) हल् ।

स्पष्ट है कि शाकटायन ने इन सूत्रो मे न तो पाणिनि का अनुसरण किया है और न ही जैनेन्द्र का । शाकटायन ने लृकार को स्वर नही माना । इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की गणना व्यजनो के अन्तर्गत कर ली है । पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को विकृत व्यजन माना है । वास्तव मे अनुस्वार मकार या नकार जन्य है । विसर्ग कही सकार से और कही रेफ से स्वत उत्पन्न होता है । जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय दोनो क्रमश क, ख तथा प, फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं । पाणिनि ने इन सभी को अपने प्रत्याहार सूत्रो मे कोई स्वतन्त्र स्थान नही दिया । बाद के पाणिनीय व्याकरणो मे से कात्यायन ने उक्त चारो को स्वर, व्यजन दोनो मे ही परिगणित करने का निर्देश दिया है । शाकटायन ने अनुस्वार, विसर्ग आदि के मूल रूपो को ध्यान मे रख कर ही उन्हे प्रत्याहार सूत्रो मे स्थान दिया तथा उन्हे व्यजन माना ।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रो की दूसरी विशेषता यह है कि उनमे 'लण्' सूत्र को स्थान नही दिया और लवर्ण को पूर्व सूत्र मे ही शामिल कर लिया गया है। इसमे सभी वर्णो के प्रथम अक्षरो के क्रम से अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये है। मात्र वर्णो के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिए दो सूत्र दिये गये हैं। पाणिनीय, वर्ण समाम्नाय की तरह शाकटायन मे भी हकार दो वार आया है। पाणिनीय व्याकरण मे ४१, ४३ या ४४ प्रत्याहार रूप मिलते है किन्तु शाकटायन मे मात्र ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध है।

१० शाकटायन ने 'न १।१।७०' सूत्र द्वारा विराम मे सन्धि कार्य का निषेध किया है तथा अविराम सन्धि का विधान मानकर 'न' सूत्र को अधिकार सूत्र वताया है। अच् सन्धि के आरम्भ मे सर्वप्रथम अयादि सन्धि का विधान किया है। इसके वाद "अस्वे १।१।७३।।" द्वारा यण् सन्धि का प्रतिपादन किया है। इसी प्रसग मे "ह्रस्वो वा पदे १।१।७४" सूत्र दिया गया है। इसके द्वारा "दधी + अत्र =दधिअत्र, दध्यत्र, नदी + एषा नदिएषा, नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। पाणिनि मे ह्रस्व विधान का नियम नही है। यह शाकटायन की अपनी उद्भावना है।

शाकटायन ने प्रकृति भाव सन्धि को निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरण मे १।१।९९ से १।१।१०२ तक मात्र चार सूत्र हैं। पाणिनि की अपेक्षा इसमे नवीनता नही है फिर भी यह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इतने कम सूत्रो से शाकटायन ने अपना प्रयोजन साध लिया है।

११. शाकटायन ने 'सम्राट्' शब्द की सिद्धि "सम्राट् १।१।११३" सूत्र द्वारा की है। इस सूत्र की वृत्ति मे लिखा है "समित्यस्य राजतौ क्विवन्ते, उत्तरपदे परेऽनुस्वाराभारो निपात्यते।" इससे स्पष्ट है कि शाकटायन ने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि इस सूत्र के पहले शाकटायन मे वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है तो भी उन्होने अनुस्वार के अभाव की बात नही कही। निपातन का अर्थ है अन्य विकार्य स्थितियो का अभाव। सभवतया इसी कारण शाकटायन ने हेम की तरह अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता नही समझी।

१२ शब्दसाधुत्व मे शाकटायन का दृष्टिकोण पाणिनि के समान ही है। उन्होने एक शब्द को लेकर सातो विभक्तियो मे उनके रूपो को सिद्ध करने की विधि वतायी है।

१३ **स्त्री प्रत्यय** शाकटायन ने स्त्री-प्रत्यय प्रकरण मे स्त्री-प्रत्यान्त शब्दो को सिद्ध नही किया। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कवरपुच्छी, मणिपुच्छी, अश्वक्रीति, मनसाक्रीति सदृश प्रयोगो का अभाव है। हेमचन्द्र ने इसके लिए स्वतन्त्र सूत्रो का विधान किया है।

१४ शाकटायन मे कारक सामान्य तथा कर्ता, कर्म, करण आदि की परि-

भाषाए नही दी गयी है। इसमे विभक्ति विधायक सूत्रो का सीधे ढग से ही कथन किया गया है।

१५ समास प्रकरण शाकटायन मे समास प्रकरण के आरम्भ मे ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया गया है। इसके बाद कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये है, जिनका उपयोग प्राय बहुव्रीहि समास मे होता है।

बहुव्रीहि समास का प्रकरण समाप्त होते ही अव्ययीभाव समास का प्रकरण आरम्भ हो जाता है। यहा युद्ध वाच्य मे ग्रहण और प्रहरण अर्थ मे केशाकेशि और दण्डादण्डि को शाकटायन ने अव्ययीभाव समास माना है। शाकटायन के अनुसार अव्ययीभाव समास के प्रधान दो भेद हैं (१) अन्यपदार्थप्रधान, (२) उत्तर-पदार्थप्रधान। इसलिए "केकाश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहण यस्मिन् युद्धे", इस प्रकार के साध्य प्रयोग विग्रह वाक्य मे अन्य पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनि ने जिन प्रयोगो को बहुव्रीहि समास मे गिनाया है शाकटायन ने उनमे से कतिपय अव्ययीभाव समास मे परिगणित किये है।

१६ तद्धित, कृदन्त और तिङन्त—शाकटायन मे तद्धित, कृदन्त और तिङन्त प्रकरण प्राय पाणिनि के समान है। विशेषता यह है कि शाकटायन का प्रत्यय विधान और प्रत्ययो के अर्थ अपनी मौलिकता लिये हुए है।

शाकटायन अमोघवृत्ति

शाकटायन पर अमोघवृत्ति नाम की एक बृहद् वृत्ति है। यह अठारह हजार श्लोक परिमाण है।

अमोघवृत्ति शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति है। 'अमोघवृत्ति' इस श्लिष्ट पद के द्वारा शाकटायन ने एक ओर अन्य वृत्तियो की अपेक्षा अपनी वृत्ति की महनीयता प्रतिपादित की है, दूसरी ओर अपने समकालीन राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम का आदरपूर्ण स्मरण किया है।

शब्दानुशासन के सक्षिप्तसूत्रो मे जो बाते कहने से रह गयी थी, उनकी भी पूर्ति इस वृत्ति द्वारा कर दी गयी है।

मुनिवशाभ्युदय काव्य के रचयिता ने लिखा है कि "उस मुनि (शाकटायन) ने अपने बुद्धिरूप मदराचल से श्रुतरूप समुद्र का मथन कर यश के साथ व्याकरण रूप उत्तम अमृत निकाला। शाकयाटन ने उत्कृष्ट शब्दानुशासन को बना लेने के बाद अमोघवृत्ति नाम की टीका, जिसे बडी शाकटायन कहते है, बनायी, जिसका परिमाण १८०० श्लोक है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनि ने व्याकरण के सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बना कर एक प्रकार का पुण्य सपादन किया। एक बार अविद्ध-कर्ण सिद्धान्त चक्रवर्ती पद्मनन्दी ने मुनियो के मध्य-पूजित शाकटायन को मन्दर पर्वत के समान धीर विशेषण से विभूषित किया। यक्ष वर्मा ने अपनी चिन्तामणि

वृत्ति मे अमोघवृत्तिको विशालकाय (अतिमहती) तथा शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति बताया है।

अमोघवृत्ति के प्रारम्भ मे ग्रन्थावतार के विषय मे शाकटायन ने लिखा है "परिपूर्णमल्पग्रन्थ लघूपाय शब्दानुशासन शास्त्रमिद महाश्रमणसघाधिपतिर्भगवानाचार्य शाकटायन प्रारभते।"

अमोघवृत्ति के समस्त पुष्पिका वाक्यो मे शाकटायन का उल्लेख इस प्रकार आया है

"इति श्रुतकेवलिदेशीयाचार्यशाकटायनकृतौ शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ·"

यहा कृतौ का अन्वय शब्दानुशासन तथा अमोघवृत्ति दोनो से है। डा० बिरवे का सुझाव है कि यदि इन पुष्पिका वाक्यो मे "शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ" के स्थान पर "शब्दानुशासनामोघवृत्तौ" पाठ हो तो पुष्पिकावाक्य मे जो अस्पष्टता है, वह दूर हो जाती है। उस स्थिति मे तनिक भी सन्देह की गुजाइश नही रहती कि यह वृत्ति स्वय सूत्रकार की है।

चिन्तामणिकार ने अपनी टीका मे शाकटायन के विषय मे लिखा है

इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्य वक्तव्य सूत्रत पृथक् ॥
सख्यान नोपसख्यान यस्य शब्दानुशासने ॥
इन्द्रचन्द्रादिभि शाब्दैर्यदुक्त शब्दलक्षणम् ।
तदिहास्ति समस्त च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

अर्थात् शाकटायन व्याकरण मे इष्टिया पढने की आवश्यकता नही है। सूत्रो से अलग वक्तव्य कुछ नही है। उपसख्यानो की भी आवश्यकता नही है। इन्द्र चन्द्र आदि वैयाकरणो ने जो शब्द लक्षण कहा वह सब इस व्याकरण मे आ जाता है। इसमे और जो विशेष है वह अन्यत्र नही है।

डा० बिरवे की राय मे यक्ष वर्मा का यह कथन इस बात को द्योतित करता है कि शाकटायन की अमोघवृत्ति पतजलि के महाभाष्य से विशिष्ट है, क्योकि महाभाष्य मे इष्टिया अनेक बार आयी है।

वर्धमान सूरि ने गणरत्नमहोदधि मे शाकटायन के नाम से जो अनेक उल्लेख दिये है वे अमोघवृत्ति मे उपलब्ध है। डा० बिरवे ने ऐसे १२४ सन्दर्भो की गणना की है।

आचार्य मलयगिरि ने नन्दिसूत्र की टीका मे अमोघवृत्ति के मगल पद्य "वीरसंभृत ज्योति" इत्यादि को शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति बताया है।

इस प्रकार सन्देह की गुजाइश नही दीखती कि अमोघवृत्ति शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति है।

अमोघवृत्ति की विशेषता बताते हुए चिन्तामणिकार ने लिखा है

गण-धातुपाठयोगेन धातून् लिंगानुशासने लिंगतम् ।
औणादिकानुणादौ शेष निशेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ।

अर्थात् गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और उणादि के अतिरिक्त इस वृत्ति मे सभी विषय वर्णित है।

अमोघवृत्ति की एक अन्य विशेषता इसका लिंगानुशासन है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र "नपो चो ह्रस्व" के उपरान्त लिंगानुशासन दिया गया है। हेमचन्द्र ने शाकटायन की इस पद्धति को अपनी बृहद्वृत्ति मे अपनाया है। सूत्र १।१।२६ के बाद उन्होने लिंगानुशासन दिया है।

शाकटायन मे उणादि प्रकरण नही है। हेमचन्द्र ने अपनी वृत्ति मे उणादि प्रकार सूत्र ५।२।९२ के बाद दिया है।

शाकटायन ने अमोघवृत्ति मे धातु पाठ के अन्तर्गत सभी नव धातु गणो को गिनाया है। यथा

१ अदादि (४।३।२१)
२ भ्वादि (४।३।२१)
३ दिवादि (४।३।२२)
४ स्वादि (४।३।२८)
५ तुदादि (४।३।३२)
६ रुधादि (४।३।३४)
७ तनादि (४।३।३३)
८ क्र्यादि (४।३।३०)
९ चुरादि (४।१।७)

अमोघवृत्ति मे मात्र एधादि धातुगण नही है जो शाकटायन का प्रथम धातु-पाठ है।

शाकटायन ने काशिका की पद्धति पर अमोघवृत्ति का निर्माण किया है। कही-कही शाकटायन ने भी वही उदाहरण दिये है जो काशिकाकार ने वृहद्वृत्ति मे दिये हैं। यथा

१ शाकटायन सूत्र १।४।३७ की वृत्ति मे किरातार्जुनीय का 'सशय कणादिषु तिष्ठते य ।' उदाहरण दिया है। यही उदाहरण पाणिनि सूत्र १।३।२३ की काशिका मे दिया गया है।

२ शाकटायन सूत्र ३।१।१६९ की वृत्ति मे निम्नलिखित उदाहरण दिये गये है
"भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाहवाण्युत्तराध्ययनानि, याज्ञवल्केन प्रोक्तानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि, पाणिना प्रोक्त पाणिनीयम्, आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम्, काशकृत्स्निना प्रोक्त काशकृत्स्नम् ।"

पाणिनि सूत्र ४।३।१०१ की काशिका मे "पाणिनीयम्," "आपिशलम्" और "काशकृत्स्नम्" उदाहरण आये हैं।

शाकटायन तथा व्याकरण शास्त्र का इतिहास

शाकटायन ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो का अनेक बार उल्लेख किया है। ये उल्लेख कही नाम से तथा कही एक, एके, एकेषाम्, कश्चित्, केनचित्, केषाचित्, अन्य, अन्ये, अन्येषाम्, अपरे आदि शब्दो के साथ दिये गये है। डा० बिरवे ने इस प्रकार के लगभग २१० सन्दर्भो का जिक्र किया है। कुछ सन्दर्भ ऐसे भी है जहा न तो वैयाकरण का नाम दिया है और न ही 'कश्चित्' आदि कहा है।

आपिशलि का महत्वपूर्ण उल्लेख

शाकटायन सूत्र २।४।१८२ के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पाणिनि की तरह आपिशलि का व्याकरण भी आठ अध्यायो मे निबद्ध था "अष्टका आपिशलपाणिनीया"। व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे इस प्रकार का दूसरा कोई उल्लेख प्राप्त नही है जिससे आपिशलि के व्याकरण के सम्बन्ध मे इतनी निश्चित सूचना प्राप्त हो। इससे ज्ञात होता है कि व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे अष्टाध्यायी व्याकरण रचने वाले अकेले पाणिनि नही है। उनके पहले आपिशलि ने भी अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की थी। पाणिनि ने अपने व्याकरण को अष्टाध्यायी बनाने का सूत्र उसी से ग्रहण किया होगा।

डा० बेलवल्कर ने लिखा है कि शाकटायन ने शब्दानुशासन और अमोघवृत्ति के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रकरणो की भी रचना की थी[२४]

१ परिभाषासूत्र
२ गणपाठ (१६ पाद)
३ धातुपाठ
४ उणादिसूत्र (४ पाद)
५ लिंगानुशासन (१७ आर्या छन्द)

वास्तव मे इनमे से लिंगानुशासन तथा गणपाठ अमोघवृत्ति मे शामिल है। लिंगानुशासन अलग मे भी प्राप्त है। इसलिए इसे स्वतन्त्र मानना भी उचित लगता है।

गणपाठ कुछ पाण्डुलिपियो मे स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होता है। इस बात मे सन्देह नही कि यह अमोघवृत्ति से ही सकलित किया गया है। यद्यपि अमोघवृत्ति मे गणपाठ लिंगानुशासन की तरह स्वतन्त्र उपलब्ध नही है फिर भी उन उन सूत्रो की वृत्ति मे निबद्ध है।

शाकटायन ने गणो का स्पष्ट विभाजन इस प्रकार बताया है -

१ परिपूर्णगण मे किसी नियम विशेष के अन्तर्गत आने वाले सभी शब्दो की गणना दी जाती है।

२ आकृतिगण के अन्तर्गत कुछ नमूने मात्र दिये जाते हैं। शिष्टप्रयोग के आधार पर अन्य शब्दो को इसके अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है।

पाणिनि सूत्रो से शब्दो के गण-विभाजन का स्पष्ट पता नही चलता। इसके लिए वृत्तियो पर निर्भर करना पडता है। शाकटायन ने इनको स्पष्ट भेदक एकवचन और बहुवचन के रूप मे दिया है। एकवचन के प्रयोग परिपूर्णगण और बहुवचनान्त आकृतिगण के अन्तर्गत परिगणित ह। उदाहरण के लिए सूत्र "कच्छादेर्न्टन्टस्थे ।३।१।४६" के अन्तर्गत परिगणित शब्द परिपूर्णगण तथा 'रूढादिभ्य १।३।४" के अन्तर्गत दिए गए शब्द आकृतिगण है। वृत्ति मे स्पष्ट लिखा है कि "बहुवचनादाकृतिगणोऽयम्।"

शाकटायन के पूर्व इस प्रकार का गण-विभाजन जैनेन्द्र मे उपलब्ध है (दृष्टव्य सूत्र ३।२।१४६, ३।१।८६, ३।१।४६ तथा ३।१४)। हेमचन्द्र ने शाकटायन की इस परम्परा को आगे बढाया है।

पाणिनि के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि शाकटायन मे गणसूत्र नही है। पाणिनीय गणसूत्रो को जैनेन्द्र की तरह शाकटायन ने भी त्याग दिया है। हेमचन्द्र ने भी इसी परम्परा को अपनाया है।

शाकटायन के परिभाषा सूत्र

व्याकरण नियमो की सही व्याख्या के लिए कतिपय विशेष सिद्धान्तो की आवश्यकता होती है। इन्हे परिभाषा कहते है। शाकटायन सूत्रो तथा अमोघवृत्ति मे यत्र-तत्र परिभाषा-सूत्र उपलब्ध है किन्तु एक साथ नही है। स्वतन्त्र रूप से जो सौ परिभाषा सूत्र प्राप्त होते है, उनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निर्णय करना कठिन है कि ये परिभाषा सूत्र स्वय पाल्यकीर्ति शाकटायन के है या अन्य किसी शाकटायन के। क्योकि इन सौ सूत्रो मे सम्पूर्ण रूप से वे परिभाषाए भी नही आ पाई, जो शाकटायन और अमोघवृत्ति मे उपलब्ध है। डाक्टर बिरवे ने ज्ञानपीठ सस्करण मे उक्त परिभाषा सूत्र अपनी प्रस्तावना के परिशिष्ट एक के रूप मे प्रकाशित किए है तथा प्रस्तावना मे इनका विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

यक्षवर्मा कृत चिन्तामणि वृत्ति

शाकटायन पर यक्षवर्मा कृत चिन्तामणि नाम की वृत्ति है। अपनी वृत्ति के विषय मे उन्होने स्वय लिखा है कि अमोघवृत्ति नामक वृहद् वृत्ति को सक्षिप्त

करके यह वृत्ति बनाई है। अपनी वृत्ति का महत्त्व उन्होने निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया है —

तस्यातिमहती वृत्ति संहृत्येयं लघीयसी।
सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा॥
बालाबलाजनोप्यस्याऽवृत्तेरभ्यासवृत्तितः।
समस्त वाङ्मय वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात्॥

अमोघवृत्ति नामक अत्यन्त विस्तृत वृत्ति को सक्षिप्त करके यह अल्पकाय किन्तु सम्पूर्ण लक्षण युक्त वृत्ति को यक्षवर्मा कहता है। बालक और स्त्री जन भी इस वृत्ति के अभ्यास से एक वर्ष मे निश्चय ही सम्पूर्ण वाङ्मय को जान लेता है।

यक्षवर्मा के विषय मे अन्य जानकारी नही मिलती।

प्रभाचन्द्रकृत शाकटायन न्यास

माधवीयधातुवृत्ति (१४वी शती) मे प्रभाचन्द्र कृत शाकटायनन्यास का उल्लेख है। इसके मात्र दो अध्याय उपलब्ध होते है। ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र से भिन्न व्यक्ति हैं, ऐसा डाक्टर महेन्द्र कुमार जी का मत है।

माधवीयवृत्ति मे अमोघ विस्तर नामक एक अन्य टीका का भी उल्लेख है किन्तु इसके विषय मे अन्य विवरण नही मिलता।

भावसेन त्रैवेद्य ने भी शाकटायन पर एक टीका ग्रन्थ लिखा था।

किसी अज्ञात लेखक ने शाकटायनतरगिणी नामक टीका लिखी।

डा० बुहलर ने एक अन्य अपूर्ण टीका का उल्लेख किया है जिसका नाम तथा लेखक अज्ञात है। (इडिया आफिस केटलाग न० ५०४३)

अजितसेन (१२वी शती) ने चिन्तामणि के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए चिन्तामणिप्रकाशिका, मगारस ने चिन्तामणि प्रतिपद तथा समन्तभद्र ने चिन्तामणिविषमपदटीका लिखी। एक अन्य अपूर्ण चिन्तामणिवृत्ति की प्रति इडिया आफिस लायब्रेरी (५०४७) मे उपलब्ध है।

रूपसिद्धि

द्रविडसघ के आचार्य मुनि दयापाल ने शाकटायन पर एक सक्षिप्त टीका रूपसिद्धि नाम से लिखी। श्रवणवेलगोल के ५४वे शिलालेख मे इनके विषय मे कहा गया है कि वे वादिराज के सधर्मा थे। उनके गुरु का नाम मतिसागर था।

गणरत्न महोदधि

गोविन्दसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि नामक श्वेताम्बर आचार्य ने शाकटायन के

गणो का सग्रह करके गणरत्नमहोदधि नामक ग्रन्थ लिखा। यह ४२०० श्लोक प्रमाण है। इसकी रचना वि० स० ११६७ मे हुई।

इस प्रकार शाकटायन की टीकाओ से ज्ञात होता है कि जैन परम्परा मे उसका प्रसार अत्यधिक मात्रा मे हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र का सिद्धहेमशब्दानुशासन

जैन व्याकरणशास्त्र की मुनित्रयी मे पूज्यपाद और शाकटायन के बाद तीसरा नाम आचार्य हेमचन्द्र का है। सौभाग्य से आचार्य हेमचन्द्र का विपुल साहित्य उपलब्ध है। उससे उनके ज्ञान वैभव का पता चलता है।

गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह के अनुरोध पर आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज के साथ अपना नाम जोड कर सिद्धहेम शब्दानुशासन की रचना की। इसकी रचना का समय वि० स० ११४५ के लगभग माना जाता है।

हेमशब्दानुशासन का परिमाण सवा लाख श्लोक माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर छोटी-बडी वृत्तिया तथा उणादिसूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, लिगानुशासन स्वय ही बनाए है।

हेम मे आठ अध्याय है। पहले सात मे सस्कृत शब्दानुशासन है तथा आठवें मे प्राकृत शब्दानुशासन। स्व० डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने हेम शब्दानुशासन की निम्नलिखित विशेषताओ की ओर ध्यान आकृष्ट किया है"

१ हेम के पूर्व पाणिनि, चान्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके है। इन्होने अपने समय मे उपलब्ध समस्त शब्दार्थ का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एव सरल व्याकरण की रचना कर सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्र श भाषा का अनुशासन लिख कर हेम ने इस भाषा को अमर बना ही दिया है, किन्तु अपभ्र श के प्राचीन दोहो को उदाहरण के रूप मे उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्य के नमूनो की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्‌भुत है। उन्होने धातु और प्रातिपदिक और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत और तद्धित, अव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण विवेचन एव विश्लेषण किया है।

२ शब्दानुशासन के क्षेत्र मे हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टोजिदीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होने वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे है। सस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायो मे और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय मे, इस प्रकार कुल आठ अध्यायो मे अपने अष्टाध्यायी शब्दानुशासन को

समाप्त किया है। संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण द्व्याश्रय काव्य मे और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्व्याश्रय काव्य मे लिखे है।

३ संस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय मे २४१ सूत्र, द्वितीय मे ४६०, तृतीय मे ५२१, चतुर्थ मे ४८१, पचम मे ४६८, षष्ठ मे ६९२ और सप्तम मे ६७३ सूत्र है। कुल सूत्र सख्या ३५६६ है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे सज्ञाओ का विवेचन किया है। इसमे स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, सन्ध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यजन, घुट, वर्ग, अघोष, घोषवत्, अन्तस्थ, शिट्, स्व प्रथमादि, विभक्ति, पद, वाक्य, नाम, अव्यय, और सख्यावत् इन चौबीस का प्रतिपादन किया है। शिड्टायस्य द्वितीयो वा १।३।५९ द्वारा खशीरम, क्षीरम् तथा अप्सरा, अप्सरा जैसे शब्दो की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी खीर शब्द हेमचन्द्र के क्षीरम से बहुत नजदीक है। हेम ने इस प्रकरण मे व्यजन और विसर्ग इन दोनो सन्धियो का सम्मिलित रूप मे विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यजन सधि के है तथा कुछ विसर्ग के और आगे बढने पर विसर्ग सन्धि के सूत्रो के पश्चात् पुन व्यजन सधि के सूत्रो पर लौट आते है और अन्त मे पुन विसर्ग सन्धि की बाते बतलाने लगते है। सामान्य रूप से देखने पर एक गडबड झाला दिखलाई पडेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यजन सधि के समान ही विसर्ग सन्धि को भी व्यजन सन्धि ही माना है, अत दोनो एक जातीय स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्राय देखा जाता है कि व्यजन सन्धि के प्रसग मे आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धि के कार्य का समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्ग को 'र" और "स" का प्रतिनिधि ही मानते है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद मे कतिपय स्वरान्त और व्यजनात शब्दो का भी नियमन किया गया है।

४ द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद मे अवशेष शब्द रूपो की चर्चा द्वितीय पाद मे कारक प्रकरण, तृतीय पाद मे षत्व-णत्व विधान और चतुर्थ पाद मे स्त्री प्रत्यय प्रकरण है। तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद मे समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थ पाद मे आख्यात प्रकरण का ही नियमन किया गया है। पचम अध्याय के चारो पादो मे कृदन्त और षष्ठ तथा सप्तम अध्याय मे तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट हैं।

५ यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरण शास्त्र का अध्ययन कर अपने शब्दानुशासन को सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि हेम मे अन्य व्याकरणो की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है।

६ सर्वप्रथम पाणिनि और हेम की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि से बहुत कुछ लिया है, पर इस अवदान को मौलिक और नवीन रूप मे ही उन्होने प्रस्तुत किया है। विचार करने से अवगत होता है कि सस्कृत के शब्द-

नुशासको ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी सज्ञाओ के साकेतिक रूप दिये है। यत्र-तत्र एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए, उनकी रचनाए अलग-अलग व्याकरण के रूप मे अभिहित हुई। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण एक ही सस्कृत भाषा मे व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

७ हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होने स्वर तथा व्यजन विधान सज्ञाओ का विवेचन करने के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम और सज्ञाओ का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरण मे इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गये है। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने सभालने की कोशिश अवश्य की है, पर इन्होने जो परिभाषा 'एकतिड्वाक्यम्' दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारो ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी 'एकतिड्वाक्यम् के दायरे से दूर नही हो सके है। फलत इनकी वाक्य परिभाषा सीधा स्वरूप ले कर उपस्थित नही हो सकी है। और उसकी अपूर्णता ज्यो-की-त्यो बनी रही। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है "सविशेषमाख्यात वाक्यम् १।१।२६" त्याद्यन्त पदमाख्यात साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैं प्रयुज्यमानै-रप्रयुज्यमानैर्वा सहित प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमान वा आख्यात वाक्यसज्ञ भवति।" अर्थात् मूल सूत्र मे सविशेषण आख्यान की वाक्य सज्ञा बतलाई गई है। यहा आख्यान के विशेपण का अर्थ है अव्यय, कारक, सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण का साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्र के वृत्यश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणो के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यान ही की वाक्य मे प्रधानता रहती है। यहा विशेषण शब्द से केवल सज्ञा विशेपण को ही ग्रहण नही किया गया है, अपितु साधारणत अप्रधान अर्थ मे इसे ग्रहण किया है। 'वैयाकरणो का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य मे अख्यात् अर्थ ही प्रधान होता है। हेम ने अपनी वाक्य परिभापा का सम्बन्ध 'पदायुग्विभक्त्येक वाक्ये रस्न सौ बहुत्वे' २।१।२१ सूत्र से भी माना है। अत पाणिनीय तन्त्रकारो की अपेक्षा हेम की वाक्य-परिभापा अधिक तर्क सगत है।

८ हेम ने सात सूत्रो मे अव्यय सज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण मे सबसे बडी विशेषता यह है कि निपात सज्ञा को अव्यय सज्ञा मे ही विलीन कर लिया है। इन्होने चादि को निपात न मान कर सीधा अव्यय मान लिया है। यह सक्षिप्तीकरण का एक लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और सख्यावत् सज्ञाओ का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अत इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नही समझी है। सज्ञा प्रकरण की हेम की सज्ञाए शब्दानुसारी है, किन्तु आगे वाली कारकीय सज्ञाए अर्थानुसारी हैं।

पाणिनि के समान हेम की संज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पडता है। अत हेम ने पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा कम संज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्य से कोई इनकार नही कर सकता कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर उनकी संज्ञाओं को ग्रहण नही किया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञाए पाणिनि ने भी लिखी है, किन्तु हेम ने इन संज्ञाओं मे स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रिमात्रिक को क्रमश ह्रस्व, दीर्घ, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनि के 'ऊकालो ऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत' १।२।२६ सूत्र में हेम का उक्त भाव अकित है, किन्तु हेम ने एक मात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कह कर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण कर दिया है।

९ हेम और पाणिनि की संज्ञाओ मे एक मौलिक अन्तर है कि हेम प्रत्याहारो के झमेले मे नही पडे हैं। इनकी संज्ञाओ मे प्रत्याहारो का बिलकुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णो को ले कर ही हेम ने संज्ञा विधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारो द्वारा संज्ञाओं का निरूपण किया है, जिससे प्रत्याहार क्रम को स्मरण किये बिना संज्ञाओ का अर्थ बोध नही हो सकता है। अत हेम का संज्ञाविधान पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा सरल एव स्पष्ट है।

१० सन्धि-प्रकरण मे भी हेम ने लाघव को कायम रखने की पूरी चेष्टा की है। गुण सन्धि मे ऋ के स्थान पर अर् और लृ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिए पृथक् 'उरणरपर' १।१।५१ सूत्र लिखना पडा है। हेम ने इस एक सूत्र की बचत कर ली है। पाणिनि ने 'एडिपररूपम्' १।१।९४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद मे ए हो तो पर रूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने 'वौष्ठौतौ समासे' १।२।१७ द्वारा लुक् का नियमन किया है। अत पाणिनि की अपेक्षा हेम मे लाघव है। हेम ने यह प्रक्रिया शाकटायन से अपनायी है।

पाणिनि ने ७।१।५७ के द्वारा जिस के स्थान मे 'शी' होने का विधान किया है, हेम ने १।४।९ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'ई' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहा यदि 'ई' का विधायन होता, तो जस के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शी का विधान किया। हेम के यहा इस तरह कुछ भी झमेला नही है। इनके यहा जस् के स्थान पर किया गया 'ई' का नियमन समस्त जस् के स्थान पर होता है। अत यहा हेम की लाघव दृष्टि प्रशसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नही की है, किन्तु सर्वादि कह कर ही काम चलाया है। जहा पाणिनि ने सर्वनाम को रोक कर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य होता है, वहा हेम ने सर्वादि ही नही मान कर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है। पाणिनि ने आम् को साम् बनाने के लिए सुट आगम

किया है, पर हेम ने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम को सीधे साम बनाने का अनुशासन किया है।

११ अजन्त स्त्रीलिंग मे लताये, लताया और लताया की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया। उन्होने ७।३।११३ सूत्र से याद किया है, पुन वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लतायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ सूत्र द्वारा सीधे ये, याद और याम् प्रत्यय जोड कर उक्त रूपो का सहज साधुत्व दिखाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघव सूचक है। मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्व सवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने १।४।२१ सूत्र द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का अनुशासन किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्द शास्त्र के विद्वानो के लिए अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है। मुनौ प्रयोग मे पाणिनि ने ७।३।११९ के द्वारा इ को ऊ और डी को औ किया है तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है, किन्तु हेम ने १।४।२५ सूत्र के द्वारा डी को डौ किया है जिससे यहा ड् का अनुबन्ध होने से मुनि शब्द का इकार स्वय ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के नकार मे रहने वाले इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई।

१२ हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनि तन्त्र मे क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नही है, बाद के वैयाकरणो और नैयायिको ने 'क्रियाविशेषणाना कार्यत्व' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने २।२।४१ सूत्र मे उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र मे सग्रहीत कर लिया है। पाणिनि ने २।३।१६ सूत्र द्वारा अल शब्द के योग मे चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थक सभी शब्दो के योग मे चतुर्थी का नियमन किया है, इससे अधिक स्पष्टता आ गई है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए अल शब्द को पर्याप्तार्थक मानना पडता है, अन्यथा 'अल महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य व्यवहित हो जाएगे। हेम ने शक्त्यर्थक और पर्याप्तार्थक शब्दो के साधुत्व को पृथक कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकार का विरोध नही आता है।[15]

१३ उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हेम मे पाणिनि जैनेन्द्र और शाकटायन की अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है, पर यह भी हमे नही भूलना चाहिए कि हेम ने उक्त तीनो व्याकरणो से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्यपाद और पाणिनि की अपेक्षा हेम ने शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र के 'सिद्धरनेकान्तात्' का प्रभाव 'सिद्धि स्याद्वादात् १।१।२' पर स्पष्ट है। हेम ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण मे जैनेन्द्र के सूत्र ज्यो के त्यो अपनाये है।

१४. शाकटायन व्याकरण की शैली का प्रभाव तो हेम पर सर्वाधिक है। यहा

एक उदाहरण देकर उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने 'पारेमध्येषष्ठ्यावा' २।१।१८, पूज्यपाद ने 'पारे मध्ये तथा वा' १।३।१५, और शाकटायन ने पारे मध्येऽन्त षष्ठ्या वा' २।१।१६ सूत्र लिखा है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर 'पारेमध्येऽग्रेऽन्त षष्ठ्या वा' सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणो के सूत्र की हेम सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है।

१५ शाकटायन के 'ननूपूजार्थध्वजचित्रे' ३।३।३४ का अमोघवृत्ति सहित हेम ने 'न नू पूजार्थध्वजचित्रे' ७।१।१०६ मे शब्दश अनुकरण किया है। यद्यपि हेम ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो से वहुत कुछ लिया है, तो भी अपनी मौलिकता प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासन मे अनेक नवीनताए लाने का उनका प्रयास प्रशस्य है।

१६ हेमशब्दानुशासन का अष्टम अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। इसमे चार पाद और कुल १११६ सूत्र हैं। प्रथम पाद मे स्वर और व्यजन विकार, द्वितीय मे सयुक्त, व्यजन विकार, तृतीय मे सर्वनाम, कारक, कृदन्त एव चतुर्थ पाद मे धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा की जानकारी के लिए इससे वडा और सर्वांगपूर्ण व्याकरण अन्य कोई नही है। पाणिनि ने जिस प्रकार सस्कृत और लौकिक सस्कृत भाषा का अनुशासन किया, उसी प्रकार हेम ने लौकिक सस्कृत तथा उसकी निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषा के तत्वो की जानकारी हेम की अद्भुत है। हेम शब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरण के अकेले अध्ययन मे ही लोक प्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओ की यथेष्ट जानकारी हो सकती है। यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है।

हेमशब्दानुशासन पर अनेक टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका परिचय जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ५ मे दिया गया है।

× × ×

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन व्याकरण शास्त्र की इस मुनित्रयी ने सस्कृत व्याकरण शास्त्र के सरक्षण, सवर्द्धन एव प्रसार मे जो योगदान दिया, वह व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे अद्वितीय है। व्याकरणशास्त्र पर होने वाले भविष्य के अनुसंधान कार्यो मे इन उपलब्धियो का उपयोग किया जाना चाहिए। और अधिक विस्तार के भय से अन्य ग्रन्थो, टीकाओ आदि पर इस निवन्ध मे विचार नही किया जा सका।

जिस प्रकार देवनन्दी, शाकटायन और हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के कृतित्व को अपनी कृतियो मे समाहित करके उसे सरक्षित किया और उनकी उपलब्धियो को सम्वर्द्धित करके प्रसारित किया उसी प्रकार प्रस्तुत निवन्ध मे हमने

स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका, डा० आर० बिरवे की शाकटायन व्याकरण की अगरेजी प्रस्तावना, स्व०डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के निबन्ध तथा जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग (पाच) की सामग्री को भी समाहित किया है।

आचार्य श्री कालूगणी की शताब्दी के पुण्य-प्रसग पर उन सभी विद्वानो के लिए हमारा यह नैवेद्य निवेदित है।

सदर्भ

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ६।
२ जैन विद्या का सास्कृतिक अवदान, पृ० ४२-४३।
३ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ४।
४ डा० आ० ने० उपाध्ये, जनरल एडिटोरियल, शाकटायन व्याकरण, पृ० १२।
५ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५।
६ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका पृ० ६-१२।
७ युधिष्ठिर मीमासक—जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिल पाठ, जैनेन्द्र महावृत्ति, पृ० ३६।
८ वही, पृ० ४३-४४।
९ प्रबन्ध पारिजात, पृ० २१४, उद्धृत जै० सा० वृ० इ०, भाग ५।
१० सिस्टम्स आफ सस्कृत ग्रामर, पैरा ५०।
११ शिलालेख सग्रह, भाग १, पृ० ११८।
१२ प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्तावना, पृ० ६७।
१३ सनातन जैन ग्रन्थमाला ५, वाराणसी।
१४ सिस्टम्स आफ सस्कृत ग्रामर, पृ० ७१।
१५ जैन विद्या का सास्कृतिक अवदान, पृ० ५३-६०।
१६ द्रष्टव्य—आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन।

आचार्य हेमचन्द्र और पाणिनि

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

संस्कृत व्याकरण की रचना बहुत प्राचीनकाल से होती आई है। संस्कृत के प्रकाण्ड वैयाकरण महर्षि पाणिनि के पूर्व भी कई प्रभावशाली वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु पाणिनि के व्याकरण की पूर्णता एवं प्रभावशालिता के कारण सूर्य के सामने नक्षत्रों की भांति उनकी प्रभा विलीन हो गई और व्याकरण जगत् में पाणिनीय प्रकाश व्याप्त हो गया। इतना ही नहीं अपितु इस भास्वर प्रकाश के सामने बाद में भी कोई प्रतिभा उद्भासित नहीं हो सकी। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में एक ऐसी प्रतिभा ही इसके अपवाद रूप में जागरित हुई। यह प्रतिभा केवल प्रकाश ही लेकर नहीं आई अपितु उस प्रकाश में रसमयी शीतलता का सहयोग भी था। हेम ने शब्दानुशासन के साथ शब्दप्रयोगात्मक द्वयाश्रय काव्य की भी रचना की।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन को पाणिनीय शब्दानुशासन की अपेक्षा सरल बनाने की सफल चेष्टा की है, साथ ही पाणिनीय अनुशासन से अवशिष्ट शब्दों की सिद्धि भी बतलाई है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि शब्दानुशासन-प्रक्रिया में पाणिनीय वैयाकरणों के समस्त मस्तिष्कों से जो काम पूरा हुआ है, उसे अकेले हेम ने कर दिखाया है। सच कहा जाए तो इस दृष्टि से संस्कृत भाषा का कोई भी वैयाकरण चाहे वह पाणिनि ही क्यों न हो, हेम की बराबरी नहीं कर सकता। हमें ऐसा लगता है कि हेम ने अपने समय में उपलब्ध कातन्त्र, पाणिनीय, सरस्वती कण्ठाभरण, जैनेन्द्र, शाकटायन आदि समस्त व्याकरण ग्रंथों का आलोडन कर सारग्रहण किया है और उसे अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा विस्तृत और चमत्कृत किया है।

प्रस्तुत निबन्ध में शब्दानुशासन की समस्त प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए हेम की पाणिनि के साथ तुलना की जाएगी और यह बतलाने का आयास रहेगा कि हेम में पाणिनि की अपेक्षा कौन सी विशेषता और मौलिकता है तथा शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम का विधान कैसा और कितना मौलिक एवं उपयोगी है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम के संज्ञाप्रकरण पर विचार किया जाएगा और

दोनो की तुलना द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की जाएगी कि हेम की सज्ञाए पाणिनि की अपेक्षा कितनी सटीक और उपयोगी है ।

संस्कृत भाषा के प्राय सभी ग्रथो मे सर्वप्रथम पारिभाषिक सज्ञाओ का एक प्रकरण दे दिया जाता है। इससे लाभ यह होता है कि आगे सज्ञा शब्दो द्वारा सक्षेप मे जो काम चलाये जाते है वहा उनका विशेष अर्थ समझने मे बहुत कुछ सहूलियत हो जाया करती है। संस्कृत के व्याकरणग्रथ भी इसके अपवाद नही। वास्तव मे व्याकरणशास्त्र मे इस बात की और अधिक उपयोगिता है, यत विशाल शब्दराशि की व्युत्पत्ति की विवेचना इसके बिना सभव नही है। उसमे विशेष कर संस्कृत व्याकरण मे जहा एक-एक शब्द के लिए सविधान की आवश्यकता पडती है।

संस्कृत के शब्दानुशासको ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी सज्ञाओ के साकेतिक रूप दिए हैं। कही-कही एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए उनकी रचनाए अलग-अलग व्याकरण के रूप मे अभिहित हुई। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण ही एक संस्कृत भाषा मे व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है, इन्होने सज्ञाओ की सख्या बहुत कम रखकर काम चलाया है। इन्होने स्वरो का सज्ञाओ मे वर्गीकरण करते हुए, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामिन, समान और सन्ध्यक्षर ये छ सज्ञाए सकलित की हैं। ये है घुट्, वर्ग, घोषवान्, अघोष, अन्तस्थ, और शिट्। स्वर सज्ञाओ तथा व्यजन सज्ञाओ का विवेचन कर लेने के बाद एक स्व सज्ञा का विधान है। जिसका उपयोग स्वर एव व्यजन दोनो के लिए समान है।

स्वर तथा व्यजन विधान सज्ञाओ के विवेचन के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम, और वाक्य सज्ञाओ का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। पाणिनीय व्याकरण मे इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गए हैं। परिवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने सभालने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर उन्होने वाक्य की जो परिभाषा 'एकतिड वाक्यम्' दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारो ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे 'एकतिड वाक्यम्' के दायरे से दूर नही जा सके है। फलत उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नही हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यो की त्यो बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है 'सविशेषणमाख्यात वाक्यम्' १।१।२६ 'त्याद्यन्त पदमाख्यातम्, साक्षात् पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तै प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहित प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमान वा आख्यात वाक्यसज्ञ भवति।' अर्थात् मूल सूत्र मे सविशेषण आख्यात वाक्य की वाक्यसज्ञा

बतलाई गई है। यहा आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, कारक विशेषण और क्रिया विशेषणो का साक्षात् या परम्परया रहना। आगे वाले वृत्यश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणो के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात को वाक्य कहा गया है। यहा विशेषण शब्द द्वारा केवल सज्ञा विशेषण का ही ग्रहण नही है, अपितु साधारणत अप्रधान अर्थ लिया गया है और आख्यात को प्रधानता दी गई है। वैयाकरणो का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य मे आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है। तात्पर्य यह है कि हेम की वाक्य परिभाषा सर्वाङ्गपूर्ण है। इन्होने इस परिभाषा का सम्बद्धवाक्य प्रदेश 'पदाद्युग्विभक्त्येकवाक्ये वस्नसौ बहुत्वे' २।१।२१ सूत्र से भी माना है। पाणिनि या अन्य पाणिनीय तन्त्रकार वाक्यपरिभाषा को हेम के समान सर्वांगीण नही बना सके हैं। यो तो 'एकतिङ्वाक्यम्' से कामचलाऊ अर्थ निकल आता है और किसी प्रकार वाक्य की परिभाषा बन जाती है, पर समीचीन और स्पष्ट रूप मे वाक्य की परिभाषा सामने नही आ पाती है। अत आचार्य ने वाक्य परिभाषा को बहुत ही स्पष्ट रूप मे उपस्थित किया है।

हेम ने सात सूत्रो मे अव्ययसज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण मे सबसे बडी विशेषता यह है कि निपातसज्ञा को अव्ययसज्ञा मे ही विलीन कर लिया है। उन्होने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह एक सक्षिप्तीकरण का लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और सख्यावत् सज्ञाओ का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अत इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नही समझी है। सज्ञाप्रकरण की हेम की सज्ञाए शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय सज्ञाए अर्थानुसारी है। पाणिनि के समान हेम की सज्ञाओ का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पडता है। अत हेम ने पाणिनि की अपेक्षा कम सज्ञाओ का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। यह सत्य है कि हेम ने पणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी सज्ञाओ को ग्रहण नही किया है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत सज्ञाए पाणिनि ने भी लिखी हैं किन्तु हेम ने इन सज्ञाओ मे स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रिमात्रिक को क्रमश ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। वस्तुत पाणिनि के 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत' १।२।२७ सूत्र का भाव ही अकित करके हेम ने एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण किया है। हेम के 'औदन्ता स्वरा:' १।१।४ की अनुवृत्ति भी उक्त सज्ञाओ मे विद्यमान है।

पाणिनि का सवर्णसज्ञा विधायक 'तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्' १।१।९ सूत्र है। हेम ने इसी सज्ञा के लिए 'तुल्यस्थानास्यप्रयत्न स्व.' १।१।१७ सूत्र लिखा है। इस

सञ्ज्ञा के कथन मे हेम की कोई विशेषता नही है, बल्कि पाणिनि का अनुकरण ही प्रतीत होता है। हा, सवर्णसञ्ज्ञा के स्थान पर हेम ने स्वसञ्ज्ञा नामकरण कर दिया है। दोनो ही शब्दानुशासको का एक सा ही भाव है।

हेम और पाणिनि की सञ्ज्ञाओ मे एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहार के झमेले मे नही पडे है, उनकी सञ्ज्ञाओं मे प्रत्याहारो का बिल्कुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णो को लेकर ही हेम ने सञ्ज्ञाविधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारो द्वारा सञ्ज्ञाओ का निरूपण किया है जिससे प्रत्याहारक्रम का स्मरण किए बिना सञ्ज्ञाओ का अर्थबोध नही हो सकता है। अत हेम के सञ्ज्ञाविधान मे सरलता पर पूर्ण ध्यान रखा गया है।

पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को व्यजन-विकार कहा है। वास्तव मे अनुस्वार मकार या नकारजन्य है। विसर्ग सकार या कही रेफजन्य होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनो क्रमश. क, ख तथा प, फ के पूर्व स्थित विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने उक्त अनुस्वार आदि को अपने प्रत्याहार सूत्रो मे—वर्णमाला में, स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नही दिया है। उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणो ने इसकी बडी जोरदार चर्चा की है कि इन वर्णो को स्वरो के अन्तर्गत माना जाए अथवा व्यजनो के। पाणिनीय शास्त्र के उद्‌भट विद्वान् कात्यायन ने इसका निर्णय किया कि इनकी गणना दोनो मे करना उपयुक्त होगा। पाणिनीय तत्त्ववेत्ता पतजलि ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। हेम के अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को 'अ अ ⌣क⌣प शषस. शिट्' १।१।१६ सूत्र द्वारा शिट् सञ्ज्ञक माना है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन मे विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यजनो मे स्थान दिया है। हेम की शिट् सञ्ज्ञा व्यजनवर्णो की है तथा व्यजन वर्णो की सञ्ज्ञाओ मे हेम ने उक्त विसर्गादि को स्थान दिया है। शाकटायन व्याकरण मे भी अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यंजनो के अन्तर्गत माना है। ऐसा लगता है कि हेम इस स्थल पर पाणिनि की पेक्षा शाकटायन से ज्यादा प्रभावित हैं। हेम का अनुस्वार, विसर्ग आदि का व्यजनो मे स्थान देना अधिक तर्कसगत जचता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम सक्षेप मे इतना ही कह सकते हैं कि हेम ने अपनी आवश्यकता के अनुसार सञ्ज्ञाओ का विधान किया है। जहा पाणिनि के निरूपण मे क्लिष्टता है वहा हेम मे सरलता और व्यावहारिकता है।

पाणिनि ने जिसे अच सन्धि कहा है हेम ने उसे स्वर सन्धि। हेम ने गुण सन्धि मे ऋ के स्थान पर अर् और लृ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिए पृथक् 'उरण रपर' १।१।५१ सूत्र लिखना पडा है।

हेम ने इस एक सूत्र की वचत कर १।२।३ सूत्र मे ही उक्त कार्य को सिद्ध कर दिया है। हेम ने ऐ और औ को सन्धि-स्वर कहा है, पाणिनि और कात्यायन ने नही। उत्तरकालीन व्याख्याकारो ने इनकी सन्ध्यक्षरो मे गणना की है।

पाणिनि ने 'एडि पररूपम् ६।१।६४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद मे ए, ओ हो तो पररूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने 'वौष्ठौतौ समासे' १।२।१७ द्वारा लुक् का विधान किया है। पाणिनि ने अयादि सन्धि के लिए 'एचोऽयवायाव' ६।१।७८ सूत्र का कथन कर समस्त कार्यों की सिद्धि कर ली है, किन्तु हेम को इस अयादि सन्धि कार्य के लिए 'एदैतोऽयाय' १।२।२३ तथा 'ओदोतो वाव' १।२।२६ इन दो सूत्रो की रचना करनी पडी है। स्वर सन्धि मे हेम का 'ह्रस्वोऽपदे वा' १।२।२२ बिल्कुल नवीन है। पाणिनि व्याकरण मे इसका जिक्र नही है। मालूम होता है कि हेम के समय मे 'नदि एषा' और 'नद्येषा' ये दोनो प्रयोग प्रचलित थे। इसी कारण इन्हे उक्त रूपो के लिए अनुशासन करना पडा। गव्यति, गव्यते, नाव्यति, नाव्यते, लव्यम् एव लाव्यम् रूपो के साधुत्व के लिए हेम ने 'य्यक्ये' १।२।२५ सूत्र लिखा है। इन रूपो की सिद्धि के लिए पाणिनि के 'वान्तो यि प्रत्यये' ६।१।७९ तथा 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' ६।१।८० ये दो सूत्र आते हैं। अभिप्राय यह है कि हेम ने लव्यम् और लाव्यम् की सिद्धि भी १।१।२५ से कर ली है, जब कि पाणिनि को इन रूपो के साधुत्व के लिए ६।१।८० सूत्र पृथक् लिखना पडा है। पाणिनि के पूर्वरूप और पररूप का कार्य हेम ने लुक् द्वारा चला लिया है। पाणिनि ने जिसे प्रकृतिभाव कहा है, हेम ने उसे असन्धि कहा है।

उ, इति, विति तथा ऊ इति इन रूपो की साधनिका के लिए पाणिनी ने 'उञ' १।१।१७ तथा 'ऊँ' १।१।१८ ये दो सूत्र लिखे हैं हेम ने उक्त रूपो की सिद्धि 'ऊ चोञ' २।२।३९ सूत्र द्वारा ही कर दी है।

पाणिनि ने जिसे हल् सन्धि कहा है, हेम ने उसे व्यजन सन्धि। हेम ने व्यंजन सन्धि मे कवर्गादि क्रम से वर्णों का ग्रहण किया है, जब कि पाणिनि ने प्रत्याहारक्रम ग्रहण किया है। पाणिनि ने विसर्ग को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय बताया है, पर हेम ने र कखपफयो ≍क≍पौ १।३।५ सूत्र मे रेफ को ही विसर्ग तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय कहा है। जो काम पाणिनि ने विसर्ग से चलाया है, वह काम हेम ने रेफ से चलाया है।

हेम ने 'नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट् परे' १।३।८ सूत्र द्वारा न को सीधे स बना दिया है, जब कि पाणिनि ने न व स = र स क्रम रखा है, यही नही बल्कि अनुनासिक और अनुस्वार करने के लिए पाणिनि ने 'अत्रानुनासिक पूर्वस्य तु वा' ८।३।२ और 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वार' ८।३।४ इन दो सूत्रो को लिखा है। हेम ने उपर्युक्त सूत्र मे ही इन दोनो सूत्रो को समेट लिया है। हेम ने १।३।१३ मे पतजलि के 'समो वा लोपमेके' सिद्धान्त को अर्थात् सम् के म्

का वैकल्पिक लोप होता है, को निहित किया है। इससे अवगत होता है कि हेम ने पाणिनीय तन्त्र का अवगाहनकर उनकी समस्त विशेषताओं को अपने शब्दानुशासन मे स्थान दिया है तथा अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा सरलीकरण और लघूकरण की ओर भी ध्यान दिया।

हेम ने 'सम्राट' १।३।१६ सूत्र मे सम्राट शब्द लिखकर सम्राट की सिद्धि मान ली है जबकि पाणिनि ने ८।३।२५ सूत्र मे इसकी प्रक्रिया भी प्रदर्शित की है। हेम ने १।३।२२ सूत्र मे स का लुक् कर दिया है। पाणिनि ८।३।१७ के द्वारा स को य बनाकर ८।३।२२ सूत्र मे लोप किया है। हेम का लाघव यहा नितान्त वैज्ञानिक है। हेम ने १।३।३५ मे अस्पष्ट और ईषत्स्पष्टतर मे व और य का विधान किया है। पाणिनि ने ८।३।१८ मे इन्हे लघुप्रयत्न कहा है।

हेम ने १।३।२८ मे छ को द्वित्व किया है, जबकि पाणिनि ने ६।१।७५ द्वारा तुक का आगम किया है, पश्चात् त् को च् किया है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम का यह अनुशासन सरल होने के साथ वैज्ञानिक भी है, क्योकि हेम छ को द्वित्व कर पूर्व छ को च कर देते हैं। पाणिनि तुक् आगम कर त् को च् बनाते हैं, इसमे प्रक्रिया गौरव अवश्य है।

पाणिनि का सूत्र है 'आङ्माङोश्च' ६।१।७४। इसके द्वारा तुक् किया जाता है, किन्तु हेम ने १।३।२८ के अनुसार आ, मा को छोडकर शेष दीर्घ पदान्त शब्दो से विकल्प से छ का विधान किया है। किन्तु वृद्धि के अनुसार आ मा के पास छ का होना नित्य सिद्ध होता है, पर यह सत्य है कि उक्त सूत्र के अनुसार कथन मे स्पष्टता नही आने पाई है।

हेम ने तच्श्शेते, तच्शेते मे 'त शिट' १।३।३६ द्वारा श को द्वित्व किया है, जो हेम की मौलिकता का द्योतक है। हेम ने विसर्ग सन्धि का निरूपण पृथक् नही किया है, बल्कि उसे रेफ कहकर व्यजन सन्धि मे ही स्थान दिया है। हेम ने 'रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुत' १।३।४१ इस एक ही सूत्र मे 'रो रि' ८।३।१४ तथा 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण' ६।३।१११ पाणिनि के इन दोनो सूत्रो के कार्यविधान को एक साथ रख दिया है।

हेम ने 'शट्याद्यस्य द्वितीयो वा' १।३।५९ सूत्र मे एक नया विधान किया है। बताया गया है कि श, ष, स के परे वर्ग के प्रथम अक्षर का द्वितीय अक्षर होता है, जैसे क्षीरम्, ख्षीरम्, अप्सरा, अफ्सरा आदि। भाषाविज्ञान की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा लगता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम के समय मे स्कूल भाषा की प्रवृत्तिया लोकभाषा के अधिक निकट आ रही थी। इसी कारण हेम का उक्त अनुशासन सभी सस्कृत वैयाकरणो की अपेक्षा नया है। यह सत्य है कि हेम को अपने समय की भाषा का यथार्थ ज्ञान था। उसकी समस्त प्रवृत्तियो की उन्हे जानकारी थी। इसी कारण उन्होने अपने अनु-

शासन मे भाषा की समस्त नवीन प्रवृत्तियो को समेटने की चेष्टा की है।

शब्दरूपो की सिद्धि को हेम ने प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद मे आरम्भ किया है। पाणिनि ने अजन्त की साधनिका आरम्भ करने से पूर्व 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' १।२।४५ सूत्र द्वारा प्रातिपदिक सज्ञा पर प्रकाश डाला है। हेम ने 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' १।१।२७ सूत्र मे नाम की परिभाषा बतलाई है। पाणिनि ने जिसे प्रातिपदिक कहा है हेम ने उसको मात्र नाम का अन्तर माना है, अर्थ का नही। हेम ने इसी नाम सज्ञा का अधिकार मानकर विभक्तियो का विधान किया है। हेम शब्दानुशासन मे पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त विभक्तिया ही प्राय. गृहीत हैं। केवल प्रथमा एकवचन मे पाणिनि के सु के स्थान पर कातन्त्र के समान 'सि' विभक्ति का विधान किया गया है। हेम ने १।४।२ सूत्र से 'अत' की अनुवृत्ति कर 'मस् ऐस्' १।४।२ सूत्र रचा है जो पाणिनि के 'अतो भिस् ऐस्' ७।१।९ के समान प्रयास है।

पाणिनि ने 'जश्शसो शि' ७।१।२० के द्वारा जस् के स्थान मे 'शि' होने का विधान है, हेम ने 'जस इ' १।४।९ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'इ' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहा यदि केवल इ का विधान हाता तो वह जस् के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शि का विधान किया। हेम के यहा इस तरह का कुछ भी झमेला नही है। इनके यहा जस् के स्थान पर किया गया 'इ' का विधान समस्त जस् के स्थान पर होता है। अत यहा हेम की लाधव दृष्टि प्रशसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनामसज्ञा नही की, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया गया है। जहा पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका है, वहा हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नही मानकर काम चलाया है। यह भी हेम की लाधव दृष्टि का सूचक है।

पाणिनि ने आम् को साम् बनाने के लिए सुट् का आगम किया है, पर हेम ने 'अवर्णस्याम साम्' १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग मे लतायै लताया और लताया की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया है। उन्होने 'याडाप' ७।३।११३ सूत्र से याट् किया, पुन वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लताया का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।१७ सूत्र द्वारा सीधे यै यास् और याम् प्रत्यय जोडकर उक्त रूपो का सहज साधुत्व दिखलाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाधवसूचक है।

मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्वसवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने इदुतोऽस्त्रेरीदूत्' १।४।२१ के द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और

उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का विधान किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानों को अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है।

'मुनौ' प्रयोग मे पाणिनि ने 'अच्च घे' ७।३।११९ के द्वारा इ को अ और ङि को औ किया है, तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है किन्तु हेम ने १।४।२५ के द्वारा ङि को डौ किया है जिससे यहा ड का अनुबन्ध होने के कारण मुनि शब्द का इकार स्वय ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई।

'देवानाम्' मे पाणिनि ने नुट् का आगम किया है, किन्तु हेम ने 'ह्रस्वापश्च' १।४।३२ के द्वारा सीधे आम् को नाम् कर दिया है। हेम ने पाणिनि के 'त्रेस्त्रय' ६।१।५३ सूत्र को ज्यो का त्यो 'त्रेस्त्रयः' १।४।३४ मे ले लिया है। इसी तरह 'ह्रस्वस्य गुण' ७।३।१०८ को भी १।४।४१ मे ज्यो का त्यो ले लिया है। पाणिनि ने नपुसक लिंग मे भतरद् प्रयोग की सिद्धि के लिए 'अद्ड्डतरादिभ्य पचभ्य.' ७।१।२५ सूत्र द्वारा सु और अम् विभक्ति को अद् का विधान किया है और अ का लोप किया है, पर हेम ने सि और अम् को सिर्फ 'द' बनाकर कतरद् की सिद्धि की है। इससे इन्होने अकार लोप को बचाकर लाघव प्रदर्शित किया है।

पाणिनि ने कुर्वत् शब्द को पुल्लिग मे कुर्वन् बनाने के लिए 'उगिदचा सर्वनामस्थानेऽधातो.' '७।१।७० द्वारा 'नुम्' और 'सयोगान्तस्य लोप' ८।२।२३ द्वारा 'त् के लोप होने का नियमन किया है। हेम ने सीधे 'ऋदुदित' १।४।७० द्वारा 'त्' के स्थान पर 'न्' कर दिया है।

उशनस् शब्द के सम्बोधन मे रूप सिद्ध करने के लिए कात्यायन ने 'अस्य सम्बुद्धौ वानङ् नलोपश्च वा वाच्य' वार्त्तिक लिखा है। इस वार्त्तिक के सिद्धान्त को हेम ने 'वोशनसोनश्चामन्त्र्यसौ' १।४।८० मे रख दिया है।

पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणो का नाम लिया है, कही-कही ये नाम मात्र प्रशसा के लिए ही आते हैं, किन्तु अधिकतर वहा उनसे सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया जाता है। जहा सिद्धान्त का प्रतिपादन रहता है, वहा स्वयमेव विकल्पार्थ हो जाता है। हेम न अपनी अष्टाध्यायी मे पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम नही लिया है। विकल्प विधान करने के लिए प्राय 'वा' शब्द का ही प्रयोग किया है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दो के विविध रूपो की सिद्धि के लिए हेम ने अपने सूत्रो मे तद्रूपो को ही सकलित कर दिया है, जब कि पाणिनि ने इन रूपो को प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया है।

इद शब्द के पुल्लिग और स्त्रीलिंग के एकवचन मे रूप बनाने के लिए पाणिनि के अलग नियम हैं। उन्होने 'इदमो म.' ७।२।१०८ के द्वारा म विधान और 'इदोऽय्पुसि' ७।२।१११ के द्वारा इद को अय विधान किया है। स्त्रीलिंग मे 'इयम्'

बनाने के लिए पाणिनि ने 'य सौ' ७।२।११० से इद् के 'द' को 'य' बनाया है, किन्तु हेम ने सीधे 'अयमियम् पुस्त्रियो सौ २।१।३८ के द्वारा अय और इय रूप सिद्ध किए है। यहा पाणिनि की अपेक्षा हेम की प्रक्रिया सीधी, सरल और हृदय-ग्राह्य है। हेम की प्रयोगसिद्धि की प्रक्रिया से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शब्दानुशासन मे सरलता और वैज्ञानिकता को समान रूप से महत्त्व देते हैं। पाणिनि की प्रक्रिया वैज्ञानिक अवश्य है, पर कही-कही जटिल और बोझिल भी है। हेम अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा प्राय सर्वत्र ही जटिलता के बोझ से मुक्त है।

पाणिनि के त्यद् यद् आदि शब्दो के पुलिग मे रूप बनाने के लिए 'त्यदा-दीनाम.' ७।२।१०२ सूत्र द्वारा अकार का विधान किया है, इस प्रक्रिया मे त्यद् आदि से लेकर द्वितक का ही ग्रहण होना चाहिए, इसके लिए भाष्यकार ने द्विपर्य-न्तानामेवेष्टि ' द्वारा नियमन किया है। हेम ने भाष्यकार के उक्त सिद्धान्त को मिलाते हुए 'अद्वेर २।१।४१ के द्वारा उसी बात को स्पष्ट किया है। पाणिनि ने 'अचि श्नुधातुभ्रुवाय्वोरियुङूवडौ' ६।४।७७ के द्वारा इ को इयड का विधान किया है। हेम 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' २।१।५० के द्वारा इय्, उव् मात्र का विधान कर एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

पाणिनि ने विदुप शब्द की सिद्धि के लिए, 'वसो सम्प्रसारणम्' ६।४।१३१ सूत्र द्वारा सम्प्रसारण किया है तथा धात्व विघान करने पर विदुपः का साधुत्व प्रदर्शित किया है। हेम ने 'क्वसूपमतौ च' २।१।१०५ सूत्र से विद्व स् के व-स् को उप कर दिया है। वृत्रघ्न बनाने के लिए पाणिनि ने हन् मे हकार के आकार का लोप कर ह् के स्थान पर घ् बनाने के लिए 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' ७।३।५४ सूत्र लिखा है। हेम ने हन् को 'हनो हो घ्न ' २।१।११२ के द्वारा सीधे घ्न बना दिया है। हेम का प्रक्रियालाघव शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेपता है। पाणिनीय अनुशासन मे उनके बाद के आचार्यों ने 'क्रियान्वयित्वम् कारकत्वम्' अथवा 'क्रियाजनकत्व कारकत्वम्' कहकर कारक की परिभाषा बताई है, किन्तु पाणिनि ने स्वय कोई चर्चा नही की है। हेम और पाणिनि दोनो ने ही कर्ता की परिभाषा एक समान की है। पाणिनि ने द्वितीयान्त कारक जिसे कर्मकारक कहते हैं, बताने के लिए कभी तो कर्मसज्ञा की है और कभी कर्मप्रवचनीय तथा इन दोनो सज्ञाओ द्वारा द्वितीयान्त पदो की सिद्धि की है। 'कर्मणि द्वितीया' तथा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' सूत्रो द्वारा द्वितीया के विधान के साथ सीधे द्वितीयान्त का भी विधान किया है। हेम ने कर्मकारक बनाते समय सर्वप्रथम कर्म की सामान्य परिभाषा 'कर्तुर्व्याप्य कर्म' २।२।३ सूत्र मे बताई है, इसके पश्चात् विशेषपद, सन्निधान मे जहा द्वितीयान्त बनाना है, वहा कर्मकार-

कत्व का ही विधान है अर्थात् कर्म कह देने से द्वितीयान्त समझ लिया जाता है। हेम के अनुसार कर्म स्वत: सिद्ध द्वितीयान्त है, उसमें द्वितीया विभक्ति लाने के लिए सामान्यत किसी नियमन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक बात यहां विशेष उल्लेखनीय है, वह यह है कि जहा पाणिनि ने यह स्वीकार किया है कि द्वितीयान्त बन जाने से ही कर्मकारक नहीं कहलाया जा सकता, बल्कि उसमें कर्म की परिभाषा भी घटित होनी चाहिए, फिर भी द्वितीयान्तमात्र होने के कारण उन रूपों का भी कारक प्रकरण के कर्मभाग में संग्रह कर दिया गया है। अत पाणिनि की दृष्टि में विभक्ति और कारक पृथक् वस्तु है। विभक्ति अर्थ की अपेक्षा रखती है, पर कारक शब्द सापेक्ष है, हेम ने भी 'क्रिया विशेषणात्' २।२।४१ तथा कालाध्वनोर्व्याप्तौ' २।२।४२ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हेम का यह प्रकरण पाणिनि के समान ही है।

हेम का 'उपान्वध्याड्वस' २।२।२१ सूत्र पाणिनि के १।४।४८ के तुल्य तथा 'साधकतम करणम्' २।२।२४ सूत्र पाणिनि के १।४।४२ के तुल्य हैं। पाणिनि ने 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२५ सूत्र में 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने अवधि अर्थ द्वारा की है। हेम इस प्रकार के झमेले में नहीं पड़े हैं। इन्होंने सीधे 'अपायेऽवधिरपादानम्' २।२।२६ सूत्र लिखा है। पाणिनि के रचित सूत्र में सन्देह के लिए अवकाश था, जिसका निराकरण टीका-कारों द्वारा हुआ। परन्तु हेम ने सूत्र में ही अवधि शब्द का पाठ रखकर अर्थ सन्देह की गुंजायश नहीं रखी है।

'सम्बोधने च' २।३।४७ पाणिनि का सूत्र है पर हेम ने 'आमन्त्र्ये च' २।२।३२ सूत्र सम्बोधन का विधान करने के लिए लिखा है।

पाणिनीय तंत्र में क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहीं है, बाद के वैयाकरणों और नैयायिकों ने 'क्रिया विशेषणानां कर्मत्वम्' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने 'क्रिया विशेषणात्' २।४।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में संगृहीत कर लिया है।

पाणिनि ने 'नम स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलवष ड्योगाच्च' २।३।१६ सूत्र द्वारा अल शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थ सभी शब्द के योग में चतुर्थी का नियमन किया है इससे अधिक स्पष्टता आ गई है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए उपर्युक्त सूत्र में अलं शब्द को पर्याप्तार्थक मानना पड़ता है। अन्यत्र 'अल महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य व्यवहृत हो जायेंगे। हेम व्याकरण द्वारा सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं, अत किसी भी शक्त्यर्थक या पर्याप्त्यर्थक शब्द के साधुत्व में कहीं भी विरोध नहीं आता है।

पाणिनि ने अपादान कारक की व्यवस्था के लिए 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२५ सूत्र लिखा है, किन्तु इस सूत्र से उक्त कारक की व्यवस्था अधूरी रहती

है। अतएव वार्तिककार ने वार्तिक और पाणिनि ने अन्य सूत्र लिखकर इस व्यवस्था को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकरण मे 'जुगुप्सा विराम-प्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (का० वा०), 'भीत्रार्थाना भयहेतु' १।४।२५, 'पराजेरसोढ' १।४।२६, 'वारणार्थानामीप्सित' १।४।२७, 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति' १।४।४८, 'जनिकर्तु प्रकृति' १।४।३०, 'भुव प्रभव १।४।३१, पचमी विभक्ते' २।३।४२ 'यतश्चाध्वकालनिर्माण तत्रपचमी' (का० वा०) सूत्र और वार्तिक लिखे गये है। पर आचार्य हेम ने 'अपायेऽवधिरपादानम्' २।२।१९ इस एक सूत्र मे ही उक्त समस्त नियमो को अन्तर्भुक्त कर लिया है।

इस प्रकार हेमचन्द्र ने पाणिनि के उक्त कार्यों का एक ही सूत्र मे अन्तर्भाव कर लिया है। यद्यपि महाभाष्य मे 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२५ मे हेम की उक्त समस्त बाते पाई जाती हैं, तो भी यह मानना पडेगा कि हेम ने महाभाष्य आदि ग्रन्थो का सम्यक् अध्ययन कर मौलिक और सक्षिप्त शैली मे विषय को उपस्थित किया है।

पाणिनीय तन्त्र मे जातिवाचक शब्दो के बहुवचन का विधान कारक के अन्तर्गत नही है। पाणिनि ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' १।२।५८ सूत्र द्वारा विकल्प से जातिवाचक शब्दो मे एक मे बहुत्व का विधान किया है और अनुशासक सूत्र को तत्पुरुष समास मे स्थान दिया है। पर हेम ने इसी तात्पर्यवाले 'जात्याख्यायाऽनवैकोऽसख्यो बहुवत्' २।२।१२१ सूत्र को कारक के अन्तर्गत रखा है। ऐसा मालूम होता है कि हेम ने यह सोचा होगा कि एक वचनान्त या बहुवचनान्त प्रयोगो का नियमन भी कारक प्रकरण के अन्तर्गत आना चाहिए। इसी आधार पर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिम चार सूत्र लिखे गये हैं। हेम के कारक प्रकरण का यह अन्तिम भाग पाणिनि की अपेक्षा विशिष्ट है। उक्त चारो सूत्र एकार्थ होने पर भी बहुवचन विभक्तियो के विधान का समर्थन करते हैं। विभक्ति-विधायक किसी भी तरह के सूत्र को कारक से सम्बद्ध मानना ही पडेगा। अत इन चारो सूत्रो का यद्यपि विभक्ति नियमन के साथ साक्षात् सबध नही है, फिर भी परम्परागत सम्बन्ध तो है ही किन्तु विभक्त्यर्थ के साथ एक॰ वचन या बहुवचन के नियमन का सीधा सम्बन्ध नही है, इसी कारण हेम ने इन्हे कारक प्रकरण के मध्य मे स्थान नही दिया। कारक के साथ उक्त विधान का पारस्परिक सम्बन्ध है, यह बात बतलाने के लिए ही इन्होने कारक प्रकरण से दूर कर के उसी के अन्त मे ग्रथित किया है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी का स्त्रीप्रत्यय प्रकरण चौथे अध्याय के प्रथम पाद से आरम्भ होकर ७७वें सूत्र तक चलता है। आरम्भ मे सुप् प्रत्ययो का विधान है। इसके पश्चात् तृतीय सूत्र 'स्त्रियाम्' ४।१।३ के अधिकार मे उक्त सभी सूत्रो को मानकर स्त्री प्रत्यय-विधायक सूत्र निश्चित किए गए हैं। प्रत्ययो मे सर्वप्रथम

टाप् और डीप् आए है, अनन्तर डाप, डीन्, डीप् और ती प्रत्यय आये हैं। हेम-व्याकरण मे दूसरे अध्याय के सम्पूर्ण चौथे पाद में स्त्री प्रत्यय समाप्त हुआ है। सुप् प्रत्ययो का समावेश न करके 'स्त्रियां नृतो ऽस्वस्त्रादेर्डी' २।४।१ सूत्र मे ही 'स्त्रियाम्' पद आया है जिसकी आवश्यकता स्त्रीत्व के ज्ञान के लिए है, हेम ने यही से स्त्रीत्व का अधिकार मान लिया है। पाणिनि ने ऋकारान्त और नकारान्त शब्दो से डीप् करने के लिए 'ऋन्नेभ्यो डीप्' ४।१।५ अलग सूत्र लिखा हैं तथा 'न षट् स्वस्रादिभ्य' ४।२।१० द्वारा यहा डीप, टाप् का प्रतिषेध किया है। पाणिनि ने 'उगितश्च' ४।१६ के द्वारा भवती, प्राची जैसे दो तरह के शब्दो का साधन कर लिया है, परन्तु हेम ने इसके लिए 'आधात्दुदित' १।४।२ और 'अच' २।४।३ ये दो सूत्र बनाए है। अत्यन्त लाघवेच्छु हेम का यहा गौरव स्पष्ट है।

पाणिनि ने बहुव्रीहि समास सिद्ध शब्दो को स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्राय बहुव्रीहि विषय के सामान्य सूत्रो की रचना की, लेकिन हेम यहा विशेष रूप से ही अनुशासन करते दिखाई पडते हैं। अशिशु से अशिशी बनाने के लिए 'अशिशो' २।४।८ सूत्र की अलग रचना है।

पाणिनि ने सर्वप्रथम स्त्री प्रत्यय मे 'अजाद्यतष्टाप' ४।१।४ सूत्र लिखा है, हेम ने इस प्रकरणिका मे ही परिवर्तन किया है। हेम व्याकरण मे पहले डीप् प्रत्यय का प्रकरण है, उसके अन्त मे उसका निषेध करने वाले 'नोपान्त्यवत' २।४।१३ और 'मन' २।४।१४ ये दो सूत्र हैं। उक्त दोनो सूत्रो के कारण जिन शब्दो मे अन् और मन् प्रत्यय लगे होते हैं, उनके बाद स्त्रीलिंग बनाने के लिए डी प्रत्यय नही आता है। इस प्रकार डी प्रत्यय को स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'ताभ्या वाप् डित्' २।४।१५ सूत्र द्वारा आम् प्रत्यय का विधान किया है। तत्पश्चात् 'अजाये' २।४।१६ सूत्र को रखा है। पाणिनि ने कुमारी आदि शब्दो को सिद्ध करने के लिए 'वयसि प्रथमे' ४।१।२० सूत्र की रचना की, जिसका तात्पर्य है कि प्रथम अवस्था को बतलाने वाले शब्द से स्त्रीलिंग बनाने के लिए डीप् प्रत्यय होता है। हेम के यहा उक्त सूत्र के स्थान पर 'वयस्यनन्त्ये' २।४।२१ सूत्र है। इसमे अन्तिम अवस्था बुढापा से भिन्न अर्थ को बतलाने वाले सभी शब्दो के आगे डी प्रत्यय लगता है। जैसे कुमारी, किशोरी और वधूटी आदि। पाणिनि के उक्त सूत्रानुसार वधूटी और किशोरी शब्द नही बनने चाहिए, क्योकि ये शब्द प्रथम अवस्थावाची नही है, अत इनकी सिद्धि उक्त सूत्र से नही हो सकती है। अतएव किशोरी और वधूटी के स्थान पर पाणिनि के अनुसार किशोरा और वधूटा ये रूप होने चाहिए। पर हेम के सूत्र से उक्त सभी उदाहरण सिद्ध हो जाते हैं। हेम ने 'वयस्यनन्त्ये' २।४।२१ सूत्र बहुत सोच समझ कर लिखा है।

पाणिनि के दोषपरिमार्जन के लिए कात्यायन ने 'वयस्यचरमे इति वाच्यम्' वार्तिक लिखा है। सचमुच मे हेम का उक्त अनुशासन अध्ययन पूर्ण है।

पाणिनि ने समाहार मे द्विगु समास माना है और उसको 'द्विगो' ४।१।२१ के द्वारा त्रिलोकी को नित्य स्त्रीलिंग माना है। हेम ने उसके लिए 'द्विगोस्समाहारात्' २।४।२१ सूत्र लिखा है। यहा समाहारात् शब्द जोडने का कोई विशेष तात्पर्य नही मालूम होता।

पाणिनि ने वह्वादिगण पठित शब्दो को स्त्रीलिंग बनाने के लिए वैकल्पिक ङीप् का विधान किया है। उक्त गण के अन्तर्गत पद्धति शब्द को भी मान लेने पर पद्धति, पद्धती इन दो रूपो की सिद्धि होती है जिसको 'पद्धते' २।४।३३ के द्वारा हेम ने भी स्वीकार किया है। स्त्री प्रत्यय प्रकरण मे आया हुआ 'यूनस्ति' ४।१।८७ सूत्र दोनो मे एक है।

अव्ययीभाव समास के प्रकरण मे पाणिनि की अपेक्षा हेमव्याकरण मे निम्न मौलिक विशेषताए है —

(१) पाणिनि ने 'अव्यय विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु' २।१।६ सूत्र लिखा है। प्रयोग की प्रक्रिया के अनुसार एक सूत्र रखने मे सगति नही वैठती, क्योकि केवल अव्यय का विभक्ति आदि अर्थों के अतिरिक्त भी समास होना चाहिए, इसके लिए उत्तरकालीन पाणिनीय व्याख्याकारो ने अव्यय का योगविभाग करके काम चलाया है, पर हेम ने अपने व्याकरण को इस झमेले से वचा लिया है। इन्होने ३।२।२१ वा सूत्र 'अव्ययम्' पृथक् लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होने एक विशेषता और भी वतलाई है, वह यह है कि इससे द्वारा निष्पन्न समस्त शब्दो का बहुव्रीहि सज्ञा दी है।

(२) पाणिनि ने केशा-केशि, मुसला-मसलि, दण्डा-दण्डि इत्यादि शब्दो मे बहुव्रीहि समास माना है। उक्त प्रयोगो मे 'अनेकमन्यपदार्थे' २।२।२४ सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास हो जाने के वाद 'इच् कर्मव्यतिहारे' ४।४।१२७ तथा 'द्विदण्ड्यादिभ्यश्च' ५।४।१२८ सूत्रो द्वारा इच् प्रत्यय का विधान किया है। किन्तु हेम ने इसके विपरीत उपर्युक्त प्रयोगो मे अव्ययीभाव समास माना है। इस प्रक्रिया के लिए हेम ने 'युद्धे व्ययीभाव' ३।१।२६ सूत्र की रचना की है। हेम की यह मौलिक विशेषता है कि इन्होने उक्त स्थलो पर अव्ययीभाव का अनुशासन किया है

(३) पाणिनीय व्याकरण मे 'अव्यय विभक्ति' इत्यादि सूत्र मे यथा शब्द आया है। वैयाकरणो ने उसके चार अर्थ किये हैं।

(१) योग्यता, (२) वीप्सा, (३) पदार्थानतिवृत्ति और (४) सादृश्य।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ही पाणिनि का वाद मे आया हुआ सूत्र 'यथा सादृश्ये' २।१।७ सगत होता है। उसका अर्थ है यथा शब्द का समास सादृश्य अर्थ से भिन्न अर्थ मे हो। इसका उदाहरण 'यथा हरिस्तथा हर' मे समास को रोकना

है। अर्थात् यथा के अर्थ मे कई अव्यय है, जिसमे स्वय यथा का समास सादृश्य-भिन्न अर्थ मे होता है।

हेम ने 'विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यद्धयर्थाभाव-अव्ययम् ३।१।३९ सूत्र से यथा को हटा दिया और 'योग्यता वीप्सार्थान तिवृत्तिसादृश्ये' ३।१।४० अलग सूत्र लिखा, इसका तात्पर्य यह है कि इन चारो अर्थों मे किसी अव्यय का समास हो जाता है। यथा अनुरूपं, प्रत्यर्थं, यथाशक्ति, सशीलम् इत्यादि। इसके बाद 'यथा था' ३।१।४१ सूत्र द्वारा यथा हरि यथा हर प्रयोगो की सिद्धि भी हेम ने कर ली है। उपर्युक्त प्रकरण मे हेम ने अपनी अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया है। हेम के अनुसार यथा शब्द दो प्रकार के होते हैं

(अ) प्रथम प्रकार का यथा शब्द यत् शब्द से 'था' प्रत्यय लगाने पर लगता है।

(ब) द्वितीय प्रकार का यथा शब्द स्वय सिद्ध है। यथा शब्द के इन दो रूपो के अनुसार समासस्थलीय और असमासस्थलीय ये दो भेद हैं। जिस यथा शब्द मे 'था' प्रत्यय नही है, ऐसे यथा शब्द का तो समास होता है जैसे यथारूप चेष्टते, यथासूत्रम् अधीते, किन्तु यहा यथा शब्द 'था' प्रत्ययवाला है, वहा समास नही होता है। जैसे – यथा हरिस्तथा हर यहा समास नही है। इसी प्रकार यथा चैत्र-स्तथा मैत्र मे भी समास का अभाव है।

इस प्रकार हेम ने अव्ययीभाव समास मे पाणिनि की अपेक्षा मौलिकता और नवीनता दिखाई है। हेम ने यथा शब्द का व्याख्यान कर शब्दानुशासक की दृष्टि से अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय दिया है। समास प्रकरण मे हेम की प्रक्रिया प्रद्धति मे लाघव और सरलता ये दोनो गुण विद्यमान हैं।

हेम का तत्पुरुष प्रकरण 'गतिवकन्यस्तत्पुरुष' ३।१।४२ से आरम्भ होता है। इस सूत्र के स्थान पर पाणिनि ने 'कुगतिप्रादयः' २।२।१८ सूत्र लिखा। उनके यहा गति और प्रादि अलग-अलग हैं, किन्तु हेम ने दोनो का समावेश गति मे किया है। हेम की एक सूक्ष्म सूझ यहा यह है कि 'कुत्सित पुरुषो यस्य स कुपुरुष 'इस स्थल पर बहुव्रीहि समास न हो इसके लिए उन्होने अन्य पद लिखा है, जिसकी व्याख्या उन्होने स्वय कर दी है। 'गतिकवन्यस्तत्पुरुष' ३।१।४२ सूत्र की लघुवृत्ति मे हेम ने लिखा है 'अन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणहीन' पाणिनी ने भी उक्त स्थल मे अन्य पदार्थ की प्रधानता होने के कारण बहुव्रीहि समास होने मे सन्देह नही किया है।

पाणिनि तन्त्र के 'प्रादया' गताद्यर्थे प्रथमया' 'अत्यादय क्रान्ताद्यथ द्वितीयया अवादय कुष्टाद्यर्थे तृतीया' आदि पाच वार्तिको को हेम ने प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तकुष्टग्लानक्रान्तार्था प्रथमान्तै ३।१।४७ सूत्र मे ही समेट लिया है।

'कुम्भकार' पाणिनि का उपपद समास है जिसका विग्रह 'कुम्भकरोति' और

समास कुम्भ | ऊम् | कार मे होता है। उक्त समास स्थल मे पाणिनीय तन्त्र मे कुछ द्रविड प्राणायाम करना पडता है, किन्तु हेम ने 'डस्युक्तं कृता' ३।१।४९ सूत्र द्वारा स्पष्ट अनुशासन कर दिया है। न समास विधायक न ३।१।५१ सूत्र दोनो के यहा समान है।

पाणिनि ने द्विगु समास के लिए 'सख्यापुर्वो द्विगु.' सूत्र लिखा है, जिसकी त्रुटिपूर्ति कात्यायन ने समाहारे चायमिष्यते' कार्तिक द्वारा की है। इसी प्रकरण मे पाणिनि ने तद्धितार्थ, उत्तरपद और समाहार मे तत्पुरुष समास करने के लिए 'तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च' २।१।५१ सूत्र लिखा है। हेम ने इस बृहत् प्रक्रिया के लिए एक ही 'सख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम' ३।१।९९ सूत्र रखा है। प्राय: यह देखा जाता है कि जहा पाणिनि ने सक्षिप्त शैली को अपनाया है वहा हेम की शैली प्रसार प्राप्त है किन्तु उपर्युक्त स्थल मे हेम का सक्षिप्तीकरण श्लाघ्य है। यहा एक सबसे बडी विशेषता यह है कि यहा पाणिनीय तन्त्र मे विस्तृत प्रक्रिया होने पर भी विश्लेषण नही हो पाया है। वहा हेम की सक्षिप्त शैली से भी पाठक को विषय समझने मे अधिक सरलता होती है।

पाणिनि ने 'चित्रा गावो यस्य स चित्तगु' मे बहुव्रीहि समास किया है किन्तु साथ ही चित्राओ मे कर्मधारय समास मानकर चित्रा का पूर्व निपात किया है। हेम ऐसे स्थलो मे एकमात्र बहुव्रीहि समास मानते हैं, अत चित्रा पद की व्यवस्था के लिए 'तृतीयोक्त वा' ३।१।५० सूत्र का पृथक् निर्माण किया है। इससे ज्ञात होता है कि बहुव्रीहि मे विशेपण का पूर्व निपात करने के लिए पृथक् नियम बनाना आवश्यक है क्योंकि बहुव्रीहि समास स्थल मे विशेष्य-विशेषण पदो मे अलग-अलग समास हेम के मत मे नही होता है। यदि होता तब तो चित्रा शब्द का पूर्व निपात हो ही जाता, किन्तु हेम ने सिद्धान्तानुसार बहुव्रीहि समास हो जाने के उपरान्त विशेष्य-विशेषण समास का निषेध हो जाता है पर इसमे यह सदेह नहीं रहता कि विशेपण का पूर्व निपात हो या विशेष्य का। इस सन्देह का निरसन करने के लिए हेम ने विशेषण का स्पष्ट रूप से पूर्व निपात करने का पृथक् विधान कर दिया है।

पाणिनि के उदीचो उत्तरवासियो के मत मे 'मातरपितरौ' को शुद्ध माना है अर्थात् उसके अनुसार 'मातरपितरौ ? और मातापितरौ' ये दोनो प्रयोग होने चाहिए। हेम ने भी मातरपितर वा ३।२।४७ मे वैसा ही विधान स्वीकार किया है, परन्तु इनके उदाहरणो मे मतभिन्नता भी प्रकट होती है। पाणिनि ने द्वन्द्व समास की विभक्ति मे ही 'मातरपितर' रूप ग्रहण किया है। किन्तु हेम ने सभी विभक्तियो के योग मे 'मातरपितर' रूप ग्रहण किया है, जैसे—मातपितरयौ आदि। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि हेम के समय मे मातरपितर, यह वैकल्पिक रूप सभी विभक्तियो के योग मे व्यक्त होने लगा था।

संस्कृत मे यह साधारण नियम है कि न समास मे दूसरा पद जहा व्यजनादि होता है वहा न के स्थान पर अ होता है। और उत्तरपद स्वरादि हो तो न के स्थान पर अन् होता है। पाणिनि ने इन प्रयोगो की सिद्धि के लिए क्लिष्ट प्रक्रिया दिखलायी है। उन्होने व्यजनादि शब्द के सम्पर्क मे रहने वाले 'न' के न् का लोप किया है और उत्तरादि उत्तरपद के पूर्व स्थित न मे न् का लोप कर अवशिष्ट अ के बाद नु का आगम कर अनु बनाया है। हेम ने इस प्रसग मे अत्यन्त सीधा एव स्पष्ट तरीका अपनाया है। इन्होने न त् ३।२।२५ सूत्र के द्वारा सामान्य रूप से न के स्थान मे अ का विधान किया और अन् स्वरे ३।२।१२६ सूत्र के द्वारा अपवाद स्वरूप स्वरादि उत्तरपद होने पर अनु का विधान किया है।

तिडन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि—हेम के पूर्वकाल-सबधी प्रक्रिया के लिए दो विधिया प्रचलित थी। प्रथम कातन्त्र प्रक्रिया की विधि, जिसमे वर्तमाना, सप्तमी, पचमी ह्स्तनी, अद्यतनी, परोक्षा, आशीश्वस्तनी, भविष्यन्ति एव क्रियातिपत्ति ये दश काल की अवस्थाए थी। दूसरी पाणिनि की प्रक्रिया जिसमे लट्, लिट्, लुट, लेट, लोट, लङ्, लिङ, लुङ एव लृङ ये दश लकार कालद्योतक माने गये थे। हेम ने कातन्त्र पद्धति को अपनाया है। इसका कारण यह है कि पाणिनीय तन्त्र मे एक तो प्रक्रिया मे अर्थ-ज्ञान के पूर्व एक मूल कोटि का ज्ञान आवश्यक था अर्थात् लकारो के स्थान मे आदेशो को समझना पडता था और साथ ही अर्थो को भी, किन्तु कातन्त्र तन्त्र मे केवल अर्थो के अनुसार प्रत्ययो को समझना आवश्यक था। अतएव हेम ने सरलता की दृष्टि से कातन्त्र पद्धति को ग्रहण किया। हेम का यह सिद्धान्त समस्त शब्दानुशासन मे पाया जाता है कि ये प्रक्रिया को जटिल नही बनाते। जहा तक सभव होता है वहा तक प्रक्रिया को सरल और बोधगम्य बनाने का आयास करते हैं।

पाणिनि के लङ् (ह्यस्तनी हेम) का विधान अद्यतन सूत्र के लिए किया है और परोक्षा के लिए लिट् का। इसमे यह कठिनाई हो सकती है कि अनद्यतन परोक्षा मे लिट् लकार का ही सर्वथा प्रयोग किया जाय। हेम ने उक्त कठिनाई का निराकरण 'अनद्यतने ह्यस्तनी' के व्याख्यान मे तथा 'अविवक्षिते' ५।२।१४ सूत्र द्वारा कर दिया है अर्थात् इनके मत मे परोक्ष होते हुए भी जो विषय दर्शन अविवक्षित शक्य हो वहा तथा परोक्ष जहा परोक्ष की विवक्षा न हो, वहा ह्यस्तनी का ही प्रयोग होना चाहिए।

हेम के तिडत प्रकरण मे पाणिनि की अपेक्षा निम्नाकित धातु नवीन मिलती है। धातुरूपो की प्रक्रिया पद्धति मे दोनो शब्दानुशासको का समान ही शासन उपलब्ध होता है।

धातु	अर्थ	रूप
अधुङ्	गत्याक्षेप	अङ्धते, अङ्घिष्ट, आनङ्घे।
अर्जण	प्रतियत्न	आर्जयति, आर्जियत्, अर्जया चकार।
अटुङ	गति	अण्ठते, आण्ठिष्ट, आनण्ठे।
आङ्शासूकि	इच्छा	आशास्ते, आशासिष्ट, आशशासे।
इ	गति	अयति, अयेत्, अयतु आयत् ऐषीत्, इयाय, ईयात्, एता, एष्यति, ऐष्यत्।
इजुङ	गति	ऐंजिष्ट, इ जा चक्रे, इ जामास, इ जाम्बभूव।
उगु	गति	उडगा चकार, उङ्गामास, उडगाम्बभूव।
उष	दाह	ओषति, ओषेत्, ओपतु, औषत्।
उर्दि	मान और क्रीडा	ऊर्दते, और्दिष्ट, ऊर्दा चक्रे।
ओवै	शोषण	ओवयात्, ओवयास्ताम्, ओवयासु।
कर्ज	व्यथन	कर्जति, ककर्ज, कर्ज्यात्, कर्जिता, कर्जिष्यति, अकर्जिष्यत्
किकिष्ण्	हिंसा	किष्कयते, अचिकिष्कत, किष्कया चक।
कुत्सिण्	अवक्षेप	कुत्सयते, अचुकुत्सत, कुत्सया चक्रे।
कूणिण	सकोचन	कूणयते, अचूकुणत, कूणया चक्रे।
कुख्, खुज्	स्तेय	खोजति, कोजति, खोजेत्, कोजेत्, खोजतु, कोजतु, अखोजत्, अकोजत्, अखोजीत्, अकोजीत् खुखोज, कुकोज, खुज्यात्।
क्रृ	हिंसा	कृणाति, कृणीयात्, कृणातु, अकृणात्, अकारीत्, चकार, कर्यात्।
केवङ्	सेवन	केवते, अकेविष्ट, चिकेवे।
क्नथ	हिंसा	क्नथति, अक्नाथीत्, अक्नथीत्, चक्नाथ।
गड	सेवन	गडति, अगाडीत्, अगडीत्।
गग्घ	हसन	गग्घति, गग्घेत्, गग्घतु, अगग्घत्, अगग्घीत्, जगग्घ।
गुत्	पुरीषोत्सर्ग	गुवति, गुवेत्, गुवतु, अगुवत्, अगुपीत्, जुगाव, गूयात्।
जेषङ्	गति	जेषते, अजेषिष्ट, जिजिषे।
टुड	निमज्जन	टुडति, अटुडीत्, टटोड,

डपि, डिपि	सघात	डम्पयते, डिम्पयते, अडडम्पत, अडीडिम्पत, डम्पया चक्रे, डिम्पया चक्रे।
डबु, डिबुण	क्षेप	डम्बयति, डिम्बयति, अडडम्बवत्, अडिडिम्बत्, डम्बया चकार।
तुबुण्	मर्दन	तुम्बयति, अतुतुम्बत्, तुम्बया चकार।
त्सर	छद्मगति	त्सरति, अत्सारीत्, तत्सार।
नख	गति	नखति, नखेतु, नखतु, अनखत्, अनखीत्, ननाख, नख्यात्।
नर्व	गति	नर्वति, अनर्वीत्, ननर्व।
निवु	सेचन	निन्वति, अनिन्वीत्, निनिन्व।
निपृ	सेवन	नेपति, अनेपीत्, निनेप।
पिच्चण्	कुट्टन	पिच्चयति, अपिपिच्चत्, पिच्चया चकार।
व्लीश	वरण	व्लिनाति, अव्लेपीत्, विव्लाय।
व्लेष्कण्	दर्शन	व्लेष्कयति, अविव्लेष्कण् व्लेष्कयामास।
भुडत्	सघात	भुडति, अभुडीत्, बुभुडिम।
मिथग्	मेधा और हिंसा	मेथति, अमेथीत्, मिमेथ, मेथते, अमेथिष्ट, मिमेथे।
मेथग	सगम	मेथति, अमेथीत्, मिमेथ, मेथते, अमेथिष्ट, मिमेथे।
वर्फ	गति	वर्फति, अवर्फीत्, ववर्फ।
वाधड	रोटन	बाधते, अबाधिष्ट, बबाधे।
हेड	वेष्टन	हेडति, अहेडीत्, जिहेड।

पाणिनि और हेम के कृदन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन दोनों वैयाकरणों ने इस प्रकरण को पर्याप्त विस्तार दिया है। दोनों अनुशासकों के प्रयोगों मे समता रहने पर यत्र तत्र विशेषताएं भी दिखलाई पडती हैं।

पाणिनि ने 'वास्तव्य' प्रयोग की सिद्धि के लिए कोई अनुशासन ही नही किया है। कात्यायन ने इसकी पूर्ति अवश्य की है, किन्तु उनका अनुशासन प्रकार पूर्ण वैज्ञानिक नही रहा है। उन्होंने उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च' वार्तिक लिखा है, जिसका अभिप्राय है कि वस् धातु के कर्ता अर्थ मे तव्यत् प्रत्यय होता है और वह स्वय णित् भी होता है। णित् करने का लाभ यह है कि णित् करने से आदिम स्वर की वृद्धि भी हो जाती है। हेम ने उक्त प्रयोग की सिद्धि निपातन के द्वारा की है, यद्यपि निपातन की विधि अगतिक गति ही है, किन्तु हेम के यहा यह स्थिति मौलिक बन गई है। पाणिनि ने रूच्य और अव्यथ्य को निपातन के द्वारा ही सिद्ध किया है। हेम ने उक्त प्रयोग द्वय मे वास्त-

व्य को भी मिलाकर 'रुच्या व्यथ्यवास्तव्यम्' ४।१।६ द्वारा नैपातनिक अनुशासन किया है। हेम के ऐसा करने से यह लाभ हुआ है कि वास्तव्य की सिद्धि से अष्टाध्यायी के अभाव की पूर्ति तो हुई ही है, साथ ही कात्यायन की गौरवग्रस्त प्रक्रिया से बचाव भी हो गया है।

पाणिनि ने तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, क्यप् और घ इन प्रत्ययो की कृत्य सज्ञा देने के लिए एक अधिकार सूत्र "कृत्या" ३ १ ९५ की रचना की है, जिससे ण्वुल् के पहले आने वाले उपर्युक्त प्रत्यय कृत्य बोधक हो जाते है। हेम ने इससे भिन्न शैली अपनायी है। पहले उन सभी प्रत्ययो का उल्लेख कर देने के बाद 'ते कृत्या' ५।१।४७ सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि ऊपर के सभी प्रत्यय कृत्य कहे जाते हैं। ऐसा करने से इस सन्देह का अवसर ही नही आता कि आगे आने वाले कितने प्रत्यय कृत्य कहे जा सकते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का "कृत्या" सूत्र इस बात को स्पष्ट करने मे अक्षम है कि उसका अधिकार कहा तक रहे ? इसका स्पष्टीकरण उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणो के द्वारा ही हो सका है। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच ३।१।१३४ सूत्र से पाणिनि ने नन्द्यादि से अन्, ग्रहादि से णिनि और पचादि से अच प्रत्यय का विधान किया है, किन्तु हेम ने इन तीनो प्रत्ययो के विधान के लिए पृथक्-पृथक् तीन सूत्र रखे हैं। अच्-विधाय अच् ५।१।४९ सूत्र, अन्-विधायक नन्द्यादिभ्योऽनः ५।१।५२ और णिन्-विधायक ग्रहादिभ्यो णिन् ५।१।१५३ सूत्र है। हेम ने सरलता की दृष्टि रखकर तो विभाजन किया ही है, साथ ही अनुशासन शैली मे मौलिकता भी स्थापित की है। यह स्पष्ट है कि अच् प्रत्यय-विधायक सूत्र का हेम ने सामान्यत उल्लेख किया है, इसमे एक बहुत बडा रहस्य है। नन्दादि एव ग्रहादि दोनो गणो मे पठित शब्द परिगणित हैं, इसी कारण पाणिनि ने भी पचादि को आकृतिगण माना है। आकृतिगण का मतलब यह होता है कि परिगणितो के सदृश शब्द भी उसी तरह सिद्ध समझे जायें। यहा पचादि को आकृतिगण मानने से पाणिनि का तात्पर्य यह है कि पचादिसबन्धी अच कार्य पचादि गण मे अनिर्दिष्ट धातुओ से भी सम्पन्न हो।

हेम व्याकरण मे जैसा कि —ऊपर कहा जा चुका है कि सामान्य रूप से सभी धातुओ से अच् प्रत्यय का विधान माना गया है। इससे फल यह निकलता है कि पचादि का नाम लेकर उसे आकृतिगण मानने की आवश्यकता नही होती। इस शैली मे एक यह अडचन अवश्य होती है कि क्या सभी धातुओ के आगे अच् प्रत्यय लगे ? मालूम होता है कि विशेष रूप से अभिहित अण और णन् प्रत्ययो मे प्रकृति स्थलो को छोडकर सर्वत्र अच् प्रत्यय का अभिधान करना हेम को स्वीकार है। सभव है इनके समय मे इस तरह के प्रयोग किये जाने लगे होगे।

पाणिनि ने जॄ धातु से अतन् प्रत्यय विधान कर जरत् शब्द सिद्ध किया है,

जिसका स्त्रीलिंग रूप जरती होगा। हेम ने जृष धातु से अत् प्रत्यय करके उक्त रूपो की सिद्धि की है।

संस्कृत भाषा की यह सामान्य विधि है कि इसमे परस्मैपदी धातुओ के साथ अत् और आत्मनेपदी धातुओ के साथ आन प्रत्यय (होता हुआ अर्थ मे) लगते हैं। इसके विपरीत परस्मैपदी धातुओ से आन तथा आत्मनेपदी धातुओ से अत् प्रत्यय नही आ सकते। पाणिनीय व्याकरण मे इस बात का पूर्ण निर्वाह किया गया है। पर हेम व्याकरण मे पाणिनि की अपेक्षा प्रक्रिया की विशेषता है। हेम ने अवस्था, शक्ति एव शील अर्थ मे गच्छमान आदि प्रयोग भी सिद्ध किये है। यह भाषा शास्त्र की एक घटना ही कही जायगी। ऐसा मालूम होता है कि पाणिनि के बहुत दिनो के बाद उक्त अर्थों मे गच्छमान आदि प्रयोगो का भी औचित्य मान लिया गया होगा। इसलिए हेम ने कुछ विशेष अर्थों मे परस्मैपदी धातुओ से भी आन प्रत्यय का अनुशासन किया। कृदन्त प्रकरण मे और पाणिनि के अवशेष प्रत्ययो के अनुशासन मे प्राय समता है। हेम ने अपने इस प्रकरण को पर्याप्त पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।

कृदन्त के अनतर हेम ने तद्धित प्रत्ययो का अनुशासन किया है। यद्यपि पाणिनीय अनुशासन मे तद्धित प्रकरण कृदन्त के पहिले आ गया है। भट्टोजि दीक्षित का पाणिनीय तन्त्र की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप देने के लिए सिद्धान्त कौमुदी का पाणिनीय सस्करण तैयार किया है। इसमे इन्होने प्रतिपादित शब्दो के साधुत्व के अनन्तर उनके विकारी तद्धित रूपो की साधना प्रस्तुत की है। यह एक साधारण सी बात है कि सुबन्त शब्दो का विकास तद्धित-निष्पन्न शब्द है, और तिङन्त शब्दो का विकार कृदन्त शब्द है। अत. व्याकरण के क्रमानुसार वर्णमाला, सन्धि सुबन्त शब्द, उनके स्त्रीलिंग और पुल्लिग विधायक प्रत्यय, अर्थानुसार विभक्ति विधान, सुबन्तो के सामाजिक प्रयोग, सुबन्तो के विकारी तद्धित प्रत्ययो से निष्पन्न तद्धितान्त शब्द, तिङन्त, तिङन्तो के विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त प्रक्रिया रूप एव तिङन्त के विकारी कृत प्रत्ययो से सयोग से निष्पन्न कृदन्त शब्द आते हैं। हेम व्याकरण मे तिङन्तो के अनन्तर कृदन्त शब्द और उसके पश्चात् विभिन्न अर्थो मे, विभिन्न तद्धित प्रत्ययो से निष्पन्न सुबन्त विकारी तद्धितान्त शब्द आए हैं। हेम का क्रम इस प्रकार है पहले वे सुबन्त, तिङन्त की समस्त चर्चा कर लेते हैं, इसके पश्चात् उनके विकारो का निरूपण करते हैं। इन विकारो मे प्रथम तिङन्तविकारी कृत प्रत्ययान्त कृदन्तो का प्ररूपण हैं, अनन्तर सुबन्तो के विकारी तद्धितान्त शब्दो का कथन है। अत हेम ने अपने क्रमानुसार तद्धित प्रत्ययो का सबसे अन्त मे अनुशासन किया है।

पाणिनि ने ण्य प्रत्यय के द्वारा दिति से दैत्य, अदिति और आदित्य दोनो से

आदित्य तथा पत्यन्त बृहस्पति आदि शब्दो से बार्हस्पत्य आदि शब्दो की व्युत्पत्ति की है। हेम ने अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तर पदाञ्ज्य ६।१।१५ द्वारा नवप्रयुक्त याम्य शब्द की भी व्युत्पत्ति उक्त शब्दो के साथ प्रदर्शित कर पाणिनि की अवशिष्ट-पूर्ति की है।

पाणिनि ने गोधा शब्द से गौधेर, गौधार और गौधेय इन तीन तद्धितान्त रूपो की सिद्धि की है हेम ने भी गौधार और गौधेर की सिद्धि गोधाया दुष्टे-णार च ६।३।८४ के द्वारा की है। पाणिनीय तन्त्र मे गौधार और गौधेर की सामान्यत व्युत्पत्ति भर कर दी है अर्थात् गोधा के अपत्य अर्थ मे उक्त शब्दो का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। पर हेम ने आर्थिक दृष्टि से एक विशेष प्रकार की नवीनता दिखायी है। इनके तन्त्र मे ६।१।८१ के द्वारा निष्पन्न गौधार और गौधेर शब्द मात्र गोधा के अपत्यवाची ही नही है, किन्तु दुष्ट अपत्यवाची हैं।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार मनोरपत्यम् अर्थ मे अण् प्रत्यय कर मानव शब्द की सिद्धि की गयी है। हेम ने भी मानव शब्द की सिद्धि के लिए वही प्रयत्न किया है, किन्तु हेम ने इस प्रसग मे एक नवीन शब्द की उद्भावना भी की है। माणव कुत्सायाम् ६।१।९५ सूत्र द्वारा कुत्सित अर्थ मे मानव मे णत्व विधान कर 'मनोरपत्य मूढ माणव' की सिद्धि भी की है।

पाणिनीय तन्त्र मे सम्राज शब्द से तद्धितान्त भाववाची साम्राज्य शब्द तो बन सकता है, पर कर्तृवाचक नही। हेम ने साम्राज्य शब्द को कर्तृवाचक भी माना है, जिसका अर्थ है क्षत्रिय। इसकी साधनिका सम्राज क्षत्रिये ६।१।१०१ सूत्र द्वारा बतलायी गई है। अर्थात् पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सम्राज भाव या सम्राज कर्म' इन विग्रहो मे साम्राज्य शब्द निष्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ सम्राट् का स्वभाव या सम्राट् सम्बन्धी होगा। पर हेम के अनुसार सम्राज अपत्य पुमान्' इस विग्रह मे भी साम्राज्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ होगा सम्राट् की पुरुष सन्तान, इस प्रकार यहा यह देखा जाता है कि साम्राज्य शब्द के कर्तृवाचक स्वरूप की ओर या तो पाणिनि का ध्यान ही नही गया था अथवा उनके समय मे इसका प्रयोग ही नही होता था। जो भी हो, पाणिनि की उस कमी की पूर्ति हेम ने अपने इस तद्धित प्रकरण मे की है।

पाणिनीय शब्दानुशासन मे वस धातु से ति प्रत्यय करने पर वसति रूप बनता है, हेम के यहा भी वसति रूप सिद्ध होता है। इस वसति शब्द से राष्ट्र अर्थ मे अक और अण करने पर वासातक तथा वासात ये दो रूप बनते हैं। इन दोनो रूपो की सिद्धि के लिए हेम ने वसातेर्वा ६।२।६७ सूत्र की रचना की है, जिसके लिए पाणिनीयतन्त्र मे कोई अनुशासन नही है।

पाणिनि ने 'युवतिर्जाया यस्य' इस अर्थ मे बहुव्रीहि समास का विधान करने के बाद जाया के अन्तिम आकार को निङ आदेश करने का नियमन किया है।

पश्चात् उसके पूर्ववर्तीय य का लोपकर युवजानि प्रयोग बनाने का विधान है, यह एक बहुत क्लिष्ट प्रक्रिया मालूम पडती है, इसीलिए हेम ने सरलतापूर्वक उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए जाया या जानि ७३।१६४ के द्वारा जाया शब्द को जानि के रूप मे आदिष्ट किया है। तद्धित का यह प्रयोग हेम के सरल अनुशासन का अच्छा परिचायक है।

हेम और पाणिनि दोनो ही महान् है। दोनो ने संस्कृत भाषा का श्रेष्ठ व्याकरण लिखा है। हेम से पाणिनि बहुत पहले हुए हैं। अत इन्हें पाणिनि के शब्दानुशासन के अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। पर हेम ने पाणिनि का पूर्ण अनुकरण नही किया है। जहा अनुकरण किया भी है, वहा उसमे मौलिकता का भी समावेश किया है। हेम ने एक नही अनेक स्थलो पर पाणिनि की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया है। सरलता के लिए तो हेम प्रसिद्ध हैं ही। इन्होने आरम्भ मे विकार दिखलाया है। पश्चात् उत्सर्ग और अपवाद के सूत्र लिखे। वास्तव मे हेम ने शब्दानुशासन के क्षेत्र मे बडी समझदारी और बारीकी से काम लिया है। जहा पाणिनि ने वैदिक भाषा का अनुशासन दिया है, वहा हेम ने प्राकृत भाषा का। दोनो के व्याकरण अष्टाध्याय प्रमाण है। हेम के प्रयोगो के आधार पर से संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियो का सुन्दर इतिहास तैयार किया जा सकता है। शब्द सम्पत्ति की दृष्टि से हेम का भाण्डार अधिक समृद्धशाली है। अपने समय तक की संस्कृत भाषा मे होने वाले नवीन प्रयोगो को भी इन्होने समेट लिया है। अत यह निष्पक्ष कहा जा सकता है कि जिस काम को समस्त पाणिनि तन्त्र के आचार्यों ने मिलकर किया, उसको अकेले हेम ने कर दिखलाया। भाषा की विकसनशील प्रकृति का बहुत ही सुन्दर और मौलिक विश्लेषण इनके शब्दानुशासन मे उपलब्ध होता है।

हेम और पाणिनि के इस तुलनात्मक विवेचन से ऐसा निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रम होगा कि पाणिनि हेम की अपेक्षा हीन है या उनमे कोई बहुत बडी त्रुटि पायी जाती है। सत्य यह है कि पाणिनि ने अपने समय मे शब्दानुशासन का बहुत बडा कार्य किया है। संस्कृत भाषा को व्यवस्थित बनाने मे इनके दिए गए अमूल्य सहयोग को कभी भी भुलाया नही जा सकता है। हेम ने जहा अपनी मौलिक निरुक्तिया उपस्थित की है, वहा उन्होने पाणिनि से बहुत कुछ ग्रहण भी किया है। अनेक नियमन स्थलो मे उनके ऊपर पाणिनि का ऋण है।[1]

1 विशेष के लिए द्रष्टव्य—आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन—एक अध्ययन, अध्याय चार।

संस्कृत व्याकरणों पर जैनाचार्यों की टीकाएँ : एक अध्ययन

डॉ० जानकी प्रसाद द्विवेदी

संस्कृत व्याकरण शास्त्र पर आचार्यों ने अपनी ज्ञानसाधना से जो अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे उनमे आठ या नव को अपनी स्वतन्त्र विशेषताओ के कारण संस्कृत वाड्मय मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। इनमे भी कुछ व्याकरण लौकिक-वैदिक उभयविध हैं तथा कुछ केवल लौकिक शब्दो का ही अन्वाख्यान करते है। ८ या ९ प्रमुख व्याकरणो के भी दो मूल स्रोत माने जाते है—माहेश्वर और ऐन्द्र। माहेश्वर व्याकरण को समुद्रवत् तथा ऐन्द्रव्याकरण को उसकी तुलना मे वहुत ही संक्षिप्त बताया गया है फिर भी पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा वह विस्तृत ही था। पाणिनि से पूर्व लगभग ८५ वैयाकरण आचार्यों के नाम प्राप्त होते है। दश आचार्यों के नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी मे भी स्मृत है। पाणिनि से पूर्वभावी व्याकरणो मे केवल कुछ प्रातिशाख्य ही सम्प्रति प्राप्त होते है, जो वैदिक शाखाओ के व्याकरण है।

लौकिक-वैदिक उभयविध पाणिनीय व्याकरण शब्दलाघव का प्रातिनिध्य करता है और उसे सर्ववेदपारिषद कहा गया है। पाणिनि-परवर्ती कातन्त्रव्याकरण मे अर्थलाघव को मान्यता दी गई है और वह अनेकत्र पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा सरल, सुबोध तथा भावप्रकाशक है। इसे मैंने अपने ग्रन्थ "कातन्त्रसूत्राणां पाणिनीयसूत्रैः सह तुलनात्मकमध्ययनम्" मे प्रत्येक सूत्र की समीक्षा करते हुए लिखा है (ग्रन्थ अप्रकाशित है)। अपनी कुछ विशेषताओ के कारण ही वङ्गाल, उडीसा, कश्मीर, राजस्थान एव दक्षिणी प्रदेशो तथा तिब्बत, श्रीलङ्का, कम्बोडिया आदि अन्य देशो मे भी कातन्त्र का पर्याप्त अध्ययन-अध्यापन होता रहा। टीका-सम्पत्ति के अतिरिक्त कातन्त्र को आधार मानकर कुछ अन्य व्याकरणो की भी रचना की गई।

कातन्त्र के अतिरिक्त पाणिनीय परवर्ती लगभग ४० व्याकरणो के नाम

उपलब्ध होते हैं, जिनमे कुछ तो अद्यावधि अप्रकाशित ही हैं, कुछ प्रकाशित व्याकरणो का भी प्रचार नही हो सका। सम्भवत साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखे जाने वाले हरिनामामृत आदि व्याकरण इस श्रेणी मे आते हैं। शाकटायन, जनेन्द्र, हेमचन्द्र आदि प्रमुख जैन व्याकरणो का भी सम्प्रति विरल ही प्रयोग होता है। गुरुपद हालदार ने अपने "व्याकरणदर्शनेर इतिहास" (पृ० ४५५-५८) मे व्याकरणो के प्रचार-प्रसार आदि को विशद रूप मे समझाया है।

संस्कृत वाङ्मय के दर्शन, साहित्य, आयुर्वेद आदि क्षेत्रो मे तो जैनाचार्यों का कार्ययोग प्रशसनीय रहा ही है, व्याकरण क्षेत्र मे भी उन्होने स्वतन्त्र व्याकरणग्रन्थ तथा अनेक टीकाग्रन्थो की रचना कर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए है वे संस्कृतसाहित्य की निधि के रूप मे सदैव मान्य होते रहेगे। प्रकृत निबन्ध मे पाणिनीय, कातन्त्र, सारस्वत तथा सिद्धान्तचन्द्रिका नामक ४ जैनेतर व्याकरणो पर ६५ जैनाचार्यो द्वारा प्रणीत टीकाग्रन्थो का परिचय दिया गया है जिनमे १६ टीकाओ पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विशेष अध्ययन मे किन्ही अन्य टीकाओ के साथ सामान्यतया तुलना नही की गई है, केवल ग्रन्थ की भाषाशैली, विषयपरिचय, रचनाप्रयोजन तथा ग्रन्थगत कुछ मुख्य विशेषताओ को बताया गया है, जिनसे ग्रन्थनाम, रचनाप्रयोजन, ग्रन्थकार के ज्ञान तथा श्रम आदि की सार्थकता सिद्ध होती है।

उक्त चार व्याकरणो के अतिरिक्त वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति पर भी एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ किसी एक निश्चित व्याकरण पर आधारित नही है, फिर भी इतना अवश्य है कि वह किसी जैन व्याकरण के गणपाठ की भी व्याख्या नही है तथा संस्कृत व्याकरण मे गणपाठ का प्रौढ ग्रन्थ है। ऐसे टीका ग्रन्थो का परिचय यहाँ नही दिया गया है जिनके ग्रन्थकार असन्दिग्ध रूप मे जैनाचार्य नही थे। सम्भवत इनमे कुछ ऐसे भी ग्रन्थकार होगे जो ग्रन्थ लिखते समय तक जैनधर्मानुयायी नही हो सके हो और इसीलिए उनके नामो के साथ किसी जैनीय उपाधि का उल्लेख भी न किया गया हो। प्रस्तुत लघुनिबन्ध मे जिन टीकाओ का विशेष अध्ययन या सामान्य परिचय दिया गया है उन टीकाग्रन्थो तथा टीकाकारो की सूची अन्त मे सलग्न है।

पाणिनीय प्रभृति सम्प्रदायो मे राघवसूरि, पेरुसूरि, रामकृष्ण दीक्षितसूरि आदि कुछ अन्य जैनाचार्य वार्तिकभाष्य आदि ग्रन्थो के प्रणेता माने जाते है। उन ग्रन्थो के अनुपलब्ध होने से या विस्तारभय से उनका परिचय यहाँ नही दिया गया है। कातन्त्रसम्प्रदाय मे दुर्गसिंह को एक प्रधान व्याख्याकार के रूप मे मान्यता प्राप्त है, उनके वृत्तिटीका-परिभाषावृत्ति आदि ग्रन्थ भी प्राप्त है, परन्तु जैनाचार्यत्व मे प्रबल प्रमाण न होने से उनकी कृतियो का परिचय नही दिया गया है। कातन्त्र के आधार पर संक्षेप या विस्तार मे बनाए गए बालशिक्षाव्याकरण तथा कातन्त्रोत्तर

(अपरनाम विद्यानन्द) को स्वतन्त्र व्याकरण भी माना जाता है—फिर भी इनमे कातन्त्र के ही अधिकाश सूत्रो की व्याख्या देखी जाती है, अत उन ग्रन्थो का परिचय कातन्त्रव्याकरण की टीकाओ के क्रम मे दिया गया है। जिनरत्नप्रणीत 'सिद्धान्तरत्न' को सारस्वतव्याकरण का रूपान्तर कहा गया है, परन्तु ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने से यहाँ उसकी चर्चा सारस्वत व्याकरण की टीकाओ के अन्तर्गत की गई है।

पाणिनीय व्याकरण टीकाएँ .

पाणिनीय व्याकरण पर चार जैनाचार्यो ने टीकाएँ लिखी हैं, जिनमे से किसी का तो नाममात्र ही शेष है, परन्तु ग्रन्थ प्राप्त नही होता। (१) पूज्यपाद देवनन्दी ने शब्दावतारन्यास' नामक टीकाग्रन्थ का प्रणयन किया था। (२) विद्यासागर मुनि ने काशिकावृत्ति की 'प्रक्रियामञ्जरी' नामक व्याख्या लिखी थी, जो मद्रास, त्रिवेन्द्रम के हस्तलेख भण्डारो मे ही सुरक्षित है। (३) आचार्य जिनदेवसूरि ने पाणिनीय धातुपाठ पर 'क्रियाकलाप' नामक एक टीका लिखी थी। (४) आचार्य विश्वेश्वर सूरि ने 'व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि' नामक अष्टाध्यायीक्रम से एक व्याख्या की रचना की है, जो तीन अध्यायो पर ही उपलब्ध होती है। सम्पूर्ण सूत्रो पर यह व्याख्या लिखी गई या नही असन्दिग्धरूप से नही कहा जा सकता। यहाँ सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ का विशेप अध्ययन प्रस्तुत है।

१ व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि

आचार्य विश्वेश्वरसूरि ने अष्टाध्यायीसूत्रक्रम से यह व्याख्या लिखी है। 'सुधानिधि' नाम के अनुसार यह विस्तृत व्याख्या है, जिसमे क्वचित् एक ही विषय के निरूपण मे अनेक मतसम्बन्धी वचन प्रस्तुत किए गए हैं। ग्रन्थ के अन्त मे ग्रन्थकार ने लक्ष्मीधर का परिचय अपने पिता के रूप मे दिया है। अपने पिता से ही इन्होने विद्याध्ययन भी किया था ऐसा प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ प्रारम्भिक ३ अध्यायो पर ही प्राप्त है, जो १९२४ मे विद्याविलास प्रेस से दो भागो मे प्रकाशित हुआ था। इसके द्वितीय भाग मे भण्डारी श्रीमाधवशास्त्री ने ग्रन्थकार का परिचय देते हुए एक किंवदन्ती को भी उद्धृत किया है। जिसके अनुसार श्रीलक्ष्मीधर पाण्डेय अपनी वृद्धावस्था मे अपत्यहीनता के कारण अत्यन्त सन्तप्त थे। दम्पति की तपस्या से भगवान् शङ्कर प्रसन्न हुए और उन्होने लक्ष्मीधर को वर दिया कि आप मेरे समान पुत्र प्राप्त करेंगे। सातवे महीने मे ही उत्पन्न होने वाले बालक का नाम विश्वेश्वर रखा गया, क्योकि विश्वेश्वर के प्रसाद से ही इनका जन्म हुआ था।

पाँचवे वर्ष मे ही पिता लक्ष्मीधर ने विधिवत् उपनयन सस्कार किया और उन्हे वेद-शास्त्रादि की शिक्षा दी। विश्वेश्वर ने शीघ्र ही विविध विद्याओ मे पारगामिता प्राप्त कर ली तथा ३२ वर्ष की आयु से पहले ही इन्होने तर्ककौतूहल, अलकारकौस्तुभ, सिद्धान्तसुधानिधि, रुक्मिणीपरिणय, आर्यासप्तशती एव अलकार-कुलप्रदीप जैसे महान् ग्रन्थो की रचना की थी। ३२ वर्ष की आयु मे इनका देहावसान हो गया था

"अय च वार्धक्य एवानपत्यत्वक्लेशप्रतप्तमानसाभ्या दम्पतिभ्या प्रतप्ततीव्रतप - प्रसन्नेन यत किलाय सप्तम एव मासि गर्भवासान्निर्गत्य ३२ द्वात्रि-शतोऽब्देभ्य प्रागेव परममहनीयान् तर्ककौतूहल अलकारकुलप्रभृतीन् नैक-ग्रन्थान् महनीयान् विरच्य कीर्तिमात्रशरीरता लेभे इति च किवदन्ती वदन्ति" (भूमिका, पृ० ३)।

ग्रन्थ के आरम्भ मे वाड्मय ब्रह्म को नमस्कार कर मुनित्रय तथा पिता लक्ष्मीधर को लोकोत्तर बताते हुए उनकी स्तुति की है। यह भी बताया गया है कि यद्यपि फणिनायक (पतञ्जलि) द्वारा किए गए भाष्य के सम्बन्ध मे अल्पबुद्धिवाला कोई भी व्यक्ति सिद्धान्त निर्धारित करने मे समर्थ नही हो सकता, फिर भी भगवान् शङ्कर के प्रसाद से यह कार्य सम्भव हो जाता है

विषये फणिनायकस्य मार्गं क्षमते नैन विधातुमल्पमेधा ।
विबुधाधिपतिप्रसादधारा पुनराराादुपकारमारभन्ते

मगलाचरण, श्लोक ५

इस कथन के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होने महाभाष्य को आधार मानकर अपनी व्याख्या लिखी है। इस विषय का स्पष्टीकरण भूमिका मे श्रीमाधव-शास्त्री ने भी किया है। फिर भी कही-कही भाष्यकार-वार्तिकार के मतो मे लाघव या गौरव दिखाया गया है। भूमिका मे उक्त आधार पर इसे प्रकरणग्रन्थ कहा गया है, जिससे ५ अध्यायो पर व्याख्या के न होने पर भी कोई न्यूनता नही कही जा सकती (द्र०—भूमिका, पृ० २)।

तृतीय अध्याय के अन्त मे विद्वानो को लक्ष्य कर जो कहा गया है कि इसमे वर्णित वस्तु पर मनन करते हुए विद्वान् उसमे परिष्कार करें। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने ३ अध्यायो पर ही यह व्याख्या लिखी थी। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ को सशय नष्ट करने वाला तथा विद्वानो के कौतूहल को बढाने वाला कहा है। यद्यपि प्रतिज्ञानुसार महाभाष्य के अनेक मत उद्धृत किए गए है फिर भी अनेकत्र विषय से सबद्ध काशिका, पदमञ्जरी, शब्दकण्टकोद्धार आदि ४० से भी अधिक ग्रन्थो तथा २० से भी अधिक ग्रन्थकारो के मतवचन उद्धृत किए गए है।

भूमिका-लेखक ने विश्वेश्वर सूरि का जीवनकाल भट्टोजिदीक्षित के अनन्तर तथा उनके पौत्र हरिदीक्षित से पूर्व माना है, क्योकि सिद्धान्तसुधानिधि मे शब्द-

कौस्तुभ के मत अनेकत्र उद्धृत है परन्तु शब्दरत्न का उल्लेख नही किया गया है। अन्य प्रमाणो के अभाव मे यह विचार ही मान्य प्रतीत होता है। सस्कृत-विद्वानो को शब्दकौस्तुभ तथा व्याकरण सिद्धान्तसुधानिधि की अपूर्णता पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए तथा प्राप्त अशो का विधिवत् अन्वेषण कर नवीन तथ्य प्रकाश मे लाने चाहिए।

२ शब्दावतारन्यास

जैनेन्द्र व्याकरण के प्रणेता पूज्यपाद देवनन्दी ने अपने व्याकरण तथा पाणिनीय व्याकरण पर 'न्यास' ग्रन्थ बनाया था। पाणिनीय व्याकरण पर रचित 'न्यास' का नाम 'शब्दावतारन्यास' था, परन्तु यह सम्प्रति अप्राप्य है। इसकी रचना मे प्रमाण प्राप्त हैं। नाथूराम प्रेमी, युधिष्ठिर मीमासक तथा अम्बालाल प्रे० शाह ने शिमोगा जिले की 'नगर' तहसील के एक शिलालेख को उद्धृत कर इसे स्पष्ट किया है। शिलालेख का सबद्ध अश यह है—

न्यास जैनेन्द्रसज्ञ सकलबुधनुत पाणिनीयस्य भूयो
न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपाद
स्वामी भूपालवन्द्य स्वपरहितवच पूर्णदृग्बोधवृत्त ॥

इसमे पूज्यपादरचित वैद्यशास्त्र तथा तत्त्वार्थटीका का भी उल्लेख किया गया है। वृत्तविलास ग्रन्थ मे कनाडी भाषा के काव्यग्रन्थ 'धर्मपरीक्षा' की प्रशस्ति की गई है। प्रशस्तिवचन मे पूज्यपाद द्वारा पाणिनीय व्याकरण पर किसी टीकाग्रन्थ के लिखे जाने का उल्लेख है (द्र० —सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४१३)। सम्भवत 'शब्दावतारन्यास' को लक्ष्य कर ऐसा कहा गया हो। आचार्य वर्धमान ने स्वरचित 'गणरत्नमहोदधि' की स्वोपज्ञवृत्ति मे अनेकत्र दिग्वस्त्र या दिगम्बर नाम से इन्हे अभिहित किया है और गणरत्नमहोदधि के प्रारम्भ मे इनकी स्तुति भी की है दिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्या।

३ प्रक्रियामञ्जरी

विद्यासागर मुनि ने काशिकावृत्ति पर यह टीका लिखी थी, इसके हस्तलेख मद्रास तथा त्रिवेन्द्रम मे सगृहीत है। प्रारम्भिक लेख के अनुसार ग्रन्थकार के गुरु का नाम श्वेतगिरि था। लेख इस प्रकार है

"वन्दे मुनीन्द्रान् मुनिवृन्दवन्द्यान्,
श्रीमद्गुरून् श्वेतगिरीन् वरिष्ठान्।
न्यासकारवच पद्मनिकरोद्गीर्णमम्बरे।
गृह्णामि मधुप्रीतो विद्यासागरषट्पद ॥

वृत्ताविति। सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनल्पूरप्रभृतिभिर्विरचितो वृत्ति' "
(द्र०-सस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ०४६१-६२, युधिष्ठिर मीमासक)।

इस लेख मे न्यासकार का स्मरण वडे आदर के साथ किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इन्होने अपने ग्रन्थ मे न्यासकार के मतो का विशेष अनुसरण किया होगा। यहाँ न्यासकार शब्द का प्रयोग पूज्यपाद देवनन्दी के लिए किया गया है जो जैनाचार्य हैं और जिन्होने पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास बनाया था अथवा वोधिसत्त्वदेशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि के लिए, जिन्होंने अपर नाम काशिकाविवरणपञ्जिका न्यास की रचना की है और समग्र रूप मे जो प्राप्त भी है यह स्पष्ट नही हो पाता। ग्रन्थ के अन्त का लेख इस प्रकार है

"इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यविद्यासागरमुनीन्द्रविरचिताया ।"

४ क्रियाकलाप

जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५ के लेखक प० अम्वालाल प्रेम शाह के अनुसार इसकी रचना जिनदेवसूरि ने की है। ये भावडारगच्छीय आचार्य थे तथा वि० स० १४१२ मे पार्श्वनाथचरित्र की रचना करने वाले आचार्य भावदेवसूरि के गुरु थे। इससे यह कहा जा सकता है कि आचार्य जिनदेव ने वि० स० १४१२ के पूर्व या उसके आसपास क्रियाकलाप लिखा होगा। ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है।

कातन्त्रव्याकरण पर टीकाएँ

कातन्त्रव्याकरण के जैन तथा जैनेतर होने मे अलग-अलग उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] यहाँ जैनेतर मानकर उस पर जैनाचार्यों द्वारा लिखी गई टीकाओं का परिचय दिया जा रहा है। कातन्त्रव्याकरण की अनेक विशेषताओ मे से कुछ इस प्रकार हैं अर्थलाघव तथा लोकव्यवहार का पर्याप्त समादर करना। इस व्याकरण मे यद्यपि वैदिक शब्दो का अन्वाख्यान नही किया गया है तथापि ऐसे अनेक शब्दो की साधनप्रक्रिया वताई गई है जो मतान्तर से वेदप्रयुक्त भी माने जाते है। 'मोदक देहि' को सकेत मानकर आचार्य शर्ववर्मा द्वारा लिखे गए इस व्याकरण मे सन्धि (मा | उदकम्), नाम (मोदकम्) तथा आख्यात (देहि) नामक तीन अध्याय एव १६ पाद हैं (क्रमश ५ + ६ + ८ = १६)। आचार्य शर्ववर्मा द्वारा इन तीन अध्यायो मे ८५५ सूत्र वनाए गए हैं। चतुर्थ अध्याय (कृदन्त) वररुचि द्वारा प्रणीत है जिसमे ५४६ सूत्र हैं। शब्दानुशासन भाग के अतिरिक्त खिलपाठ, शिक्षा, छन्द - प्रक्रिया, कातन्त्रपरिशिष्ट आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध है। अनेकत्र पाणिनि की

अपेक्षा आचार्य शर्ववर्मा ने सरलप्रक्रिया का निर्देश किया है, जिसे मैंने प्रत्येक सूत्र के साथ तुलना करते हुए अपने एक ग्रन्थ मे स्पष्ट किया है।

कातन्त्रवाङ्मय, सूत्ररचना, धातुपाठ आदि पर विशेप जानकारी के लिए मेरा ग्रन्थ "कातन्त्रव्याकरणविमर्श" (प्रकाशित १९७५ ई०) देखना चाहिए। पाणिनीयउत्तरवर्ती लगभग चालीस व्याकरणो मे प्रमुख तथा सर्वप्रथम इस कातन्त्रव्याकरण का अध्ययन-अध्यापन भारत के अनेक प्रदेशो तथा देशान्तरो मे भी होता रहा। देवनागरी, शारदा, वङ्ग, उत्कल, तेलुगु लिपियो मे लिखे गए अनेक ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नही हो सके है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

प्रक्रियाक्रम के आविष्कारक इस व्याकरण पर अनेक सम्प्रदाओ के आचार्यों ने व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमे २८ आचार्य जैनसम्प्रदाय के हैं। इन आचार्यो के अधिकाश टीकाग्रन्थ अप्रकाशित हैं। यहाँ १३ टीकाओ पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत कर १५ टीकाओ का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१ कलापदीपिका

दुर्गसिहकृत कातन्त्रवृत्ति पर गौतम पण्डित ने यह लघु टीका लिखी है, इसका हस्तलेख विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन के सिन्धिया प्राच्यविद्या शोधप्रतिष्ठान मे सुरक्षित है। नामाध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति पर उपन्यस्त वचन से ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार के पिता का नाम वीरसिंहदेव था "इति वीरसिंहदेवोपाध्यायगौतमपण्डितविरचिताया दुर्गसिंहोक्तकातन्त्रवृत्तिटीकाया कलापदीपिकाया नाम्नि प्रथम पाद समाप्त ।"

टीकाकार ने यद्यपि अपने लेख की प्रामाणिकता के लिए व्याघ्रभूति, विद्यानन्द, वर्धमान आदि अनेक आचार्यों के अभिमत वचनो को उद्धृत किया है तथापि कुछ स्थलो के अध्ययन से पता चलता है कि विद्यानन्द के प्रति ग्रन्थकार की विशेष श्रद्धा थी। जैसे 'अतिजर' शब्द के सबध मे कुछ विद्वानो का मत है कि नपुसकलिङ्ग मे अम् का पाक्षिक लोप होगा तथा लोपपक्ष मे विसर्गान्त रूप होगा अतिजर कुल तिष्ठति, अतिजर कुल पश्य। विद्यानन्द ने यह मत उपेक्षणीय माना है अत ग्रन्थकार ने विद्यानन्द का अभिमत उचित सिद्ध किया है तदिहाप्रमाणम् इत्युपेक्षिते इति विद्यानन्द । तस्माद् उभयत्र 'अतिजरम्' इत्येव भवति (पत्र ४२ अ)।

२ कातन्त्रदीपक:

मुनीश्वर सूरि के शिष्य मुनि हर्ष ने इसकी रचना की है। इसका आख्यातान्त भाग हस्तलेखो मे सुरक्षित है। ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बुद्धिवर्धन बताया

गया है। प्रारम्भ मे जिनेश्वर तथा भारती का स्मरण कर ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा की गई है—

भूर्भुव स्वस्त्रयीशान वरिवस्य जिनेश्वरम्।
स्मृत्वा च भारती सम्यग् वक्ष्ये कातन्त्रदीपकम्॥

अन्त मे गुरु का नाम तथा रचनाप्रयोजन इस प्रकार दिया गया है

श्रीमुनीश्वरसूरीक शिष्येण लिखितो मुदा।
मुनिहर्षमुनीन्द्रेण नाम्ना कातन्त्रदीपक॥
व्यलेखि मुनिहर्षाख्यैर्वाचकैर्बुद्धिवृद्धये॥ इति।

३ कातन्त्रमन्त्रप्रकाश

कातन्त्रव्याकरण के रहस्यो को स्पष्ट करने के उद्देश्य से श्रीकर्मधर ने इस ग्रन्थ की रचना की है। चार खण्डो मे विभक्त ४९५ पत्रो का इसका हस्तलेख अलवर (रा० प्रा० वि० प्र०) मे प्राप्त है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ४० श्लोको मे हुसेनशाह के मन्त्री भवनाथ का वशपरिचय चित्रित किया गया है जिनके आदेश से यह ग्रन्थ लिखा गया है। ग्रन्थकार कर्मधर के साथ भवनाथ का क्या सबध है? स्पष्ट नही कहा जा सकता।

अपने ग्रन्थ की उपयोगिता के सन्दर्भ मे ग्रन्थकार ने यह बताया है कि यद्यपि आचार्य त्रिलोचन की टीका से दुर्गसिंह की वृत्ति सुगम हो जाती है, तथापि उन्होने जो कुछ आवश्यक तथ्य छोड दिए है उनकी योजना मैंने यथास्थान कर दी है अत लवनकर्म के अनन्तर क्षेत्र मे शेष पडे हुए 'शिल' तथा 'उञ्छ' का भी जैसे महत्त्व होता है उस प्रकार मेरे भी प्रकृत ग्रन्थ का कुछ महत्त्व तो अवश्य ही है। ग्रन्थरचना के आदेष्टा भवनाथ का परिचय इस प्रकार दिया गया है—कायस्थ-वशीय श्रीमेघ के आत्मज त्रिलोचन, उनके आत्मज गदाधर, उनके पुत्र भूधर तथा उनके पुत्र भवनाथ हुए। इन्हे शाह हुसेन का मन्त्रीपद प्राप्त होने पर अपने प्रशंस-नीय कार्यकलापो के कारण देवनाथ की पदवी प्राप्त हुई थी। ग्रन्थकार ने आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण करते हुए लक्ष्मी का स्मरण किया है। इससे ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थवर्णित विपयो मे तो शेषपूर्ति की ही है, मङ्गला-चरण मे भी शेषपूर्ति की है। मङ्गलाचरण मे शिव, सरस्वती, गणेश की तुलना मे लक्ष्मी का स्मरण अत्यन्त ही विरल देखा जाता है। दुर्गसिंह तथा त्रिलोचनदास ने तो लक्ष्मी का स्मरण नही किया है। उक्त विवरण का ग्रन्थाश इस प्रकार है

"शेषाशेषफणामणिव्यतिकरे कान्ताकृर्ति बिम्बिताम्,
पश्यन्ती रहसि स्थिताऽपि परिषद्भ्रान्त्या धियामुर्मुहु।

या प्रौढाऽपि नव समागमरस भावै समातन्वती,
श्लिष्टा गाढमुरस्थलेन हरिणा लक्ष्मी श्रिये साऽस्तु व ॥ १ ॥
त्रिलोचनध्यातमभिन्नदुर्गं सार्धं नमस्कृत्य विविक्तविद्यम् ।
कातन्त्रमन्त्रार्थविनिश्चयार्थमथ प्रयत्न क्रियते शिशूनाम् ॥ २ ॥
दुर्गत्वमुन्नीय सपञ्जिकाया वृत्तेर्विवेके विजय प्रवृत्त ।
विवेचयस्तद्वचनानि वाग्मी स्वय पुनर्दुर्गतमो बभूव ॥ ३ ॥
ततस्तता युक्तिभिरुक्तिमुक्ता विविक्तपङ्क्ति क्वचिद्प्यमुख्याम् ।
सयोजयिष्ये निजगीर्गुणेन सता हृदि श्रीमति सश्रयाय ॥ ४ ॥
त्रिलोचनाचार्यवच प्रसादाद् दुर्गस्य वृत्ति सुगमा यदीयम् ।
क्वचित् क्वचिन्मे वचसोऽवकाश शिलोञ्छवृत्त्या घटते तथापि ॥ ५ ॥

इति करणकुलालङ्करणश्रीदेवनाथसमादिष्टपण्डितकर्मधरविरचिते कातन्त्र-मन्त्रप्रकाशे प्रथम: पाद परिसमाप्त ।" आदि ।

ग्रन्थ के आशिक अध्ययन से ही ग्रन्थनाम की सार्थकता के लिए अनेक प्रमाण प्राप्त हो जाते है ।

४. कातन्त्ररूपमाला

वादिपर्वतवज्री मुनीश्वर भावसेन ने प्रक्रियाक्रम से कातन्त्रसूत्रो की दो सदर्भों मे व्याख्या की हे । प्रथम सन्दर्भ के सज्ञासन्धि, स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, विसर्जनीयसन्धि, स्वरान्त पुल्लिङ्ग, स्वरान्त स्त्रीलिङ्ग, स्वरान्त नपुसकलिङ्ग, व्यञ्जनान्त पुलिङ्ग, व्यञ्जनान्त स्त्रीलिङ्ग, व्यञ्जनान्त नपुसकलिङ्ग, व्यञ्जनान्त अलिङ्ग, कारक, समास एव तद्धितप्रकरणो मे ५७४ सूत्र व्याख्यात है । इनमे वङ्गीय तथा कश्मीरी सस्करणो के कातन्त्रव्याकरण की अपेक्षा कुछ सूत्र बिलकुल भिन्न है तथा कुछ की योजना भिन्न स्थानो मे की गई है। जैसे "वा विरामे" (२।३।६२) सूत्र अनेक हस्तलेखो तथा मुद्रित कातन्त्र ग्रन्थो मे "अघोषे प्रथम" (२।३।६१) के पश्चात् पठित है । तदनुसार इसका अर्थ है धुट्सज्ञक प्रथम वर्ण के स्थान मे तृतीय वर्णादेश विकल्प से होता है । अत 'वाक्, वाग्' दो रूप निष्पन्न होते हैं । परन्तु कातन्त्ररूपमाला मे व्यञ्जनसन्धि के अन्तर्गत "मोऽनुस्वार व्यञ्जने" (सू० ६१) सूत्र के पश्चात् पढकर पदान्त मकार के स्थान मे वैकल्पिक अनुस्वारादेश किया जाता है, जिससे पदान्त मे विद्यमान होने पर भी 'देवानाम्, देवाना' ये दो रूप साधु माने जाएँगे । ऐसी प्रक्रिया अन्यत्र नही देखी जाती । फिर भी इतना निश्चित है कि कातन्त्र व्याकरण का सम्यग् बोध इस ग्रन्थ द्वारा पर्याप्त सरल ढग से किया जा सकता है ।

द्वितीय सन्दर्भ के तिङन्त तथा कृदन्त प्रकरणो मे ८०९ सूत्र व्याख्यात हैं । इस प्रकार ५७४ + ८०९ = १३८३ सूत्रो की व्याख्या इसमे की गई है। वररुचि

कात्यायन द्वारा रचित कृत्प्रकरण के ५४६ सूत्रों में यहाँ केवल ८०६ — ४९० = ३१६ ही सूत्र व्याख्यात हुए हैं। शेष को कठिनता या विस्तार के भय से अनावश्यक जैसा समझकर छोड दिया गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार ने इसकी रचना का प्रयोजन मन्दधी बालको को कातन्त्रव्याकरण का सरलतया अवबोधन कहा है, जिसकी चर्चा उन्होने ग्रन्थ के अन्त मे भी की है

वीर प्रणम्य सर्वज्ञ विनष्टाशेषदोषकम् ।
कातन्त्ररूपमालेय बालबोधाय कथ्यते ॥१॥ (ग्रन्थारम्भ)।
भावसेनत्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिणा ।
कृताया रूपमालाया कृदन्त पर्यपूर्यत ।
मन्दबुद्धिप्रबोधार्थं भावसेनमुनीश्वर ।
कातन्त्ररूपमालाख्या वृत्ति व्यररचत् सुधी ॥
(ग्रन्थान्त)

तद्धित प्रकरण की समाप्ति पर भावसेन ने इस व्याकरण के 'कालापक' तथा 'कौमार' नामो की विलक्षण व्याख्या की है। कहा गया है कि जो स्त्रियो मे ६४ तथा पुरुषो मे ७४ कलाएँ होती है उन सभी के प्राप्तिकर्ता तीर्थङ्कर ऋषभदेव है, उनसे प्रोक्त होने के कारण इसे 'कालापक' एव कुमारी के प्रति कहे जाने से इसे 'कौमार' नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होने इस मान्यता को अयुक्त बताया है कि जो यह कहा जाता है कि स्वामिकार्त्तिकेय के वाहन मयूर के पुच्छ से सूत्रो का निर्गमन होने के कारण इस व्याकरण का नाम कालापक है। भावसेन ने इस मान्यता को इसलिए अयुक्त बताया है कि मयूर के त्रिमात्रिक प्लुत का ही उच्चारण प्रसिद्ध है और कातन्त्रव्याकरण के वर्णसमाम्नाय मे प्लुतवर्णों का पाठ नही किया गया है

चतु षष्टि कला स्त्रीणा ताश्चतु सप्ततिर्नृणाम् ।
आपक प्रापकस्तासा श्रीमानृषभतीर्थकृत् ॥
तेन ब्राह्म्यै कुमार्यै च कथित पाठहेतवे।
कालापक तत् कौमार नाम्ना शब्दानुशासनम् ॥
यद् वदन्त्यधिय केचित् शिखिन स्कन्दवाहिन ॥
पुच्छान्निर्गतसूत्र स्यात् कालापकमत परम् ॥
तन्न युक्त यत केकी वक्ति प्लुतस्वरानुगम् ।
त्रिमात्र च शिखी ब्रूयादिति प्रामाणिकोक्तित ॥
न चात्र मातृकाम्नाये स्वरेषु प्लुतसग्रह ।
तस्मात् श्रीऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम् ॥
(तद्धितप्रकरण के अन्त मे)

ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने अपने वचनों को उन विद्वानों के गर्वकुहर के लिए वज्रवत् कहा है जो अपने बुद्धिवैभव के गर्व से उद्धृत होकर स्पर्धा करने का साहस करते हैं। यह वचन अभी अनुसन्धान द्वारा परीक्षणीय है।

अभी तक इसके दो संस्करण प्राप्त हैं

१ निर्णयसागर यन्त्र, बम्बई। सं० १९५२।

२ वीर पुस्तक भण्डार, वीर प्रेस, जयपुर।
वीरनिर्वाण संवत् २४८१।

दोनों संस्करणों में प्राय साम्य ही देखा जाता है।

५ कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि

व्याकरण के लोकव्यवहाराधीन होने से काव्यशास्त्र आदि में प्रयुक्त कुछ सूत्रों की सिद्धि बताने के उद्देश्य से किसी आचार्य ने कुछ सूत्र बनाए थे। जिस ग्रन्थ को 'कातन्त्रविभ्रम' नाम दिया गया था, परन्तु वे सूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं। उन सूत्रों का गौरव और अप्रसिद्धि टीकाकार गोपालाचार्य के एक वचन से ज्ञात होती है

कातन्त्रसूत्रविसर किल साम्प्रत यद्।
नातिप्रसिद्ध इह चातिखरो गरीयान्॥

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता चारित्रसिंह के वचनानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि कातन्त्रविभ्रम-सूत्रों पर सर्वप्रथम **क्षेमेन्द्र ने** व्याख्या थी। क्षेमेन्द्रकृत व्याख्या की टीका **मण्डन** नामक किसी विद्वान् ने की थी। सम्प्रति ये दोनों टीकाएँ प्राप्त नहीं होती हैं।

कातन्त्र सम्प्रदाय के किसी विद्वान् ने विभ्रमसूत्र तथा कातन्त्रशब्दानुशासन के सूत्रों से सिद्ध किए जा सकने वाले १५२ शब्दों को २१ श्लोकों में निबद्ध किया है। इन शब्दों के साधन की प्रक्रिया प्रश्नोत्तर के रूप में दर्शित हुई है। इनके अतिरिक्त ५४ शब्दों की योजना १० श्लोकों द्वारा बाद में की गई है। श्लोकनिर्दिष्ट शब्दों की **अवचूरि** नामक व्याख्या के कर्ता का परिचय प्राप्त नहीं होता। मुद्रित **कातन्त्र-विभ्रम** के प्रारम्भिक लेख 'कातन्त्र विभ्रम सूत्र सवृत्तिक लिख्यते' के अनुसार श्लोकों को भी सूत्र माना जा सकता है। अवचूरिकार ने प्रसङ्गत दो अन्य श्लोकों की योजना इसमें की थी इसका उल्लेख चारित्रसिंहकृत टीका में प्राप्त होता है। प्राप्त टीकाओं के परिचय से पूर्व श्लोकबद्ध कातन्त्रविभ्रम का सक्षिप्त विषयपरिचय दिया जा रहा है

प्रारम्भ में ही प्रश्न किया गया है कि परस्पर विरुद्ध किस धातु के १३ रूप एक ही प्रत्यय होने पर निष्पन्न होते हैं। व्याख्याकारों ने 'अव' पूर्वक 'गॄ' धातु से अद्यतनी (लुङ्) के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'ध्वम्' प्रत्यय करने पर (१) अवागरिध्वम्,

(२) अवागरीध्वम्, (३) अवागलिध्वम्, (४) अवागलीध्वम्, (५) अवागरिढ्वम्, (६) अवागरीढ्वम्, (७) अवागलिढ्वम्, (८) अवागलीढ्वम्, (९) अवागारिध्वम्, (१०) अवागारीध्वम्, (११) अवागालिध्वम्, (१२) अवागालीध्वम् तथा (१३) अवागीर्ढ्वम् ये १३ रूप दिखाए गए है। ग्रन्थान्तरो मे इसके १०४ रूप भी वताए जाते हैं।

इस प्रकार स्याद्यन्तप्रतिरूपक त्यादि, वहुवचनप्रतिरूपक एक वचन, त्यादि के विपरीत रूप, विभक्तिव्यत्यय के रूप, स्याद्यन्त की तरह प्रतीत होने वाले त्याद्यन्त रूप, अप्रसिद्ध त्याद्यन्त तथा दुर्लक्ष्य यङन्त शब्दो का पाण्डित्यपूर्ण निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ वहुवचनप्रतिरूपक एकवचन के शब्दो का निर्देश इस प्रकार किया गया है

> एतेषा कथमेकत्व वनानि ब्राह्मणैरमी।
> वृक्षा पचन्ति येषा यान् वायुभ्य पार्थिवा सुरा ॥८॥
> पुराणि वर्पाणिमठान्यमीना धनानि सर्वाणि विलान्यपा च ॥१०॥

कातन्त्रविभ्रम की प्राप्त टीकाओ मे दो हस्तलिखित हैं तथा एक मुद्रित है। मुद्रित टीका चारित्रसिंहकृत 'अवचूर्णि' नामक है। जिसका परिचय इस प्रकार है

वि० स० १६२५ मे साधु चारित्रसिंह ने यह टीका लिखी है। इन्होने अपने को मतिभद्रगणि का शिष्य वताया है। टीका के नाम तथा उसके रचनाकाल आदि का परिचय इस प्रकार दिया है

> वाणाश्विषडिन्दु (१६२५) मिति सव्वति धवलक्कपुरवरे समहे।
> श्रीखरतरगणपुष्करसुदिवापुष्टप्रकाराणाम् ॥१॥
> श्रीजिनमाणिक्याभिधसूरीणा सकलसार्वभौमानाम्।
> पट्टे वरे विजयिषु श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिराज्येषु ॥२॥ गीति।
> वाचकमतिभद्रगणे शिष्यस्तदुपास्त्यवाप्तपरमार्थं।
> चारित्रसिंहसाधुर्व्यदधादवचूर्णिमिह सुगमाम् ॥३॥

उन्होने अपनी उदारता का परिचय देते हुए यह भी कहा है कि मैंने इन प्रश्नोत्तरो की व्याख्या मे यदि कुछ अनृत लिखा हो तो उसे अपने तथा दूसरो के उपकारार्थ विद्वान् स्वयं सशोधित कर ले। यह व्याख्या १९२७ ई० मे इन्दौर से प्रकाशित भी हो चुकी है। इसमे सारस्वत व्याकरण के सूत्रो का उपयोग किया गया है लिखामि सारस्वतसूत्रयुक्त्या।

ग्रन्थरचना का प्रयोजन वताते हुए कहा गया है कि कातन्त्रविभ्रम मे दर्शित प्रयोग अत्यन्त दुर्ज्ञेय हैं, उनके विपय मे श्रेष्ठ वैयाकरण भी जडवत् हो जाते हैं, अत अपने तथा दूसरो के ज्ञानवर्धन-हेतु इस टीका को लिखने का सफल प्रयास किया जा रहा है

स्वस्येतरस्य च सुबोधविवर्धनार्थं
रित्वत्थ ममात्र सफलो लिखनप्रयास ॥३॥

टीका मे प्रासङ्गिक मूलातिरिक्त कुछ शब्दो की सिद्धि ग्रन्थकार ने स्वय भी वताई। ग्रन्थ के अन्त मे चार कारिकाओ द्वारा अप्रसिद्ध त्याद्यन्त रूपो को भी अपनी ओर से वताया गया है—'इति रूपमनुक्तमपि प्रसगादिह लिखितम्'। 'अन्येऽपिकेचिद् विभ्रमप्रयोगालिख्यन्ते'।

प्रमाण के लिए क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, अभिधानकोश, एकाक्षरनिघण्टु आदि के वचनो को अनेकत्र उद्धृत किया गया है। इसके अनुशीलन से ऐसा कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थकार ने अपने बुद्धिकौशल का पर्याप्त परिचय दिया है।

६ कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि

नागर नीलकण्ठ के पुत्र गोपालाचार्य ने स० १७६३ के दक्षिणायन-पौषमास मे इसकी रचना की थी। वालको की हितकामना, अपने एव दूसरो के ज्ञानसवर्धन के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसके हस्तलेख जोधपुर, वीकानेर, अहमदावाद आदि स्थानो मे सगृहीत हैं। हस्तलेखो के अवलोकन से ऐसा विदित होता है कि इन्होने केवल मूल की २१ कारिकाओ पर ही अपनी व्याख्या रची है। प्रक्षिप्त १० कारिकाओ पर इनकी टीका नही देखी जाती। ग्रन्थकार ने स्वरचित टीका को विशुद्ध, रम्य तथा सुगम बताया है। ग्रन्थरचना के काल आदि का परिचय इस प्रकार है--

सवद्रामरसाद्रिभू (१७६३) परिमिते वर्षायिने दक्षिणे,
पौषे मासि शुचौ तिथिप्रतिपदि प्राड् भौमवारेऽकरोत्।
श्रीमन्नागरनीलकण्ठतनयो नाम्ना तु गोपालक
टीकामस्य विशुद्धरम्यसुगमा काव्यस्य दुर्गस्य वै ॥

इस कातन्त्रविभ्रम को यहा काव्य कहा गया है, सम्भवत विशेष अर्थों मे प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय कुछ शब्दो की चर्चा होने से इसे काव्य की सज्ञा टीकाकार ने दी हो। टीका की सुगमता के वोधक कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

१ 'अग्निभ्य' पद को प्रथमाविभक्त्यन्त सिद्ध करने के सन्दर्भ मे वताया है, कि भयार्थक 'भ्यस्' धातु का क्विवन्त रूप 'भ्य' होता है, अत 'अग्नि से होने वाला भय' इस अर्थ का वाचक प्रथमाविभक्त्यन्त पद 'अग्निभ्य' पञ्चमी तत्पुरुष समास से निष्पन्न होगा। विकल्प मे भयार्थक 'भी' शब्द का प्रथमा वहुवचन 'भ्य' वताकर 'अग्निभ्य' पद की सावना दिखाई गई है। (कारिका २)।

२ 'भवेताम्' शब्द को षष्ठी वहुवचनान्त इस प्रकार सिद्ध किया गया है 'इण् धातु का क्विवन्त रूप 'इत्' होता है। भव ससार को प्राप्त करने वाले 'भवत' कहे जाएँगे, उससे षष्ठी वहुवचनान्त रूप 'भवेताम्' निष्पन्न होगा। (कारिका ३)।

३ यानि, शुभानि, रणानि' आदि स्याद्यन्त पद तो प्रसिद्ध है परन्तु त्याद्यन्त प्रसिद्ध नही। इन त्याद्यन्त पदो की सिद्धि 'या शुभ, रण' धातुओं से 'आनि' प्रत्यय होने पर बताई गई है।

इसी प्रकार अनेक शब्दो की साधनिका मे प्राय सरल भाषा तथा सरल शैली का व्यवहार किया गया है, जिसे सबद्ध स्थलो मे ही देखा जा सकता है। सरलता के लिए इसमे अनेक ग्रन्थो व ग्रन्थकारो के मतो को नही दिखाया गया है। कदाचित् वृहत्-सिद्धान्तकौमुदी तथा अनेकाक्षर कोश का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है।

७. कातन्त्रविस्तर

वर्धमान-विरचित इस विस्तृत टीका का कारकभागीय कुछ अश मञ्जूषा पत्रिका (वर्ष १२ अड्क ६) मे प्रकाशित है। इसके अनेक हस्तलेख उत्कलाक्षरो मे भुवनेश्वर के अभिलेखागार मे सगृहीत है)। **राजस्थान मे संस्कृत साहित्य की खोज** (पृ० ३२) के लेखक श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार जैसलमेर मे भी इसकी हस्तलिखित प्रति है। जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ५२ पर आरा तथा चूरू मे भी इसके हस्तलेख वताए गए है। ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के अनुसार इसके सन्धि तथा नाम अध्यायो मे उन सभी शब्दो की सिद्धि वताने का प्रयास किया गया है, जिनका प्रयोग शिष्टो ने लक्ष्यग्रन्थो मे किया है

महेश्वर नमस्कृत्य कुमार तदनन्तरम्।
सुगम क्रियतेऽस्माभिरय कातन्त्रविस्तर ॥
अभियोगपरा पूर्वे भाषाया यद् वभाषिरे।
प्रायेण तदिहास्माभि परित्यक्त न किञ्चन ॥

कृद्भागीय व्याख्यान मे ग्रन्थकार ने कहा है कि सूत्रकार शर्ववर्मा द्वारा जिनकी सर्वथा उपेक्षा की गई तथा कात्यायन ने भी जिन पर विचार नही किया, उन सभी शब्दो को यहा उदाहरण के रूप मे दिया गया है। अन्त मे ग्रन्थकार ने यह भी बताया है कि यद्यपि अपने प्रशसनीय गुणो के कारण यह शास्त्र अनेकत्र प्रचलित है प्रचुर प्रचार है, तथापि पिताजी के मुख से सुने जाने के कारण या उनके या उनके आदेश से मैने इस ग्रन्थ की रचना की है

उपेक्षित सूत्रकृता सुदूर कात्यायनेनापि न चिन्तित यत्।
सक्षिप्तभाषागतमत्र लक्ष्यसमस्तमस्माभिरुदाहृत तत् ॥

सुप्रचार शास्त्र यद्यपि सुगुणैरिह।
पितृवक्त्रात् तथाप्येतल्लिखित विदुषा मया ॥

मञ्जूषा पत्रिका मे कारकप्रकरणीय अपादन तथा सम्प्रदान-सज्ञक जो सूत्र

व्याख्यात है उनमे पाणिनीय सूत्रो की भी विशद व्याख्या देखी जाती है। पाणिनीय अपादानसज्ञक जिन सूत्रो की आवश्यकता महाभाष्यकार आदि ने नही मानी है उन सूत्रो पर भी व्याख्या करने का कारण बताते हुए कहा गया है कि

१ यहा प्रत्याख्यान करने के उद्देश्य से ही इन सूत्रो का उपादान किया है। अथवा।

२ उन्हे स्वीकार भी किया जा सकता है क्योकि अन्य व्याकरण मे उनकी मान्यता होने से यहा उनका खण्डन करना मेरा उद्देश्य नही है। अर्थात् कातन्त्रोक्त ही ग्राह्य है, अन्य व्याकरणोक्त ग्राह्य नही है इस प्रकार का मेरा कोई पक्षपात नही है। यह भी कहा जा सकता है कि व्याकरणान्तर मे प्रबल आग्रहवश उन्हे समादृत किया गया है अत उनका प्रत्याख्यान करने के लिए द्विगुणित यत्न की आवश्यकता होगी, अत उन्हे स्वीकार कर लेना ही समीचीन है

प्रत्याख्यातुमिहाख्यातमिति तन्त्रान्तरोदितम्।
स्वीकर्तुमथवाऽस्माक पक्षपातो न विद्यते ॥

किञ्च,

तन्त्रान्तरप्रणीताना सूत्राणा परमाग्रहात्।
प्रत्याख्यानेन यत्नस्य द्वैगुण्यमुपजायते ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यदि इस विपुलकाय ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाए तो कातन्त्र व्याकरण का एक विस्तृत रूप सामने आ जाए। कातन्त्रविस्तर की कुछ टीकाएँ भी प्राप्त होती है

(१) वामदेव विद्वान्-विरचित **मनोरमा**, (२) श्रीकृष्णरचित **वर्धमान-सग्रह**, (३) अज्ञातनामा आचार्य रचित **कातन्त्रप्रक्रिया**, (४) गोविन्ददास-रचित **वर्धमानानुसारिणी प्रक्रिया**, तथा (५) रघुनाथदास-रचित वर्धमानप्रकाश।

८ कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका

आचार्य त्रिलोचनदास द्वारा प्रणीत यह व्याख्या वङ्गाक्षरो मे मुद्रित है और प्राय सभी सूत्रो पर प्राप्त होती है। इसकी रचना का उद्देश्य ग्रन्थकार ने स्वय ग्रन्थारम्भ मे बताया है, तदनुसार कातन्त्रव्याकरण पर दुर्गसिंह द्वारा रचित एक प्रामाणिक वृत्ति मे प्रयुक्त कठिन या अस्पष्टार्थक पदो को सरल या स्पष्ट करने के उद्देश्य से इसकी रचना की गई थी। कठिन या अस्पष्टार्थक पदो के व्याख्यान की आवश्यकता मन्दबुद्धि वालो को भी विषय के सम्यक् अवबोधार्थ होती है

प्रणम्य सर्वकार्तार सर्वद सर्ववेदिनम्।
सर्वीय सर्वग सर्व सर्वदेवनमस्कृतम् ॥
दुर्गसिंहोक्तकातन्त्रवृत्तिदुर्गपदान्यहम् ।
विवृणोमि यथाप्रज्ञमज्ञसज्ञानहेतुना ॥

व्याख्या के अध्ययन से ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार ने न केवल दुर्गसिंहोक्त वृत्ति मे ही कठिन या अस्पष्टार्थक शब्दो की ही व्याख्या की है, किन्तु उन्होंने सूत्रनिर्दिष्ट विषय को पूर्णत समझाने के लिए अनुक्त विषयो का भी समावेश किया है और अनेकत्र अपने मत के समर्थन मे अन्य ग्रन्थकारो के भी वचनो को उद्धृत किया है। इनके कुछ विशेष विचार इस प्रकार है—

१ नमस्कारविषयक। इसमे कहा गया है कि अभिप्रेत विषय की सिद्धि केवल नमस्कारमात्रसाध्य नही होती किन्तु कभी यागादिसाध्य तथा नमस्कार साध्य होती है।

(मङ्गलाचरण)

२ मङ्गलार्थक 'सिद्ध शब्द का विवेचन। "सिद्धो वर्णसमाम्नाय" इस प्रथम सूत्र की व्याख्या मे 'सिद्ध' शब्द के नित्य, निष्पन्न तथा प्रसिद्ध अर्थो के अतिरिक्त भी कुछ महत्त्वपूर्ण विचार किया गया है। कातन्त्रव्याकरण मे आदि, मध्य तथा अन्त मे किए गए मङ्गलार्थक पदो की योजना स्पष्ट की है (१।१।१)।

३ 'आदि' शब्द के चार अर्थो की व्याख्या आपिशलीय मतानुसार की गई है

तथा चापिशलीया पठन्ति,
सामीप्येऽथ व्यवस्थाया प्रकारेऽवयवे तथा।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदि शब्दं तु लक्षयेत् ॥ (१।१।८)।

४ अनुनासिक मे 'अनु' शब्द की योजना का तात्पर्य। इसकी व्याख्या मे 'अनुनासिक' सज्ञा को पूर्वाचार्यप्रणीत तथा अन्वर्थ कहा गया है (१।१।१३)।

५ 'अनुस्वार, विसर्जनीय' सज्ञाओ के क्रम का औचित्य। इसमे बताया गया है कि स्वरसम्बद्ध होने के कारण यद्यपि इन सज्ञाओ का निर्देष सन्ध्यक्षर सज्ञा के ही अनन्तर करना चाहिए था, तथापि अप्रधान एव स्वर-व्यञ्जनोभय से सबद्ध होने के कारण इनका पाठ अन्त मे किया गया है। सूत्रनिर्दिष्ट होने के कारण अनुस्वार-विसर्जनीय को भी कातन्त्र व्याकरण मे योगवाह माना जाता है, पाणिनीय व्याकरण की तरह अयोगवाह नही (१।१।१९)।

६ आपिशलीय मतानुसार आगम आदि की परिभाषा। तथा चापिशलीया पठन्ति,

आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोप सर्वापकर्षणात् ॥ (२।१।६)।

७ औपचारिक आधार की अयुक्तता बताना। 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' आदि स्थलो मे कुछ आचार्य औपचारिक आधार मानते है, परन्तु वस्तुत अङ्गुलि के अग्रभाग का विषय ही करिशत है अत यहा औपश्लेषिक आधार मानना ही सगत है (२।४।११)।

८ निमित्त के पर्यायवाची 'कारक' शब्द को अव्युत्पन्न तथा स्वभावत नपुंसकलिङ् मानना। क्रिया के निमित्तमात्र प्रधान या अप्रधान को कारक कहते हैं। व्युत्पन्न तथा वुण्प्रत्ययान्त कारकशब्द का अर्थ 'कर्ता' होता है तथा वह वाच्यलिङ् माना जाता है। (२।४।२३)।

९ वृत्तिकार दुर्गसिंह द्वारा समादृत चन्द्रगोमी के सूत्र की सूचना देना। "तादर्थ्ये चतुर्थी" सूत्र को शर्ववर्मकृत न मानकर चन्द्रगोमिकृत माना है। इसकी सूचना देते हुए कहा गया है कि वृत्तिकार ने मतान्तरप्रदर्शन के उद्देश्य से यहां चन्द्रगोमिकृत इस सूत्र को पढा है (२।४।२७)।

इस प्रकार अनेक विशेषताएं देखी जाती हैं। दुर्गसिंह कृत वृत्ति तथा टीका के विषयों का प्रौढ स्पष्टीकरण इस व्याख्या में देखा गया है। इस व्याख्या का स्तर कातन्त्र सम्प्रदाय में वही माना जा सकता है जो कि पाणिनीय सम्प्रदाय में काशिका वृत्ति पर जिनेन्द्रवुद्धि द्वारा प्रणीत काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) का है। इसमे जयादित्य, जिनेन्द्रवुद्धि प्रभृति लगभग ४० ग्रन्थकारों तथा कुछ ग्रन्थों के मतवचनों को दिखाया गया है। वहुत से मत 'केचित्, अन्ये, इतरे' शब्दों से भी प्रस्तुत किए गए हैं। इन सभी मतों में कुछ मतों को युक्तिसगत नहीं माना गया है।

इस पञ्जिका में दर्शित मतों के प्रति कुछ आचार्यों ने दोष भी दिखाए हैं, जिन दोषों का समाधान सुषेण विद्याभूषण ने अपने कलापचन्द्र नामक व्याख्यान में किया है। श्रीत्रिविक्रम ने **उद्द्योत,** मणिकण्ठभट्टाचार्य ने **त्रिलोचनचन्द्रिका** सीतानाथ सिद्धान्तवागीश ने कुछ अंशों पर **सञ्जीवनी** तथा **धातुसूत्रीय पञ्जिका** पर पीताम्वर विद्याभूषण ने **पत्रिका** नामक व्याख्या की रचना की है।

९ कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका प्रदीप

पण्डित श्रीनन्दी के आत्मज पण्डित श्री देसल ने इसकी रचना की थी। २८३ पत्रों का इसका हस्तलेख जोधपुर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में विद्यमान है। पञ्जिका में जो कुछ विशेष रूप में कहा गया है उसी का विवरण प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा ग्रन्थारम्भ में लेखक ने की है। कृदभागीय व्याख्या का प्रारम्भ करने से पूर्व ही ग्रन्थकार के पिता दिवगत हो गए थे, अत पितृवियोगरूपी अनल से दग्धमानस होने पर भी दुखों की कमी की समाप्ति न समझकर श्रीदेसल ने अग्रिम ग्रन्थभाग की पूर्ति की है

"अत्र चान्तरे दिवगते पितरि तद्वियोगानलदग्धमानसाना कीदृश हि ग्रन्थ दूषण समाधान बुद्धिकौशलमुपजायत इति जानद्भिरप्यस्माभि प्रारब्धापरि-समाप्तिदु खमवगम्य यथामति किञ्चिदुच्यते" (कृत् प्रकरण का प्रारम्भ)।

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने अपने पिता द्वारा **धातुपरायण** के रचित होने की भी सूचना दी है। शङ्कर नामक शिष्य की प्रार्थना पर श्रीदेसल ने जैसा अपने

पिता से पढा था उसी के स्मरणार्थ इस ग्रन्थ का निवन्धन किया है, अत अपना कोई दोष न वताकर युक्तायुक्त के विचार का भार विद्वानो पर छोड दिया है

कार्त्तिकेय समाराध्य कृत शास्त्रमनाकुलम् ।
तस्मै नमोऽस्तु गुरवे श्रीमते शर्ववर्मणे ॥
धातुपारायणकर्त्रे व्याकरणत्रितयवेदित्रे ।
शब्दसरोजसवित्रे विद्यादात्रे नम पित्रे ॥
उक्त मया यथावोध शङ्कराय सुवोधिने ।
युक्तायुक्तविचारस्तु कर्तव्य खलु सूरिभि ॥
याचितोऽह चुरा तेन प्रतिपन्न मयाऽपि तत् ।
स्मृत्यर्थं क्रियते यस्मात् तस्मान्नो नात्र दूषणम् ॥
पितृभिर्यदुपन्यस्त स्मरणाय कृत मया ॥

स० १४६५ मे श्रावणवदी ५ बुधवार को राणा श्रीउदयसिंह विजय के राज्य मे इसे लिखा गया था ।

१० कातन्त्रपञ्जिकोद्द्योत.

वर्धमान के शिष्य त्रिविक्रम ने कातन्त्रपञ्जिका पर उद्द्योत नामक टीका लिखी है। इसका हस्तलेख सङ्घभण्डार-पाटन मे सगृहीत है। आख्यात के सम्प्रसारणपादपर्यन्त यह उपलब्ध है। इसका लेखनकाल स० १२२१, ज्येष्ठवदी तृतीया, शुक्रवार है। ग्रन्थकार ने कहा है कि कुछ पूर्वभावी आचार्यो ने अपने असारवचनो से पञ्जिका को प्राय निरर्थक वताया था और इसी कारण वह पञ्जरस्थ शारिका की तरह पराधीन होकर अपने गुणो को प्रकाशित करने मे असमर्थ हो गई थी। मैने पूर्वाचार्यो के उन आक्षेपवचनो का खण्डन कर इसे पूर्ण उज्ज्वल कर दिया है

उक्त यदालूनविशीर्णवाक्यैर्निरर्गल किञ्जन फल्गु पूर्वै ।
उपेक्षित सर्वमिद मया तत् प्रायो विचार सहते न येन ॥
आसीदिय पञ्जरचित्रसारिकेव हि पञ्जिका ।
उद्द्योतव्यपदेशेन मया पूर्णोज्ज्वलीकृता ॥

इस प्रकार टीकाकार का प्रयास तथा टीका का नाम सार्थक ही कहा जा सकता है।

११ कातन्त्रोत्तरम्

इसकी रचना विजयानन्द ने की है, इसका दूसरा नाम विद्यानन्द भी है। ३६० पत्रो का एक हस्तलेख अहमदावाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर मे सुरक्षित है, वीच का कुछ अश इसमे त्रुटित है। ग्रन्थकार

के वचनानुसार इसकी रचना महान् प्रयास से की गई है तथा समस्त प्रतिपक्षि-प्रदर्शित आक्षेपो का सहेतुक समाधान किया गया है। नाटक के भरतवाक्य की तरह विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर लेखक ने अन्त मे यह भी कहा है कि इस सद्ग्रन्थ की रचना से मुझे प्राप्त होने वाला पुण्य तीनो दुखो का शमन करता हुआ मनुष्यो की प्रवृत्तिको मङ्गलमयी भावना या शिव की ओर उन्मुख करे

सहेतुकमिहाशेष लिखित साधु सगतम् ॥
कातन्त्रोत्तरनामाऽस्य विद्यानन्दापराऽऽह्वय ।
मान चास्य सहस्राणि स्ववेद्यगुणिता रसा ॥
निर्माय सद्ग्रन्थमिम प्रयासाद्,
आसादित पुण्यलवो मया य ।
तेन त्रिदुखापहरो नराणाम्,
कुर्याद् विवेक शिवभावनायाम् ॥

सूत्र-टीका-पञ्जिका-पूर्वाचार्यानुमोदित वचनो की चर्चा के अतिरिक्त महाकवि आनन्दवर्धन द्वारा सामान्य विवक्षा मे भी किए गए पुल्लिङ्ग प्रयोग का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन ने यह प्रयोग अपने ग्रन्थ **देवीस्तवयमक** मे किया है। इस व्याकरण के चार नामो मे हेतु दिखाए गए है शार्ववर्मिक, कातन्त्र, कालापक, कौमार।

१२ कालापप्रक्रिया

नृपतिशिरोमणि रामसिंह की आज्ञा से क्षत्रिय बालको के बुद्धिवर्धनार्थ आचार्य बलदेव ने इसे बूंदी मे स० १६०५ मे लिखा था। १२४ पत्रो का एक हस्तलेख जोधपुर मे प्राप्त है। ग्रन्थकार ने अपने गुरु का नाम आशानन्द बताया है

बाणखाङ्केन्दुकमिते (१६०५) विक्रमादित्यतो गते ।
वर्षेऽत्र रामसिंहाज्ञाप्रेरितेन द्विजेन वै ॥
बलदेवेन रचिता कालापप्रक्रिया शुभा ।
उपदेशाद् गुरोराशानन्दोत्थाद् भाग्ययोगत ॥

सभी धातुओ पर पूर्णतया व्याख्यान करना सम्भव नही होता, क्योकि धातुए अनन्त तथा अनेकार्थक होती है, अत ग्रन्थकार ने सभी धातुओ पर व्याख्यान नही किया है

धातूनामप्यनन्तत्वान्नानार्थत्वाच्च सर्वथा ।
अभिधातुमशक्यत्वादाख्यातस्यापनैरलम् ॥ १ ॥

आख्यात प्रकरण के अनन्तर कृत्प्रकरण के लगभग २० ही सूत्रो की व्याख्या

की गई है, शेष को आवश्यकता से अधिक समझकर छोड दिया गया है।

१३ बालशिक्षाव्याकरणम्

गुजराती भाषा के माध्यम से संस्कृत शिक्षण देने का प्रयास जिसमे किया गया हो उस रचना को 'औक्तिक' कहते हैं। बालशिक्षाव्याकरण एक ऐसी ही रचना हैं। इस औक्तिक ग्रन्थ के लेखक श्रीमालवशीय कूरसिंह के पुत्र ठक्कुर सग्रामसिंह है। इसका रचनाकाल स० १३३६ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का परिमाण १८५० श्लोक हैं। इसमे सज्ञा, सन्धि, स्यादि, कारक, समास, उक्तिविज्ञान, सस्कार तथा त्यादि नामक आठ प्रक्रम है। ग्रन्थकार ने प्रारम्भ मे ही यह प्रतिज्ञा की है कि शर्ववर्मप्रणीत कातन्त्रव्याकरण के आधार पर सक्षेप मे बालशिक्षा की रचना की जा रही है। अपनी निरभिमानिता तथा सरलता का परिचय देते हुए ग्रन्थकार ने यह भी कहा है कि जैसे सूर्य के अभाव मे दीपक के भी प्रकाश का महत्त्व होता है, वैसे कातन्त्रव्याकरण के अभाव मे सभी सज्जन इस बालशिक्षा को अपनाएँ

श्रीमन्नत्वा पर ब्रह्म बालशिक्षा यथाक्रमम्।
सक्षेपाद् रचयिष्यामि कातन्त्रात् शार्ववर्मिकात् ॥ १ ॥
आदौ सज्ञा तत सन्धि स्यादय कारकाणि च।
समासाश्चोक्तिविज्ञान सस्कारस्त्यादयस्तथा ॥ २ ॥
इत्यष्टप्रक्रमोपेतामेता कुर्वन्तु हृद्गृहे।
कातन्त्रभास्कराभावे यथा दीपश्रिय जना ॥ ३ ॥

सप्तम सस्कार प्रक्रम मे अनेक अव्यय तथा तत्कालीन क्रियापदो को उद्धृत कर उनके सस्कृत शब्द दिए है। 'रखइ, बोलइ, आवइ, घूमइ' आदि उद्धृत क्रियापदो को अवधी, व्रज, राजस्थानी तथा गुजराती भाषा की सपत्ति माना जाता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व का हो गया है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से १९६८ ई० मे प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक डॉ० फतहसिंह ने इस सस्कारप्रक्रम मे उद्धृत अनेक क्रियापदो को लक्ष्यकर विश्वासपूर्वक यह कहने का प्रयास किया है कि ग्रन्थलेखन के समय तक सस्कृतभाषा केवल विद्वानो की ही सम्पर्कभाषा रह गई थी और जनसाधारण की भाषा सस्कृत से बहुत दूर चली गई थी अत इस दूरी को दूर करने के लिए ही ग्रन्थकार ने सस्कार प्रक्रम मे भाषाशब्दो का सस्कृत के साथ मेल बिठाने का प्रयत्न किया।

अस्तु, यह तो निश्चित है कि ग्रन्थकार भारतभूमि का एक ऐसा पुत्ररत्न था जो जैन-अजैन आदि के भेदभाव से ऊपर उठकर राष्ट्रीय दृष्टि से सोच सकता था और वर्तमान भेदबुद्धिविधायिनी प्रवृत्ति के विपरीत एक मात्र राष्ट्रीय दृष्टि से

भापाप्रश्न पर विचार करके तत्कालीन जनसाधारण की भापाओ को सुसस्कृत रूप प्रदान करने के लिए अपने व्याकरण मे 'सस्कृतप्रक्रम' को लिख सकता था। ग्रन्थ मे दर्शित प्रकरण, विषययोजना, उदाहरणो आदि से न केवल बालको के लिए ही उपयोगी है किन्तु प्रौढधी विद्वानो के लिए भी मननीय है।

ग्रन्थ के अन्त मे लेखक ने कहा है कि यद्यपि अनेक शास्त्रो का अध्ययन कर बडे परिश्रम से सशोधित कर इस बालशिक्षा को बनाया है तथापि सज्जनो द्वारा यह शोधनीय ही है। इस प्रकार ग्रन्थ के दीर्घकालीन प्रचार की शुभकामना भी ग्रन्थकार द्वारा की गई है। सज्जनो के प्रसाद से ही इस ग्रन्थ की रचना बताकर लेखक ने महती उदारता का परिचय दिया है। प्रशस्ति, रचनाकाल, शुभकामनादिविपयक वचन इस प्रकार है

सदोपकार्यात् साध्योऽय लक्षणद्रव्यसग्रह ।
सार्द्धाष्टादशशत्यड्कोऽप्यक्षय सन् तदर्थिनाम् ॥ १ ॥

मुञ्चन्ति मुक्ता जलजन्तवोऽपि
स्वात्यम्भसा तल्ललित न तेपाम् ।
यच्चोपला अप्यमृत श्रवन्ते
तद् वल्गित चन्द्रमस कराणाम् ॥ २ ॥

सता प्रसाद स हि यन्मयापि श्रीमालवश्येन कृति कृतेयम्
साढाकभू-ठक्कुरकूरसिंहपुत्रेण पट्त्रित्रियुतैकवर्पे (१३३६) ॥३॥
बहूनि शास्त्राणि विलोक्य तावद् विनिर्मितेय महतोद्यमेन ।
मशोधिता सद्भिरथापि शोध्या सल्लक्षण क्षोदसह सहैव ॥ ४॥

यावद् धत्ते गगनसरसी राजहसप्रचारम्,
मेरुश्चाग्निर्वरदिनवधू शर्वरी मड्गलानि ।
तावद् बोध भृति विदधती बालशिक्षा सदैषा,
जीयाद् योगादतिमतिमता वर्धमानाधिकश्री ॥५॥

१४ कातन्त्रभूषणम्

आचार्य धर्मघोपसूरि ने कातन्त्रव्याकरण के आधार पर इसकी रचना की है। इसका परिणाम २४००० श्लोक है।

(द्र०—जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५)।

१५ कातन्त्रवाक्यविस्तार

कौशिक वशीय नागरज्ञातीय सर्वदेव के पुत्र पण्डित राम ने इसकी रचना की है। रचना का प्रयोजन मन्दमति वालो को भी सुखपूर्वक वाक्यो की प्रयोगविधि का

परिज्ञान बताया गया है। इसका हस्तलेख अहमदाबाद में प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार परिचय दिया गया है

कौशिकान्वयसम्भूत सर्वदेवात्मजो भुवि।
रामाख्यया प्रसिद्धो हि नागरो विप्रसेवकः॥
जडानां सुखबोधार्थं कृतवान् वाक्यविस्तरम्॥

इति श्रीनगरमहास्थानवास्तव्यनागरज्ञातीय-कौशिकान्वयव्याससर्वदेवसुतपण्डितराम विरचित शब्द-कारक-समास-तद्धितक्रिया-कृत्प्रयोगाणां लौकिकभाषया विहित वाक्यविस्तर समाप्तमिति भद्रं भूयात्।

१६ कातन्त्रविभ्रमटीका

सं० १३५२ में जिनप्रभसूरि ने इस टीका की रचना की थी। यद्यपि इस टीका के अनेक हस्तलेख जयपुर, बीकानेर, अहमदाबाद आदि में देखने को मिले, परन्तु उनका अध्ययन न किए जा सकने से टीका का स्वरूप नहीं बताया जा सकता। ग्रन्थकार द्वारा रचनाकाल, रचनास्थान का निर्देश इस प्रकार किया गया है

पक्षेषु शक्तिशशिभून्मितविक्रमाब्दे
धात्र्यङ्किते हरतिथौ पुरि योगिनीनाम्।
कातन्त्रविभ्रम इह व्यतनिष्ट टीकाम्
अप्रौढधीरपि जिनप्रभसूरिरेताम्॥

१७ कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका

आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य सोमकीर्ति ने कातन्त्रवृत्ति पर इस टीका की रचना की है, इसका हस्तलेख जैसलमेर में है। इस व्याकरणसम्प्रदाय में आचार्य त्रिलोचनदास द्वारा प्रणीत 'पञ्जिका' व्याख्या सुप्रसिद्ध है। दोनों आचार्यों का समय निश्चित न होने से यहां विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। (द्र० जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५)।

१८ क्रियाकलाप

धातुपाठ पर यह व्याख्या कायस्थवंशीय विद्यानन्द ने लिखी थी। ग्रन्थकार ने इस व्याख्या के संबन्ध में कहा है कि जो व्युत्पन्न नहीं है उन्हें इसका व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि ग्रन्थ में दर्शित धातु, उनके अर्थों का निरूपण करने से ही उनकी बुद्धि मोहित हो सकती है। इसके हस्तलेख बीकानेर तथा अहमदाबाद में देखे गए हैं। ग्रन्थकार ने वर्णित विषय आदि के सम्बन्ध में कहा है

पूर्व पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थेषु दृष्टास्तत,
निर्णीता हृदये निरूप्य निपुण ये धातुपारायणम् ।
धातूना तनुधीरपि व्यरचयत्तेषामिम संग्रहम्,
विद्यानन्दकविर्विशुद्धहृदय कायस्थवशोद्भव ॥
व्युत्पत्तिवर्त्मन्यकृतप्रवेशै शास्त्र जडैर्नेदमुदीरणीयम् ।
धात्वर्थतन्मात्रनिरूपणेन यतो मतिर्मोहमुपैति तेषाम् ॥

१९ क्रियाकलाप

जिनदेवसूरि ने भी यह ग्रन्थ लिखा था । स० १५२० का एक हस्तलेख श्रीजयप्रभसूरि के शिष्य मुनि पूर्णकलश द्वारा लिखा गया अहमदाबाद मे प्राप्त है ।

२० चतुष्कव्यवहारढुण्ढिका

श्रीधनप्रभसूरि ने इसे लिखा था । इसका तद्धितप्रकरणान्त भाग ही हस्तलेखो मे प्राप्त होता है । प्रारम्भ मे देवी सरस्वती को नमस्कार कर उनसे यह मङ्गलकामना की गई है कि मेरी इस व्याख्या का समादर विद्वज्जन करे । अन्य हस्तलेखो मे गुरुप्रसाद से चतुष्कव्यवहाराख्य ग्रन्थ के विस्तार करने की बात कही गई है

नम श्रीसरस्वत्यै भगवत्यै ।
प्रणम्य ता जगत्पूज्या गुरूश्च देवी सरस्वतीम् ।
यस्या प्रसादमात्रेण स्याद् रुद्रोऽपि कवीश्वर ॥
सुप्रसाद चतुष्कस्य लिखिता ढुण्ढिकामिमाम् ।
करोतु मे महायोगिध्याया गी परमेश्वरी ॥ इति ॥
ॐ नमो विघ्नराजाय ।
नत्वा जिन गुरो सत्प्रसादाद् ग्रन्थ प्रतन्यते ।
चतुष्को व्यवहाराख्य श्रीधनप्रभसूरिणा ॥ इति ॥

२१ दुर्गपदप्रबोध

जिनेश्वरसूरि के शिष्य प्रबोधमूर्तिगणि ने १४ वी शताब्दी मे सम्पूर्ण कातन्त्रसूत्रो पर इसकी रचना की थी । उनके प्रारम्भिक लेख के अनुसार इस ग्रन्थ मे सभी मतो का सार सन्निहित होना चाहिए

ग्रन्थ सम्यगमु विभाव्य निखिला वृत्ति प्रसगात् तथा,
क्वापि क्वापि च पञ्जिकामति सभावार्थं विदित्वा जनात् ।
विज्ञाय क्रमशस्ततोऽखिलमतग्रन्थार्थसार समा
लोच्यसेव्य च मुक्तिमार्गमचिराज् ज्ञान लभन्ता परम् ॥ इति ॥

२२ दुर्गपदप्रबोध

इस नाम की एक टीका जिनप्रबोधसूरि ने भी वि० सं० १३२८ में बनाई थी। इसका उल्लेख 'जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३ में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने किया है। टीका का अन्य विवरण प्राप्त नहीं होता है।

२३ दुर्गवृत्तिटिप्पणी

पण्डित गोल्हण ने १६वीं शताब्दी में इसे लिखा था। १५४ पत्रों का एक हस्तलेख राजस्थानप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर में तथा ३४८ पत्रों का अहमदाबाद में संगृहीत है। इसमें त्रिलोचनदासकृत कातन्त्र वृत्तिपञ्जिका को भी उद्धृत किया गया है।

२४ दौर्गसिंही वृत्ति

दुर्गसिंहरचित वृत्ति पर आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने वि० सं० १३६९ में इस वृत्ति को लिखा है, जिसका परिणाम ३००० श्लोक माना जाता है। बीकानेर के भण्डार में इसका हस्तलेख है (द्र०-जैनसाहित्य का बृहद इतिहास, भाग ५)।

२५ धातुपारायणम्

कातन्त्रवृत्तिपञ्जिकाप्रदीप के लेखक पण्डित देसल के पिता पण्डित नन्दी ने कातन्त्रव्याकरण के धातुपाठ पर इसे लिखा था, इसकी सूचना कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका-प्रदीप के अन्त में देसल ने दी है। 'राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज' नामक सूचनापत्र में श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर ने नन्दिकृत टीका के कठिन पदों पर धनेश्वर के शिष्य चन्द्रसूरिकृत एक व्याख्या का उल्लेख किया है (पृष्ठ ३१)। जैसलमेर के किसी हस्तलेख-भण्डार में यह व्याख्या श्रीभाण्डारकर को उपलब्ध हुई थी। पर्वतीय विश्वेश्वरसूरिरचित व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में इस ग्रन्थ को उद्धृत किया गया है। धातुपारायण का अन्य विवरण अप्राप्त है।

२६ बालावबोध.

अञ्चलगच्छेश्वर मेरुतुङ्गसूरि ने इसका प्रणयन किया था। इसके अनेक खण्डश हस्तलेख अहमदाबाद, जोधपुर तथा बीकानेर में उपलब्ध होते हैं। किसी किसी हस्तलेख में अवचूर्णि' टीका का भी उल्लेख हुआ है सम्भवत मेरुतुङ्गसूरि ने इसे भी बनाया हो। ग्रन्थ के प्रारम्भ में शारदा देवी को प्रणाम कर शर्ववर्म-प्रणीत सूत्रों पर व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है

प्रणम्य शारदा देवी ज्ञाननेत्रप्रबोधिनीम् ।
शार्ववर्मिकसूत्राणा प्रक्रिया च क्रमाद् ब्रुवे ॥

२७ बालावबोध

राजगच्छीय हरिकलश उपाध्याय ने बालको के ज्ञानार्थ इसे लिखा था। इसके हस्तलेख बीकानेर मे प्राप्त है। पण्डित गोल्हणकृत सुगम टीका का अध्ययन करने के अनन्तर ग्रन्थकार ने टिप्पणी के रूप मे इसकी रचना की है

दृष्ट्वा गोल्हणटीका सुगमा लिखति स्म राजगच्छीय ।
हरिकलशोपाध्यायष्टिप्पनक बालबोधार्थम् ॥

२८. वृत्तित्रयनिबन्ध

आचार्य राजशेखर सूरि ने कातन्त्रव्याकरण के आधार पर इसका प्रणयन किया है। ग्रन्थ के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि कातन्त्र की तीन वृत्तियो का इसमे विचार किया गया होगा, परन्तु ग्रन्थ के अप्राप्त होने से अधिक कहा नही जा सकता। (द्र०-जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५)।

वर्णित ग्रन्थो के अतिरिक्त वर्धमानप्रकाश, वर्धमानसारव्याकरण, वर्धमान-प्रक्रिया, वर्धमानसग्रह आदि उपलब्ध अनेक ग्रन्थो के रचयिता भी जैनाचार्य जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु सन्देहवश उनका परिचय यहा नही दिया जा रहा है।

सारस्वत व्याकरण पर टीकाएँ

अनुभूति स्वरूपाचार्य द्वारा प्रोक्त सारस्वत व्याकरण मे मूल सूत्र ७०० माने जाते हैं। इस व्याकरण की रचना विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की विशेष अनुकम्पा से की गई थी। इसके अनेक रूपान्तर भी किए गए है, जिनमे रामाश्रम-प्रणीत सिद्धान्तचन्द्रिका प्रमुख है। सारस्वत व्याकरण पर अनेक सम्प्रदाय के आचार्यों ने टीकाए लिखी है। इनमे जैनाचार्यों की भी २५ टीकाओ का उल्लेख प्राप्त होता है। यहा आचार्य चन्द्रकीर्ति-प्रणीत 'सुबोधिका' टीका का विस्तृत परिचय पहले दिया जायेगा, शेष २४ टीकाओ का सामान्य ही परिचय प्रस्तुत होगा। इन सभी टीकाओ मे से २३ का उल्लेख अम्बालाल प्रेम शाह ने तथा शेष दो का युधिष्ठिर मीमासक आदि ने किया है।

१ सुबोधिका

आचार्य चन्द्रकीर्तिसूरि ने सारस्वत व्याकरण की यह टीका लिखी है, जिसे ग्रन्थकार के नाम चन्द्रकीर्ति से भी अभिहित किया जाता है। सरल, सुबोध

होने से सुबोधिका, तथा अपठित अंश-व्याकरण आदि द्वारा सूत्रों के तात्पर्य का प्रकाशन करने से दीपिका नाम भी प्रसिद्ध है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने को नागपुरीय तपागच्छाधिराज भट्टारक कहा है। व्याख्यान प्रारम्भ के आरम्भ में राजरत्नसूरि को नमस्कार किया है। प्रतीत होता है कि राजरत्नसूरि उनके गुरु थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने हर्षकीर्ति को चन्द्रकीर्ति का गुरु लिखा है। वस्तुतः हर्षकीर्ति नाम चन्द्रकीर्ति के एक शिष्य का था, जिसने ग्रन्थ-प्रतिलिपि का लेखन-कार्य किया था। जैसाकि निर्णयसागर से प्रकाशित (१९१९ ई० में) सारस्वत व्याकरण की प्रथमावृत्ति की समाप्ति पर उल्लेख भी है -

सुबोधिकायां वृत्तौ या सूरिश्रीचन्द्रकीर्तिभिः।
स्यादीनां प्रक्रिया पूर्णा बभूवेयं मनोहरा ॥१॥
तेषामेव हि शिष्येण हर्षकीर्त्याख्यपाठक ।
लिखितोऽपर्थं साम्प्रता पठेर प्रीतिमानसम् ॥२॥

इस संस्करण के अन्त में 'व्याख्यातृ-प्रशस्ति' दी गई है, जिसके अनुसार राजरत्नसूरि के अनन्तर चन्द्रकीर्ति को उनके पट्ट का गच्छाधिप बनाया गया है। यह भी कहा गया है कि चन्द्रकीर्ति ने यह टीका श्रीपद्मचन्द्र उपाध्याय की अभ्यर्थना पर की थी और इसे हर्षकीर्ति ने लिखा था--

तत्पट्टोदयशैलहेलिमलश्रीजिनवाणान्वया---
स्फार कलिकालदर्पदमन श्रीराजरत्नप्रभ ।
तत्पट्टे जिनविश्ववादिनिवहा गच्छाधिपा सम्प्रति
सूरिश्रीप्रभुचन्द्रकीर्तिगुरवो गम्भीर्यधैर्याश्रया ॥६॥
तैरियं पद्मचन्द्राख्योपाध्यायाभ्यर्थनात् कृता।
शुभा सुबोधिकानाम्नी श्रीसारस्वतदीपिका ॥७॥
श्रीचन्द्रकीर्तिसूरीन्द्रपादाम्भोजमधुव्रत ।
हर्षकीर्तिरिमां टीका प्रथमादर्शकेऽलिखत् ॥८॥

ग्रन्थरचना के प्रामाणिक समय का उल्लेख प्राप्त नही होता, फिर भी युधिष्ठिर मीमासक द्वारा दर्शित समय १६वी शती का अन्त या १७वी शती का आरम्भ मान्य प्रतीत होता है।

यद्यपि सारस्वत व्याकरण के तीन विशेषण दिए गए है स्वल्प, सिद्ध तथा सुबोधक। अत 'सुबोधक' व्याकरण पर 'सुबोधिका' जैसी टीकाओ के बनाने की कोई आवश्यकता सामान्यतया प्रतीत नही होती, फिर भी सूत्रो तथा टीकाओ की सुबोधकता मे पर्याप्त भिन्नता होती है, इसलिए श्रीचन्द्रकीर्ति ने भी अपनी टीका द्वारा सुबोधक सूत्रो के भी विषय को सरलता से समझाने का प्रयास कर अपने ग्रन्थ की सार्थकता सिद्ध की है

स्वल्पस्य सिद्धस्य सुबोधकस्य सारस्वतव्याकरणस्य टीकाम् ।
सुबोधिकाख्या रचयाचकार सूरीश्वर श्रीप्रभुचन्द्रकीर्ति ॥
(व्याख्यातृ प्रशस्ति, श्लोक १०)।

ग्रन्थ के अध्ययन से सुबोधिका' नाम अन्वर्थ ही प्रतीत होता है, क्योकि इससे खण्डन-मण्डन के पक्ष प्राय नही ही दिखाए गए है। कुछ ही स्थलो मे पूर्वाचार्यों का भ्रम प्रदर्शित किया गया है। जैसे "भजा विण्" (कृत्० ४८) सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि कुछ आचार्य 'तत्त्व पृच्छतीति तत्त्वप्राट' शब्द को भी विण्प्रत्ययान्त मानकर यहा उद्धृत करते है परन्तु वह इसलिए ठीक नही है कि उसे 'क्विप् प्रत्यय के अधिकार मे भी सिद्ध किया ही जाता है अत यहाँ उसे भ्रम वश पढा जाता है

"अत्र केचित् तत्त्व पृच्छतीति तत्त्वप्राट् इत्युदाहरण पठन्ति, तदत्र न युज्यते। अग्रे क्विप्प्रत्ययाधिकारे साधितत्वात्। इह तु भ्रमात् पठन्ति" (कृत्० ४८)।

सामान्यतया आचार्य ने मन्दमतिवालो के अववोधार्थ अनेक उपायो का अवलम्वन किया है। कही-कही पर कुछ शब्दो की व्युत्पत्ति या समासादि को भी बालबोधार्थ ही दर्शित किया है। जैसे "वु से" सूत्रस्थ 'वु' पद की व्युत्पत्ति--"उश्च ऋ च वृ तस्मात् वु से। अय समासो बालबोधनार्थ दर्शित" (उत्तरार्ध २८।१-३)।

यद्यपि खण्डन-मण्डन की चर्चा इसमे प्राय नही ही की गई है तथापि किन्ही पाठान्तर, शब्दो के प्रयोग आदि की प्रामाणिकता के लिए कुमारसम्भव, चन्द्रिका, प्रक्रियाकौमुदी, सरस्वतीकण्ठाभरण, भट्टि, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थो तथा पाणिनीय, वृत्तिकार, ग्रन्थकार, माघ आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। अनेक सरल उपायो के साथ ग्रन्थ मे प्राय सूत्रस्थ पदो की सख्या का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। आख्यात प्रकरण मे धातुओ के रूप दिखाए गए है। अनुभूतिस्वरूप द्वारा दर्शित कुछ विशिष्ट रूपो की ही सिद्धि बताई गई है, मूलप्रोक्त सभी रूपो को नही बताया गया है। वे रूप जो पूर्वोक्त अन्य सूत्रो से सिद्ध होते हैं उन्हे भी सुगम कहकर प्राय नही दिखाया गया है। अन्य व्याकरण के मतो या सूत्रो को व्याकरणान्तर कहकर ही दिखाया गया है। जैसे क्वचित् दो या तीन कारको के युगपत् प्राप्त होने पर किसकी प्रवृत्ति होगी इसके निर्णय के लिए कातन्त्रसूत्र को उद्धृत किया गया है

"व्याकरणान्तरे तु युगपद्वचने पर पुरुषाणाम्" (उत्तरार्ध १।१६)। 'प्, अ' आदि अनुबन्धो का प्रयोजन स्पष्ट किया है। किन्ही धातुओ के उकारादि अनुबन्धो का प्रयोजन उच्चारणसौकर्य भी बताया गया है। उभयपदी धातुओ के प्रकरण मे कुछ ऐसी भी धातुए पढी गई है जिन्हे अन्य आचार्य केवल आत्मनेपदी या केवल परस्मैपदी ही मानते है टीकाकार ने ऐसे स्थलो मे 'एके आचार्या'

आदि वचनो से मतान्तरो का सकेत किया है। कुछ ऐसे भी सूत्रो पर यह टीका देखी जाती है, जिन्हे कुछ आचार्य पढते ही नही। वहाँ भी टीकाकार ने मतान्तर का सकेत अवश्य किया है।

२ क्रियाचन्द्रिका

खरतरगच्छीय गुणरत्न ने वि०स० १६४१ मे इसकी रचना की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर मे है।

३ चन्द्रिका

पजाब भण्डारसूची, भाग १ के अनुसार मेघविजय जी ने यह टीका लिखी थी। इसका समय निश्चित नही है।

४ दीपिका

विनयसुन्दर के शिष्य मेघरत्न ने वि० स० १५३६ मे इसे बनाया था। इस टीका का नामान्तर मेघीवृत्ति भी है। १७वी शताब्दी मे लिखित ६८ पत्रो की तथा वि० स० १८८६ मे लिखित १६२ पत्रो का हस्तलेख लालभाई दलपतभाई सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद मे सुरक्षित हे। प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है

नत्वा पार्श्वं गुरुमपि तथा मेघरत्नाभिधोऽहम्।
टीका कुर्वे विमलमनस भारतीप्रक्रिया ताम्॥

युधिष्ठिर मीमासक ने इसका नामान्तर ढुण्ढिका बताया है और स० १६१४ के हस्तलेख को प्राप्त होने की सूचना दी है।

५ धातुतरङ्गिणी

इसकी रचना नागोरी तपागच्छीय आचार्य हर्षकीर्ति सूरि ने की है। इसमे १८९१ धातुओ के रूप बताए गए हैं। वि० स० १६६६ मे लिखित ७६ पत्रो की प्रति तथा वि० स० १७९५ मे लिखित ५७ पत्रो की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद मे विद्यमान है। टीकाकार का निर्देश-वचन इस प्रकार है—

धातुपाठस्य टीकेय नाम्ना धातुतरङ्गिणी।
प्रक्षालयतु विज्ञानामज्ञानमलमान्तरम्॥

डॉ० वेल्वाल्कर के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना स० १७१७ मे की गई थी।

६ न्यायरत्नावली

खरतरगच्छीय आचार्य जिनचन्द्रसूरि के शिष्य दयारत्नमुनि ने स० १६२६ मे सारस्वत व्याकरण के न्यायवचनो का एक विवरण इसमे प्रस्तुत किया है। वि० स० १७३७ मे लिखित एक प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद मे है।

७ पञ्चसन्धिटीका

मुनि सोमशील द्वारा यह प्रणीत है। रचनाकाल अज्ञात है। हस्तलिखित प्रति पाटन के भण्डार मे प्राप्त है।

८ पञ्चसन्धिबालावबोध (सामान्य)

१८वी शती मे उपाध्याय राजसी ने इसकी रचना की थी। विषय का सकेत नामकरण से ही प्राप्त हो जाता है। बीकानेर के खरतर आचार्यशाखा के भण्डार मे इसका हस्तलेख है।

९ प्रक्रियावृत्ति

खरतरगच्छीय मुनि विशालकीर्ति ने १७वी शती मे इसे बनाया था। बीकानेर मे श्री अगरचन्द नाहटा के सग्रह मे इसकी हस्तलिखित प्रति है।

१० भाषाटीका

मुनि आनन्दनिधान ने १८वी शताब्दी मे इसकी रचना की थी। नामकरण से ऐसा लगता है कि सरल सस्कृत भाषा का इसमे प्रयोग किया गया होगा। इसका हस्तलेख भीनासर के बहादुरमल बाठिया-सग्रह मे है।

११ यशोनन्दिनी

दिगम्बर मुनि धर्मभूषण के शिष्य यशोनन्दी ने इसे बनाया था। ग्रन्थकार का स्वविषयक निर्देश निम्नाङ्कित है

राजद्राजविराजमानचरणश्रीधर्मसद्भूषण
स्तत्पट्टोदयभूधरद्युमणिना श्रीमद्यशोनन्दिना।

१२ रूपरत्नमाला

तपागच्छीय भानुमेरु के शिष्य मुनि नयसुन्दर ने वि० स० १७७६ मे इसे बनाया था। ग्रन्थ मे प्रयोगो की साधनिका है। ग्रन्थ का परिमाण १४००० श्लोक

प्रति चतुर्भुज जी के भण्डार में सुरक्षित है। युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृतव्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १ में सहजकीर्ति द्वारा प्रणीत व्याख्या का नाम 'प्रक्रियावार्तिक' लिखा है। उनके लेखानुसार हेमनन्दनगणि के शिष्य सहजकीर्ति थे। ग्रन्थकार ने रचनाकाल का निर्देश स्वयं किया है

वत्सरे भूमिसिद्धयड्गकाश्यपीप्रमितिश्रिते।
माघस्यशुक्लपञ्चम्यां दिवसे पूर्णतामगात्॥

२४ सारस्वतवृत्ति

श्रीचतुरविजय जी के 'जैनेतर साहित्य और जैन" लेख के सन्दर्भानुसार हर्षकीर्तिसूरि ने एक वृत्ति को लिखा था। सम्भवत इस वृत्ति का नाम दीपिका था।

२५ सिद्धान्तरत्नम्

युधिष्ठिर मीमांसक ने सारस्वत के रूपान्तरकारों में जिनेन्द्र वा जिनरत्न का भी नाम गिनाया है। इसके अनुसार जिनरत्न ने यह टीका लिखी थी, जो बहुत अर्वाचीन मानी जाती है।

सिद्धान्तचन्द्रिकाव्याकरण पर टीकाएँ

सारस्वत व्याकरण के रूपान्तरकर्ता रामाश्रम या रामचन्द्राश्रम ने "सिद्धान्तचन्द्रिका" नामक एक विशद वृत्ति लिखी है। इसमे लगभग २३०० सूत्र है। मङ्गलाचरण मे दिए गए परिचय से इस वृत्ति को महाभाष्यकार पतञ्जलि के मत का पूर्ण अनुसरण करने वाली कहा जा सकता है मत बुद्ध्वा पतञ्जले इस सिद्धान्तचन्द्रिका पर खरतरगच्छीय जिनभक्तिसूरिशाखा के सदानन्दगणि ने 'सुबोधिनी' नामक एक महती वृत्ति की रचना की है। इसके अतिरिक्त ७ अन्य टीकाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इनमे सदानन्दगणिप्रणीत 'सुबोधिनी' टीका का विशेष परिचय प्रस्तुत कर ७ अन्य टीकाओं का सामान्य परिचय यहा दिया जाएगा।

१ सुबोधिनी

कृदन्तवृत्ति के अन्त मे रचनाकाल १७९९ वर्ष लिखा है, इससे ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित ही है। ग्रन्थरचना का प्रयोजन यद्यपि स्पष्टतया उल्लिखित नही है तथापि 'कृत्प्रकाशिका, सुधीमुदे' इन दो शब्दो के आधार पर अर्थ का स्पष्ट प्रकाशन एव बुधजनानुरञ्जन को प्रयोजन माना जा सकता है

प्रतोष्ट्य जगन्नाथ सदानन्देन सन्मुदा।
सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति क्रियते कृत्प्रकाशिका।।
(उत्तरार्ध २३।१)।
निधिनन्दार्वभूवर्षे सदानन्द सुधीमुदे।
सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति कृदन्ते कृतवानृजुम्।।
(उत्तरार्ध ३१।११९)।

वृत्ति के प्रारम्भ मे पुराणपुरुष अर्हन्तनायक को नमस्कार कर ग्रन्थकार ने वृत्तिरचना की प्रतिज्ञा की है और अपनी गुरु-शिष्यपरम्परा प्रस्तुत की है। उसके अनुसार जगत्पूज्य खरतर आम्नाय मे भट्टारक श्रीजिनभक्तिसूरि हुए, जो अपने निर्मल यश से चन्द्रवत् तथा तेज से सूर्यवत् थे। उनसे यतीन्द्र श्रीकीर्तिरत्नसूरि हुए, उनके शिष्य पाठकप्रवर श्रीसुमतिरङ्ग, उनके शिष्य पाठक श्रीसुखलाभ, उनके शिष्यवर्य पाठकवारणेन्द्र श्रीभागचन्द्रगणि, उनके शिष्य श्रीभक्तिविनय हुए। इन्ही के विनयप्रधान शिष्य थे सदानन्दगणि। द्विरुक्तप्रक्रिया एव कृदन्त की समाप्ति पर भी अपने साक्षाद् गुरु भक्तिविनय की विशेषताओ का उल्लेख किया है।

ग्रन्थकार ने विषयविवेचन मे किसी पूर्वाचार्य के मत का सामान्यतया खण्डन नही किया है। विरोध उपस्थित होने पर उसे लोकमान्यता या शिष्टसम्मत पक्ष प्रस्तुत करते हुए हेय या उपादेय कहने का प्रयास किया है। कही-कही समन्वयार्थ तृतीय मत को भी दिखाया है। जैसे 'अदस्' शब्दोत्तरवर्ती 'सि' प्रत्यय को औकारादेश होने पर 'असौ' रूप तथा इसी मे 'अक' प्रत्यय होने पर 'असकौ असुक' ये दो रूप निष्पन्न होते है। दकार को मकारादेश करने पर अमुक' रूप भी साधु माना जाता है। परन्तु वृत्तिकार ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर इसे साधु नही माना है। तथापि अव्युत्पन्न नाम मानकर वृत्तिविषय (समास आदि) मे ही इसका प्रयोग किया जा सकता है इसे भी दिखाया है (द्र०-पूर्वार्ध १०।६६, १७।१०६)।

प्रातिपदिक के १ से ५ तक अर्थ अन्यान्य आचार्यों द्वारा मान्य है स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, सख्या तथा कारक। ऐसे स्थलो मे वृत्तिकार ने पृथक्-पृथक् आचार्यों के मतविशेष को स्पष्ट किया है। इससे यह सुनिश्चित है कि वृत्तिकार को पाणिनीय व्याकरण के भी मतो का परिज्ञान था (द्र०-पूर्वार्ध १६।१)।

प्रसङ्गगत अनेक आवश्यक अवशिष्ट अशो की पूर्ति-हेतु विशेष वचन प्रस्तुत किए गए है, जिनमे सिद्धान्तचन्द्रिका का अर्थ सुबोध हो जाता है और इस प्रकार 'सुबोधिनी' टीका की अन्वर्थता भी सिद्ध हो जाती है। यथा परिभाषाप्रकरण मे सूत्रज्ञापित पन्द्रह परिभाषाओ की तथा कर्मसज्ञा के प्रकरण मे अकथित आदि कर्मसज्ञाविधायक पाणिनीय सूत्रो की व्याख्या करना। इसी प्रकार विभक्तिसज्ञा के प्रसङ्ग मे "इदम इश् विभक्तौ" आदि तीस सूत्रो की भी व्याख्या की है।

कहा जाता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर के कृपाचन्द्रसूरि-ज्ञानभण्डार में, दूसरी प्रति अहमदाबाद में है। सिद्ध हेमचन्द्र तथा पाणिनि के भी मतों का इसमें समादर किया गया है। अधोदर्शित परिचय के आधार पर नयसुन्दर ने सारस्वत व्याकरण पर वार्तिकों की भी रचना की थी

ग्रथिता नयसुन्दर इति नाम्ना वाचकवरेण च तस्याम्।
सारस्वतस्थितानां सूत्राणां वार्तिकं त्वलिखत् ॥३७॥
श्रीसिद्धहेमपाणिनिसम्मतिमाधाय सार्थका लिखिता।
ये साधव प्रयोगास्ते शिशुहितहेतवे सन्तु ॥३८॥

१३ विद्वच्चिन्तामणि

अञ्चलगच्छीय कल्याणसागर के शिष्य मुनि विनयसागर सूरि ने इसकी रचना पद्यों में की थी। ग्रन्थकार ने इसका परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है

श्रीविधिपक्षगच्छेशाः सूरिकल्याणसागराः।
तेषां शिष्यैर्वराचार्यैः सूरिविनयसागरैः ॥२४॥
सारस्वतस्य सूत्राणां पद्यबन्धैर्विनिर्मितः।
विद्वच्चिन्तामणिग्रन्थः कण्ठपाठस्य हेतवे ॥२५॥

वि० सं० १८३७ में लिखी गई ५ पत्रों की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में सुरक्षित है।

१४ शब्दप्रक्रियासाधनी

आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि ने २०वीं शताब्दी में इसकी रचना की थी, इसका उल्लेख उनके जीवनचरितसम्बन्धी लेखों में किया गया है (जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५)।

१५ शब्दार्थचन्द्रिका

विजयानन्द के शिष्य हंसविजयगणि ने अत्यन्त साधारण इस टीका को बनाया था। इसका अन्य परिचय प्राप्त नहीं है, केवल सं० १७०८ में ग्रन्थकार के विद्यमान होने का उल्लेख युधिष्ठिर मीमांसक ने किया है संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५७५।

१६ सारस्वतटीका

मुनि सत्यप्रबोध ने सारस्वतव्याकरण पर एक टीका लिखी थी, इसका रचनाकाल अज्ञात है। पाटन और लींबडी के भण्डारों में इसके हस्तलेख प्राप्त होते हैं।

१७ सारस्वतटीका

श्रीचतुरविजय जी के "जैनेतर साहित्य और जैन" लेख के अनुसार यतीश विद्वान् ने एक टीका लिखी थी। सम्भवत ग्रन्थकार का नाम सहजकीर्ति हो सकता है।

१८ सारस्वतटीका

तपागच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र ने एक श्लोकवद्ध टीका की रचना की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति वीकानेर मे श्री अगरचन्द नाहटा के सग्रह मे प्राप्त है।

१९ सारस्वतटीका

इसे मुनि धनसागर की कृति कहा जाता है। धनसागरप्रणीत होने से यह टीका 'धनसागरी' नाम से भी अभिहित की जाती है। इसका उल्लेख जैनसाहित्य के सक्षिप्त इतिहास मे किया गया है।

२० सारस्वत (क्रिया) रूपमाला

पद्मसुन्दरगणि ने इसमे धातुरूप दिखाए हैं। ग्रन्थारम्भ मे कहा गया है

सारस्वतक्रियारूपमाला श्रीपद्मसुन्दरै ।
सदृब्धाऽलकरोत्वेपा सुधिया कण्ठकन्दली ॥

वि० स० १७४० मे लिखी गई ५ पत्रो की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदावाद मे प्राप्त है।

२१ सारस्वतमण्डनम्

श्रीमालज्ञातीय मन्त्री मण्डन ने १५वी शताब्दी मे इसकी रचना की थी।

२२ सारस्वतवृत्ति

क्षेमेन्द्ररचित सारस्वत-टिप्पण पर तपागच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्र ने १७वी शताब्दी मे एक वृत्ति रची थी। हस्तलेख की प्रतिया पाटन तथा छाणी के ज्ञान-भण्डारो मे प्राप्त हैं।

२३ सारस्वतवृत्ति

खरतरगच्छीय मुनि सहजकीर्ति ने वि० स० १६८१ मे इसकी रचना की थी। इसकी हस्तलिखित एक प्रति वीकानेर के श्रीपूजा जी के भण्डार मे तथा दूसरी

किसी एक ही अर्थ की प्रामाणिकता के लिए अनेक कोशवचनों को उद्धृत किया है। जैसे

१ भरतीति बभ्रुः। 'बभ्रुर्वैश्वानरे शूलपाणौ च गरुडध्वजे। विशालेनकुले पुंसि पिङ्गले त्वभिधेयवत्' इति मेदिनी। बभ्रुर्मन्वन्तरे विष्णौ बभ्रुर्नकुलपिङ्गलौ' इति धरणि (उत्तरार्ध २७।१७)।

२ मृगं यातीति मृगयुः। 'मृगयुः पुंसि गोमायौ व्याधे च परमेष्ठिनि' इति मेदिनी। 'मृगयुर्ब्रह्मणि ख्यातो गोमायुव्याधयोरपि' इति विश्व (उत्तरार्ध २७।३२)।

३ नभ। 'नभो व्योम्नि मेघे श्रावणे च पतद्ग्रहे। घ्राणे मृणालसूत्रे च वर्षासु च नभाः स्मृत' इति विश्व। 'नभः खं श्रावणो नभः' इत्यमर। नभ तु नभसा सार्धम् इति द्विरूपकोश (उत्तरार्ध २७।३१४)।

यद्यपि वृत्तिकार ने व्याख्यात विषय के प्रमाण में रामायण, श्रीमद्भागवत, भारत, भाष्य, हरिटीका, भट्टि, सिद्धान्तकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थों, भाष्यकार, कैयट, हरदत्त, यास्क, माधव, कालिदास, श्रीहर्ष, वोपदेव प्रभृति अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें भी अजयकोश, ससारावर्त, विक्रमादित्यकोश तथा वोपालित प्रभृति कुछ नाम अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं तथापि किन्हीं शब्दों के अकारान्तत्व आदि में प्रमाण के लिए पुराणवचन भी उद्धृत किए गए हैं। यथा

१ श्रिञ शिर किष्य। श्रिञ् सेवायामस्मादसुः स्यात् स च कित् धातो शिरादेशश्च। शिर। 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमर। कप्रत्यये तु 'शिर' इत्यदन्तोऽपि। 'शिरोवाची शिरोऽदन्तो रजोवाची रजस्तथा' इति कोशान्तरम्। 'पिण्ड दद्याद् गयाशिरे' इति वायुपुराणे।

कुण्डलोद्धृष्टगण्डाना कुमाराणां तरस्विनाम्।
निचकर्त शिरान् द्रौणिर्नालिभ्य इव पङ्कजान्॥ इति महाभारते (उत्तरार्ध २७।३०५)।

इस प्रकार यह वृत्ति सरल, प्रमाणयुक्त तथा पूर्ण है

सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति कृदन्ते कृतवानृजुम्।

पतञ्जलिमतानुसारिणी 'सिद्धान्तचन्द्रिका' के विषयों का स्पष्टीकरण भी पतञ्जलि के ही मतानुसार करना संगत प्रतीत होता है, वृत्तिकार ने इसका पूर्ण ध्यान रखा है, जिससे यह कहा जा सकता है कि 'सुबोधिनी' टीका का मुख्य आधारग्रन्थ पतञ्जलि का महाभाष्य है। यद्यपि ग्रन्थकार ने कहीं इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा तो नहीं की है परन्तु ग्रन्थ के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है। निम्नांकित कुछ वचन द्रष्टव्य हैं

१ प्रश्न। प्रच्छेस्तु सम्प्रसारण न भाष्येऽनुक्तत्वात् (पूर्वार्ध ५।७)

२ दस्य म। (इमम्, इमौ, इमान्) त्यदाद्यत्वे मत्वे औत्वे च इमौ। त्यदादे.

सर्वोऽत्र नास्तीत्युत्सर्ग । प्रचुरप्रयोगादर्शनमेवात्र मूलम् । भाष्ये तु 'हे स' इत्युक्तम् (पूर्वार्ध १०।२०) ।

३ पिद्भिदामङ् (उत्तरार्ध ३०।५२) । मृजूप् शुद्धौ मृजा । कथ तर्हि 'मधुमुरभिमुखाब्जगन्वलब्वे' (७।४१) इति माघ । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित् सवित्' इत्यमरश्च । पित्वादिहाङ्प्रत्यय उचित, सत्यम् । अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुलब्धे' इति भाष्यप्रयोगाद् वाहुलकात् क्तिप्रत्ययोऽपि वोध्य ।

२ अनिट्कारिकावचूरि

मुनि क्षमामाणिक्य ने इसे लिखा था। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर के श्रीपूज्य जी के भण्डार मे है।

३ अनिट्कारिका-स्वोपज्ञवृत्ति

नागपुरीय तपागच्छ के हर्षकीर्तिसूरि ने इसकी रचना की है। अनिट्कारिका का रचना काल स० १६६२ तथा स्वोपज्ञवृत्ति का स० १६६९ है। हस्तलिखित प्रति वीकानेर के दानसागर-भण्डार मे है।

४ भूधातुवृत्ति

खरतरगच्छीय क्षमाकल्याणमुनि ने इस वृत्ति की रचना वि० स० १८२८ मे की है। इसका हस्तलेख राजनगर के महिमाभक्ति-भण्डार मे है।

५ मुग्धाववोध-औक्तिकम्

तपागच्छीय आचार्य देवसुन्दरसूरि के शिष्य कुलमण्डनसूरि ने १५ वी शताब्दी मे इसे वनाया है।

६ सिद्धान्तचन्द्रिका-टीका

आचार्य जिनरत्नसूरि को इसका प्रणेता माना गया है। जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ मे प० अम्वालाल प्रेम शाह के अनुसार यह टीका प्रकाशित होनी चाहिए, परन्तु मैंने इसे नही देखा है।

७ सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति

खरतरगच्छीय मुनि विजयवर्धन के शिष्य ज्ञानतिलक ने १८ वी शताब्दी मे इसे लिखा है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के महिमाभक्तिभण्डार और अबीर जी के भण्डार मे है।

८ सुबोधिनी

खरतरगच्छीय रूपचन्द्र ने भी १८ वीं शताब्दी मे इसका प्रणयन किया था। ३४९४ श्लोक इसका परिमाण बताया गया है। बीकानेर के किसी भण्डार मे इसकी प्रतियाँ है।

गणपाठ पर आधारित

यद्यपि प्रत्येक व्याकरण का एक निश्चित गणपाठ होता है, जिस पर अन्यान्य आचार्य विद्वानो की टीकाएँ भी प्राप्त होती हैं। तथापि कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनका किसी व्याकरणविशेष से ही सम्बन्ध नही होता। किन्तु अनेक व्याकरणो के आधार पर उनकी रचना होती है। सस्कृत व्याकरण मे एक ही आचार्य द्वारा लिखे गए गणपाठ-सम्बन्धी दो ग्रन्थ उक्त श्रेणी मे माने जा सकते है, अत उनका विशेष परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा।

१ गणरत्नमहोदधि

श्रीगोविन्दसूरि के शिष्य श्रीवर्धमान ने गणरत्नमहोदधि नामक ग्रन्थ की रचना वि० स० ११९७ मे की थी। यह ग्रन्थ आठ अध्यायो मे विभक्त है और इसमे ४६० श्लोक देखे जाते हैं। ग्रन्थ के अन्त मे स्वय ग्रन्थकार ने रचनाकाल आदि का स्पष्ट उल्लेख किया है

किञ्चित् क्वचित् कथञ्चिद् रचित पद्यानुसारतोऽस्माभि।
सुन्दरमसुन्दर वा तल्लक्ष्य सहृदयैरेव ॥१॥
सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणा विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहित ॥२॥

किस व्याकरण के अनुसार इसमे गणपाठ प्रस्तुत किया गया है इस विषय पर विद्वानो द्वारा परस्पर कुछ भिन्न विचार किए गए है। युधिष्ठिर मीमासक ने अपने 'सस्कृतव्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग १, पृ० ५६३) ग्रन्थ मे वर्धमान के स्वरचित व्याकरण की सम्भावना की है, अत तदनुसार ही गणरत्नमहोदधि मे शब्दो का पाठ होना चाहिए। प० अम्बालाल प्रेम शाह ने 'जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास' (भाग ५, पृ० २०-२१) मे शाकटायन व्याकरण के अनुसार इसमे गण-शब्दो का पाठ माना है। परन्तु गणरत्नमहोदधि का अनुशीलन करने पर ये दोनो विचार प्रामाणिक प्रतीत नही होते। शिष्यो की प्रार्थना पूर्ण करने के लिए वर्धमान ने इस ग्रन्थ की रचना की है। उन्होंने ग्रन्थारम्भ मे इस हेतु का उल्लेख करते हुए

यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि अनेक शब्दशास्त्रो तथा महाकाव्यो का परिशीलन करके ही प्रकृत ग्रन्थ की रचना मे प्रवृत्त हो रहा हूँ

विदित्वा शब्दशास्त्राणि प्रयोगानुपलक्ष्य च।
स्वशिष्यप्रार्थितो कुर्मो गणरत्नमहोदधिम् ॥३॥

इससे यही कहा जा सकता है कि उन्होने किसी एक स्वरचित या शाकटायनादि प्रणीत व्याकरण के अनुसार प्रकृत ग्रन्थ की रचना नही की थी। इस विषय की सम्पुष्टि मङ्गलाचरण के श्लोक २ से भी की जा सकती है, जिसमे उन्होने पाणिनि, शाकटायन, चन्द्रगोमिप्रभृति अनेक शाब्दिक आचार्यो की जो सुप्-तिङ लक्षण दो प्रकार के पद मानते हैं, स्तुति की है। यदि स्वरचित व्याकरण के अनुसार गणपाठ करना अभीष्ट होता तो स्वशिष्यप्रार्थना को ग्रन्थरचना मे हेतु बताना सङ्गत नही होता। क्योकि ग्रन्थकार को स्वय ही अपने व्याकरण की सार्थकता के लिए गणपाठ करना आवश्यक हो जाता। इसी प्रकार यदि शाकटायन व्याकरण ही इसका आधार होता तो पाणिनि, चन्द्रगोमि, भर्तृहरि, वामन आदि आचार्यों की स्तुति का कोई महत्त्व नही होता। इस विषय पर सपादक जुलियस एकलिङ्ग ने भी कोई प्रकाश नही डाला है, केवल हेमचन्द्र के कुछ गणो से साम्य की चर्चा अवश्य की है। इसके लिए कुछ और भी प्रमाण हो सकते है जिनकी चर्चा गणरत्नमहोदधि की स्वोपज्ञवृत्ति के परिचय मे की जाएगी। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाणिनीय और शाकटायन व्याकरण मे जो गण या गणपठित शब्द है उनसे गणरत्नमहोदधि के गणनाम, उनकी सख्या तथा गणपठित शब्दो मे अनेकत्र अन्तर दृष्ट है। गणरत्नमहोदधि के गणो की कुल सख्या २२१ है, जबकि पाणिनीय गणपाठ मे २६१ गण देखे जाते हैं।

इसके विषयो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

अध्याय १ 'चादि' प्रभृति नाम गण।

अध्याय २ 'अर्धर्चादि' प्रभृति समासप्रक्रिया सम्बन्धी गण।

अध्याय ३ तद्धितप्रक्रियान्तर्गत स्वार्थिक-अपत्यप्रत्ययसम्बन्धी गण।

अध्याय ४. तद्धितान्तर्गत समूह-विकार-अवयव-वेत्ति-अधीते अर्थ सम्बन्धी गण।

अध्याय ५ तद्धितान्तर्गत शेष-साध्वर्थ-भव-आख्यान-आगत-अर्य-कृत-अभिजन पाक-इदमर्थविहित प्रत्ययसम्बन्धी गण।

अध्याय ६ करोति-आहत-गच्छति-प्राप्त-प्रभावित-कार्यम्-दीयते-प्रयोजन-चरति--उत्पात--सयोग--हरति-वहति-आवहति--पृच्छति-गच्छति-आह-तेन चरति-जीवति-हरति-निर्वृत्त-वसति-धर्म्य-प्रहरण-शील-पण्यलक्षणार्थ-विहितप्रत्ययसम्बन्धी गण।

अध्याय ७ अस्य सजातम्, अस्य भाव कर्म वा, अनेनास्यात्र वाऽस्त्यर्थ विहित-प्रत्ययसवन्धी गण ।

अध्याय ८ आख्यात-कृदाश्रितप्रत्ययसम्बन्धी गण ।

कुछ गणशब्दो का पाठ ग्रन्थकार ने किसी पूर्ववर्ती आचार्य विशेष के मतानुसार किया है, जैसे केदारादि गण मे पठित शब्द वामनाचार्य के मतानुसार लिए गए है

केदारादौ राजराजन्यवत्सा उष्ट्रोरभ्रौ वृद्धयुक्तो मनुष्य ।
उक्षा ज्ञेयो राजपुत्रस्तथेह केदारादौ वामनाचार्यदृष्टे ॥ (४।२५८)

किन्ही गणो के सन्दर्भ मे आचार्य विशेष का नाम न लेकर उन्हे बुध या विबुध मतानुसार माना गया है। जैसे कुण्डादि-पात्रादि, ज्योत्स्नादि गण द्रष्टव्य है

श्लेपद्रव्ये खलो लक्ष्यो विदारशठमोपधौ ।
दूत सदेशहारिण्या कुट्टिन्या शम्मलो बुधै ॥ (१।५७) ।
ज्योत्स्नाशब्दस्तमिस्रा च कुतुप स्याद् विपादिका ।
विसर्पो नखरश्चापि कुण्डलोऽपि मतो बुधै ॥ (७।४१६) ।
दण्डार्घमेधामुसलानि मेघो वधोदकेभा मधुपर्कयुक्ता ।
युग कशासौ पितृदेवता च दण्डादिरेव विबुधै प्रणीत ॥ (६।३७१) ।
लोम वस्तु मुनि कर्को गिरिवभ्रू हरि कपि ।
लोमादौ विबुधैर्ज्ञेया रुरु रोम तथा भुरु ॥ (७।४।२१) ।

ग्रन्थ मे उपसर्गो के लिए न तो स्वतन्त्र 'प्रादि' गण पठित है तथा न उन शब्दो का पाठ 'चादि' या 'स्वरादि' गण मे किया गया है। इसका कोई उचित समाधान प्राप्त नही होता। 'कर्कादि, लोहितादि, सुखादि' कुछ गण भिन्न-भिन्न प्रत्ययो के लिए दो-दो वार पढे गए है, जैसा कि पाणिनीय गणपाठ मे भी देखा जाता है। गणपठित शब्दो का विवरण तथा औचित्यादि स्थिर करने के लिए ग्रन्थ पर स्वतन्त्र अनुसन्धानकार्य अपेक्षित है। सामान्यतया यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि सस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र मे गणरत्नमहोदधि ही एक ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है जो गणसवन्धी प्रामाणिक सूचनाएँ प्रस्तुत करता है।

२ गणरत्नमहोदधि स्वोपज्ञवृत्तिः

वि० स० ११९७ मे स्वरचित गणरत्नमहोदधि के गणशब्दो का सुखपूर्वक वोध कराने के उद्देश्य से आचार्य वर्धमान ने स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की है। स्वय ग्रन्थकार ने इसे कण्ठत स्वीकार किया है

सुखेनैव ग्रहीष्यन्ति गणरत्नानि या श्रिता ।
वृत्ति साऽऽरभ्यते स्वीयगणरत्नमहोदधे ॥१॥

यद्यपि ग्रन्थकार ने इसकी रचना का समय नही लिखा है तथापि वि० स० ११९७

के अनन्तर ही इस वृत्ति की रचना की होगी-ऐसा सामान्यतया कहा जा सकता है।

शब्दों के प्रयोगस्थलों तथा मतविशेषों को दिखाते हुए वृत्तिकार ने ५० से भी अधिक ग्रन्थकार तथा २५ से भी अधिक ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। जिनमे निर्वाणनारायण, वल्लभ, श्रीवसुक, छित्तप, परिमल, अरुणदत्त, भलूट तथा अजितदेव जैसे अप्रसिद्ध ग्रन्थकार भी उल्लिखित हुए है। इसी प्रकार अमरमाला, वृहत्तन्त्र, शाश्वतकोश, अजय तथा मानवी वृत्ति जैसे कुछ अप्रसिद्ध ग्रन्थ भी उद्धृत किए गए है। वर्धमान ने कुछ उदाहरण स्वरचित काव्यग्रन्थ सिद्धराज वर्णन से भी दिए है, जिनका निर्देश उन्होने पाँच स्थानो मे इस प्रकार किया है

१ प्रादु प्राकाश्ये। यथा ममैव

निःसीमाश्चर्यधाम त्रिभुवनविदित पत्तन यत् त्वदीयम्,
तन्मध्ये वृद्धिमीयुः फलभरनमिता शाखिनश्चूतमुख्या ।
नैतच्चित्र विचित्राद् विहितकृतयुग त्वत्प्रभावात् क्षितीश ।
प्रादुष्पन्ति प्रभूता यदि सुरतरवश्चित्रमेतद् बुधानाम् ॥(२।६७)।

२ यथा वा ममैव

दूरादपि रिपुलक्ष्म्यो मनीषित यन्त्वयन्ति सावेगा ।
अब्धिमिवेतरभूभृन्निरुद्धगतयोऽपि कूलिन्य ॥(२।१४६)।

३ यथा ममैव सिद्धराजवर्णने-

प्रत्युप्तमुक्ताफलपद्मराग जगत्काकिकलौहितीकम् ॥(३।१९२) ।

४ यथा ममैव सिद्धराजवर्णने

जाते यस्य प्रयाणे जातसध्याभिशड्का ॥(५।३३४)।

५ यथा ममैव

नवे यौवनिकोद्भेदे मनीषिण ॥(७।४०९)।

एक उदाहरण स्वरचित क्रियागुप्तक से भी दिया गया है

१ यथा ममैव क्रियागुप्तके

उद्यत्तीव्रानड्गनाराचविद्धा स्वप्राणेभ्यो वल्लभ त्वामदृष्ट्वा ।
वेगादेषा चक्रवाकी वराकी तीरात्तीरे प्रातरेव प्रयाति ॥(२।१५५)।

परन्तु इस एक उदाहरण से यह स्पष्ट नही हो पाता कि 'क्रियागुप्तक' नामक कोई

प्रकरणमात्र है या स्वतन्त्र ग्रन्थ। अस्तु किसी शब्द के अर्थ को बताने के लिए अपने ही किसी अन्य ग्रन्थ से यदि उदाहरण दिए जाते है तो सम्भवत उन ग्रन्थो की भी प्रामाणिकता ज्ञापित करना होता है।

'गणरत्नमहोदधि' किस व्याकरण के आधार पर बनाया गया इसकी चर्चा 'गणरत्नमहोदधि' के परिचय-सन्दर्भ मे की गई है। वृत्ति मे कुछ ऐसे वचन प्राप्त होते है, जिनसे यह निश्चित है कि वर्धमान ने किसी व्याकरणविशेष के अनुसार उक्त ग्रन्थ नही बनाया है। ग्रन्थकार ने अनेकत्र यह स्पष्ट कहा है कि यह गणविशेष मैंने अमुक आचार्य के मतानुसार दिखाया है। यथा

१ अरुणदत्त के अभिप्राय से 'अर्धर्चादि' गण का पाठ

"अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिता" (२।७८)।

२ भोजदेव के मतानुसार 'किंशुकादि, वृन्दारकादि, मतल्लिकादि, खसूच्यादि' गणो का पाठ

"अय च गण श्रीभोजदेवाभिप्रायेण" (२।१०७)।

"एतच्च गणत्रय श्रीभोजदेवाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्" (२।११४)।

'शरदादि' गण का पाठ वृद्धवैयाकरणो के मतानुरोध से किया गया है

"ऋक्पूरब्धूपथादित्यनेनैव समासान्तस्य सिद्धत्वादस्य पाठो न सगत प्रतिभाति, पर वृद्धवैयाकरणमतानुरोधेन पठित" (२।१३५)

चन्द्र तथा दुर्ग को अभीष्ट होने से 'नाम्राडादि' गण पठित है "अय च गणश्चन्द्रदुर्गाभिप्रायेण" (२।१५५)।

रत्नमति के अनुसार 'हरितादि' गण के शब्दो का सकलन किया गया है "चन्द्राचार्येण यञञोर्वहुष्वस्त्रियामित्यत्र सूत्रेऽपत्यमात्र इत्येव वाह्या उत्सा इत्युदाहृतम्। रत्नमतिना तु हरितादयो गणसमाप्ति यावदिति व्याख्यातम्। तन्मतानुसारिणा मयाऽप्येते किल निवद्धा" (३।२३८)।

इस प्रकार विविध आचार्यों के मतानुसार कुछ गणो या गणशब्दो का पाठ किए जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि वर्धमान ने किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना नही की थी तथा न उसके अनुसार गणपाठ का विवेचन ही प्रस्तुत किया था। यदि उन्होने स्वरचित व्याकरण के खिलपाठ के रूप मे गणो का प्रवचन किया होता तो उतने ही गणो पर विचार होना चाहिए था। जितने गणो का निर्देश शब्दानुशासन मे किया गया होता। उस स्थिति मे यह कहना सम्भव न होता कि 'ऋक्पूरब्धूपथात्" सूत्र से ही समासान्त प्रत्यय की सिद्धि हो जाने पर भी 'शरदादि' गण का पाठ वृद्धवैयाकरणो के मतानुरोध से किया गया है (२।१३५)।

उपरिदर्शित प्रकरण के अनुसार ग्रन्थकार ने अनेक प्रामाणिक आचार्यों के मतो का सग्रह किया है। इसके अतिरिक्त क्वचित किन्ही मतो को अनुचित बताकर स्वाभिमत भी दिखाया है, जिससे ग्रन्थकार की समीक्षापरक बुद्धि का परिचय

प्राप्त होता है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है

१ 'पञ्चकृत्व' आदि विभक्त्यर्थप्रधान अव्ययो से कौन विभक्ति होती है इसके सम्बन्ध मे सुधाकरप्रभृति आचार्यों का मत स्वीकार नही किया है जिसके अनुसार अव्ययो से पञ्चमी आदि विभक्तियो की उत्पत्ति तथा उनका लुक् माना जाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने उत्सर्गत प्राप्त प्रथमा-एकवचन को न्याय्य कहा है

"पञ्चकृत्व प्रभृतयस्तु विभक्त्यर्थप्रधाना । स च विभक्त्यर्थ प्रातिपदिकार्थ सपन्न इति प्रातिपदिकार्थे प्रथमैव भवति। साऽपि सख्या विशेषाभावान्न सर्वा किं तर्हि एकवचनमेव, तस्योत्सर्गत्वात् । तथा चोक्तम् एकवचनमुत्सर्गत करिष्यत इति। एतन्न समतम्।

सुधाकरस्त्वाह । प्रथमैव नि सख्येभ्योऽपि न्याय्या" (१।१७)।

२ भाष्य, वृत्ति के अनुसार 'परमसर्पि कुण्डिका' प्रत्युदाहरण को ही ठीक बताया है "परमसर्पि फलमित्येवमादिप्रत्युदाहरण पारायणिका आहु । भाष्ये, वृत्तौ "नित्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य" (पा० ८।३।४५) इत्यत्र परमसर्पि कुण्डिका इत्येतदेव प्रत्युदाहरणम्। अस्माक चायमेव पक्ष समत" (१।१६)।

३ 'स्वस्राणि' गण मे पाणिनि द्वारा युष्मद्, अस्मद् शब्दो का पाठ न करना सगत नही माना है (द्र०-१।४२)।

४ गौरादिगण मे पठित 'अनडुही' शब्दविषयक वामन आदि के मतो को अयुक्त सिद्ध किया है।

५ कुण्डादिपात्रादिगणपठित 'शम्भली' शब्द को वामनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट 'दूती' अर्थ को लक्ष्यहीन बताया है (१।५७)।

६ सुन्दरशब्दविषयक किसी आचार्य के मत को समीचीन नही बताया है (१।५७)।

७ 'उत्कर्षार्थक 'सार' शब्द का प्रयोग केवल पुल्लिङ्ग मे ही होता है' इस जयादित्य के मत की अयुक्तता अनेक उदाहरणो द्वारा सिद्ध की है (२।७२)।

८ अन्नविकार तथा अपूपादि के विषय मे अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है

"शाकटायनमतमाश्रित्यान्नविकाराश्चेति न पठितम् । अन्ये तु प्रदीपशब्दमपि पठन्ति। शकटाङ्गज । अस्माक त्वयमाशय शष्कुलीमोदकप्रभृतयोऽन्नविकारा पृथुकापूपादयस्त्वन्नमेव विशिष्टावस्थ नान्नविकार इति पृथगुपादानम्" (५।३५६)।

इस प्रकार अनेक पूर्वाचार्यों के मतो की समीक्षापूर्वक लिखे गए वृत्तिग्रन्थ का सस्कृतव्याकरण के क्षेत्र मे अद्वितीय स्थान है। यदि इस ग्रन्थ की सभी सूचनाओ का अन्वेषण कर उनकी समीक्षा की जाए तो उससे किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की सम्भावना की जा सकती है। सक्षेप मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आचार्य

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति बनाकर संस्कृत वैयाकरणों का महान् उपकार किया है। उन्होंने जिन मतों को अयुक्त माना है उनमें प्रबल प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं और अपने निजी अभिमत को भी तर्कसम्मत होने के कारण ही दर्शाया है। जिन अनेक आचार्यों के मतानुसार गणों तथा गणशब्दों का समादर किया है उनका नामोल्लेख करने में संकोच नहीं किया गया है, जिससे किसी मतविशेष का समादर करने या उपेक्षा करने के उद्देश्य से ग्रन्थ की रचना नहीं कही जा सकती है। गणरत्नमहोदधि के प्रारम्भ में जिन आचार्यों के प्रति अपनी विशेष श्रद्धा व्यक्त की गई है वे आचार्य विविध सम्प्रदायों के हैं, जिससे यह ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष का भी अनुकरण करने वाला नहीं कहा जा सकता है।

पाणिनीय आदि व्याकरणों पर जैनाचार्यों की टीकाएँ

क्रम सं	टीकाएँ	जैनाचार्य	आधारभूत व्याकरण
१	अनिट्कारिकावचूरि	मुनि क्षमामाणिक्य	सिद्धान्त चन्द्रिका (२)
२	अनिट्कारिकास्वोपज्ञवृत्ति	हर्षकीर्तिसूरि	सिद्धान्तचन्द्रिका (३)
३	कलापदीपिका	गौतम पण्डित	कातन्त्र (१)
४	कातन्त्रदीपक	मुनिहर्ष	कातन्त्र (२)
५	कातन्त्रपञ्जिकोद्द्योत	त्रिविक्रम	,, (१०)
६	कातन्त्रभूषणम्	धर्मघोषसूरि	,, (१४)
७	कातन्त्रमन्त्रप्रकाश	कर्मधर	,, (३)
८	कातन्त्ररूपमाला	मुनीश्वर भावसेन	,, (४)
९	कातन्त्रवाक्यविस्तर	पण्डित राम	,, (१५)
१०	कातन्त्रविभ्रमटीका	जिनप्रभसूरि	,, (१६)
११	कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि	साधुचारित्रसिंह	,, (५)
१२.	कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि	गोपालाचार्य	,, (६)
१३	कातन्त्रविस्तर	वर्धमान	,, (७)
१४	कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका	त्रिलोचनदास	,, (८)
१५	कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका	सोमकीर्ति	,, (१७)
१६	कातन्त्रवृत्तिपञ्जिकाप्रदीप	पण्डित देसल	,, (९)
१७	कातन्त्रोत्तरम्	विजयानन्द	,, (११)
१८	कालापप्रक्रिया	आचार्य बलदेव	,, (१२)
१९	क्रियाकलाप	जिनदेवसूरि	पाणिनीय (४)
२०	क्रियाकलाप	जिनदेवसूरि	कातन्त्र (१९)
२१	क्रियाकलाप	विद्यानन्द (विजयानन्द)	,, (१८)

२२	क्रियाचन्द्रिका	गुणरत्न	सारस्वत (२)
२३	गणरत्नमहोदधि	श्रीवर्धमान	अनेक व्याकरण (१)
२४	गणरत्नमहोदधिस्वोपज्ञवृत्ति	श्रीवर्धमान	,, ,, (२)
२५	चतुष्कव्यवहारढुण्ढिका	धनप्रभसूरि	कातन्त्र (२०)
२६	चन्द्रिका	मेघविजय	सारस्वत (३)
२७	दीपिका	मेघरत्न	,, (४)
२८	दुर्गपदप्रबोध	जिनप्रबोधसूरि	कातन्त्र (२२)
२९	दुर्गपदप्रबोध	प्रबोधमूर्तिगणि	,, (२१)
३०	दुर्गवृत्तिटिप्पणी	पण्डित गोल्हण	,, (२३)
३१	दौर्गसिंहीवृत्ति	प्रद्युम्नसूरि	,, (२४)
३२	धातुतरङ्गिणी	हर्षकीर्तिसूरि	सारस्वत (५)
३३	धातुपारायणम्	पण्डित नन्दी	कातन्त्र (२५)
३४	न्यायरत्नावली	दयारत्नमुनि	सारस्वत (६)
३५	पञ्चसन्धिटीका	मुनि सोमशील	,, (७)
३६	पञ्चसन्धिबालावबोध	उपाध्याय राजसी	,, (८)
३७	प्रक्रियामञ्जरी	विद्यासागर मुनि	पाणिनीय (३)
३८	प्रक्रियावृत्ति	विशालकीर्ति	सारस्वत (९)
३९	बालशिक्षाव्याकरणम्	ठक्कुर संग्रामसिंह	कातन्त्र (१३)
४०	बालावबोध	हरिकलशोपाध्याय	,, (२७)
४१.	बालावबोध	मेरुतुङ्गसूरि	,, (२६)
४२	भाषाटीका	आनन्दनिधान	सारस्वत (१०)
४३	भूधातुवृत्ति	क्षमाकल्याण मुनि	सिद्धान्तचन्द्रिका (४)
४४	मुग्धावबोध-औक्तिकम्	कुलमण्डनसूरि	सिद्धान्तचन्द्रिका (५)
४५	यशोनन्दिनी	यशोनन्दी	सारस्वत (११)
४६	रूपरत्नमाला	नयसुन्दर	,, (१२)
४७	विद्वच्चिन्तामणि	विनयसागरसूरि	,, (१३)
४८	वृत्तित्रयनिबन्ध	राजशेखरसूरि	कातन्त्र (२८)
४९	व्याकरणसिद्धान्त सुधानिधि	विश्वेश्वरसूरि	पाणिनीय (१)
५०	शब्दप्रक्रिया साधनी	विजयराजेन्द्रसूरि	सारस्वत (१४)
५१	शब्दार्थचन्द्रिका	हंसविजयगणि	सारस्वत (१५)
५२	शब्दावतारन्यास	देवनन्दी	पाणिनीय (२)
५३	सारस्वतक्रियारूपमाला	पद्मसुन्दरगणि	सारस्वत (२०)
५४	सारस्वतटीका	मुनि सत्यप्रबोध	,, (१६)
५५	सारस्वतटीका	यतीश विद्वान् (सहजकीर्ति)	,, (१७)

५६	सारस्वतटीका	देवचन्द्र	,, (१८)
५७	सारस्वतटीका (धनसागरी)	धनसागर	,, (१९)
५८	सारस्वतमण्डनम्	मण्डन	,, (२१)
५९.	सारस्वतवृत्ति	भानुचन्द्र	,, (२२)
६०	सारस्वतवृत्ति	सहजकीर्ति	,, (२३)
६१	सारस्वतवृत्ति	हर्षकीर्तिसूरि	,, (२४)
६२	सिद्धान्तचन्द्रिका टीका	जिनरत्नसूरि	सिद्धान्तचन्द्रिका (६)
६३	सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति	ज्ञानतिलक	,, (७)
६४	सिद्धान्तरत्नम्	जिनरत्न	सारस्वत (२५)
६५	सुबोधिका	चन्द्रकीर्ति	,, (१)
६६	सुबोधिनी	सदानन्दगणि	सिद्धान्तचन्द्रिका (१)
६७	सुबोधिनी	रूपचन्द्र	,, (८)

व्याकरण विशेष पर टीकाओं की संख्या

व्याकरण	कुल टीकाएँ
पाणिनीय	०४
कातन्त्र	२८
सारस्वत	२५
सिद्धान्तचन्द्रिका	०८
गणपाठ व्याकरण	०२
योग	६७

टिप्पणी

इस कातन्त्र-व्याकरण को जैन व्याकरण स्वीकार किया गया है।
डॉ० (स्व०) नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'व्याकरणशास्त्र को जैन आचार्यों के योगदान' नामक लेख में इस बात को सप्रमाण पुष्ट किया है
द्रष्टव्य 'जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान'
आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, १९७५

भिक्षुशब्दानुशासन : एक परिशीलन

मुनि श्रीचंद्र 'कमल'

तेरापथ धर्मसघ के अष्टमाचार्य कालूगणी का सस्कृत विद्या के प्रति विशेष लगाव था। वे अपने सघ मे इस विद्या का विकास देखना चाहते थे। इस विद्या के विकास के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक था। उस समय सारस्वत और सिद्धान्त चद्रिका ये व्याकरण उपलब्ध थे। सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्त चद्रिका का उत्तरार्द्ध पढा जाता था। सार कौमुदी मिलने पर उसका अध्ययन चलने लगा। सिद्धान्त चद्रिका के समास आदि अपूर्ण स्थलो की पूर्ति सार कौमुदी से की जाती थी। दोनो व्याकरणो को मिलाकर पढना अपने आप मे उलझन भरा था। उस स्थिति मे आचार्यश्री कालूगणी की प्रबल भावना बनी कि तेरापथ सघ मे एक ऐसा सस्कृत व्याकरण हो जो सरल, सुबोध और समयोपयोगी हो। उनकी इस भावना को आकार देने वाले विद्वद्वर्य मुनिश्री चौथमल जी हुए। उनका अध्ययन आचार्य कालूगणी की देख-रेख मे सपन्न हुआ था। व्याकरण उनका सबसे प्रिय विषय रहा। इसी सदर्भ मे उन्होने पाणिनीय, शाकटायन, सारस्वत, सिद्धान्त चद्रिका, मुग्धबोध, सारकौमुदी, जैनेन्द्र और सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि व्याकरणो का गहरा अध्ययन व अनुशीलन किया। वर्षों के अध्ययन के बाद आपने एक सर्वाङ्गपूर्ण सस्कृत व्याकरण की रचना की जिसका नाम विशाल-शब्दानुशासन रखा। विशालशब्दानुशासन के सूत्रो मे परिवर्तन और परिवर्धन कर इस व्याकरण का निर्माण हुआ था। इसलिए प्रारभ मे इसका नाम विशाल-शब्दानुशासन रखा। मुनिश्री गणेशमलजी की प्रेरणा रही कि इसका नाम भिक्षु-शब्दानुशासन रखा जाए। मुनिश्री चौथमलजी आचार्य कालूगणी के पास गए और नाम के लिए निवेदन किया। पास मे विराजित मत्री मुनि मगनलालजी स्वामी ने कहा मैं तो प्रारभ से कहता आ रहा हू कि इसका नाम भिक्षुशब्दानु-शासन रखा जाए। मत्री मुनि की बलवती प्रेरणा पर ध्यान देकर कालूगणी ने स्वीकृति दे दी। उदयपुर मे विक्रमी सवत् १९९२ मे उसका नाम भिक्षुशब्दानु-शासन कर दिया गया।

भिक्षुशब्दानुशासन के सूत्रो की रचना मुनिश्री चौथमलजी ने की और

उसकी वृहद् वृत्ति की रचना सोना मई (अलीगढ, उत्तरप्रदेश) निवासी आयुर्वेदाचार्य आशु कविरत्न पंडितश्री रघुनदन शर्मा ने की। पंडितजी व्याकरण के पारगामी विद्वान् थे। पाणिनीय व्याकरण के अष्टाध्यायी सूत्र उनकी स्मृति मे इतने जमे हुए थे कि कभी अनुलोम से, कभी विलोम से, उनका धाराप्रवाह पाठ करते थे। इन सूत्रो के पाठ करने का उनका समय होता था, जब प्रात वे घूमने जाते थे। प्रतिदिन पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रो का पाठ करना उनका क्रम बन गया था। उनका यह क्रम लबे समय तक चला। मुनिश्री चोथमलजी और आशु कविरत्न प० रघुनन्दनजी— दोनो के सयोग से विशालकाय श्री भिक्षुशब्दानुशासन व्याकरण तैयार हुआ। यह व्याकरण अपने आप मे पूर्ण है। इसमे शब्दो को अनुशासन करने वाले केवल सूत्र ही नही हैं, उनकी व्याख्याए भी है, लघु और वृहद् वृत्ति भी है। यह व्याकरण धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, लिङ्गानुशासन, न्याय दर्पण कारिका सग्रह वृत्ति आदि अवयवो से पूर्ण है। यह अभी अप्रकाशित है इसलिए सर्वजन भोग्य न होकर केवल तेरापथ के साधु, साध्वियो के अध्ययन तक ही सीमित है। इसकी प्रक्रिया कालूकौमुदी के नाम से प्रकाशित है। कालूकौमुदी के माध्यम से श्री भिक्षुशब्दानुशासन का परिचय सहज ही मिल जाता है। श्री भिक्षुशब्दानुशासन मे सूत्रो की रचना सरल व स्पष्ट है, उच्चारण की क्लिष्टता नही है। जैसे प्रत्याहार सूत्र अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ह य व र ल ञ ण न ङ म झ ढ घ घ भ ज ड द ग व ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स। इस सूत्र मे सधि के अभाव मे उच्चारण की स्पष्टता है।

रचनाकाल

श्री भिक्षुशब्दानुशासन की रचना थली प्रदेश मे छापर (आचार्य कालूगणी की जन्मभूमि) मे सपन्न हुई। इस व्याकरण का रचनाकाल विक्रम सवत् १९८० से १९८८ है। वि० स० १९८८ के माघ शुक्ला त्रयोदशी शनिवार को पुष्य नक्षत्र मे यह व्याकरण पूर्ण हुआ। यह उसकी प्रशस्ति से स्पष्ट है वृहद् वृत्तिकार द्वारा कृत प्रशस्ति इस प्रकार है

आसीत् कश्चिद् विपश्चिद् धृतपदकमलो भिक्षुनामा मुनीन्द्रो।
य श्री जैनोदितानामनुभव विभवै र्भूरि भावान् विभाव्य॥
मुग्धानुद्धर्तुकाम सपदि निपतितान् पापि पापण्ड जाले।
तेरापन्थाह्व मर्च्य व्यरचयत सता सपद सम्प्रदायम् ॥१॥
भारीमाल स्तदनुमुनिपो रायचन्द्र स्ततोऽभूत।
जात. पश्चादगणितगुणो जीतमल्लो गणीश ॥
तस्यान्तेऽभूद् गणपमघवा तत्पदे चोत्तमोऽस्यात्।
श्री माणिक्य स्तदनु च मतो डालचन्द्रो मुनीन्द्र ॥२॥

समुपगम्य ततोऽष्टमपट्टक, नियमिना यमिना धुरिकीर्तित ,
क्षितितले गणिकालुरय गुणै-रति विभाति विभाकरवत् करै ।।३।।
शुभगुणगणारामे मेघ कुमार्गनगाशनि.,
दुरिततिमिरध्वसे भानुर्भवाब्धि-घटोद्भव. ।
सुगतिकमला दातु भवतो जिनेन्द्रसमो भुवि,
स जयतु महाराज कालुश्चिर गुणमदिरम् ।।४।।
तच्छिष्यवर्यमुनिचौथमलाभिधेन,
सम्यकृतया मथितशब्दमहार्णवेन ।
एक कलासु सकलास्वपि दिक्षु भिक्षु-
शब्दानुशासनमिद निरमाय्यमेयम् ।।५।।
सर्व गुरोर्भवति यन्मम किञ्चन स्या-
देव विचार्य मतिमानिति शब्दशास्त्रे ।
ग्रन्थे स्वतो विरचितेऽपि गणिप्रधान-
श्रीभिक्षुनाम निजकर्तृपदे न्ययुङक्त ।।६।।
नोणादिधातुगणवद्धविधिः परेषा,
पुष्टे कृशाम्वरमिवेह सुजाघटीति ।
तत्रोक्त पाठमपि तत् परिवर्त्य सम्य-
गक्षुण्णधी परिचय. समदायि कर्त्रा ।।७।।
एतद् विवृण्वन्तमलीगढस्थित-
सुनामयीग्रामनिवासि भूसुरम् ।
स्थलीस्थले वैद्यकवृत्तिवर्तिन,
जानीत त मा रघुनन्दनाह्वयम् ।।८।।
श्री पूज्यसेवैकफलाभिलाषिण ,
सत् साधुसङ्गे सुतरा विलासिनम् ।
प्राप्यावकाश निज वैद्यवृत्तित ,
प्रवर्तमान वृतवृत्तिवर्णने ।।९।।
सरससरलसूत्र निर्विवाद वरेण्य,
सदयहृदयसेव्य स्वल्पकालाभिलभ्यम् ।
निजविषयविशेष भैक्षव शब्दशास्त्र,
जयतु जगति नित्य साधुसाध्य तदेतत् ।।१०।।
नगाङ्क निध्यञ्जतपस्त्रयोदशी-
दिने सचन्द्रे शनिपुष्ययोजिते ।
निवेशने छापरनामके वरे,
वृत्ते समाप्ति सुखपूर्विकाऽभवत् ।।११।।

वृहद्वृत्तिकार का मगलाचार इस प्रकार है

यत्पाणिपल्लवतलोपितवल्लवोपि,
प्राप्नोति लोकविरल कविवल्लभत्वम् ।
तस्या गुणीन्द्रगणवन्द्यपदोत्पलाया,
वाण्या वरेण्यशरण प्रणिपद्यमानः ॥१॥
श्रीचोयमल्लमुनिनिर्मितरम्यभिक्षु-
शब्दानुशासनमिद विवृणोमि वृत्त्या ।
हृष्यन्तु यल्ललितमूत्ररस निपीय,
भृङ्गा मरन्दमिव विज्ञजनाग्रगण्या ॥२॥
येपा नितान्तनिहितै करुणाकटाक्षै-
र्नव्योद्यमो भवति सस्कृतशब्दशास्त्रे ।
तेपा गणाधिपतिकालुमुनीश्वराणा,
जीयाच्चिर रुचिरसच्चरणाब्जरोचि ॥३॥

श्रीमज्जैनश्वेताम्बरतेरापथाभिधसप्रदायाद्यपुरुपभिक्षुगणिराज सबन्धि-शब्दानुशासन भिक्षुशब्दानुशासनम् ।

ग्रथकर्त्रा महामहिम्नामादिगुरूणा श्री भिक्षूणामेव तत्कृपयैव जायमान-त्वादभिधानेन प्रकाश्यते ॥

भिक्षुशब्दानुशासन के ८ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय मे चार चरण हैं। आठ अध्याओ मे ३७५१ सूत्र हैं। उनका संख्याक्रम इस प्रकार है

अध्याय	चरण	सूत्र	अध्याय	चरण	सूत्र
१	१	६७	५	१	८५
१	२	४४	५	२	१०५
१	३	६५	५	३	९०
१	४	८९	५	४	१२४
२	१	१२३	६	१	८५
२	२	१०५	६	२	१५३
२	३	११६	६	३	१४६
२	४	१२९	६	४	९४
३	१	२०१	७	१	१३२
३	२	१६०	७	२	१९१
३	३	१०३	७	३	१०८
३	४	१२०	७	४	११४

अध्याय	चरण	सूत्र	अध्याय	चरण	सूत्र
४	१	१४२	८	१	१४३
४	२	१३४	८	२	१०१
४	३	१२२	८	३	११७
४	४	११४	८	४	१३९
					३७५१

३७५१ सूत्रो की टिप्पण सहित वृहद् वृत्ति की पहली प्रतिलिपि मुनिश्री चौथमलजी और सगतमलजी ने लिखी थी। फिर उसमे इतने काट-छाट हुए कि वह प्रति पढने मे दुरूह हो गई। फिर स्पष्ट रूप मे प्रथम हस्त प्रतिलिपि मुनिश्री चौथमलजी ने स्वय लिखी। विक्रम सवत् १९८९ कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को सरदारशहर मे वह प्रति पूर्ण हुई। वह प्रति २६१ पत्रो मे है। प्रत्येक पत्र दोनो ओर लिखा गया है। प्रत्येक पत्र मे ३८ पक्तिया हैं व प्रत्येक पक्ति मे ५६ से ६० तक अक्षर हैं। इस ग्रथ का परिमाण लगभग १८ हजार श्लोक हैं।

इसकी दूसरी प्रति मुनिश्री केवलचन्दजी ने लिखी। तीसरी प्रतिलिपि मुनि सगतमलजी ने लिखी।

भिक्षुशब्दानुशासन लघुवृत्ति

भिक्षुशब्दानुशासन की लघुवृत्ति लिखने का कार्य मुनि तुलसीरामजी ने प्रारम्भ किया था। कुछ ही समय बाद आचार्य पद का भार सभालने से अन्य कार्यों मे समय अधिक लगने लगा और वह वृत्ति लिखने का कार्य स्थगित हो गया। फिर इस कार्य को मुनि युगल श्री धनराजजी और श्री चन्दनमलजी दोनो ने प्रारम्भ कर विक्रम सवत् १९९५ मे पूर्ण किया। प्रशस्ति श्लोक

सच्छब्दवारानिधिपारदृश्वभि,
श्रीचोथमल्लर्षिभिरात्तकौशलौ।
सहोदरौ केवलचन्द्रनन्दनौ,
नाम्ना प्रसिद्धौ धनराज-चन्दनौ ॥८॥
ताभ्या निदेशाद् गणनायकाना,
विनिर्मिता वृत्तिरिय सुखेन।
अक्षाङ्क निध्यात्ममिते सुवर्षे,
बोधाय भूयाल्लघु पाठकानाम् ॥९॥

यह लघुवृत्ति ७९ हस्तलिखित पत्रो मे पूर्ण हुई है। प्रत्येक पत्र के दोनो ओर

४० पंक्तियां हैं। प्रत्येक पंक्ति में ५७-५६ तक अक्षर हैं। यह ग्रन्थ ५७०० श्लोक-परिमाण है। इसकी हस्त-लिखित प्रतिलिपि मुनिश्री पूनमचंदजी गंगाशहर वालों ने वि० सं० १९८८ कार्तिक कृष्णा नवमी मंगलवार, सिद्धियोग में हांसी नगर में लिखी।

भिक्षु धातुपाठ

यह धातुपाठ ८ पत्रों में पूर्ण हुआ है। इसमें भ्वादिगण की १०८० धातुएं, अदादिगण की ८७, दिवादिगण की १४१, स्वादिगण की २६, तुदादिगण की १६२, रुधादिगण की २६, तनादिगण की ९, क्र्यादिगण की ६१, चुरादिगण ४०७, कुल २००२ धातुएं हैं। इसकी प्रतिलिपि मुनिश्री चंदनमलजी (सिरसा) ने वि० सं० १९८९ फाल्गुन कृष्णा ३ को लिखकर पूर्ण की। आठ पत्रों में अकारादि अनुक्रम से धातुओं की अनुक्रमणिका है। इसके प्रतिलिपि कर्ता मुनिश्री हीरालालजी (बीदासर) वाले हैं।

भिक्षु गणपाठ

गण पाठ की हस्तलिखित प्रति तैयार नहीं की गई है। बृहद् वृत्ति के अन्तर्गत गणपाठ पूर्णरूप से दिया गया है। केवल संकलन अवशेष है। जब आवश्यकता होगी तब उसका संकलन कर लिया जाएगा। इसी कारण अभी उसकी प्रतिलिपि नहीं है।

उणादि वृत्ति

उणादि के चार चरण है। पहले चरण के २५० सूत्र, दूसरे चरण के २५० सूत्र, तीसरे चरण के २५० सूत्र और चौथे चरण के २५५ सूत्र हैं। कुल १००५ सूत्र है। इस ग्रन्थ में १००५ सूत्रों पर वृत्ति है। इस ग्रन्थ के वृत्तिकार मुनिश्री चौथमलजी हैं। विक्रम संवत् १९८३ वैशाख कृष्णपक्ष में चन्द्रवार को वृत्ति पूर्ण हुई। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति ३५ पत्रात्मक है। प्रत्येक पत्र में ३८ पंक्तियां हैं और एक पंक्ति में ७०-७३ तक अक्षर हैं। इसके प्रतिलिपि-कर्ता मुनिश्री मांगीलालजी (पहुना) हैं। वि० सं० १९८३ पौष कृष्णा ८ चन्द्रवार को प्रतिलिपि पूर्ण की।

भिक्षुन्यायदर्पण लघुवृत्ति

इसके १५ पत्र हैं। एक पत्र में ३८ पंक्तियां हैं। एक पंक्ति में ६४ अक्षर हैं। इसमें भिक्षुशब्दानुशासन के १३५ सूत्रों की लघुवृत्ति है। इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि सर्वप्रथम मुनि तुलसीराम (वर्तमान नाम आचार्य तुलसी) ने विक्रम संवत् १९८९ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया को रतनगढ़ में पूर्ण की।

भिक्षुन्यायदर्पण वृहद्वृत्ति

इसमे १३५ न्यायो पर विस्तृत वृत्ति है। वृत्तिकार मुनिश्री चौथमलजी स्वय है। उन्होने वि० न० १९९४ के भाद्र शुक्ला ३ को इसकी वृहद्वृत्ति की रचना पूर्ण की।

वर्गखण्डरसात्माब्दे, भाद्रमासे सिते दले।
कर्मवाट्या तृतीयाया, श्रीभिक्षुन्यायदर्पणे ॥१॥
चोथमल्लाभिध साधुर्बृहद्वृत्ति व्यधान् मुदा।
श्रीमता तुलसीराम-गणीन्द्राणा प्रसादत ॥२॥

यह न्यायदर्पण ३४ पत्रो मे पूर्ण हुआ है। प्रत्येक पत्र मे दोनो ओर ३८ पक्तिया हैं। प्रत्येक पक्ति मे ६५-६७ अक्षर है। इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि मुनिश्री नथमलजी (टमकोर) ने वि० स० १९९५ मे आषाढ कृष्णा १२ बुधवार को छापर मे की।

भिक्षुलिगानुशासन सवृत्तिक

१५७ श्लोकात्मक यह ग्रथ विभिन्न छदो मे आवद्ध है। इसमे २२ वृत्तो का उपयोग हुआ है। वे ये है—अनुष्टुप्वृत्त, वसंततिलकावृत्त, उपजातिवृत्त, दोधकवृत्त, पज्झटिकावृत्त, विद्युन्मालावृत्त, शार्दूलविक्रीडितवृत्त, भुजङ्गप्रयातवृत्त, मृदङ्कक-वृत्त, इद्रवज्रावृत्त, मदाक्रान्तावृत्त, शिखरिणीवृत्त, द्रुतविलम्बिवृत्त, मालिनीवृत्त, प्रमाणिकावृत्त, त्रोटकवृत्त, आर्यावृत्त, स्रग्धरावृत्त, स्रग्विणीवृत्त, इद्रवशावृत्त, हरिणीवृत्त, पथ्योपगीतिवृत्त। इसके १५८ श्लोको के रचनाकार है आशुकवि-रत्न प० रघुनदनजी शर्मा। इसमे पुल्लिग अधिकार के २१ श्लोक, स्त्रीलिगअधि-कार के ३९ श्लोक, नपुसक लिग अधिकार के ३० श्लोक, स्त्रीलिग। पुल्लिग अधिकार के १२ श्लोक, पुनपुसक अधिकार के ३७ श्लोक, स्त्री नपुसक अधिकार के७ श्लोक, स्वयत्रिलिगाधिकार के ६ श्लोक, परवलिंगाधिकार के ६ श्लोक हैं। इन श्लोको के वृत्तिकार हैं मुनिश्री चदनमलजी (सिरसा)। सवृत्तिक लिगानुशासन हस्तलिखित २३ पत्रो मे पूर्ण हुआ है। प्रत्येक पत्र मे ४० पक्तिया हैं और प्रत्येक पक्ति मे ६३-६५ अक्षर है। वि० स० १९९७ ज्येष्ठ शुक्ला ९ को श्लोको की वृत्ति पूर्ण हुई। वृत्तिकार की प्रशस्ति के अतिम तीन श्लोक इस प्रकार हैं

तत्पादसेवा समुपाश्रयद्भि, सुधीवरेण्यै रघुनदनाह्वयै।
आयुर्विदाचार्यवरैस्तदाशु-,कवित्वकृद्-रत्नमुपादधद्भि ॥५॥
विनिर्मित तैर्नुभिक्षुलिगानुशासन पद्यपरम्परासु।
तदीयवृत्तिर्मुनिचन्दनेन, व्यधायि बोधाय गुरो कृपात ॥६॥

सवत्यात्मनिधि द्वार द्वीपे शरदि शोभने ।
शुक्रमासे सिते पक्षे, नवम्या पूर्तिमासदत् ॥७॥

कारिका-सग्रह वृत्ति

भिक्षुशब्दानुशासन के सूत्रो मे जो कारिकाएँ आई हैं, उन श्लोको की वृत्ति इसमे की गई है। सेट अनिट निरूपण, धातु प्रत्यय अनुबंध निरूपण, वृद्गणफल निरूपण, विशेषधातुफल निरूपण, धात्वर्थ विशेष निरूपण, धात्वर्थ उपसर्जन्यभेद प्रकाश निरूपण, द्विकर्मक गणना निरूपण, सकर्मक अकर्मक निरूपण, अनुस्वारादि निरूपण, णोपदेश निरूपण, सधि निरूपण, मान निरूपण, स्वाङ्ग निरूपण, जाति निरूपण, गुण निरूपण, इदमाद्यर्थ निरूपण, इनकी व्याख्या इस लघुकाय ग्रन्थ मे है। यह ८ पत्रात्मक हैं। प्रत्येक पत्र मे ३८ पक्तिया और प्रत्येक पक्ति मे ५९-६० अक्षर हैं। इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि मुनिश्री नथमलजी (टमकोर) ने वि० स० १९९७ श्रावण शुक्ला ६ शुक्रवार को लाडनू मे पूर्ण की।

कालुकौमुदी

यह भिक्षुशब्दानुशासन की लघुप्रक्रिया है। इस कालुकौमुदी के रचयिता मुनिश्री चौथमलजी हैं। वि० स० १९९१ आश्विन कृष्णा दशमी बुधवार को जोधपुर मे उन्होने यह प्रक्रिया परिसमाप्त की। प्रशस्ति श्लोक

तत्पादाब्जप्रसादेन, भैक्षुशब्दानुशासनी
मुनिना चौथमल्लेन, कृतेय कालुकौमुदी ॥६॥
भूनिधिनिधिचन्द्रेऽब्दे पुण्ये,
जोधपुरे दशमीबुधदिवसे।
आश्विनमासे कृष्णे पक्षे
पूर्णा कालुगणेन्द्र-समक्षे ॥७॥

यह कालुकौमुदी दो भागो मे विभक्त है पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध मे विषयानुक्रम इस प्रकार है सज्ञा प्रकरण, सधि प्रकरण मे स्वर सधि, प्रकृति-भाव, हस सधि, विसर्ग सधि। स्यादिप्रकरण मे स्वरान्त पुल्लिङ्ग, स्वरान्त स्त्री-लिङ्ग, स्वरान्त नपुसकलिङ्ग, हसान्त पुल्लिङ्ग, हसान्त स्त्रीलिङ्ग, हसान्त नपुसकलिंग। अलिङ्गी युष्मद् अस्मद्, अव्यय प्रकरण, स्त्री-प्रत्यय प्रकरण, कारक प्रकरण, समास प्रकरण, और तद्धित प्रकरण। उत्तरार्द्ध मे विषयानुक्रम इस प्रकार है

आख्यात प्रकरण मे भ्वादिगण, अदादिगण, दिवादिगण, स्वादिगण, तुदादि-गण, रुधादिगण, तनादिगण, क्र्यादिगण, चुरादिगण, कण्ड्वादिगण है। णिजन्त-

प्रक्रिया, सन्नन्तप्रक्रिया, यङन्तप्रक्रिया, यङ्लुगन्तप्रक्रिया, नाम धातुप्रक्रिया, प्रत्ययमालाप्रक्रिया, पदव्यवस्थाप्रक्रिया, भावकर्मप्रक्रिया, कर्मकर्तृ प्रक्रिया, विभक्त्यर्थ-प्रक्रिया। कृदन्त प्रकरण मे पूर्वकृदन्त, उणादि, उत्तरकृदन्त।

पूर्वार्द्ध मे ७५१ सूत्र हैं और उत्तरार्द्ध मे ७२१ सूत्र। ८३३ धातुए हैं।

विशेषताएं

१ भिक्षुशब्दानुशासन की अपनी विशेषताए है। क्योकि आज तक उपलब्ध व्याकरणो मे यह अन्तिम व्याकरण है, अत अन्य व्याकरणो की अपेक्षा इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। जैसे

पाणिनीय मे प्रत्याहार के लिए १४ सूत्र दिए गए हैं। इस व्याकरण मे केवल एक सूत्र मे सारे वर्णो का प्रत्याहार किया गया है, वर्ण अनुबन्ध रहित हैं, केवल उच्चारण की सुविधा के लिए सधि नही की गई है।

२. इस व्याकरण मे धातुओ का ज्ञान प्रथम क्षण मे उच्चारण से ही हो जाता है कि यह आत्मनेपदी है, परस्मैपदी है या उभयपदी। आत्मनेपदी के लिए ङ् अनुबध है और उभयपदी के लिए 'न्' अनुबध स्वीकार किया गया है। परस्मैपदी के लिए कोई अनुबन्ध नही है। जैसे

गाङ् गाने=आत्मनेपदी
डुकृन् करणे=उभयपदी
हस् हसने=परस्मैपदी

हेमशब्दानुशासन को छोडकर अन्य व्याकरणो मे ऐसी सरलता नही है कि उच्चारण के साथ ही आत्मनेपदी, परस्मैपदी आदि का बोध हो जाए। हेमशब्दानुशासन मे आत्मनेपदी और उभयपदी के लिए दो-दो अनुबध स्वीकार किए हैं। आत्मनेपदी के लिए इ और ङ्, उभयपदी के लिए ई और ग्। जैसे

डुपचीस् पाके=उभयपदी
डुकृग् करणे=उभयपदी
ईक्षि दर्शने=आत्मनेपदी
वदुङ् स्तुत्यभिवादनयो.=आत्मनेपदी
भू सत्तायाम्=परस्मैपदी

भिक्षुशब्दानुशासन मे केवल एक-एक अनुबध स्वीकार किया गया है।

३. धातुओ के अनुबन्ध से गणो का बोध सुगमता से हो जाता है। भ्वादि गण की धातुए अनुबन्ध रहित हैं, शेष गणो के लिए एक-एक अनुबन्ध है। जैसे

अदादि गण के लिए क अनुबन्ध। जैसे इक् स्मरणे।
दिवादिगण के लिए च अनुबन्ध। जैसे शोच् तनुकरणे।

४. धातुओ के सेट्, वेट् और अनिट् की पहचान धातु के उच्चारण मात्र से हो जाती है। अनिट् धातु के लिए अनुस्वार का अनुवन्ध है और वेट् के लिए दीर्घ ऊकार। सेट् धातु के लिए कोई अनुवध नही है।

५ उद् | स्थानम्=उत्थानम्। भिक्षुशब्दानुशासन मे इसकी सिद्धि केवल एक सूत्र 'उद स्था स्तम्भो. स' १।३।६४ से हो जाती है, जबकि पाणि-नीय मे इसकी सिद्धि के अनेक सूत्र लगते हैं। वहा उत् के त् को द्, स को थ्, फिर थ् का लोप, द् को त् करके उत्थानम् रूप बनाया जाता है।

६. शिल्पी, खनक, रजक. आदि शब्दो के लिए भिक्षुशब्दानुशासन मे एक सूत्र है 'नृतिखनिरञ्जिभ्य शिल्पिन्यकट्' ५।१।७९, जबकि पाणिनीय मे शिल्पिनिष्वुक् ३।१।४५, सूत्र है और उसकी कात्यायन वार्तिक है 'नृति खनिरञ्जिभ्य एव' और पतजलि का भाष्य है 'नृति खनिभ्यामेव-ष्वुन्' उणादौ क्वनि।

७. लघु सिद्धान्त कौमुदी के हल् सधि प्रकरण मे ४१ सूत्रो और कई वार्तिको से जो कार्य किया जाता है, वह कार्य इस व्याकरण के केवल २३ सूत्रो से हो जाता है।

इस व्याकरण मे सरलता पर विशेष ध्यान दिया गया है। यदि 'युष्मदस्म-त्प्रकरण' के २२ सूत्रो को एक सूत्र मे उनके रूपो को निपात कर देते तो और सुगमता हो जाती। वैसे ही इंगलिश और हिन्दी व्याकरण की तरह द्विवचन को स्वतत्र स्थान नही देते तो और सुगमता हो सकती थी। 'गुरोवेकश्च' गुरु के लिए एक वचन के स्थान पर वहुवचन का प्रयोग होता ही है।

पाणिनीय और भिक्षुशब्दानुशासन मे मुख्य अन्तर इस प्रकार है

१. लृदन्ता समाना १।१।९

अ से लेकर लृ तक के वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत हो तो उनकी समान संज्ञा होती है।

पाणिनीय मे ह्रस्व और प्लुत लृकार होता है परन्तु दीर्घ लृकार नही होता।

२. क समासेऽध्यर्धं १।१।५९

अध्यर्ध शब्द से क प्रत्यय या समास होने पर सख्यावद् होता है। अध्यर्ध 'क', अध्यर्ध सूर्पम् यह सूत्र पाणिनीय मे नही है।

३. अर्धपूर्वपद पूरण १।१।६०

यह सूत्र भी पाणिनीय मे नही है।

४. ऋणेप्रवसनकम्वलदशार्णवत्सरवत्सतरस्यार् १।२।२३। पाणिनीय मे वत्सर शब्द नही है। इसलिए उससे 'वत्सराण' इस रूप की सिद्धि नही होती।

५. प्लुताच्च १।३।२४

पदान्त मे दीर्घस्थानीय प्लुत से परे छकार को द्वित्व करता है। आगच्छ भो इन्द्रभूते ३च्छत्रमानय। पाणिनीय मे प्लुतविधि नही है।

६. चपाना शसे खथा वा १।३।३६

चप को शस परे हो तो खथ विकल्प स होता है।

क्षीर, क्षीरं, अफ्सरा अप्सरा

७ नेमाल्पप्रथमचरमतयडयऽर्धकतिपयानाम् १।४।२०

इस सूत्र मे पाणिनीय से अयट् का ग्रहण अधिक हुआ है। इसलिए पाणिनीय व्याकरण मे त्रया. यह एक रूप ही वनता है, जवकि इसमे त्रये और त्रया ये दो रूप वनते हैं।

८. नुमि वा १।४।६६

यह सूत्र अप् शब्द की उपधा को विकल्प से दीर्घ करता है। स्वाम्पि, स्वम्पि। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

९ जरसो वा २।१।२

जरस् अन्तवाले शब्द से नपुसक मे सि और अम् का लोप विकल्प से होता है। अजर, अजरस कुल—ये रूप वनते हैं। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है, इसलिए ये रूप नही वनते।

१० मासनिशासनस्य शसादौ वा लोप' २।१।२३

इस सूत्र से आसन शब्द के अत का लोप कर आसन् रूप वनाया जाता है। पाणिनीय मे यह विधान नही है। वहा आस्य शब्द को आसन् आदेश किया जाता है।

११. श राज भ्राज् यज् सृज् मृज् भ्रस्ज वृश्च परिव्राजा ष-२।१।११७

शकारान्त और राज् आदि के चज को ष आदेश होता है। लेष्टा, लिड्। आदेश होने वाले शकार को भी ष आदेश करता है प्रष्टा, प्रष्टु। पाणिनीय मे तो व्रश्च भ्रस्ज ८।२।३६ से छ कार को ष कार का विधान है। इस व्याकारण मे छ्वो शूटौ धमे च ४।३।३८ से छ कार को ष कार सिद्ध होता है।

१२ मातुलाचार्योपाध्यायाद् वा २।३।५६

उपाध्याय का स्त्रीलिग मे प्रयोग करने पर ईप् के साथ आनुक् का आगम विकल्प से होता है, इसलिए दो रूप वनते है उपाध्यायानी, और उपाध्यायी। पाणिनीय मे, जो स्वय ही अध्यापिका है उसके लिए दो रूप

बनते है उपाध्यायी और उपाध्याया।

भिक्षुशब्दानुशासन मे स्वय अध्यापिका के लिए विशेष विधान नही है, इसलिए केवल एक ही रूप उपाध्याया ही बनता है।

१३ ऊरोरुपमानसहितसहित सह शफ लक्ष्मण वामादे २।८।८५

लक्ष्मणोरु। पाणिनीय मे इस सूत्र मे लक्ष्मण शब्द नही है इसलिए वहा लक्ष्मणोरु शब्द सिद्ध नही होता।

१४ कालाध्वभावदेशमकर्म चाकर्मणाम् २।४।१८

अकर्म धातु के योग मे काल, अध्व, भाववाची शब्दो के आधार की कर्मसज्ञा विकल्प से होती है, और अकर्म होता है। मासे आस्ते, मास मास्ते ये दो रूप बनते हैं। पाणिनीय मे एक ही रूप बनता है मासमास्ते।

१५ अविवक्षितकर्मणामणिन् कर्ता णौ वा २।४।२०

णिन्नन्त बनाने से पहले अविवक्षित कर्म का जो कर्ता हो उसका जब णिन्नन्त मे प्रयोग किया जाए तो उस कर्ता की कर्म सज्ञा विकल्प से होती है। जैसे पचति चैत्र। यहा कर्म की विवक्षा नही की गई है। णिन्नन्त मे इसका रूप बनेगा पाचयति चैत्र चैत्रेण मैत्र। यहा चैत्र कर्ता की कर्म सज्ञा विकल्प से हुई है। पाणिनीय णिन्नन्त कर्ता की कर्म सज्ञा विकल्प से नही करता, इसलिए वहा एक ही रूप बनेगा पाचयति चैत्रेण मैत्र।

१६. निकषासमयाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनै २।४।४६

निकषा आदि युक्त नाम मे द्वितीया विभक्ति होती है। पाणिनीय मे 'येन तेन' शब्द नही है, इसलिए उनके वहा 'येन तेन' युक्त नाम मे द्वितीया विभक्ति नही होती। 'येन तेन वा पश्चिमा गत' ऐसा वाक्य नही बनता।

१७ द्विद्रोणादिभ्यो वीप्साया वा २।४।६२

वीप्सा के अर्थ मे द्विद्रोण आदि गौण शब्दो से तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है। 'द्विद्रोणेन धान्य क्रीणाति द्वि द्रोण द्वि द्रोण क्रीणाति'। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

१८ हितसुखाभ्या २।४।७२

हित और सुख के योग मे चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति होती है। मैत्राय मैत्रस्य सुखम्। पाणिनीय मे सुख के योग मे केवल चतुर्थी ही होती है, षष्ठी नही। मैत्राय सुखम्, एक रूप ही बनेगा।

१९. भावे वा २।४।१०१

भाव मे क्त प्रत्यय हो तो कर्ता मे षष्ठी और तृतीया विभक्ति होती है। छात्रस्य हसित, छात्रेण हसितम्। पाणिनीय मे इस अर्थ मे षष्ठी

विभक्ति विधायक कोई सूत्र नही है लेकिन 'अधिकरणवाचिनश्च' २।३।६८ इस सूत्र से नित्य षष्ठी होती है, तृतीया विभक्ति नही होती। इसलिए छात्रेण हसितम् यह रूप पाणिनीय मे नही बनेगा।

२० पारेमध्येग्रेन्त षष्ठ्या वा ३।१।३०

पारे आदि नाम षष्ठी अन्त वाले नाम के साथ विकल्प से समास होता है। उसके योग मे पारे, मध्ये, अग्रे इन तीन नामो मे जो एकारान्त है, वह निपात रहता है, उसका लोप नही होता।

पार गङ्गाया.=पारेगङ्ग, मध्येगङ्ग,

अग्र वनस्य =अग्रेवण, अन्तर्वण।

पाणिनीय मे इस सूत्र मे अग्रे और अन्तर् इन दो शब्दो का ग्रहण नही किया गया है। इस सूत्र से उनके अग्रेवण और अन्तर्वण ये रूप नही वन सकते।

२१ द्वित्रिचतुष्पूरणाग्रादय. ३।१।३६

यह सूत्र द्वि, त्रि और चतुर् शब्द पूरण प्रत्ययान्त तथा अग्र आदि शब्दो से अश-अशि-समास मानता है। पाणिनीय अग्र आदि शब्दो से अश-अशि-समास नही मानता है।

२२ अर्धचतस्रा ३।१।४६

अर्धचतस्र मात्रा.। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

२३ पर'शत पर सहस्र परोलक्षा ३।१।६२

इस सूत्र से पर शत, पर सहस्र, परो लक्षा. ये तीन रूप वनते हैं। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है अत. ये रूप नही वनते।

२४ सर्वपश्चाददय: ३।१।६८

सर्वपश्चाद् सर्व चिर ये शब्द निपात है। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

२५. सिहादिभि पूजायाम् ३।१।७६

पूजा के अर्थ मे सिह आदि शब्द उपमा के अर्थ मे निपात हैं। समरे सिंह इव समरसिंहः। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

२६. अव्यय प्रवृद्धादिभि ३।१।६७

अव्यय नाम प्रवृद्ध आदि के नाम के साथ नित्य समास होता है। पुन प्रवृद्ध, पुनरुत्स्यूत वास:।

पाणिनीय मे यह सूत्र नही है। इन शब्दो का अव्यय के साथ समास नही होता।

२७ कृतापकृतादय ३।१।१०६

कृतापकृत आदि शब्द निपात है। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

२८. आसन्नदूराधिकाध्यर्धार्धादिपूरण द्वितीयाधन्यार्थे ३।१।१२६

अध्यर्ध त्रिंशा, अर्ध पञ्चम त्रिंशा । पाणिनीय मे इस सूत्र मे होने वाले शब्दो मे अध्यर्ध और अर्ध ये दो शब्द नही हैं, इसलिए वहाँ इनके साथ समास नही होता ।

२९ मासर्तुभ्रातृनक्षत्राण्यानुपूर्व्येण ३।१।१८२

मास, ऋतु आदि शब्दो का द्वद्व समासमे अनुपूर्व मे निपात होता है। फाल्गुनचैत्री, वैशाखज्येष्ठौ। पाणिनीय इनमे मास वाचि शब्दो मे यह क्रम स्वीकार नही करता।

३० सख्या समासे ३।१।१८९

समास मात्र मे सख्याओ को अनु पूर्व से प्राक् निपात करता है। द्वित्रा, त्रिचतुरा ।

पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

३१ ओजोऽञ्जोम्भ महस्तपस्तमस्तृतीयाया। ३।१।१२

इन शब्दो से आगे उत्तरपद हो तो उनकी तृतीया विभक्ति का लोप नही होता। ओजसा कृतम्, तपसा कृतम्। पाणिनीय तपसा कृतम् रूप को स्वीकार नही करता।

३२ अपोयथोनिमतिचरेपु ३।२।२८

अप् शब्द से परे य, योनि, मति और चर शब्द हो तो सप्तमी विभक्ति का लुक् नही होता। पाणिनीय मे मति और चर शब्द इस अर्थ मे ग्रहण नही किए गए है। इसलिए अप्सुमतिः, अप्सुचर ये दो रूप पाणिनीय मे नही वनते ।

३३ वर्षक्षरशरवराप्सरउरो मनसो जे ३।२।२६

ज उत्तर पद मे हो तो इन शब्दो की सप्तमी विभक्ति का लोप विकल्प से होता है। वर्षेज वर्षज ।

पाणिनीय अप्, सरस्, उरस्, मनस् इतने शब्दो से सप्तमी का लोप विकल्प से नही मानता।

३४. प्रावृड्वर्षाशरत्कालदिव ३।२।२७

प्रावृष्, वर्षा, शरत्, काल और दिव् शब्दो से परे ज शब्द उत्तर पद मे हो तो इन शब्दो की सप्तमी विभक्ति का लोप नही होता। पाणिनीय मे वर्षा शब्द ग्रहण नही किया गया है। उनके अनुसार वर्षासुज रूप नही वनता ।

३५ शुन शेपपुच्छलाङ्गूलेषु सज्ञायाम् ३।३।३५

श्वन् शब्द की षष्ठी विभक्ति का लुक् नही होता, यदि उत्तर पद मे शेप आदि शब्द हो और यदि उससे सज्ञा का अर्थ निकलता हो।

पाणिनीय सज्ञा अर्थ के विना ही इस सूत्र को स्वीकार करता है।

३६. नस् नासिकायास्तस् क्षुद्रयों ३।२।११९

नासिका शब्द को नस् आदेश होता है, य प्रत्यय परे हो तो, वर्ण अर्थ को छोडकर। नासिकायै हितं तत्रभव वा नस्यम्। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

३७ ये ऽ वर्णे ३।२।१२०

नासिका शब्द को नस् आदेश होता है, य प्रत्यय परे हो तो, वर्ण अर्थ को छोडकर। नासिकायै हितं तत्र भव वा नस्यम्। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

३८ क्रिया व्यतिहारेऽगति हिसाशब्दार्थहसोहृवहश्चाऽनन्योन्यार्थे ३।३।२०

क्रिया व्यतिहार मे वर्तमान गति, हिंसा शब्दार्थ और हस धातु को छोडकर हृ तथा वह धातु से कर्ता मे आत्मनेपद होता है। व्यतिहरन्ते भार स सविवहन्ते वर्गं। पाणिनीय इस विधान मे वह धातु को स्वीकार नही करता।

३९ शके जिज्ञासायाम् ३।३।६२

शक् धातु को जिज्ञासा के अर्थ मे प्रयुक्त करे तो कर्ता मे आत्मनेपद होता है। विद्या शिक्षते, ज्ञातु शक्नुयामितीच्छतीत्यर्थ। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है। वह इसे स्वीकार नही करता।

४० चल्याहारार्थबुधयुधनशजनेड्प्रुद्रुस्नुभ्य. ३।३।१०३

चल् और आहार अर्थ वाली धातुए तथा बुध आदि धातुओ से अत्रिन् कर्ता को ञिन्नन्त मे कर्म सज्ञा करता है। पाणिनीय इस सूत्र मे आहार अर्थ वाली अद् धातु को स्वीकार नही करता है।

४१ नगृणाशुभरुच ४।१।६

गृण, शुभ् और रुच् धातु के योग से भृशाभीक्ष्ण्यादि अर्थ मे यड् प्रत्यय नही होता है। गर्हित गृणाति, भृश शोभते।

पाणिनीय गृण् धातु को यहा स्वीकार नही करता।

४२ नोत: ४।१।१२

उकारात से विहित यड् प्रत्यय का लुक् नही होता। योयूय रोरूय। पाणिनीय मे ये दोनो रूप नही वनेंगे, क्योकि वहा यड् का लोप होता है।

४३ वाष्पोष्मधूमफेनादुद्वमने ४।१।२८

वाष्प, ऊष्म, धूम और फेन शब्दो से उद्वमन अर्थ मे क्यड् प्रत्यय विकल्प से होता है। वाष्पायते, ऊष्मायते, धूमायते, फेनायते। पाणिनीय मे धूमायते नही होता।

४४. पुनरेकेषाम् ४।१।८१

यह सूत्र पाणिनीय मे नही है।

४५. इको वा ४।२।१६

इक स्मरणे, इस धातु को यकार आदेश विकल्प से होता है, पिद्-वर्जित स्वर आदि शित् प्रत्यय परे हो, अधियन्ति, अधीयन्ति । पाणिनीय नित्य स्वीकार करता है।

४६. जॄ भ्रम वम त्रस फण स्यम स्वन राज भ्राज भ्राश भ्लाशां वा ४।१।१३०

इन धातुओं के अकार को एकार आदेश विकल्प से होता है। लेकिन द्वित्व नही होता, पिद् वर्जित णवादि और सेट् थप् प्रत्यय परे हो तो। जेरतु जजरतु.। पाणिनीय वम धातु से विकल्प से स्वीकार नही करता।

४७ विश्रमेर्वा ४।२।२७

वि पूर्वक श्रम धातु को विकल्प से वृद्धि करता है, ञिणति, कृत्प्रत्यय और णि प्रत्यय परे हो तो विश्राम., विश्रमः। पाणिनीय वृद्धि का निषेध करता है।

४८ नशो नेंश वाङे ४।२।७०

नश् धातु को ङे परे होने पर नेश् विकल्प से आदेश होता है। अनेशत्, अनशत्, ये दो रूप बनते हैं। पाणिनीय तो केवल 'अनशत्' यह एक रूप ही स्वीकार करता है।

४९ कृपऋतलृदकृपणादीनाम् ४।२.७२

कृप धातु के ऋकार को लृकार आदेश होता है परन्तु कृपणादि शब्दो को नही। क्लृप्तः। कृपण.। पाणिनीय कृपण आदि शब्दो का निषेध स्वीकार नही करता।

५० ष्ठिव्सिवोरनटि वा ४।३।३५

ष्ठिव् और षिव् धातु को दीर्घ विकल्प से होता है, अनिट् प्रत्यय परे हो तो। निष्ठीवनम्, सीवन।

पाणिनीय इस विधान को स्वीकार नही करता।

५१. वेटोऽपतः ४।३।६१

पत् धातु को विकल्प से इट् न होने से नित्य इट् होता है, पतित रूप बनता है।

पाणिनीय मे 'तनि पति दरिद्रातिभ्य. सनो वा इड् वाच्य' इति सद्भावात् यस्य विभाषा ७।२।१५ इति इण्निषेधवारणाय पततेर्निषेधोऽन्वेषणीय.।

५२ वम जप त्वर रुप मधुपा स्वनऽश्वमा म ४।३।१०३

वम आदि शब्दो से परे क्त प्रत्यय हो तो इट् विकल्प से होता है।

वान्त., वमित । जप्त जपित । पाणिनीय वम्, जप्, श्वस् इन तीन धातुओ से विकल्प से इट् स्वीकार नही करता, उनके अनुसार वमित, जपित. श्वसित. रूप ही बनेंगे ।

५३ सस्मे दिवादिश्च ४।४।१११

स्म शब्द सहित माङ् उपपद मे हो तो धातु से दिवादि और द्यादि विभक्ति होती है । मास्म करोत्, मास्मकार्षीत् । पाणिनीय इस विधान को स्वीकार नही करता है ।

५४ श्लिष शीङ् स्थास वस जन रुह भज जॄष्य ५।१।१०

इन धातुओ से होने वाला क्त प्रत्यय कर्ता मे विकल्प से होता है, विभक्ता भ्रातरो रिक्थम्, विभक्त भ्रातृभि रिक्थम् । पाणिनीय मे भज् धातु से कर्ता मे विकल्प से नही होता ।

५५ यजिभजिभ्या वा ५।१।२८

यज् और भज् धातु से य प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष मे घ्यण् भी होता है । यज्य, भज्य, याज्य भाज्यम् । पाणिनीय मे विकल्प से दो रूप नही बनते ।

५६ ऋदुपधादऽक्रृपिचृदृच ५।१।३६

यह सूत्र कृप्, चृद् और ऋच् को छोडकर ऋ कार उपधा वाली धातुओ से क्यप् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से ऋच् का अर्च्य रूप नही बनता परन्तु पाणिनीय अर्च्य रूप स्वीकार करता है । वह ऋच् का निषेध नही करता ।

५७. कृ वृषि मृजि शसि दुहि गुहि जपेर्वा ५।१।४४

इन धातुओ से क्यप् प्रत्यय विकल्प से होता है । दुह्य, दोह्य, गुह्य गोह्य, जप्य जाप्य, ऐसे दो रूप बनते हैं । पाणिनीय मे दुह्य, गुह्य, जप्य ये रूप ही बनते हैं ।

५८. तिष्यपुष्यसिद्ध्या नक्षत्रे ५।१।४७

नक्षत्र अर्थ मे ये तीन निपात हैं । पाणिनीय मे तिष्य शब्द निपात नही है ।

५९. नाम्युपधज्ञाप्रीकृगिर क. ५।१।६५

इन धातुओ से क प्रत्यय होता है । उत्किर., गिल । पाणिनीय मे गिर. शब्द स्वीकार नही किया गया है ।

६० धनुर्दण्डत्सरुलाङ्गलाङ्कुशर्ष्टिशक्तियष्टितोमरघटेषु ग्रहे र्वा ४।२।२४

इन शब्दो से अच् प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष मे अण् ।

धनुर्ग्रह, धनुर्ग्राह, दण्डग्रह, दण्डग्राह, त्सरुग्रह, त्सरुग्राह, ऋष्टिग्रह ऋष्टिग्राह । पाणिनीय मे दण्ड, त्सरु ऋष्टि शब्द नही है ।

६१. आद्यन्तानन्त कार बाह्व र्ह दिवा विभा निशा प्रभा भा चित्र कर्तृ नान्दी लिपि लिवि बलि भक्ति क्षेत्र जङ्घा क्षपा क्षणदा रजनी दोषा दिन दिवस धनु रुरु. संख्यासु ५।२-२८

इन शब्दों से करोति धातु से ट प्रत्यय होता है। आदिकर, अन्तकर। पाणिनीय मे क्षपा, क्षणदा, रजनी, दोषा, दिन, दिवस ये शब्द नहीं हैं। उसके अनुसार क्षपाकर, क्षणदाकर, रजनीकर, दोषाकर, दिनकर, दिवसकर ये रूप नहीं बनते।

६२ फले रजो मलेषु ग्रहे ५।२।३२

इस सूत्र मे फलेग्रहिर्वृक्ष, रजोग्रहि कञ्चुक, मलग्रहि कम्बल। पाणिनीय मे रजोग्रहि: और मलग्रहि. ये दो शब्द नहीं बनते।

६३ देववातयोरापे ५।२।३३

देवापि, वातापि। पाणिनीय मे ये दोनों शब्द नहीं हैं।

६४ क्षेम प्रिय भद्र भद्रेष्वण् च ५।२।४०

क्षेमकार, क्षेमकर, प्रियकार: प्रियंकर, भद्रकार, भद्रंकार। पाणिनीय मे भद्र शब्द नहीं है, उससे भद्रकार भद्र कर नहीं बनते।

६५ वहु विध्वरु स्तिलेषु तुद ५।२।५१

वहुतुद, अरुतुद। पाणिनीय मे वहुतुद. ऐसा रूप नहीं बनता।

६६ शं स स्वयं विप्रेभ्यो भुवो डु. ५।३।६३

शभु: सभु स्वयभु:, विभु, प्रभु।

पाणिनीय मे सभु. और स्वयभु शब्द नही बनते।

६७ नीपा दाय् शसु यु युजस्तु तुद सि सिचमिह पतनहे स्त्रट् साधने ५।२।६४

नेत्र, पात्र, पात्री, दात्र, शस्त्रम्। पाणिनीय मे पात्री नहीं बनता।

६८ अन्तर्घनान्तर्घणो देशे ५।४।७३

अन्तर्घन अन्तर्घण। पाणिनीय मे अन्तर्घण नहीं बनता।

६९ सातिहेतियूतिजूतिज्ञप्तिकीर्तय ५।४।९०

साति, ज्ञप्ति आदि शब्द निपात हैं। पाणिनीय मे ज्ञप्ति शब्द नही है।

७० युव पौत्रादी कुत्सार्च्चयो ६।२।६

गार्ग्यस्य अपत्यं युवा कुत्सित गार्ग्य गार्ग्यायणो वा जाल्म। तत्र भवान् गार्ग्यो, गार्ग्यायणो वा इति रूपमपि भवति।

पाणिनीये यून कुत्सायां गोत्रसज्ञा, वृद्धस्य पूजायां युवसज्ञा। तेन गार्ग्यो जाल्म, तत्रभवान् गार्ग्यायण इत्येव रूप भवति।

७१ एदोद्देश एवेयादौ ६।२।१२

७२. प्राग् देशे ६।२।१३

पाणिनीय मे इन दो सूत्रो के स्थान पर एक ही सूत्र है एङ् प्राचां देशे १।१।७५

७३ अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तरपदाञ्ञ्य. ६।२।१६

इदम् अर्थ को वर्ज कर अपत्यादि अर्थ मे प्रत्यय करता है। पाणिनीय मे अनिद शब्द नही है।

७४. णश्च विश्रवसो विश लोपश्च वा ६।२।५०

विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवण., विश् लोपे तु रावण:। पाणिनीय मे ये रूप नही बनते।

७५ अग्निशर्मगोवृषगणे ६।२।७०

आग्निशर्मायणो वृष गण । पाणिनीय मे यह सूत्र नही हे।

७६. कृष्णरणाद् ब्राह्मणवाशिष्ठे ६।२।७१

कार्ष्णायिनो ब्राह्मण: राणायनो वाशिष्ठ । पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

७७ दगु कोशल कर्मारच्छाग वृषेभ्यो युट् च ६।२।८२

दागव्यायनि । पाणिनीय मे दगु शब्द नही है, इसलिए दागव्यायनि रूप नही बनता।

७८ दुष्टे गोधाया एरण् च ६।२।१०३

गोधा शब्द से दुष्ट अपत्य अर्थ मे एरण् प्रत्यय होता है। गोधरे । पाणिनीय मे दुष्ट शब्द नही है।

७९ उदितगुरोरब्दे ६।३।६

पुष्पेण उदित गुरुणा युक्त वर्ष पौष वर्षम्। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

८० धेनोरनञ. ६।३।१६

धेनु शब्द से समूह अर्थ मे इकण् प्रत्यय होता है, यदि वह नञ् समास न हो तो। धैनुकम्। पाणिनीय मे अनञ शब्द नही है।

८१ पुरुपात् कृतहितवधविकारम्समूहेष्वेयञ् ६।३।६४

पुरुषेण कृत पौरुषेयो ग्रन्थ, पौरुषेयमार्हत शासनम्। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

८२ रङ्को प्राणिनि वा ६।४।१२

रङ्कु शब्द से प्राणि अर्थ मे पायनण् प्रत्यय विकल्प से होता है। राङ्कवायण । मनुष्य अर्थ मे राङ्कवको मनुष्य । पाणिनीय मे रङ्कोरमनुष्ये ण्च् -यह सूत्र है।

८३ कुशले ७।१।१८

पाणिनीय मे 'तत्र कुशल पथ' ऐसा पाठ है।

८४ त्यदादेर्मयट् ७।१।७१

तन्मय, तन्मयी, भवन्मयम्। पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

८५ ज्योतिषम् ७।१।७७

पाणिनीय मे यह सूत्र नही है।

८६ वामाद्यादेरीन ७।३।४

वामाधूर्वा मधुरा, वामधुरीण। सर्वधुरीण।

पाणिनीय मे सर्वधुर शब्द नही है। इसलिए वहा सर्वधुरीण रूप नही बनता।

८७ विध्यत्यऽनन्येन ७।३।८

विध्यति के अर्थ मे द्वितीयान्त नाम से य प्रत्यय होता है, यदि वह अन्य साधन से न हो। पादौ विध्यन्ति पद्या, अनन्येन इति किम् चौर विध्यति चैत्र। अत्र हि चैत्रश्चौर विध्यत् धनुषा पाषाणे वा विध्यति। पाणिनीय केवल धनुषा शब्द को छोडता है। विध्यत्यधनुषा इति।

८८ सर्वजनाण्ये नभौ ७।३।१९

सार्वजन्य:, सार्वजनीन। पाणिनीय मे 'प्रति जनादिभ्य खञ्' इससे केवल खञ् प्रत्यय होने से 'सार्वजनीन, केवल यह एक रूप ही बनेगा, 'सार्वजन्य' रूप नही बनेगा, बनेगा।

८९ नञ् सुदुर्भ्य सक्तिहलिसक्थ्यर्वा ८।३।४७

नञ्, सु दुर् से परे सक्ति, हलि, सक्थि ये शब्द हो तो बहुव्रीहि समास मे अ प्रत्यय विकल्प से होता है। असक्त, असक्ति सुसक्त', मुसक्ति दु सक्त दु सक्ति। पाणिनीय मे सक्ति शब्द का ग्रहण नही किया गया है इसलिए उपरोक्त रूप वहा नही बनेंगे।

९० सर्वांश सख्यात पुण्य वर्षा दीर्घाच्च रात्रे ८।३।५५

इस सूत्र मे जो शब्द हैं, उनमे वर्षा और दीर्घ ये दो शब्द पाणिनीय मे नही है। इसलिए वर्षारात्र. और दीर्घरात्र ये रूप पाणिनीय मे नही बनेंगे।

९१ सुप्रात सुश्वसु दिवशारि कुक्ष चतुर श्रैणी पदाज पद प्रोष्ठपद भद्रपदा ८।३।७१

इस सूत्र मे उपर्युक्त शब्द बहुव्रीहि समास मे उ प्रत्ययान्त निपात हैं। पाणिनीय मे भद्रपद शब्द नही है। इसलिए भद्रपद शब्द निपात नहीं है।

९२ मन्दाल्पाच्च मेधाया ८।३।७३

मन्दमेधस् अल्पमेधम् । पाणिनीय मे यह सूत्र नही है, इसलिए वहा ये दो रूप नही बनते ।

९३ भृशाभीक्ष्ण्यसातत्यवीप्सासु द्वि प्राक् तमादे ८।३।८५

पाणिनीय मे प्राक् तमादे यह पाठ नही है ।

९४ नानावधारणे ८।४।९७

अवधारण के अर्थ मे वर्तमान शब्द द्वित्व होता है । माष माष देहि । पाणिनीय मे यह सूत्र नही है ।

९५ पूर्वप्रथमावन्यतोतिशये ८।४।९८

प्रथम प्रथम पच्यन्ते । पाणिनीय मे यह सूत्र नही है ।

९६ डतरडतमौ समाना स्त्रीभावप्रश्ने ८।४।९९

कतरा कतरा एषा माढचता । कतमा कतमा एषा माढचता । पाणिनीय मे यह सूत्र नही है ।

श्री भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण की कोटि मे अब तक अतिम है । इसलिए इसमे पूर्ववर्ती सभी व्याकरणो का सार-दोहन उपलब्ध है । अतिम को पूर्ववर्ती रचनाओ का जो लाभ मिलता है, वह लाभ भिक्षुशब्दानुशासन को भी प्राप्त है । सस्कृत व्याकरण के अष्टाध्यायी पद्धति से होने वाले अध्ययन के सरलीकरण के उद्देश्य मे यह सफल हुआ है । यह सफलता ही इसकी अपनी विशेषता है । विशालशब्दानुशासन, हेमशब्दानुशासन और पाणिनीय आदि पूर्ववर्ती महाव्याकरणो के अनुदान की उपेक्षा कर इसका मूल्याकन नही किया जा सकता । सभव है, अगले वर्ष यह व्याकरण प्रकाशित होकर विद्वानो के हाथो मे आ जाए ।

दो प्रक्रिया-ग्रन्थ

मुनि 'दिनकर'

भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण की प्रक्रिया है कालुकौमुदी । इसके प्रणेता है विद्वद्वर्य मुनि श्री चौथमलजी । इसकी रचना वि० स० १९८१ मे हुई और तब से यह हमारे सघ के साधु-साध्वियो तथा पारमार्थिक शिक्षण-सस्था मे सस्कृत का अध्ययन करनेवाले मुमुक्षुओ के लिए प्रयुक्त होती रही है। इसका अध्ययन कर अनेक व्यक्ति सस्कृत मे निष्णात हुए है। मैं उसकी विशेषता के विषय मे कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहा हू।

प्राचीन व्याकरण लघुसिद्धान्त कौमुदी तथा मुनि श्री चौथमल जी द्वारा रचित कालुकौमुदी के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कुछ उदाहरण यहा प्रस्तुत है। कितने कठिन व्याकरण के विषय को किस प्रकार सरलता और सुगमता से रखा है, यह निम्नाकित सूत्रो के द्वारा समझा जा सकता है। लघुसिद्धान्त कौमुदी के प्रत्याहार सूत्र हैं अ इ उ ण् १, ऋ लृ क् २, ए ओ ङ् ३, ऐ औ च् ४, ह य व र ट् ५, ल ण् ६, ञ म ङ ण न म् ७, झ भ ञ् ८, घ ढ ध ष् ९, ज ब ग ड द श् १०, ख फ छ ठ थ च ट त व् ११, क प य् १२, श ष स र् १३, ह ल् १४। इस प्रकार प्रत्याहार बताने के लिए चौदह सूत्रो का निर्माण किया गया है। इन सूत्रो के अन्तिम अक्षरो की इत् सज्ञा बताई गई है। यहा प्रत्याहार ग्रहण करने की विधि कुछ कठिन पडती सी नजर आई। क्योकि अक्षरो की श्रृखला टूट सी जाती है। जैसे—अण् अ इ उ, अक्-अ इ उ ऋ लृ, इक्-इ उ ऋ लृ। उक्-उ ऋ लृ। इस प्रकार प्रत्याहार सूत्रो का सम्बन्ध अलग थलग सा ही प्रतीत होता है। अत उसमे कोई सरलता दिखाई नही देती। इस स्थल मे कालुकौमुदी का सूत्र बहुत सरल एव उच्चारण करने मे पूर्ण स्पष्ट है। जैसे अइउऋलृ एऐओऔ हयवरल ञणनङम झढधघभ—जडदगब खफछठथ चटतकप शषस ११११४। स्पष्टता के लिए सधि नही की गई है। यहा प्रत्याहार ग्रहण करने की विधि अत्यन्त सुगम है। जैसे किसी ने 'अलप्रत्याहार' का उल्लेख किया, वहा "अ इ उ ऋ लृ ए

"ए ओ औ ऐ य व र ल" इस प्रकार [illegible] होता है। यह विधि सरल तो है ही, साथ ही साथ [illegible] भी है। लघुसिद्धान्त-कौमुदी के सूत्र उच्चारण करने में कुछ कठिन पड़ते हैं। इसलिए उदाहरणार्थ कुछ सूत्र प्रस्तुत हैं। जैसे सूत्र नं० १५३ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङे-भ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४।१।२। इसी प्रकार सूत्र नं० [illegible] और सूत्र नं० ४२० भी उच्चारण करने में कम कठिन नहीं हैं, जैसे हल्ङ्या-ब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् [illegible] तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्ताताञ्झथासा-थाम्ध्वमिड्वहिमहिङ् ३।४।७८। इस प्रकार सूत्रों के उच्चारण में काफी कठिनाई का अनुभव होता है।

उपर्युक्त सूत्रों के स्थान में कालुकौमुदी में कौन से सूत्र लिए गए हैं व इन सूत्रों का निर्माण किस प्रकार की शब्दावली में किया गया है, यह भी यहां बताना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। सूत्र नं० १ के स्थान में सि औ जस्, अम् औ शस् टा भ्यां भिस्, ङे भ्यां भ्यस्, ङसि भ्यां भ्यस्, ङस् ओस्– आम्, ङि ओस् सुपाम्। सूत्र नं० २ के स्थान में हृस्व में लोप तथा सूत्र नं० ३ के स्थान में- वर्तमाने — तिप् तस् अन्ति, सिप् थस् थ, मिप् वस् मस्, ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे। इस प्रकार कालुकौमुदी को व्याकरण सम्बन्धी सभी प्रकार की जटिलताओं से मुक्त रखा गया है। इसके अतिरिक्त शब्द सिद्धि का भी उसका अपना एक सरल प्रकार है, जो अन्यान्य व्याकरणों में कम मात्रा में पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर "रामान्" द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का रूप है। यह "समोता दीर्घ-शसश्चन पुसि" केवल इस एक सूत्र से ही सिद्ध हो जाता है। अर्थात् शस् के अकार सहित पूर्व के स्वर को दीर्घ एवं शस् के सकार को 'न्' हो जाता है। प्रथम सकार इसी सूत्र की विशेषता के लिए कहा गया है। किन्तु इसी शब्द को सिद्ध करने के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी में कितने सूत्रों को काम में लिया है, यह निम्नोक्त प्रकार से विदित होता है, जैसे "राम-शस्" सर्वप्रथम सूत्र नं० १७१ लशक्वतद्धिते १।३।८ से इस शकार की इत् संज्ञा की गई। सूत्र नं० ६ अदर्शनं लोपः १।१।६० से लोप की परिभाषा। फिर सूत्र नं० ७ तस्य लोपः १।३।९ से इत् संज्ञक वर्ण का लोप और सूत्र नं० १६२ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२ से "राम" के अकार को दीर्घ किया गया। फिर सूत्र नं० १७१ तस्माच्छसोनः पुंसि ६।१।१०३ से "सकार" को नकार हुआ अतः रूप बना "रामान्" किन्तु फिर भी यहां सूत्र नं० १७३ अट् कुप्वाङ् नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२ से नकार को णकार होने की प्राप्ति हुई। तब उसे निषिद्ध करने के लिए सूत्र नं० १७४ पदान्तस्य ८।४।३७ सूत्र का निर्माण करना पड़ा।

इसी प्रकार का एक उदाहरण और प्रस्तुत है। सखि शब्द से प्रथमा विभक्ति का "सि" प्रत्यय लाया गया। इस अवस्था में कालुकौमुदी का सूत्र 'ऋदुशन-

स्पुसदशोऽने हसश्चसेरधेर्डा" से 'सि' को डा हुआ और डित्वात् टि का लोप होने से 'सखा' ऐसा रूप सिद्ध होता है। किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी मे एतदर्थ अनेक सूत्र और युक्तिया काम मे लाई गई हैं। वे निम्नोक्त प्रकार से हैं—सखि सु यहा सूत्र न० २१ अ न ड् सौ ७।१।१०३ से सखि शब्द को अनड् आदेश होता है। यह आदेश सूत्र न० ७२ डिच्च १।१।५३ के अनुसार अन्त के वर्ण को प्राप्त हुआ। सूत्र न० ५ हलन्त्यम् १।३।३ से ड् का लोप तथा सूत्र न० ४१ 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ से अकार का लोप सूत्र न० ४२ प्रतिज्ञाअनुनासिक्यापाणिनीया से अनुनासिक मानकर किया जाता है। सखान् सु ऐसा स्थित है। सूत्र न २१२ "अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा" १।१।६५ से अकार की उपधा की सज्ञा की, तथा सूत्र न० २१३ सर्वनामस्थाने चाऽसबुद्धौ ६।४।१ से नकारान्त शब्द की उपधा को दीर्घ किया गया। अव हमारे सामने सखान्-सु ऐसा रूप प्रस्तुत है। सूत्र न० २१४ अपृक्त एकालप्रत्यय १।२।४१ से सकार की अपृक्त सज्ञा, तथा सूत्र न० २१५ 'हल्ड्याब्भयो दीर्घात् सुतिष्य पृक्त हल् से' ६।१।६८ विभक्ति के सकार का लोप किया गया। "सखान्" ऐसा अवशिष्ट रहा। सूत्र न० २१६ "न लोप प्रातिपदिकान्तस्य" ८।१।७ से नकार का लोप करने पर सखा रूप सिद्ध हुआ। देखने की वात यह कि एक रूप की सिद्धि के लिए कितने सूत्रो का निर्माण किया गया है। प्रारम्भिक सस्कृत विद्यार्थी को काफी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। कालुकौमुदी मे इस वात पर पूरा ध्यान रखा गया है। इसके निर्माणकर्ता ने किस प्रकार सरलता से शब्द-सिद्धि का यह लेखा जोखा किया, यह समझने जैसी वात है।

यहा यह वताना उचित होगा कि इसके रचनाकाल मे पाणिनि हैम, सिद्धान्त कौमुदी, चन्द्रिका, सारस्वत आदि अनेक व्याकरणो का पारायण किया गया था। उनके जिस किसी भी स्थल की सरल पद्धति ध्यान मे आई, उसे यहा स्वीकार किया गया है।

हमने लघुसिद्धान्तकौमुदी, सिद्धान्त चन्द्रिका तथा सारस्वत आदि कई प्रक्रियाए देखी परन्तु कालुकौमुदी जैसी स्पष्ट व सरल कोई भी हमारी दृष्टि मे नही आई। यहा इतना अवकाश नही कि सवका निचोड यहा प्रस्तुत किया जा सके। किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी के अनेक स्थल हमने पढे है। हमे वे स्थल वडे दुरूह से नजर आए। स्थानाभाव के कारण इस लघुकाय निवन्ध मे उन सभी स्थलो को उद्धृत नही किया जा सकता है। फिर भी विद्वान् इन दो-एक उदाहरणो से ही वस्तुस्थिति को आक सकेंगे, ऐसा हमारा अनुमान है।

तुलसीप्रभा

आचार्य कालूगणी के समय कुछ सतों ने हेमशब्दानुशासन का अध्ययन किया।

था। किन्तु उस महाव्याकरण पर कोई उपयुक्त प्रक्रिया नहीं थी। जो थी वे या तो अधिक विस्तृत थी या अधिक सक्षिप्त थी। मुनि सोहनलालजी (चूरू) ने इस कमी को पूरा करना चाहा। उन्होंने कुछ श्रम किया और तीन हजार श्लोक परिमाण वाली एक प्रक्रिया का निर्माण कर डाला। उसका नाम वर्तमान आचार्य श्री तुलसी के नाम पर 'तुलसीप्रभा' रखा। वि० स० १९९६ फाल्गुन शुक्ला ५ सोमवार को उसकी रचना प्रारभ हुई और स० १९९९ की विजयदशमी को चूरु मे उसकी पूर्ति की गई। उसकी अपनी विशेषता यह रही कि उसमे प्रयुक्त सभी उदाहरण ऐतिहासिक, आगमिक, तात्त्विक या सघीय परपरा से अनुस्यूत हैं। इसका प्रयोजन यह था कि व्याकरण के अध्ययन के साथ साथ विद्यार्थी को जैन इतिहास, आगम, जैन तत्त्व और तेरापथ की परपरा का भी बोध हो जाए। उदाहरण के रूप मे आडावधी आड् प्रत्यय के योग मे पचमी विभक्ति होती है। आड् अव्यय के दो अर्थ हैं मर्यादा और अभिविधि। दोनो के दो उदाहरण इस प्रकार हैं

१ मर्यादा आत्रयोदशगुणस्थानात् कर्मबन्ध।

२ अभिविधि आसिद्धे ससार।

भिक्षुशब्दानुशासन का तुलनात्मक अध्ययन

पं० विश्वनाथ मिश्र

व्याकरण स्वरूप और परम्परा

भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है और विद्या भावाभिव्यक्ति के साथ अमृतोपलब्धि का भी। संस्कृत मात्र भाषा ही नहीं अपितु वह विद्या भी है। व्यापकता, प्राचीनता, सर्वाङ्गीणता तथा ज्ञानगरिमा के कारण संस्कृत विश्व की सर्वातिशायिनी भाषा है। विश्व में वही भाषा सक्षम तथा सशक्त समझी जाती है, जिसके पास स्वयं का व्याकरण हो। व्याकरण वह निकषोपल है, जिसके द्वारा भाषा का विशुद्ध एवं परिमार्जित रूप सामने आता है। शब्द की व्याक्रिया करना ही व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। धातु और प्रत्ययों की आधारशिला पर शब्दों का निर्माण कर उनके अन्तराल में निहित स्वारसिक अर्थ की अभिव्यक्ति करना किसी भी भाषा के लिये गौरवपूर्ण स्थिति का सूचक होता है। व्याकरण वह निरापद राजमार्ग है, जिसपर अवाधरूप से चलते हुए भाषा की समस्त विधाओं का आलोडन भली भाँति किया जा सकता है। भारत में व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा बहुत पुरानी है। लगभग सहस्राब्दियों से भी अधिक समय से यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से यहा चलती आ रही है। संस्कृत व्याकरण ने शब्द के जिस व्यापक, नित्य स्वरूप और इसके अर्थ-प्रकाशन के अपूर्व सामर्थ्य का जो चित्रण किया है, वह अपने में अनुपम है।

व्याकरण की विविधता

संस्कृत वाङ्मय में महर्षि पाणिनि का शब्दानुशासन आज सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त व्याकरण के रूप में उपलब्ध होता है। इसमे वैदिक और लौकिक उभयविध शब्दों का निर्वचन किया गया है। इसकी अपूर्व विशिष्टता के फलस्वरूप इस पर कात्यायन ने वार्तिक तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य लिख कर इसके गौरव को आगे बढाया। इसके ऊपर वामन जयादित्य दीक्षित, नागेश प्रभृति विद्वानों ने वृत्ति,

कौमुदी तथा शेखरादि टीकाग्रन्थों का प्रणयन कर इसका काफी विकास किया है। फलस्वरूप इसका अध्ययन जटिल हो गया है और यह साधन न रह कर स्वयं साध्य बन गया। फिर भी इसका पठन पाठन आज व्यापक स्तर पर हो रहा है।

पाणिनि का शब्दानुशासन परवर्ती अनेक व्याकरणों का प्रेरणास्रोत रहा है। इन परवर्ती व्याकरणों में पाणिनि स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हैं। व्याकरणों की संख्या आठ मानी जाती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध हैं

इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायन।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका॥

कहीं कहीं यह श्लोक इस रूपान्तर में भी उपलब्ध होता है

ऐन्द्र चान्द्र काशकृत्स्न कौमार शाकटायनम्।
सारस्वत चापिशल शाकल पाणिनीयकम्॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि आठ वैयाकरणों ने आठ व्याकरणों की रचना की। इनमें पाणिनि का शब्दानुशासन सर्वप्राचीन है ऐसा कुछ लोगों का अभिमत है। पाणिनि के पहले ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण नहीं था, ऐसी भी कुछ लोगों की मान्यता है। पहले श्लोक में "शाब्दिका" शब्द आया है। 'शाब्दिक' का अर्थ होता है शब्द-शास्त्र में प्रौढि प्राप्त करने वाले अथवा शब्द शास्त्र पारगत विद्वान्, अथवा शब्दशास्त्र के प्रचारक। 'शाब्दिक' शब्द का ऐसा अर्थ करने पर उन सभी ने स्वतन्त्ररूप से व्याकरण का निर्माण किया था, यह कथन सर्वथा असदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

पातञ्जल महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उल्लेख आता है कि इन्द्र बृहस्पति के पास व्याकरण के अध्ययन के लिये गये। बृहस्पति ने दिव्यवर्षसहस्रपर्यन्त शब्दों का पारायण किया, पर उनका अन्त नहीं पा सके। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्र जो कि प्रथम वैयाकरण के रूप में अनुश्रुत है, केवल शब्दकोष रूप व्याकरण के प्रणेता हो सकते हैं। धातु प्रकृति प्रत्ययादि का निर्वचन पुरःसर किसी व्याकरण का निर्माण इन्द्र के द्वारा हुआ था, ऐसा निर्भ्रान्त रूप से नहीं कहा जा सकता। इन्द्र नामक किसी मनुष्य ने ऐन्द्र व्याकरण बनाया था, ऐसा कहना भी युक्ति सगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शाकल्य, स्फोटायन, शाकटायन प्रभृति जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें इन्द्र का उल्लेख नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि से पूर्व ऐन्द्र नामक कोई सर्वाङ्ग सम्पन्न व्याकरण नहीं था।

जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका (पृष्ठ ७) में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि चान्द्रव्याकरण बौद्ध विद्वान् आचार्य चन्द्रगोमी की रचना है,

जो गुप्त-काल से अस्तित्व मे आयी। इस सम्बन्ध मे राजतरगिणी १।१७१ मे एक श्लोक आता है

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देश तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तित महाभाष्य स्व च व्याकरण कृतम्॥

इस श्लोक से विदित होता है कि चन्द्र प्रभृति जो प्राचीन वैयाकरण थे, उन्होने महाभाष्य का प्रचार किया तथा स्वय का व्याकरण भी बनाया। इससे सिद्ध होता है कि ये चन्द्राचार्य न केवल पाणिनि के परवर्ती है किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि से भी परवर्ती हैं। इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पाणिनि से पूर्व चान्द्र नाम का कोई व्याकरण नही था।

ये चन्द्राचार्य तथा बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमी दोनो एक ही है या अलग अलग यह भी ऐतिहासिक अनुसन्धान का विषय है। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि बौद्ध विद्वान् के द्वारा पातञ्जल महाभाष्य का प्रचार सन्देहास्पद होने के कारण ये दोनो चन्द्र पृथक् पृथक् हैं तथा पाणिनि से परवर्ती भी है।

युधिष्ठिर मीमासक ने 'सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक मे पाणिनि पूर्ववर्ती आपिशलि, काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्यों के सूत्र, धातु और गण के वचन उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया हे कि पाणिनि से प्राचीन आचार्यो के भी पाणिनि के समान ही सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ थे।

अस्तु जो भी हो इन्द्र, शाकटायन, आपिशली और काशकृत्स्न व्याकरण इस समय उपलब्ध नही हैं। आज प्रचलित जो शाकटायन व्याकरण दृष्टि गोचर हो रहा है, वह नवमी शती की रचना है जब कि पाणिनि लगभग पाचवी शती विक्रमपूर्व नन्द राजाओ के समय मे हुए थे। इस शाकटायन व्याकरण मे न केवल सूत्रकार पाणिनि का ही अनुकरण है अपितु वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलि की भी अनुकृति इसमे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कतिपय उदाहरणो द्वारा इसे स्पष्ट करना आवश्यक है।

पाणिनि के वर्णसमाम्नाय मे १४ सूत्र है, किन्तु शाकटायन के अक्षर समाम्नाय मे १३ सूत्र है। महाभाष्य के द्वितीय आह्निक मे वार्तिककार ने "ऋलृक्" सूत्र मे लृकार का प्रत्याख्यान किया है। तदनुसार शाकटायन ने ऋलृक् की जगह 'ऋक्" सूत्र लिखा है। पाणिनि ने "अइउण्" तथा लण्" इन दो सूत्रो मे दो वार णकार अनुबन्ध लगाया है। इन दो णकारो का उपादान क्यो किया गया ? इस पर "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति नहि सदेहादलक्षणम्" यह परिभाषा ज्ञापित की गई है। शाकटायन इस विवाद मे नही पडना चाहते। इन्होने "हयवरलञ्" ऐसा सूत्र बनाकर णकार के दो बार आने की समस्या का सदा के लिए निराकरण कर दिया। इससे शाकटायन की पतञ्जलि से परवर्तिता स्पष्ट हो जाती है।

पाणिनि सूत्र "शश्छोऽटि" पर कात्यायन वार्तिक है "छत्वममीति वाच्यम्"। शाकटायन ने इस आधार पर "शश्छोऽमि" सूत्र ही बना डाला। शाकटायन ने कतिपय सूत्र अपने व्याकरण में जैसे के तैसे गृहीत किये हैं।

पाणिनि	शाकटायन
१ त्रेस्त्रय	त्रेस्त्रय
२ पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनव केवल समानाधिकर	पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण नवकेवलम्
३ वृन्दारकनागकुञ्जरै पूज्यमानम्	वृन्दारकनागकुञ्जरै
४ कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने	कतरकतम जाति परिप्रश्ने
५ यावदवधारणे	यावदवधारणे

पाणिनि पूर्ववर्ती शाकटायन निश्चित ही एक प्रौढ वैयाकरण हैं, किन्तु उनकी कोई भी कृति पाणिनि के समय थी, यह असदिग्धरूप से नही कहा जा सकता।

पाणिनि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा जिस अष्टाध्यायी का निर्माण किया, वह विश्ववाङ्मय मे अनुपम है। ऐतिहासिक तथ्यो के साक्ष्य पर पाणिनि पाचवी शती विक्रम पूर्व मे हुए थे। इसके अनन्तर एक हजार वर्ष तक की अवधि मे कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि के महाभाष्य के अलावा कोई भी स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ नही लिखा गया। बौद्ध और जैन विद्वान्, क्रमश पालि और प्राकृत जिनके धार्मिक वाङ्मय की, धर्म की भाषाए थी उनका ध्यान जब सस्कृत की ओर गया और उसकी व्यापकता तथा अर्थाभिव्यक्ति-क्षमता का उन्हे पता लगा तो उन्होंने इसे अपने व्यवहार के लिए अपनाया। कनिष्क के समय अश्वघोष ने अपने काव्य की रचना सस्कृत मे की, यह बात ऐतिहासिको से तिरोहित नही है। इसी पृष्ठभूमि मे बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमी ने तथा जैन विद्वान् आचार्य देवनन्दि ने अपने अपने व्याकरणो की रचना की। चान्द्र व्याकरण तो आजकल उपलब्ध नही है पर जैनेन्द्र व्याकरण सर्वत्र उपलब्ध है। पाणिनि के बाद व्याकरण निर्माण-परम्परा मे जैनेन्द्र व्याकरण सर्वप्रथम है। इसका समय ईसा की पाचवी शती है। चान्द्र व्याकरण का भी समय यही है। प्रचलित शाकटायन व्याकरण नवमी शती तथा हेमशब्दानुशासन बारहवी शती पूर्वार्द्ध की रचना है।

इन सब ने स्वेच्छया तथा पूर्ण सौहार्द से पाणिनि व्याकरण की मूलसामग्री का आकलन अपने ग्रन्थो मे किया है। जैनेन्द्र व्याकरण के अध्ययन से विदित होता है कि केवल स्वर और वैदिक प्रक्रिया को अपने लिये अनावश्यक समझ कर जैनेन्द्र व्याकरणकार ने इन्हे तो छोड अवश्य दिया पर शेष पाणिनि सामग्री की अविकल रक्षा की। हेमशब्दानुशासन के बाद जैन सम्प्रदाय के आचार्य विशाल कीर्तिगणि का 'विशालशब्दानुशासन' तथा मलयगिरिकृत 'मलयशब्दानुशासन' का नाम आता है पर ये दोनो व्याकरण इस समय उपलब्ध नही हैं।

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने अपने शब्दानुशासन मे निम्नलिखित ६ आचार्यों के नाम का उल्लेख किया है

१ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् १।४।३४

२ कृवृषिमृजा यशोभद्रस्य २।१।९९

३ शद् भूतवले ३।४।८३

४ रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य ४।३।१८७

५ वेत्ते सिद्धसेनस्य ५।१।७

६ चतुष्टय समन्तभद्रस्य ५।४।१४०

इन नामोल्लेखो से विदित होता है कि जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती ये ६ वैयाकरण थे। परन्तु इन्होने किसी व्याकरणग्रन्थ की रचना की थी, उसका कोई पुष्ट प्रमाण इस समय उपलब्ध नही होता। फिर भी कहा जा सकता है कि ये विशिष्ट वैयाकरण थे, जिनका व्याकरण के प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा। पाणिनि-व्याकरण मे भी आये हुए शाकल्य, गार्ग्य, गालव, स्फोटायन प्रभृति के सम्बन्ध मे भी बहुतो की ऐसी ही धारणायें हैं।

जैन व्याकरण परम्परा मे अग्रिम तथा अन्तिम कडी के रूप मे "भिक्षुशब्दानुशासन" का नाम आता है। इसके रचयिता तेरापन्थ सम्प्रदाय के मुनि श्री चौथमल्ल है। इसकी रचना बीकानेर राज्यान्तर्गत छापर ग्राम मे की गई। विक्रम सम्वत् १९८८ माघ शुक्ला त्रयोदशी शनिवार को पुष्य नक्षत्र मे यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया, जैसा कि इसमे उल्लेख किया गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन का परिमाण इसमे आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय मे चार चरण है। सूत्र सख्या कुल ३७५१ है। इन सूत्रो के ऊपर आयुर्वेदाचार्य आशुकवि प० श्री रघुनन्दन शर्मा द्वारा रचित वृहद्वृत्ति है। इसमे सूत्रो की प्रौढ तथा विस्तृत व्याख्या की गई है। भिक्षुशब्दानुशासन की यह सूत्र सख्या जैनेन्द्र तथा शाकटायन के सूत्रो से अधिक है। निम्नलिखित तालिका से यह वात स्पष्ट है

पाणिनि अध्याय आठ, पाद वत्तीस, कुल सूत्र ३९८२। इसमे लौकिक और वैदिक दोनो प्रकार के सूत्र है।

जैनेन्द्र अध्याय पाच, पाद वीस, तथा सम्पूर्ण सूत्र २९६३ है।

शाकटायन अध्याय चार, पाद सोलह, सम्पूर्ण मूत्र ३२३६ हैं।

शब्दो की सिद्धि मे पाणिनि के सूत्रो की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन के सूत्रो की अधिकता का कारण इसकी लाघव तथा सरलीकरण की प्रक्रिया है। मूलत व्याकरण को सरलतया छात्रो को वोधगम्य कराना ही इसका उद्देश्य है। इसलिये पाणिनि के अधिकाश लम्वे सूत्रो को कई खण्डो मे विभाजित करके छोटे छोटे सूत्र इसमे वनाये गये है। उदाहरण के लिये पाणिनि सूत्र "टाङसिङसामिनात्स्या" इस सूत्र को लिया जाय। यह सूत्र टा, ङसि ङस् प्रत्ययो के स्थान पर क्रमश इन,

आत् और स्य आदेश करता है। भिक्षुशब्दानुशासन मे इस सूत्र की जगह तीन सूत्र है

१ टेन १।४।१५ इससे टा के स्थान पर इन आदेश होता है।

२ ङसिरात् १।४।१३ ङसि को आत् का विधान करता है।

३ ङस् स्य १।४।१४ ङस् के स्थान स्य का विधायक सूत्र है।

इसके अतिरिक्त पाणिनि व्याकरण मे आये हुए कतिपय वचनो एव वार्तिको को भी इसमे सूत्र का रूप दे दिया गया है। जैसे --

१ अ अनुस्वार १।१।११

२. अ विसर्ग १।१।१२

३ कु चु टु तु वर्गा ११।१।१५

भट्टोजिदीक्षित कृत सिद्धान्त कौमुदी मे इन सूत्रो के लिये निम्नलिखित वचन मिलते है

"अ अ इत्यच परावनुस्वारविसर्गौ"

"कु चु टु तु पु" इत्येते उदित "

पाणिनि परम्परा मे ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण सज्ञा करने के लिए "ऋलृवर्णयो मिथ सावर्ण्य वाच्यम्" ऐसा वार्तिक आता है। भिक्षुशब्दानुशासन मे इसे सूत्र का रूप दे दिया गया है ऋलृवर्णौ वा १।१।१६

इसी प्रकार "शकन्ध्वादिषु पररूप वाच्यम् ।।"

"शाकपार्थिवादीना सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसख्यानम् ।।"

इन दो वार्तिको के स्थान पर भिक्षुशब्दानुशासन मे निम्नलिखित सूत्र मिलते हैं

१ शकादीना टेरन्ध्वादिषु १।२।११

२ शाकपार्थिवादीना मध्यमपदलोपश्च। ३।१।११०

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पाणिनि के अनन्तर जितने व्याकरणो की रचना हुई है, उन सब पर पाणिनि का अविकल प्रभाव है। यह व्याकरण भी उस परम्परा से अछूता नही है, फिर भी इसकी निजी विशेषताये हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

भिक्षुशब्दानुशासन मे प्रत्याहार सूत्र

सक्षेपीकरण व्याकरणशास्त्र की अपनी विशेषता है। सारगर्भित छोटे छोटे सूत्रो के द्वारा महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत व्याख्या सापेक्ष तथ्यो का प्रस्तुतीकरण व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र कम जगहो पर देखने को मिलता है। प्रत्याहार भी कुछ इसी प्रकार के कार्य करते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ इन नौ अक्षरो को पाणिनि व्याकरण मे "अच्" जैसे छोटे शब्द के द्वारा कहा गया है।

पाणिनि व्याकरण के मूलाधार चौदह माहेश्वर सूत्र हैं। इन्हे अक्षर समाम्नाय, वर्ण समाम्नाय तथा प्रत्याहार सूत्र इत्यादि विभिन्न नामो से जाना जाता है। ये चौदह सूत्र इस प्रकार है

अइउण्।१। ऋलृक्।२। एओङ्।३। ऐऔच्।४। हयवरट्।५। लण्।६। ञमङणनम्।७। झभञ्।८। घढधष्।९। जबगडदश्।१०। खफछठथचटतव्।११। कपय्।१२। शषसर्।१३। हल्।१४।

जैनेन्द्र व्याकरण मे प्रत्याहार सूत्र नही है, किन्तु सूत्रपाठ मे जहाँ अनेक वर्णो का निर्देश करना अभीष्ट है, वहाँ सक्षेपार्थ पाणिनि अनुशासन के प्रत्याहारो का ही प्रयोग किया गया है। जैसे

अच् १।१।५९ इक् १।१।१७ यण् १।१।४५ हल् ५।४।१३८
ऐच् १।१।१५ एङ् १।१।७० अट् ५।४।१३७ झर् ५।४।१३९

इन प्रत्याहारो के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ये सारे प्रत्याहार पाणिनि प्रत्याहार सूत्र पर आधारित है। प्रत्याहार सूत्रो के अभाव मे भी प्रत्याहार बनाने के लिए "अन्त्येनेतादि" १।१।७३ यह सूत्र जैनेन्द्र मे उपलब्ध होता है। इस सूत्र के द्वारा अजादि प्रत्याहारो का निर्माण तभी सभव है, जब इस ग्रन्थ मे पाणिनि सम्मत प्रत्याहार सूत्र स्वीकृत हो। अन्यथा अन्त्येनेतादि सूत्र का अर्थ समझ मे ही नही आयेगा।

शाकटायन व्याकरण मे प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध है। इनका मूलाधार भी पाणिनि सूत्र ही है। किन्तु पाणिनि सूत्रो मे कुछ वर्ण-विपर्यय करके शाकटायन ने इस प्रकार से प्रत्याहार सूत्रो को बनाया

अइउण्।१। ऋक्।२। एओङ्।३। ऐऔच्।४। हयवरलञ्।५। ञमङणनम्।६। जबगडदश्।७। झभघढधष्।८। खफछठथट्।९। चटतव्।१०। कपय्।११। शषसअं ᳲ क ᳲ प र्।१२। हल्।१३।

भिक्षुशब्दानुशासन का अपना प्रत्याहार सूत्र है। यहाँ प्रत्याहार सूत्र की सख्या तेरह या चौदह न होकर एक ही है। अनुबन्ध रहित यह एक प्रत्याहार सूत्र निम्नलिखित प्रकार से है

अइउऋलृ-एऐओऔ - हयवरल - ञणनङम-झढधघभ - जडदगब - खफछठथ-चटतकप-शषस १।१।४

पूर्ववर्ती व्याकरणो मे प्रत्याहार सूत्रो के अन्त मे एक-एक वर्ण ऐसे लगे हुए हैं, जिनकी इत्सज्ञा का लोप करना पडता है। भिक्षुशब्दानुशासन गौरवग्रस्त इस पद्धति को छोडकर अनुबन्ध विनिर्मुक्त प्रत्याहार सूत्र स्वीकार करता है। शाकटायन जहाँ लृ को अनावश्यक समझते है और प्रत्याहारसूत्रो मे उसका उल्लेख नही करते, वही पर भिक्षुशब्दानुशासन लृवर्ण को आवश्यक समझता है और प्रत्याहारसूत्रो मे उसका पाठ स्वीकार करता है। शाकटायन ने प्रत्याहार सूत्रो मे

उन्ही अनुबन्धों को लगाया है, जिनका प्रयोग पाणिनि व्याकरण में किया गया है। इतना आवश्यक है कि शाकटायन विवाद से बचना चाहते हैं। पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों में णकार अनुबन्ध दो बार और आया है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि णकार का अनुबन्धरूप में द्विरुच्चारण क्यों किया गया। समाधान में कहा गया है कि णकार के द्विरुच्चारण से "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति नहि सन्देहादलक्षणम्।" इस परिभाषा का ज्ञापन किया जाता है। शाकटायन इस चक्कर में पड़ना नहीं चाहते। वे एक णकार को हटा देते हैं। इन्होंने अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीय और उपध्मानीय का पाठ शर प्रत्याहार के अन्तर्गत कर दिया है।

भिक्षुशब्दानुशासन का प्रत्याहार सूत्र अपने ढंग का अलग है। इसमें हवर्ण का द्विरुपादान पाणिनि और शाकटायन की भाँति नही किया गया है। शाकटायन लिखते हैं "हकारस्य द्विरुपदेशोऽपादौ वलादौ च ग्रहणार्थ। पाणिनि परम्परा में हकार का दो बार पाठ अट् और शल् प्रत्याहार में हकार के ग्रहण के लिये कहा जाता है, जिसका फल अर्हेण और अधुक्षत् प्रयोग की सिद्धि मानी गई है।

भिक्षुशब्दानुशासन के अनुसार

"अवकुप्वनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयैरन्तरेऽपि" २।२।७०

इस सूत्र से अव के व्यवधान में नकार को णकार करके उपर्युक्त दोनों प्रयोगों की सिद्धि कर दी गई है। इसलिये हकार का द्विरुपादान यहा अनावश्यक समझा गया।

भिक्षुशब्दानुशासन की सर्वाङ्गपूर्णता

व्याकरणसम्प्रदाय में शब्दानुशासन शब्द केवल सूत्रपाठ के लिये आता है। धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिंगानुशासन किसी भी व्याकरण की पूर्णता के लिये आवश्यक होता है। सूत्रों के सहित इन चारों को मिलाकर पञ्चपाठी व्याकरण कहा जाता है। प्रचलित शाकटायन व्याकरण में प्रथम अध्याय के द्वितीयपाद के आरम्भ में ही श्लोकबद्ध लिंगानुशासन का पाठ है। स्त्रीलिंग, पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग के सारे शब्द ९० श्लोकों में उल्लिखित हैं। इस व्याकरण में धातुज रूपों की सिद्धि के लिये प्रक्रिया की विस्तृत चर्चा होने पर भी धातुपाठ नही देखा जाता। सम्भवत पाणिनि की धातुओं से ही तत्तद् रूपों को बनाना इन्हें अभीष्ट रहा हो। इसलिये रूपसिद्धि के लिये सूत्र तो बनाये गये पर धातुओं का निर्माण अलग से नही किया गया। इसमें गणपाठ की विस्तृत चर्चा है। व्याकरण में आये सारे गण के शब्दों का पाठ ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिया गया है।

उणादि प्रकरण के सन्दर्भ में शाकटायन व्याकरण में केवल एक सूत्र उपलब्ध होता है "उणादय" ४।३।२८०। यहाँ बहुल की अनुवृत्ति करके "उणादयो बहुलम्" ऐसा निर्देश मान लिया गया है। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि

पाणिनि परम्परा मे प्रचलित उणादि सूत्रो के रचयिता ये शाकटायन नही है।

जैनेन्द्रव्याकरण मे धातुपाठ मूल ग्रन्थ के परिशिष्ट मे छपा हुआ है। इसमे धातुओ की घुसज्ञा की गई है। इनकी कुल सख्या १४५८ है। सामान्य परिवर्तन के साथ यहाँ पर धातु वे ही है, जो पाणिनि व्याकरण मे प्रचलित है। अभयनन्दी की महावृत्ति मे जैनेन्द्र गणपाठ यथास्थान उल्लिखित है। जैनेन्द्र मे उणादि के लिये एक मात्र सूत्र उपलब्ध है, उणादयो बहुलम् २।४।६२। इसके अतिरिक्त और कोई उणादिसूत्र जैनेन्द्रव्याकरण का उपलब्ध नही होता। लिगानुशासन भी जैनेन्द्र का अनुपलब्ध ही है। इनके अतिरिक्त जैनेन्द्र मे पाणिनि की अनुकृति के आधार पर ४८३ वार्तिक तथा ६७ परिभाषाओ का उल्लेख मिलता है। जैनेन्द्र के ऊपर अभयनन्दी की महावृत्ति का अवलोकन करने से विदित होता है कि अभयनन्दी केवल जैनेन्द्र व्याकरण के जानकार ही नही थे अपितु पाणिनि व्याकरण मे उनकी अप्रतिहत गति थी। वार्तिक तथा परिभाषाओ की समानानुकृति से यह बात सम्पुष्ट होती है।

इस पञ्चपाठी व्याकरण के परिवेश मे "भिक्षुशब्दानुशासन" का पर्य्यालोचन करने पर विदित होता है कि जैनेन्द्र तथा शाकटायन की अपेक्षा यह शब्दानुशासन कतिपय अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। उदाहरणार्थ जैनेन्द्र जहाँ प्रत्याहारो के लिये पाणिनि के अक्षरसमाम्नाय पर अवलम्बित है, वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन का स्वय का प्रत्याहार सूत्र है। उणादि सूत्र न तो जैनेन्द्र मे है और न शाकटायन मे हैं। किन्तु भिक्षुशब्दानुशासन मे उणादि सूत्रो को चार पादो मे विभक्त कर इनका विधिवत् विवेचन किया गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन प्रवेशिका "कालुकौमदी" मे १११ उणादि सूत्रो का उल्लेख है। इससे सकेत मिलता है कि इस शब्दानुशासन के और भी उणादि सूत्र है।

गणपाठ — इस शब्दानुशासन की मूल पाण्डुलिपि मे गणपाठ उपलब्ध नही है। सभवत इसका उल्लेख अलग किया गया हो।

धातुपाठ इसका धातुपाठ स्वय का है। कालुकौमुदी मे ८३३ धातुओ का उल्लेख है। इससे विदित होता है कि इसके धातुओ की सख्या इससे अधिक है। इस सम्बन्ध मे भिक्षुशब्दानुशासन की निम्नलिखित पक्तियाँ ध्यातव्य है

"भिक्षु धातुपाठे सन्तोऽपि ये धातव परैरपि स्वस्वधातुपाठेषु अन्यया पठिता सन्ति, ये च परैरधिका एव पठितास्तेऽपि परपठितत्वेन विवक्षिता इहोच्यन्ते"

तात्पर्य यह है कि इस धातुपाठ मे कुछ धातु स्वनिर्मित और कुछ अन्य व्याकरण से गृहीत है। अन्य व्याकरण से तात्पर्य पाणिनि व्याकरण से है। क्योकि पाणिनि के धातु अर्थ सहित यहाँ गृहीत किये गये हे।

कुछ धातु जो भिक्षुशब्दानुशासन के स्वय के हे

१ तन्द्रा आलस्ये तन्द्राति
२. निद्रा शयने निद्राति
३ कक्व कर्कहासे कक्वति
४ मर्कस् पृच्छने मर्कति
५ लत् आदाने लतति

इस प्रकार अनेक धातु है, जो भिक्षुशब्दानुशासन के अपूर्व धातु हैं।

लिगानुशासन इस शब्दानुशासन के मूल हस्तलेख मे लिगानुशासन नही हैं। किन्तु श्लोकबद्ध इसका लिगानुशासन बना हुआ है। ऐसा विदित हुआ है। इन सभी बातो के अतिरिक्त यहाँ का न्यायदर्पण एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इन न्यायो के द्वारा सदिग्ध अर्थ को एक निश्चित रूप दिया जाता है। पाणिनि परम्परा मे इस प्रकार के कार्य परिभाषाओ के द्वारा सम्पन्न किये गये है। "अनियमे नियम कारिणी परिभाषा" इस व्युत्पत्ति के आधार पर परिभाषाओ से भी वे ही कार्य किये जाते है, जो न्यायो से किये जाते हैं। पाणिनि व्याकरण मे दो प्रकार की परिभाषाये उपलब्ध होती है। एक तो सूत्र रूप मे पठी गई परिभाषायें, जैसे "इको गुणवृद्धी" "स्थानेऽन्तरतम" इत्यादि। दूसरे प्रकार की परिभाषाये वे हैं, जो सूत्रकार के द्वारा पढी तो नही गई है, पर उनसे अभिमत हैं। ऐसी परिभाषायें सूत्रो से अथवा सूत्रो के अशो से ज्ञापित की जाती हैं। ऐसी परिभाषाओ के आधार पर निर्मित पाणिनि सम्प्रदाय मे परिभाषेन्दुशेखर नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ है।

भिक्षुशब्दानुशासन मे भी दो प्रकार की परिभाषाये उपलब्ध होती है। एक तो सूत्रकार के द्वारा सूत्र रूप मे पठी गई है, जैसे "शिदनेकवर्ण सर्वस्य" ८।४।१२४ जो कार्य शित् रूप हो या अनेक वर्णों वाला हो, वह सम्पूर्ण के स्थान पर होता है।

षष्ठ्यान्त्यस्य ८।४।१२३ षष्ठी निर्दिष्ट कार्य अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है। यद्यपि इन्हे सूत्रकार ने परिभाषा नाम नही दिया है तथापि इनके द्वारा वे ही कार्य होते हैं, जो परिभाषाओ से किये जाते हैं।

भिक्षुशब्दानुशासन मे दूसरे प्रकार की परिभाषाओ के लिए न्याय शब्द का प्रयोग किया गया है।

"अथ ये तु शास्त्रे सूचिता लोक प्रसिद्धाश्च न्यायास्तदर्थं यत्न क्रियते"[१]

यद्यपि न्याय शब्द से "सूचीकटाहन्याय", "काकाक्षिगोलकन्याय" "जल तुम्बिकान्याय" इत्यादि लोकप्रसिद्ध न्याय गृहीत किये जाते हैं किन्तु इस शब्दानुशासन मे "नीयते सदिग्धार्थो निर्णयमेभिरितिन्याय" इस व्युत्पत्ति के आधार पर सदिग्धार्थ का निर्णय जिसके द्वारा किया जाय वह न्याय कहा गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन मे तीन प्रकार के न्याय उपलब्ध होते है

१ कुछ पाणिनीय सूत्र यहाँ न्याय रूप मे स्वीकार है

(1) स्व रूप शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा
(II) आद्यन्तवदेकस्मिन्
(III) यथासख्यमनुदेश समानाम् ।

२ पाणिनिसम्प्रदाय की अनेक उपयोगी परिभाषाये मूलरूप मे या रूपान्तरित होकर यहाँ न्याय रूप मे स्वीकृत हैं

(I) सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्य ।
(II) एकदेशविकृतमनन्यवत् ।
(III) उपपदविभक्ते कारकविभक्ति र्बलीयसी ।
(IV) अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् ।
(V) लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ।

३ कुछ ऐसे न्याय भी यहाँ स्वीकृत है, जो लोकसिद्ध है

(I) द्विर्बद्ध सुबद्ध भवति ।
(II) यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्यस्यापि तेन स ।
(III) अपेक्षातोऽधिकार ।

भिक्षुन्यायदर्पण मे कुल १३५ न्याय है। इन न्यायो पर शब्दानुशासन के श्लोककार मुनि चौथमल की वृहद्वृत्ति है, जो बहुत ही उपयोगी है। इस शब्दानुशासन को सर्वाङ्गसम्पन्न बनाने मे इन न्यायो का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लाघव और सरलता भिक्षुशब्दानुशासन का प्रधान लक्ष्य है। व्याकरण सम्बन्धी सारे तथ्यो का सागोपाग विवेचन करने वाले इस शब्दानुशासन की निजी विशेषताये इस प्रकार है

१ पाणिनि शब्दानुशासन लौकिक और वैदिक दोनो प्रकार के शब्दो का अनुशासन करता है। भिक्षुशब्दानुशासन के अनुसार वैदिक शब्दो की सिद्धि तथा तत्सम्बन्धी स्वरविधान की प्रक्रिया मान्य नही थी, अत यह वैदिक शब्दो का अनुशासन नही करता।

२ पाणिनि सूत्रो पर आधारित वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी मे पक्तियो की परम्परा, जिसके कारण व्याकरण को कठिन मानने की एक धारा चल पडी, उस परम्परा को यहाँ स्थान नही दिया गया है। इसका उद्देश्य सरल प्रक्रिया द्वारा व्याकरण का ज्ञान कराना है। पक्तियो की शास्त्रार्थी प्रणाली शब्द व्याक्रिया से जिज्ञासु को दूर कर देती है।

३ पाणिनि व्याकरण एक शेष का विधिवत् विवेचन करता है। जैनेन्द्र ने एक शेप को आवश्यक नही समझा। वे लिखते है "स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैक शेपानारभ ।' अर्थात् लोक व्यवहार के आधार पर प्रयोगो की अवधारणा के कारण एक शेपविधायक सूत्र आवश्यक नही है। यह बात कहाँ तक उचित है, इस पर गभीर विचार की आवश्यकता है। जैनेन्द्र के परवर्ती शाकटायन ने एक शेप

को आवश्यक समझा और इस कार्य के लिये इन्होंने बारह सूत्रों का प्रणयन किया। पाणिनि व्याकरण में एक शेष के लिये नौ सूत्र हैं। शाकटायन ने पाणिनि के वार्तिकों को सूत्र का रूप देकर यह संख्या बारह कर दी है।

भिक्षुशब्दानुशासन एक शेष की आवश्यकता का अनुभव करता है। इसका पहला एक शेष विधायक सूत्र "स्यादावसंख्येय" ३।१।१३५ है।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि किसी भी व्याकरण की सर्वाङ्ग-पूर्णता के लिये उसका धातुपाठ, गणपाठ, लिंगानुशासन, शिक्षा तथा उणादि सूत्र आवश्यक समझे जाते हैं। पाणिनि व्याकरण में ये सारी बातें उपलब्ध हैं। इनमें लिंगानुशासन, धातुपाठ तथा गणपाठ के पाणिनि कर्तृकत्व में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है किन्तु पाणिनि शिक्षा और उणादि सूत्रों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। शिक्षा का पाणिनि द्वारा रचित न होने का कारण यह प्रतीत होता है कि इसका पहला श्लोक

> अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।
> शास्त्रानुपूर्वं तद् विद्यात् यथोक्तं लोकवेदयोः।

है। इसमें पाणिनीय मतानुसार शिक्षा का निरूपण करने का कहा गया है। पाणिनि स्वयं के लिए ऐसा प्रयोग नहीं करते। साथ ही शिक्षा के अन्त में दो बार पाणिनि को नमस्कार भी किया गया है, जो पाणिनि के द्वारा सम्भव नहीं है। इसलिए बहुत सम्भव है कि पाणिनि परम्परा के किसी विद्वान् ने शिक्षा को पीछे से इसमें जोड़ दिया है।

उणादिसूत्र जो पञ्चपादों में विभक्त हैं तथा जिनकी संख्या ७५५ है, के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पाणिनि ने "उणादयोबहुलम्" सूत्र का उल्लेख किया है। जैनेन्द्र ने उसे इसी प्रकार उद्धृत किया है। शाकटायन ने "उणादय" सूत्र बनाया तथा इसमें बहुलम् की अनुवृत्ति स्वीकार की। इन दोनों व्याकरणों में सिद्धान्तकौमुदी के उणादि प्रकरण के प्रथम सूत्र "कृवापाजिमि स्वदिसाध्यशूभ्य उण्" सूत्र के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

भिक्षुशब्दानुशासन उणादि के सम्बन्ध में जैनेन्द्र और शाकटायन से आगे है। भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी में जिस प्रकार पूर्व और उत्तर कृदन्त के मध्य में उणादि प्रकरण है, उसी प्रकार भिक्षुशब्दानुशासन की प्रवेशिका "कालु कौमुदी" में पूर्व और उत्तर कृदन्त के मध्य में उणादि प्रकरण को रखा गया है। कौमुदी वाले उणादि सूत्रों में पाँच पाद हैं किन्तु भिक्षुशब्दानुशासन में उणादि के चार पाद हैं। उसे देखने से विदित होता है कि जिस सरलीकरण की पद्धति का अवलम्बन करके भिक्षुशब्दानुशासन के अन्य सूत्रों की रचना हुई है, वही पद्धति उणादि सूत्रों के लिए भी अपनाई गई है। दो उदाहरणों से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है

'येनागविकार' यह पाणिनि सूत्र है। दीक्षित ने इसकी वृत्ति मे लिखा है "येन विकृतेनागेनागिनो विकारो लक्ष्यते तत्र तृतीया स्यात्" अर्थात् जिस विकृत अग से अगी का विकार परिलक्षित हो, उस अगवाचक शब्द मे तृतीया विभक्ति होती है। यहा अग शब्द से अच् प्रत्यय करके अग शब्द बनाया गया है जिसका अर्थ होता है 'अगी'। अगम् अस्ति यस्य स अग अर्थात् अगी" इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा वाञ्छित अर्थ की प्रतीति की जाती है। भिक्षुशब्दानुशासन इस प्रकार के क्लिष्ट व्याख्यान मे न उलझकर सीधा सूत्र बनाता है "येनागिविकार" १।४।६०। अर्थ और उदाहरण तो वही है, जो दीक्षित ने दिये है पर सूत्रार्थ मे वह काठिन्य नही है जो दीक्षित के आगे है।

इसी प्रकार "चन्द्रमस्" शब्द बनाने के लिए "चन्द्रे मो डित्" यह सूत्र वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी मे उपलब्ध होता है। इसके द्वारा चन्द्रपूर्वक मा धातु से असि प्रत्यय तथा उसे डित् की प्रतिज्ञा की गई है। डित् के कारण धातु के आकार का लोप होकर "चन्द्रमस्" शब्द बनता है। इस चन्द्रमस् शब्द की सिद्धि भिक्षुशब्दानुशासन मे 'चन्द्रे रमस्'। इस सूत्र से चन्द्र धातु से रमस् प्रत्यय करके किया गया है। स्पष्ट है कि भिक्षुशब्दानुशासन मे प्रक्रिया को सरल करने का प्रयत्न जिस प्रकार अन्य प्रकरणो मे किया गया है उसी प्रकार उणादि सूत्रो के सम्बन्ध मे भी यहा का प्रयत्न प्रशसनीय है।

भिक्षुशब्दानुशासन मे पाणिनि की गगा, कात्यायन की कालिन्दी और पतञ्जलि की सरस्वती का एकत्र दर्शन होता है। उदाहरण के लिए पाणिनि के सूत्र "शिल्पिनिष्वुन्" ३।१।१४५ को ले, जो शिल्पवाचक शब्दो से ष्वुन् प्रत्यय करता है। इस पर कात्यायन का वार्तिक है "नृतिखनिरञ्जिभ्य एव"। पतञ्जलि का कहना है यह ष्वुन् प्रत्यय "नृतिखनिभ्यामेव"। ष्वुन् प्रत्यय से अनुबन्ध को हटा कर वु को अक करके नर्तक इत्यादि रूपो की सिद्धि की जाती है। इस प्रक्रिया को लाघवपूर्ण बनाते हुए भिक्षुशब्दानुशासन कहता है

"नृतिखनिरञ्जिभ्य शिल्पिन्यकट्"

स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया मे वु को अक करने की आवश्यकता नही है।

पाणिनि परम्परा की वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के हल् सन्धि प्रकरण मे ३८ सूत्रो तथा कुछ वार्तिको के द्वारा जितने कार्य किये गये है, वे सब कार्य भिक्षुशब्दानुशासन पर आधारित कालुकौमुदी के हल्सन्धि प्रकरण मे केवल २३ सूत्रो से कर लिया गया है। सूत्रो को कम करने की यह प्रक्रिया प्रयोगसिद्धि की सरल प्रणाली पर आधारित है। उदाहरण के लिए "उत्थानम्" प्रयोग को लिया जा सकता है।

'उद्+स्थानम्' इस स्थिति मे पाणिनि ने "उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य" इस सूत्र द्वारा स्थानम् के सकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण करके थकार का विधान

किया है। उसके वाद "झरोझरि सवर्णे" सूत्र से थकार का लोप तथा "श्वरि च" सूत्र से दकार को तकार करके "उत्थानम्" प्रयोग की सिद्धि की गई है। भिक्षुशव्दानुशासन इस प्रयोग की सिद्धि के लिये इतनी लम्वी प्रक्रिया की जगह सरल प्रक्रिया को अपनाता है। उसका सूत्र है 'उद स्थास्तम्भो स।" उसके द्वारा उद् शव्द के आगे रहने वाले स्था और स्तम्भ के सकार का लोप कर दिया जाता है। फलस्वरूप सकार का पूर्वसवर्ण तथा थकार का लोप जैसी प्रक्रिया नही करनी पडती। यह एक लाघव है। भिक्षुशव्दानुशासन के पूर्ववर्ती जैनेन्द्र ने तो उत्थानम् की सिद्धि के लिये पाणिनि की सरणि को ही अपनाया। इनका सूत्र "स्थास्तम्भो पूर्वस्योद" ५।४।१३५ उद् से पर मे रहने वाले स्था और स्तम्भ को पूर्व का रूप करता है। इससे स्पष्ट है कि ये पाणिनि की परम्परा का अनुसरण कर रहे है। शाकटायन यहाँ पाणिनि से भिन्न सरणि को अपनाते है। इन्होंने "उद स्थास्तम्भ १।१।१३४ सूत्र वनाया और इसके द्वारा स्था के सकार का लोप कर दिया गया। इतना अवश्य है कि सकार के लोप के लिये "जर्" प्रत्याहार का अवलम्वन किया गया। अर्थात् उद् से पर मे रहने वाले जर् का लोप हो जाता है यदि उसके आगे भी जर् रहे तो। इस प्रकार सकार का लोप करके शाकटायन ने प्रक्रिया लाघव का प्रदर्शन किया। भिक्षुशव्दानुशासन यहाँ शाकटायन से प्रभावित है। किन्तु शाकटायन जहाँ जर् प्रत्याहार के द्वारा सकार लोप विधान करते है, वहाँ भिक्षुशव्दानुशासन "उद स्थास्तम्भो स" सूत्र के द्वारा सीधे सकार का लोप विधान कर सरलीकरण की प्रक्रिया को और आगे वढाता है।

पाणिनि परम्परा मे जो रूप पूर्वरूप या पररूप करके वनाये जाते है, भिक्षुशव्दानुशासन वहाँ लोप करके उसको वनाता है। उदाहरण के लिए,

१ राम्+अम् "अमिपूर्व" सूत्रसे पूर्वरूप करके रामम् वना (पाणिनि)।
राम् | अम् = "समानादम" सूत्र से अम् के अकार का लोप करके रामम् वना, (भिक्षुशव्दानु०)।

२ प्र+एजते = "एङि पररूपम्" सूत्र से पररूप करके प्रेजते रूप वनता है (पाणिनि)।
प्र+एजते = एदेतोरूपसर्गस्यलोप" सूत्र से उपसर्ग के अकार का लोप करके प्रेजते रूप की सिद्धि होती है (भिक्षु०)।

३. शक | अन्धु = शकन्ध्वादिपु पररूप वाच्यम् इस वार्तिक से ककारोत्तरवर्ती अकार का पररूप करके "शकन्धु" रूप वनता है (पाणिनि)।
शक + अन्धु = "शकादीना टेरन्धादिपु" इस सूत्र से टिलोप (अकारलोप) करके शकन्धु वना। (भिक्षु०)।

गुण और वृद्धि सज्ञाए भिक्षुशव्दानुशासन मे नही है। साथ ही अकार के आगे जहाँ ऋ और लृ रहता है वहाँ क्रमश गुण रूप मे अर् और अल् तथा वृद्धिरूप मे आर् और आल् होता है जैसे

उप + इन्द्र = उपेन्द्र (गुण)
देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम् (वृद्धि)
कृष्ण | ऋद्धि = कृष्णर्द्धि (गुण)
तव | लृकार = तवल्कार (गुण)
प्र | ऋच्छति = प्रार्च्छति (वृद्धि)
प्र + लृकारीयति = प्राल्कारीयति (वृद्धि)

(पाणिनि)

भिक्षुशब्दानुशासन मे

"अवर्णस्येवर्णादावेदोदरल" १।७।२३

इस सूत्र के द्वारा अवर्ण के आगे इ, उ, ऋ और लृ के रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर क्रमश ए, ओ, अर् और अल् आदेश होता है। इस पद्धति से भी उपर्युक्त रूपो की सिद्धि की जाती है। इतना अवश्य है कि पाणिनि मे जहाँ गुण सकेत से कार्य किया जाता है, वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन विधेयो का साक्षात् उल्लेख करके कार्य कर रहा है। यहाँ कुछ गौरव तो अवश्य है, पर प्रक्रिया ज्ञान मे लाघव भी है। इसी प्रकार वृद्धि विधान के द्वारा पाणिनि ने जिन रूपो की सिद्धि की है, उनके लिए भिक्षुशब्दानुशासन मे

एदैतोरैत् १।२।१९
ओदौतोरौत् १।२।२२

अवर्ण के आगे ए रहने पर ऐ तथा ओ रहने पर औ होता है। रूप सिद्धि तो वही होगी, जो पाणिनि मे हुई है किन्तु जैसी जैसी वृद्धि करनी होगी, वैसे वैसे नाना सूत्र यहाँ बनाने पडेंगे। यह यहाँ का एक गौरव है। वृद्धि कही तो पूर्व पर के स्थान पर होती है यथा "तवैषा"। कही आदि अच् के स्थान पर होती है जैसे सौमित्रि।

इसमे सन्देह नही कि ऐसे विभिन्न स्थलो के लिये भिक्षुशब्दानुशासन मे विभिन्न सूत्र अपेक्षित होगे। फिर भी अलग अलग विधियो का विधान प्रक्रिया सारल्य मे उपयोगी तो होगा ही।

गुण वृद्धि सज्ञा न करके लक्ष्य मे सीधे आदेश का विधान जैनेन्द्र और शाकटायन की देन है। जैनेन्द्र ने गुण करने के लिये "आदेप्" ४।३।७५ सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है 'अवर्ण के आगे अच् रहे तो एप् आदेश होता है। उदाहरण के रूप मे यहाँ 'देवेन्द्र' तथा 'गन्धोदकम्' ये प्रयोग प्रस्तुत किये गये है। जैनेन्द्र ने एच्यैप् ४।३।७६ सूत्र बनाया है। अवर्णान्त से एच् पर मे रहने पर दोनो के स्थान पर एक ऐप् होता है। महा + औषधम् = महौषधम्॥ यह उदाहरण रूप मे दिया गया है। शाकटायन ने भी जैनेन्द्र की प्रणाली का अनुसरण कर गुण विधान के लिये इक्येडर १।१।८२ तथा वृद्धि करने के लिए 'एजूच्यैच् ॥१।१।८३ सूत्र

बनाया। इस प्रकार संज्ञा के बिना सीधे आदेश विधान की परम्परा को भिक्षुशब्दानुशासन ने अपनाया और उसे ऐसा परिष्कृत रूप दिया, जो अव्याप्ति आदि दोषों से विनिर्मुक्त है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भिक्षुशब्दानुशासन में लगभग एक सौ के करीब ऐसे स्थल हैं, जिनकी तुलना पाणिनिशब्दानुशासन से करने पर दोनों की अपनी २ विशेषता स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनमे से कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत है

१ एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुता ।१।१।६ के उदाहरण में दीर्घ ॡ का पाठ है। इससे दीर्घ ॡ की सत्ता भिक्षुशब्दानुशासन में स्वीकृत है।

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी मे "ऌवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्" यह पाठ देखकर समझा जाता है कि पाणिनि परम्परा में दीर्घ ॡकार नहीं है। किन्तु बात कुछ और ही है। "ऌति ऌ वा" इस वार्तिक से विधेय जो ॡ होता है वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ होता है और इसका प्रयत्न विवृत न होकर ईषत्स्पृष्ट होता है। इसीलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पाणिनि परम्परा में दीर्घ ॡकार नहीं होता।

२ ऋणे प्रवसन कम्बलदशार्णवत्सरवत्सतरस्यार् ।१।२।१४ (भिक्षु०)

प्रवत्सतर कम्बलवसनार्णदशानामृणे (वै० सि० कौमुदी)

भिक्षुशब्दानुशासन का उपर्युक्त सूत्र तथा सिद्धान्तकौमुदी का वार्तिक दोनो के द्वारा कार्य एक ही किया जाता है पर भिक्षुशब्दानुशासन आर् का विधान करता है जब कि वार्तिक के द्वारा वृद्धि करके आर् किया जाता है। यहाँ पाणिनि की अपेक्षा वत्सर शब्द भिक्षुशब्दानुशासन में अधिक है। इससे "वत्सरार्णम्" की सिद्धि होगी।

३ नेमाल्प प्रथम चरमतयडयडर्धकतिपयाना वा ।।१।४।२० (भिक्षु०)

प्रथम चरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ।।१।१।३३ (पाणिनि)

भिक्षुशब्दानुशासन सूत्र पठित शब्दों के आगे जश् विभक्ति को इश् आदेश विकल्प से करता है और पाणिनि शब्दानुशासन जश् विभक्ति के पर में रहने पर सर्वनाम संज्ञा विकल्प से करता है, जिससे जश् को शी विकल्प से होता है। बात एक ही है भेद केवल प्रक्रिया का है।

पाणिनि सूत्र की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन में "अयड्" पाठ अधिक है। इसलिये त्रय शब्द का रूप प्रथमा के बहुवचन मे 'त्रये, त्रया' भिक्षुशब्दानुशासन के द्वारा बनेगा और पाणिनि के अनुसार केवल 'त्रया' बनेगा। किन्तु पाणिनि परम्परा के विवेचकों का कहना है कि यहाँ पर "त्रय" शब्द मे मूल प्रत्यय तयप् है जिसे "द्वित्रिभ्या तयस्यायज् वा" सूत्र से अयच् आदेश कर दिया गया है। अत स्थानिवद्भाव के द्वारा यहाँ तयप् बुद्धि करके वैकल्पिक सर्वनाम संज्ञा के द्वारा "त्रये त्रया" प्रयोग बनाने मे कोई बाधा नहीं है।

४. निकषा समयाहाधिगन्तरान्तरेणतियेन तेनै २।४।४६
(भिक्षु शब्दानुशासन)

अभित परित समयानिकषा हाप्रतियोगेऽपि (पाणिनीय वार्तिक)

अन्तराऽन्तरेणयुक्ते २।३।४ (पाणिनि)

अतिरतिक्रमणेच १।४।९५

उपर्युक्त सूत्र और वार्तिक द्वितीया विभक्ति का विधान करते हैं। विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि पाणिनि परम्परा के दो सूत्र और एक वार्तिक मे जितने शब्दो का उल्लेख किया गया है, वे सारे शब्द भिक्षुशब्दानुशासन के एक ही सूत्र मे समाहित हैं। इसके अतिरिक्त "येन और तेन" ये दो पद पाणिनि से यहा अधिक हैं। "येन तेन वा पश्चिमा गत" इस प्रयोग मे द्वितीया विधायक सूत्र पाणिनि मे नही है।

अभित और परित के योग मे द्वितीया करने के लिये

"सर्वोभयाभिपरिभिस्तसन्तै २।४।५० यह भिक्षुशब्दानुशासन का सूत्र है।

५ कालभावाध्वदेशमकर्मचाकर्मणाम् २।४।१७ (भिक्षु शब्दानु०)

अकर्मक धातुओ के योग रहने पर कालादि आधार की कर्म सज्ञा विकल्प से होती है। विकल्प से करने का तात्पर्य यह है कि कर्म सज्ञा के अभाव पक्ष मे वह अधिकरण सज्ञक हो जाता है। एक बात यह विशेष रूप से ध्यान देने का है कि जिस पक्ष मे आधार की कर्म सज्ञा होती है, उसी पक्ष मे उसे अकर्म सज्ञा भी विकल्प से की गई है।

पाणिनि परम्परा मे इस कार्य के लिये निम्नलिखित वार्तिक पाया जाता है

"अकर्मकधातुभिर्योग देश कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसज्ञक इतिवाच्यम्।"

इस वार्तिक के द्वारा कालादिको की कर्मसज्ञा नित्य ही की गई है। इसलिये पाणिनि मतानुसार मासमास्ते प्रयोग बनेगा और भिक्षुशब्दानुशासन के द्वारा "मासमास्ते" के साथ "मासे आस्ते" यह प्रयोग भी बनेगा। किन्तु भिक्षुशब्दानुशासन मे कालादिको की कर्मसज्ञा के साथ "अकर्म" सज्ञा करने का क्या फल है, यह बात अन्वेषणीय है।

६ अविवक्षित कर्मणामञिन् कर्त्ता णौ वा २।४।२० (भिक्षु०)

जिन धातुओ के कर्म की अविवक्षा कर दी जाती है, उन धातुओ की अञित् अवस्था का जो कर्त्ता होता है, वह ञित् प्रत्यय करने पर कर्मसज्ञक विकल्प से होता है। उदाहरणार्थ

"चैत्र पचति, मैत्र प्रेरयति" इस अर्थ मे ञिच् प्रत्यय करने पर "पाचयति" यह क्रियारूप बनता है। चैत्र जो ञिच् प्रत्यय से पूर्व प्रेरणाश विहीन धात्वर्थ का कर्त्ता है, उसे इस अवस्था मे वैकल्पिक कर्मसज्ञा होकर "चैत्र चैत्रेण वा पाचयति

मैत्र" यह प्रयोग भिक्षुशब्दानुशासन के अनुसार बनेगा। पाणिनि ने ऐसे स्थल पर कर्मसंज्ञा करने के लिये

"गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्ता स णौ" १।४।५२

सूत्र बनाया है। इसमें अकर्मकपद आया हुआ है। व्याख्याकारों का कहना है कि अकर्मकपद से यहां वे ही धातु लिये जायेंगे, जिनका कर्म पहले से ही नहीं है। यदि कर्म के रहते हुए भी धातु को अकर्मक कहना वाञ्छित है तो वे कर्म देश, काल, भावादि से अतिरिक्त नहीं होने चाहिये। कर्म की अविवक्षा करके धातु की अकर्मकता पाणिनि को वाञ्छित नहीं है। इसलिये पच् धातु के कर्म की अविवक्षा करके बिच् (पाणिनि में णिच्) प्रत्यय होने पर शुद्ध धातु के कर्ता को कर्म संज्ञा नहीं की जा सकती। फलस्वरूप पाणिनि मतानुसार उपर्युक्त उदाहरण का "पाचयति मैत्र चैत्रेण" यही रूप होगा।

७ भावे वा २।४।१०१ (भिक्षुशब्दानुशासन)

भाव अर्थ में जो क्त प्रत्यय होता है उसके कर्ता में षष्ठी विभक्ति विकल्प से होती है। "छात्रस्य हसितम्" "छात्रेण हसितम्"।

पाणिनि में इस प्रकार के प्रयोगों में षष्ठी करने के लिये कोई सूत्र नहीं है, किन्तु महाभाष्य में "नपुंसके भावेक्तस्य योगे षष्ठ्या उपसंख्यानम्" यह वार्तिक उपलब्ध होता है। इससे नित्य ही षष्ठी होकर "छात्रस्यहसितम् यही प्रयोग पाणिनि में बनेगा। "छात्रेण हसितम्" नहीं बनेगा।

८ पारे मध्येऽग्रेऽन्त षष्ठ्या वा ३।१।३० (भिक्षु०)

पारे मध्ये षष्ठ्या वा २।१।१८ (पाणिनि)

पाणिनि की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन में अग्रे और अन्त शब्द अधिक हैं। इसलिये "अग्रेवनम्", "अन्तर्गङ्गम्" ये दोनों प्रयोग भिक्षुशब्दानुशासन के द्वारा बनेंगे। पाणिनि के यहाँ उक्त सूत्र में यद्यपि अग्रे और अन्त शब्द नहीं है तथापि वनस्याग्रे इस विग्रह में षष्ठी समास और राजदन्तादि गणपाठ के प्रभाव से अग्रे शब्द का पूर्व प्रयोग सप्तमी का अलुक् और नकार को णकार करके "अग्रेवणम्" प्रयोग बनाया जाता है।

९ मातुलाचार्योपाध्यायाद् वा २।३।५६ (भिक्षुशब्दानुशासन)

इन शब्दों से स्त्रीलिंग बनाने पर ईप् प्रत्यय, आनुक् का आगम ये दोनों कार्य होते हैं। इनमें आनुक् का आगम विकल्प से होता है। इस प्रकार उपाध्यायस्यस्त्री "उपाध्यायानी" और "उपाध्यायी" ये दो रूप बनते हैं।

पाणिनि में इस सन्दर्भ में "मातुलोपाध्याययोरानुग् वा" यह वार्तिक मिलता है। इसके अनुसार उपाध्याय की स्त्री इस अर्थ में "उपाध्यायानी और उपाध्यायी" ये ही रूप यहां भी बनेंगे किन्तु "या तु स्वयं अध्यापिका" इस अर्थ की विवक्षा कर

दी जायेगी तो वहाँ पाणिनि के अनुसार वैकल्पिक ङीष् होकर "उपाध्यायी और उपाध्याया" ये रूप बनेंगे ।

भिक्षुशब्दानुशासन मे स्वय अध्यापिका अर्थ मे ङीप् का विधान नही है। इसलिये उक्त अर्थ मे यहाँ केवल "उपाध्याया" यह प्रयोग बनेगा।

१०. नोत ४।१।१२ (भिक्षुशब्दानुशासन)

उकारान्त धातु से विहित जो यङ् प्रत्यय होता है, उसका लोप नही होता यदि अच् प्रत्यय पर मे रहे। उदाहरण के लिये रोरूप, लोलूप' इत्यादि प्रयोगो को लिया जा सकता है।

पाणिनि मे अच् प्रत्यय पर मे रहने पर यङ् का लोप होता ही है। "नोत" जैसा सूत्र पाणिनि मे नही है। इसलिये इस मत के अनुसार "लोलुव और पोपुव" रूप बनेंगे।

११ हितसुखाभ्याम् २।४।७२ (भिक्षुशब्दानुशासन)

हित और सुख के योग मे चतुर्थी विभक्ति विकल्प से होती है। ग्रामस्य ग्रामाय वा हितम्।

पाणिनि मे "हितयोगे च" इस वार्तिक से केवल हित के योग मे चतुर्थी विहित है और वह भी नित्य ही विहित है। सुख का इसमे उल्लेख नही है।

इन कतिपय उदाहरणो के द्वारा पाणिनि और भिक्षुशब्दानुशासन का पारस्परिक महत्वपूर्ण पार्थक्य दिखलाया गया। इस प्रकार के पार्थक्यो की सख्या बहुत है, जिनका विवेचन स्वय मे एक पुस्तक हो सकता है। अत विस्तार के भय से इस प्रकरण को यही स्थगित किया जाता है।

आचार्य देवनन्दी ने पाणिनि अष्टाध्यायी को आधार माना और उसे पञ्चाध्यायी मे परिवर्तित कर दिया। धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, समास और विभिन्न सज्ञायें यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्वीकार कर ली गई। जैसे

पाणिनि	जैनेन्द्र
धातु	धु
अधिकरण	अधिकरण
करण	करण
अपादान	अपादान
विभक्ति	विभक्ती

इस प्रकार सारी समानताओ के साथ जैनेन्द्र व्याकरण मे बाध्यबाधक भाव की प्रणाली भी वही अपनाई गयी जो पाणिनि व्याकरण मे प्रचलित है। पाणिनि का "पूर्वत्रासिद्धम्" ८।२।१ सूत्र तथा तत्सम्बद्ध असिद्ध प्रकरण "जैनेन्द्र मे यथावत् स्वीकृत है। बिना किसी परिवर्तन के पूर्वत्रासिद्धम्" ५।३।२७ सूत्र यहा स्वीकार

किया गया है। उसके अनुसार साढे चार अध्याय के प्रति ढाई पाद के सूत्रों को असिद्ध किया गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन के रचयिता के सामने पाणिनीय, शाकटायन जैनेन्द्र, हैम, सारस्वत, कातन्त्र आदि विभिन्न व्याकरण थे। इन सबो के गभीर मन्थन और आलोडन के बाद बडी सूक्ष्मेक्षिका से इस शब्दानुशासन का निर्माण किया गया। इसके पूर्ववर्ती व्याकरणो की जटिलता तथा काठिन्य सर्वानुभूत है। इसे दूर करने का इसमे सफल प्रयास किया गया है। बाध्य बाधक भाव जो व्याकरणशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अग है उसका समावेश बडी कुशलता मे न्याय के भीतर किया गया है। यहा का न्याय दर्पण विषयबाहुल्य की दृष्टि से बहुत ही व्यापक है। इसके भीतर सारे बाध्य बाधकभाव 'अनियमे नियमकारित्व' इत्यादि सारे विषयो का एकत्र समावेश कर दिया गया है।

प्रयोगो की सिद्धि मे भिक्षुशब्दानुशासन शाकटायन के निकट पडता है। एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जाता है

"युष्माकम्" प्रयोग की सिद्धि के लिये 'पाणिनि' का "साम आकम्" सूत्र है। युष्मद् | आम्" इस स्थिति मे अवर्ण से पर मे न होने के कारण आम् प्रत्यय को सुट् नही हो सकता। यदि कहा जाय कि दकार का लोप करके आम् को अवर्ण से पर मे किया जा सकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योकि आकम् आदेश के पहले अनादेश अजादि प्रत्यय होने के कारण दकार का लोप नही हो सकता। इसलिये पाणिनि परम्परा मे 'आम्' को ही 'साम्' मान कर आकम् कर दिया जाता है। इस प्रकार आकम् करने का प्रभाव यह होता है कि स्थानिवद्भाव से आकम् को आम् नही माना गया। अन्यथा आकम् मे आम् बुद्धि करके पीछे से सुट् होने लग जाता। अत "भाविन सुटो निवृत्यर्थं ससुट्कनिर्देश" ऐसा कहा गया। पाणिनि की इस बात का जैनेन्द्र पर पूर्ण प्रभाव है। यहाँ भी "साम आकम्" सूत्र यथावत् गृहीत है। इस सूत्र की वृत्ति मे अभयनन्दी लिखते है "भाविन सुट भूतवदुपादाय साम इति निर्देश कृत। आकमि कृते सुट् निवृत्यर्थ"। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र अपेक्षा कृत सरल अवश्य है पर पाणिनि द्वारा प्रदर्शित पथ ही इनका गन्तव्य है।

शाकटायन ने यहा कुछ नवीनता अवश्य की है। युष्माकम् बनाने के लिये इनका सूत्र है "युष्मदस्मद्भ्यामाकम्" १।२।१७७। इस सूत्र से युष्मद् के आगे रहने वाले 'आम्' को सीधे 'आकम्' आदेश कर दिया गया है। आकम् आदेश करने के बाद "दो र्लुक्" १।२।१८१ सूत्र से दकार का लोप हो जाने पर "सामाम" १।२।१७६ सूत्र से आकम् को आम् समझकर साम् आदेश क्यो नही होता? इसका उत्तर शाकटायन के यहा अन्वेषणीय है।

आम् को आकम् करने की प्रेरणा भिक्षुशब्दानुशासन को शाकटायन से मिली है। इसका सूत्र "आम आकम्" २।१।५३ है। इससे आकम् करने के उपरान्त या

पहले "युष्मदस्यदोर्लोप स्यादौ" २।१।४१ सूत्र से दकार का लोप हो जाने पर "अवर्णस्याम सुट्" १।३।२३ सूत्र से सुट् क्यो नही होता। यह प्रश्न यहा भी समाधान की अपेक्षा रखता है। किन्तु इतना अवश्य है कि पाणिनि के बाद सरलीकरण की प्रक्रिया जो व्याकरण के नवनिर्माताओ के द्वारा अपनायी गई थी, उसकी चरम और विकसित परिणति 'भिक्षुशब्दानुशासन' मे देखने को मिलती है।

पाणिनि जहाँ "टाङसिङसामिनात्स्या' सूत्र से टा, ङसि, ङस् को क्रमश इन, आत् और स्य आदेश करते है, और शाकटायन "ङ सास्येस्स्येनाद्यम्" १।२।१६५ से वही कार्य करते है वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन मे

१ टेन १।४।१५ टा को इनादेश→रामेण जिनेन इत्यादि उदाहरण।

२ ङेर्य १।४।१६ ङे० को यादेश→जिनाय देवाय इत्यादि उदाहरण।

३ ङसिशद् १।४।१३ ङसि को आत्→देवात् इत्यादि उदाहरण।

४ ङस स्य १।४।१४ ङस् को स्य→देवस्य, जिनस्य इत्यादि उदाहरण।

इस प्रकार के सूत्र निर्माण द्वारा प्रक्रिया को अत्यन्त सरल एव सुबोध बनाया गया है। व्याकरणशास्त्र के जिज्ञासु के लिये निश्चय ही यह प्रणाली सर्वाधिक उपादेय सिद्ध हो सकती है।

इस निबन्ध मे उणादि सूत्र भी बहुचर्चित है, इसलिये इनके ऊपर थोडा विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे 'उणादयो बहुलम्" सूत्र आता है। इसी प्रकार का सूत्र जैनेन्द्र और शाकटायन ने भी स्वीकृत किया है। भट्टोजिदीक्षित की वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी मे उणादि पाच पादो मे विभक्त है। जैनेन्द्र और शाकटायन मे केवल एक एक सूत्र हैं। भिक्षु शब्दानुशासन मे उणादि चारपादो मे विभक्त है तथा इसमे सैकडों सूत्र है। प्रश्न होता है कि ये उणादि सूत्र सर्वप्रथम किसके द्वारा बनाये गये। इस पर कुछ विद्वानो की राय है कि उणादि सूत्र शाकटायन के बनाये हुए है। किन्तु इस सम्बन्ध मे विशेष ध्यातव्य है कि जैन सम्प्रदाय के आचार्य शाकटायन का सम्बन्ध इन उणादि सूत्रो से नही हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं

१ ये प्रसिद्ध जैनाचार्य शाकटायन केवल लौकिक शब्दो का अन्वाख्यान करते है। वैदिक शब्दो का अन्वाख्यान इन्हे अभिप्रेत नही था। इसीलिये वैदिक शब्दो मे अभीष्टस्वरो की सिद्धि के लिये पाणिनि ने जो अनुबन्ध प्रत्ययो तथा आगमो मे लगाया है इस शाकटायन ने उन सभी अनुबन्धो का परित्याग कर दिया है। उदाहरण के लिये स्त्री प्रत्यय मे ङीप् और ङीष् का भेद पाणिनि ने केवल स्वर सिद्धि के लिये ही किया है। शाकटायन ने दोनो प्रत्ययो के लिये केवल ङी प्रत्यय का ही उल्लेख किया है।

२ पाणिनि दिवादिभ्य श्यन् करते है और शाकटायन यहाँ पर केवल श्य का विधान अनुवन्ध विनिर्मुक्त का कर रहे है।

३ पाणिनि जहाँ चिण् प्रत्यय करते हैं, वहाँ शाकटायन बि प्रत्यय करते हैं।

४ अणु शब्द की सिद्धि के लिये "धान्ये नित्" यह सूत्र है। यहाँ नित् करण केवल स्वर के विधान के लिये है।

५ शाकटायन ने सम्प्रसारण सज्ञा नही की है किन्तु उणादि सूत्र मे सम्प्रसारण सज्ञा की गई है जैसे "रुहे वृद्धिश्च, "स्पन्दे सम्प्रसारण धश्च" सिन्धु।

६ शाकटायन ने टि सज्ञा नही की है किन्तु उणादि मे टि सज्ञा का उल्लेख आता है। यथा "मृजेष्टिलोपश्च" मलम्।

७ पित् प्रत्यय का पित्व प्रयुक्त ङीप् करना शाकटायन मे नही देखा जाता किन्तु उणादि मे "कृशृवृञ्चतिभ्य ष्वरच्" प्रत्यय करके ङीप् की सभावना स्पष्ट की गई है।

इसके अतिरिक्त यह वात भी ध्यान देने की है कि यदि जैनाचार्य शाकटायन उणादि सूत्रो के रचयिता होते तो अपने व्याकरण मे केवल मात्र एक सूत्र 'उणादय' का उल्लेख क्यो करते ? इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण वात यह भी है कि पाणिनि सूत्र "अप्नृन् तृच्स्वसृनप्तृ" इत्यादि मे पठित नप्तृ आदि के ग्रहण से यह ज्ञापन किया जाता है उणादि निष्पन्न तृन् तृच् प्रत्ययान्त शब्दो की उपधा को दीर्घ हो तो केवल नप्तृ आदि शब्दो की उपधा को हो, अन्य की उपधा को न हो। उणादि सूत्र "नप्तृनेष्टृत्वष्टृ इत्यादि"(२५२) से नप्तृ आदि शब्दो की सिद्धि की जाती है।

यदि ईसा की नवमी या दशमी शताब्दी मे होने वाले शाकटायन उणादि सूत्रो के रचयिता होते तो पाणिनि के सूत्र घटक शब्द अपनी उणादि निष्पन्नता के आधार पर ज्ञापन किस प्रकार करते ? क्या परवर्ती सूत्रो को ध्यानस्थ करके पाणिनि ने सूत्रो का निर्माण किया था ?

इसलिये प्रचलित शाकटायन व्याकरण पाणिनि पूर्ववर्ती शाकटायन की रचना है और वे ही उणादि सूत्रो के रचयिता हैं 'यह वात बुद्धिगम्य नही होती। पूर्वप्रदर्शित अनुवन्ध सम्वन्धी सात विन्दुओ के आधार पर यह निश्चय किया जा चुका है कि प्रचलित शाकटयन व्याकरण का उणादि सूत्रो से कोई सम्वन्ध नही है।

सिद्धान्तकौमुदी वालमनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित का कहना है कि उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत है न कि पाणिनि प्रणीत। "उणादयो वहुलम्" इस सूत्र के भास्य मे कहा गया है "नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" अर्थात् निरुक्तकार और शाकटायन ने कहा है कि सारे शब्द धातु से ही वनते हैं। यहाँ शाकटायन का नामोल्लेख तथा उनके द्वारा सारे शब्दो को धातुज कहने से स्पष्ट हो जाता है कि उणादि सूत्र शाकटायन प्रणीत है। उणादि सूत्रो का

प्रणयन पाणिनि के द्वारा न होकर शाकटायन के द्वारा होने का एक प्रमुख कारण "वायु" शब्द की निष्पत्ति भी है। "अजेर्व्यघञयो" इस सूत्र के भाष्य मे "अज्" धातु से यु प्रत्यय करके प्रकृति को वी भाव निपातन के द्वारा वायु शब्द को सिद्ध किया गया है। यदि उणादि सूत्र पाणिनिकृत होते तो उणादि के पहले सूत्र "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" के द्वारा वातीति वायु इस विग्रह मे वा धातु से उण् प्रत्यय और युगागम के द्वारा वायु शब्द बनाया गया होता।

इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि पूर्ववर्ती कोई शाकटायन नामक ऋषि हो चुके है, जिन्होने न केवल उणादि सूत्र ही बनाये किन्तु उनका कोई स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ भी रहा होगा, जो आज अनुपलब्ध है। पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी मे शाकटायन का स्मरण बडे सम्मान के साथ किया है "लड शाकटायनस्य"।

भिक्षुशब्दानुशासन जिस सरलीकरण की प्रक्रिया को लक्ष्य करके प्रवृत्त हुआ है, उसमे इसे पूर्ण सफलता मिली है। इसकी इस प्रवृत्ति से उणादि सूत्र अछूते नही है

पलेराश ३।३४	=	पलाश
कलेर्मष ३।६३		कल्मषम्
समेर्डखि ३।१२४	=	सखा
सारेरथि ३।१६९	=	सारथि
अतेरिथि ३।१७२	=	अतिथि
तडेराग १।९७	=	तडाग
क्रमेरेलक १।६६	=	क्रमेलक

इन कतिपय उदाहरणो से स्पष्ट है कि भिक्षुशब्दानुशासन औणादिक विचार मे जैनेन्द्र और शाकटायन से बहुत आगे है। सूत्रो के पढते ही अर्थ की अभिव्यक्ति और प्रयोगो पर उनका तात्कालिक प्रभाव यह इस शब्दानुशासन की अनुपम देन है।

इन सारे विवेचनो से सिद्ध होता है कि भिक्षुशब्दानुशासन एक सर्वाङ्गसम्पन्न व्याकरण है। इसमे नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा सन्धियो का प्रौड किन्तु सरल प्रणाली से विवेचन किया गया है। नवीन सूत्रो की रचना, धातुओ की नयी परिकल्पना तथा उनके अर्थो की व्यवहारोपयोगिता ये सारी चीजे इसके रचयिता की अपूर्व प्रतिभा का अभिव्यञ्जन करती है। यह शब्दानुशासन प्रकाशित होकर संस्कृत वाङ्मय को गौरवान्वित करेगा और इसकी उपयोगिता निर्विचिकित्स होगी।

सदर्भ

१ देखिये भिक्षुशब्दानुशासन का न्यायदर्पण

प्राकृत व्याकरणशास्त्र का उद्भव एवं विकास

डॉ० प्रेम सुमन जैन

प्राचीन समय से ही भारत में शिष्ट और जन-सामान्य की भाषा का समानान्तर प्रयोग होता रहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भी यही स्थिति थी। इन दोनों महापुरुषों ने भाषा की इसी महत्ता को समझते हुए जनभाषा को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। तत्कालीन वह जनभाषा इतिहास में मागधी (पालि) व अर्धमागधी (प्राकृत) के नाम से जानी गयी है। प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारतीय आर्य शाखा परिवार से है। अत प्राकृत का विकास भी भारतीय आर्य भाषा के साथ साथ हुआ है।

प्राकृत भाषा

वैदिक युग मे भी लोक भाषाओं का अस्तित्व था। भाषाविदो ने उन्हे तीन भागों मे विभक्त किया है (१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा (२) मध्यदेशीय विभाषा तथा (३) प्राच्या या पूर्वीय विभाषा। इनमे से प्राच्या देश्य भाषा उन लोगो के द्वारा प्रयुक्त होती थी जो वैदिक सस्कृति से भिन्न विचार वाले थे। वैदिक साहित्य मे छान्दस भाषा का प्रयोग हुआ है। अत छान्दस भाषा से जो भाषा विकसित हुई उसे सस्कृत या लौकिक सस्कृत के नाम से जाना गया तथा प्राच्या विभाषा से जो भाषा विकसित हुई उसे भगवान् महावीर के समय मे मागधी के नाम से जाना गया है। इस प्रकार विकास की दृष्टि से प्राकृत और सस्कृत दोनो सहोदरा है। जनभाषा से दोनो उद्भूत है। क्रमश इन भाषाओं का साहित्य धार्मिक एव विद्या की दृष्टि से भिन्न होता गया अत इनके स्वरूप मे भी स्पष्ट भेद हो गये। सस्कृत व्याकरण के नियमो से शासित हो जाने से निश्चित स्वरूप को प्राप्त हो गयी तथा उसका 'सस्कृत' नाम रूढ हो गया। यह देवभाषा हो गयी। जबकि प्राकृत मे निरन्तर लोकभाषा के शब्दो का समावेश होता रहता था। अत वह रही तो प्राकृत, किन्तु नाम नये-नये धारण करती रही। मागधी,

अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि नाम प्राकृत भाषा के विकास के परिचायक हैं।

प्राकृत भाषा के अनेक तत्त्व वैदिक संस्कृत में उपलब्ध होते हैं। लौकिक संस्कृत भी यत्र-तत्र उससे प्रभावित है। उसी प्रकार प्राकृत में भी संस्कृत भाषा के शब्दों को तत्सम और तद्भव रूप में ग्रहण किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने इस प्रकार के शब्दों का शासन किया है। प्राकृत में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जिनका अर्थ रूढ हो गया है तथा जिनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसे शब्द देश्य या देशी कहे गये हैं,[1] जो जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में सम्मिलित होते रहते हैं। इस तरह प्राकृत भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करना उतना सरल नहीं था, जितना संस्कृत का। अत संस्कृत को आधार मानकर प्राकृत व्याकरण का प्रारम्भ किया गया है।

प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने इस भाषा की प्रकृति संस्कृत को माना तथा उससे उत्पन्न होने वाली भाषा को उन्होंने प्राकृत कहा है 'प्रकृति संस्कृतम् तत्रभव प्राकृत उच्यते' इत्यादि। संस्कृत के कुछ अलंकारिकों ने भी यही मत प्रगट किया है। किन्तु इन सबने 'प्रकृति' का अर्थ संस्कृत भाषा करके भ्रान्ति की है। प्राकृत को 'प्रकृति' शब्द से उत्पन्न मानना और उसे संस्कृत से जोडना ठीक नहीं है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह सही नहीं है। इस विषय पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। अत अब विद्वान् इस मत से सहमत होने लगे हैं कि प्राकृत स्वतन्त्र रूप से विकसित भाषा है, संस्कृत का बिगडा हुआ रूप नहीं।

प्राचीन ग्रन्थों में प्राकृत (पाइय, पागय) शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है।[2] किन्तु रुद्रटकृत काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु ने प्राकृत शब्द की सुन्दर और सटीक व्याख्या की है। उनके अनुसार 'प्राकृत' शब्द का अर्थ है व्याकरण आदि संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। उससे उत्पन्न अथवा वही वचन-व्यापार प्राकृत है। 'प्राक् + कृत' पद से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है पहले किया गया। जैन धर्म के द्वादशांग ग्रन्थों में ग्यारह अंग ग्रन्थ पहले किये गये हैं अत उनकी भाषा प्राकृत है। यह भाषा बालक, महिला आदि सभी को सुबोध है।[3] इसी प्राकृत के देश भेद एवं क्रमश संस्कारित होने से अवान्तर विभेद हुए हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का अनुशासन किया है। किन्तु सामान्य रूप से प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति करते समय 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्ध प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीना साधारण जनानामिद प्राकृतम्' अर्थ को स्वीकार करना चाहिए।[4] इस तरह जन-सामान्य की स्वाभाविक भाषा प्राकृत है।

प्राकृत भाषा में केवल जैनागम ही नहीं लिखे गये, अपितु ईसा की प्रथम शताब्दी में स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थों की रचना भी प्राकृत में होने लगी थी। आगमों की भाषा जहा अर्धमागधी है, वहा दिगम्बर आगम शौरसेनी प्राकृत में लिखे गये

हैं। गाहासत्तसई, तरगवती, पउमचरिय, वसुदेवहिण्डी आदि प्राचीन काव्यो की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची मे निबद्ध थी। इस तरह ईसा की तृतीय शताब्दी तक प्राकृत भाषा के कई रूप प्रचलित थे। उनमे कुछ सामान्य नियम भी व्याकरण की दृष्टि से निश्चित हो चुके थे, जैसा कि इन ग्रन्थो की भाषा को देखने से पता चलता है। भले ही लिखित रूप मे प्राकृत का कोई व्याकरण ग्रन्थ उस समय प्रचलित न रहा हो, किन्तु सामान्य व्याकरणशास्त्र के अनुसार विभिन्न प्राकृते अनुशासित होकर साहित्य मे प्रयुक्त होती रही होगी। यद्यपि कुछ अपवाद भी उपलब्ध होते है, जो प्राकृत के लोक भाषा होने के कारण हैं।[५] सभवत लोकभाषा की विश्रुति के कारण ही बहुत समय तक प्राकृत का व्याकरण लिखने की आवश्यकता अनुभव न की गयी होगी। किन्तु ईसा की द्वितीय या तृतीय शताब्दी तक प्राकृत का व्याकरण अवश्य अस्तित्व मे आ गया होगा। अन्यथा इस समय के प्राकृत साहित्य की भाषा इतनी व्यवस्थित न होती।

प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त

प्राकृत के जितने व्याकरण आज उपलब्ध है वे सब सस्कृत मे लिखे गये हैं। हो सकता है कि प्रारम्भ मे कोई व्याकरण प्राकृत भाषा मे भी लिखा गया हो, किन्तु आज उपलब्ध नही है। आगम ग्रन्थो मे अवश्य प्राकृत भाषा मे व्याकरण के कुछ नियमो का उल्लेख है। कुल सन्दर्भ इस प्रकार है

आचारागसूत्र मे एकवचन, द्विवचन एव बहुवचन, स्त्रीलिंग, पुल्लिग एव नपुसकलिंग तथा वर्तमानकाल, भूतकाल एव भविष्यत्काल के वचनो का उल्लेख है। यथा

समियाए सजए भास भासेज्जा, त जहा एगवयण, दुवयण, बहुवयण, इत्थीवयण, पुरिसवयण, णपुसगवयण अणागयवयण, पच्चक्खवयण, परोक्खवयण ॥ आयारचूला, ४ १ सूत्र ३

स्थानागसूत्र मे आठ कारको का सोदाहरण निरूपण है। यथा

अट्ठविधा वयणविभत्ती पण्णत्ता, त जहा
णिद्देसे पढमा होती, बितिया उयएसणे।
ततिया करणम्मि कत्ता, चउन्थी सपदावणे ॥१॥
पचमी य अवादाणे, छट्ठी सस्सामिवादणे।
सत्तमी सण्णिहाणत्थे, अट्ठमी आमतणी भवे ॥२॥
तत्थ पढमा विभत्ती, णिद्देसे-सो इमो अह वत्ति।
बित्तिया उण उवएसे भण कुण व इम व त वत्ति ॥३॥

ततिया करणम्मि कया णीत व कत व तेण व मए वा ।
हंदि णमो साहाए, हवति चउत्थी पदाणम्मि ॥४॥
अवणे गिण्हसु तत्तो, इत्तोत्ति वा पचमी अवादाणे ।
छट्ठी तस्स इमस्स व, गतस्स वा सामि-सबंधे ॥५॥
हवइ पुण सत्तमी तमिमम्मि आहारकाल भावे य ।
आमतणी भवे अट्ठमी उ जह हे जुवाण ! त्ति ॥६॥

स्थानागसूत्र, अष्टम स्थान, सूत्र २४

इस प्रकार इसमे वताया गया है कि निर्देश मे प्रथमा विभक्ति होती है। यथा—सो, इमो, अह आदि। उपदेश मे द्वितीया विभक्ति होती है। यथा ईम, त आदि। करण मे तृतीया होती है। यथा—तेण णीत, मए कत आदि। सम्प्रदान मे चतुर्थी विभक्ति और अपादान मे पचमी होती है। स्वामित्व भाव अथवा सम्बन्ध मे षष्ठी होती है। जैसे तस्स, इमस्स आदि। अधिकरण मे सप्तमी और आमन्त्रण-सम्बोधन मे आठवा कारक होता है। यथा हे जुवाण ! आदि।

इसके अतिरिक्त अनुयोगद्वारसूत्र मे शब्दानुशासन सम्बन्धी पर्याप्त विवेचन हुआ है। समस्त शब्दराशि को नामिक, नैपातिक, आख्यातिक, औपसर्गिक और मिश्र के अन्तर्गत विभक्त किया गया है।[1] नाम शब्दो की चार प्रकार की निष्पत्ति होती है आगम, लोप, प्रकृतिभाव एव विकार।[2] इन चारो के उदाहरण स्वरूप प्राकृत शब्द दिये गये है।

पदो को तीन लिंगो मे विभक्त किया गया है तथा अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और ओकारान्त शब्दो को पुल्लिग कहा गया है। स्त्रीलिंग शब्द ओकारान्त से रहित होते है। तथा नपुसकलिग मे अकारान्त और उकारान्त शब्दो के उदाहरण दिये गये है। यथा -

त पुण णाम तिविहि इत्थी पुरिस णपुसग चेव ।
एएसि तिण्ह पि अतम्मि अ परूवण वोच्छ ॥१॥
तत्थ पुरिसस्स अता आ इ उ ओ हवति चत्तारि ।
ते चेव इत्थिआओ हवति ओकार परिहीणा ॥२॥
अतिम-इतिअ-उतिअ अताउ णपुसगस्स बोद्धव्वा ।
एतेसि तिण्ह पि अ वोच्छामि निदसणे एत्तो ॥३॥
आगारतो राया ईगारतो गिरि अ सिहरी अ ।
उगारतो विण्हू दुमो अ अताउ पुरिसाण ॥४॥
आगारता माला ईगारता सिरी अ लच्छी अ ।
ऊगारता जबू वहू अ अताउ इत्थीण ॥५॥

अकरत धन्न इकरत नपुमग 'अत्थि'।
उकारत पीलु महु च अता णपुसाण ।।६।।
अणुओगदारसुत्त (व्यावरसस्करण), सूत्र १२३

समास, तद्धित, धातु और निरुक्त का विवेचन भी इस ग्रन्थ मे है। समास के सात भेद बतलाये गये है। यथा —

ददे अ बहुव्वीहि कम्मधारय दिग्गु अ ।
तत्पुरिस अव्वइभावे एकक सेसे अ सत्तमे ।।१।।

द्वन्द, बहुव्रीहि, कर्मधारय, द्विगु, तत्पुरुष, कर्मधारय और एकशेष ये सात समास हैं। इनमे प्रत्येक के उदाहरण भी इस ग्रन्थ मे दिये गये है। तद्धित के आठ भेद बतलाए गये है[६], यथा कर्मनाम, शिल्प, सिलोक, सयोग, समीप, समूह, ईश्वरीय एव अपत्य नाम

कम्मे सिप्पसिलाए सजोग समीअवो अ सजूहो।
इस्सरिअ अवच्चेण य तद्धितणाम तु अट्ठविह ।।

इसी ग्रन्थ मे आठो विभक्तियो का उल्लेख है तथा किस-किस अर्थ मे ये विभक्तिया होती है इसका भी सोदाहरण उल्लेख किया गया है।[७]

इस तरह अन्य आगम ग्रन्थो व उनकी टीकाओ मे शब्दानुशासन सम्बन्धी कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है। यह इस बात की द्योतक है कि प्राकृत भाषा के साहित्यकार भी व्याकरण के नियमो से परिचित थे तथा उनका प्रयोग अपने ग्रन्थो की भाषा मे करते थे। इससे एक यह भी सभावना होती है कि प्राचीन समय मे प्राकृत का व्याकरण अवश्य लिखा गया होगा, जिसकी परम्परा मे प्रसिद्धि थी, किन्तु आज वह उपलब्ध नही है।

अनुपलब्ध प्राकृत व्याकरण

प्राकृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास मे ऐसे कई वैयाकरणो और उनके ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है, जो आज उपलब्ध नही हैं। उनका यहा विवरण दे देना आवश्यक है, क्योकि पता नही कब शास्त्रभण्डारो से उनके व्याकरण ग्रन्थ प्राप्त हो जाय।

ऐन्द्र-व्याकरण

जैन ग्रन्थो मे परम्परागत से यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने इन्द्र के लिए एक शब्दानुशासन कहा था, उसे उपाध्याय (लेखाचार्य) ने सुनकर लोक मे ऐन्द्र नाम से प्रगट किया

सक्को अ तस्समक्ख भगवंत आसणे निवेसित्ता।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इंद ॥
हारिभद्रीय आवश्यकवृत्ति, भाग १, पृ० १८२

इस उल्लेख से इतना तो ज्ञात होता है कि महावीर के समय में कोई व्याकरण-ग्रन्थ अवश्य था, जिसमे संस्कृत के अतिरिक्त हो सकता है कि प्राकृत का भी अनुशासन सम्मिलित रहा हो। इस 'ऐन्द्र व्याकरण' का अन्य परवर्ती लेखको ने भी उल्लेख किया है।[८] किन्तु मूल रूप मे यह व्याकरण अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। डा० ए० सी० बर्नेल ने इस ग्रन्थ विषयक पर्याप्त शोध की है।[९]

सद्दपाहुण

आवश्यक चूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि एव सिद्धसेनगणिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य-टीका (पृ ५०) मे 'सद्दपाहुण' ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यह ग्रन्थ किस भाषा मे था तथा उसमे संस्कृत अथवा प्राकृत व्याकरण का क्या स्वरूप वर्णित था, इसका कुछ संकेत नही मिलता। किन्तु यह व्याकरण का ही ग्रन्थ रहा होगा। क्योकि सिद्धसेनगणि ने कहा है कि पूर्वो मे जो 'शब्दप्राभृत' है, उसमे से व्याकरण का उद्‌भव हुआ है।[१०]

समन्तभद्र-व्याकरण

देवनंदि पूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरण मे समन्तभद्र के किसी व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख है। डा० हीरालाल जैन का मत है कि संभवत इस ग्रन्थ मे संस्कृत व प्राकृत दोनो भाषाओ का व्याकरण रहा होगा।[११] किन्तु यह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नही है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे अनेक तथ्यो को संकलित कर उन पर विचार किया है तथा इस ग्रन्थ के अस्तित्व की संभावना व्यक्त की है।[१२]

पद्यात्मक प्राकृत व्याकरण

धवला टीकाकार वीरसेन ने किसी अज्ञातकर्तृक पद्यात्मक व्याकरण के सूत्रो का उल्लेख किया है। किन्तु यह व्याकरण अभी तक अनुपलब्ध है। इस व्याकरण के सम्बन्ध मे अन्य सूचनाएँ देते हुए डा० जैन ने इसका रचनाकाल ८वी शताब्दी के लगभग माना है।[१३]

पाणिनि का प्राकृत व्याकरण

केदारभट्ट ने 'कविकण्ठपाश' मे और मलयगिरि ने भी बताया है कि पाणिनि ने 'प्राकृत लक्षण' नामक ग्रन्थ लिखा था। डा० पिशल का कथन है कि पाणिनि

प्राकृत के व्याकरण पर भी बहुत कुछ लिख सकता था। सम्भवत उसने अपने सस्कृत व्याकरण के परिशिष्ट के रूप मे प्राकृत व्याकरण लिखा हो। किन्तु पाणिनि का प्राकृत व्याकरण न तो मिलता है, न उसके उद्धरण ही कही पाये जाते हैं।[१४] किन्तु पाणिनि के सस्कृत व्याकरण मे ही कई प्राकृत धातुओ का उल्लेख है[१५] और पाणिनि के समय मे प्राकृत का प्रयोग भी होने लगा था अत पाणिनि के प्राकृत व्याकरण के उपलब्ध होने की अभी भी सभावना की जा सकती है।

स्वयम्भू-व्याकरण

अपभ्रश के प्रसिद्ध एव प्राचीन कवि स्वयम्भू की अनुपलब्ध रचनाओ मे एक स्वयम्भू व्याकरण भी है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे कहा गया है कि अपभ्र श का मस्त गज तभी तक स्वच्छन्द घूमता है जब तक स्वयम्भू का व्याकरण रूपी अकुश उसे नही लगा।[१६] यद्यपि इस उल्लेख मे स्वयम्भू व्याकरण की विषय-वस्तु स्पष्ट नही होती, किन्तु वह महत्वपूर्ण व्याकरण रहा होगा। प्राकृत और अपभ्र श के सधिकाल का यह व्याकरण होने से उससे प्राकृत के व्याकरण पर भी प्रकाश पड सकता है। किन्तु अभी तक यह स्वयम्भू-व्याकरण उपलब्ध नही हुआ है।

अन्य प्राकृत व्याकरण

जैनग्रन्थावलि (पृ० ३०७) पर उल्लेख है कि देवसुन्दरसूरि ने 'प्राकृतयुक्ति' नाम का व्याकरण लिखा था। अभी यह उपलब्ध नही हुआ। हैमशब्दानुशासन के आठवे अध्याय पर १५०० श्लोक-प्रमाण 'हैमदीपिका' अथवा 'प्राकृतवृत्ति-दीपिका' की रचना द्वितीय हरिभद्र ने की है। किन्तु यह अनुपलब्ध है।[१७] पिशल द्वारा सम्पादित शाकुन्तलम् की चन्द्रशेखरवृत्त टीका मे 'प्राकृत साहित्यरत्नाकर' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है, यह भी आज तक अनुपलब्ध है। 'प्राकृत कौमुदी' नामक ग्रन्थ की भी उपलब्धि अभी नही हुई है, जिसका उल्लेख पिशल ने किया है।[१८] अभी जैसे-जैसे जैन साहित्य प्रकाश मे आयेगा यह सूची और घट-बढ सकती है।

प्राकृत वैयाकरण एव उनके ग्रन्थ

उपलब्ध प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ सभी सस्कृत मे लिखे गये है। प्राकृत वैयाकरणो एव उनके ग्रन्थो का परिचय डा० पिशल ने अपने ग्रन्थ मे दिया है। डौल्ची नित्ति ने अपनी जर्मन पुस्तक 'ले ग्रामैरिया प्राकृत' (प्राकृत के वैयाकरण) मे आलोचनात्मक शैली मे प्राकृत के वैयाकरणो पर विचार किया है।[१९] इधर प्राकृत व्याकरण के बहुत से ग्रन्थ छपकर प्रकाश मे भी आये है। उनके सम्पादको ने भी प्राकृत वैयाकरणो पर कुछ प्रकाश डाला है। इस सब सामग्री के आधार पर

प्राकृत वैयाकरणों एवं उनके उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों का परिचयात्मक मूल्यांकन यहाँ प्रस्तुत है, जिसमें ग्रन्थकार का परिचय, ग्रन्थ की विषयवस्तु, वैशिष्ट्य एवं प्रकाशन सम्बन्धी जानकारी को प्रमुखता दी गयी है।

आचार्य भरत

प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में जिन संस्कृत आचार्यों ने अपने मत प्रकट किये हैं, इनमें भरत सर्व प्रथम हैं। प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' के प्रारम्भ में अन्य प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों के साथ भरत को स्मरण किया है।[२०] भरत का कोई अलग प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता है। भरतनाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में ६ से २३ श्लोकों में प्राकृत व्याकरण पर कुछ कहा गया है। इसके अतिरिक्त ३२वें अध्याय में प्राकृत के बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं, किन्तु स्रोतों का पता नहीं चलता है।

डॉ० पी० एल० वैद्य ने त्रिविक्रम के प्राकृतशब्दानुशासन संस्करण के १७वें परिशिष्ट में भरत के श्लोकों को संशोधित रूप में प्रकाशित किया है, जिनमें प्राकृत के कुछ नियम वर्णित हैं। डा० वैद्य ने उन नियमों को भी स्पष्ट किया है। भरत ने कहा है कि प्राकृत में कौन से स्वर एवं कितने व्यंजन नहीं पाये जाते। कुछ व्यंजनों का लोप होकर उनके केवल स्वर बचते हैं। ख, घ, थ, ध एवं भ का परिवर्तन ह में हो जाता है। यथा

वच्चति कगतदयवा लोप, अत्थ च से वहति सरा।
खघथधभा उण हत्त उवेति अत्थ अमुचता ॥८॥

प्राकृत की सामान्य प्रवृत्ति का भरत ने संकेत किया है कि शकार का सकार एवं नकार का सर्वत्र णकार होता है। यथा —विष—विस, शङ्का सका आदि। इसी तरह ट=ड, ठ=ढ, प=व, ड=ल, च=य, य=ध, प=फ आदि परिवर्तनों के सम्बन्ध में संकेत करते हुए भरत ने उनके उदाहरण भी दिये हैं तथा श्लोक १८ से २४ तक में उन्होंने संयुक्त वर्णों के परिवर्तनों को सोदाहरण सूचित किया है और अन्त में कह दिया है कि प्राकृत के ये कुछ सामान्य लक्षण मैंने कहे हैं। बाकी प्रसिद्ध ही है, जिन्हें विद्वानों को प्रयोग द्वारा जानना चाहिए—

एवमेतन्मया प्रोक्तं किंचित्प्राकृतलक्षणम्।
शेष देशीप्रसिद्धं च ज्ञेयं विप्रा प्रयोगत। ॥

प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी भरत का यह शब्दानुशासन यद्यपि संक्षिप्त है, किन्तु महत्त्वपूर्ण इस दृष्टि में है कि भरत के समय में भी प्राकृत व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। हो सकता है, उस समय प्राकृत का कोई प्रसिद्ध व्याकरण रहा हो अतः भरत ने केवल सामान्य नियमों का ही संकेत करना आवश्यक समझा है। इसी १७वें अध्याय के ५९-६३ श्लोकों में भरत ने कुछ देशी

भाषाओ की विशेषताए कही है, जो अपभ्रंश व्याकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[२१] पैशाची और शौरसेनी की विशेषताए भी उसमे इगित होती है।[२२]

चण्ड प्राकृतलक्षण

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणो मे चडकृत प्राकृतलक्षण सर्वप्राचीन सिद्ध होता है। भूमिका आदि के साथ डा० रूडोल्फ होएर्नले ने सन् १८८० मे बिब्लिओथिका इडिका मे कलकत्ता से इसे प्रकाशित किया था।[२३] सन् १९२९ मे सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला की ओर से यह अहमदाबाद से भी प्रकाशित हुआ है। इसके पहले १९२३ मे भी देवकीकान्त ने इसको कलकत्ता से प्रकाशित किया था।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे वीर (महावीर) को नमस्कार किया गया है तथा वृत्ति के उदाहरणो मे अर्हन्त (सू० ४६ व २४) एव जिनवर (सूत्र ४८) का उल्लेख है। इससे यह जैनकृति सिद्ध होती है। ग्रन्थकार ने वृद्धमत के आधार पर इस ग्रन्थ के निर्माण की सूचना दी है, जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि चण्ड के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे। यद्यपि इस ग्रन्थ मे रचना काल सम्बन्धी कोई सकेत नही है, तथापि अन्त साक्ष्य के आधार पर डा० हीरालाल जैन ने उसे ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना स्वीकार किया है।[२४]

प्राकृत लक्षण मे चार पाद पाये जाते हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे चड ने प्राकृत शब्दो के तीन रूपो तद्भव, तत्सम एव देश्य—को सूचित किया है तथा सस्कृतवत् तीनो लिगो और विभक्तियो का विधान किया है। तदनन्तर चौथे सूत्र मे व्यत्यय का निर्देश करके प्रथमपाद के ५वे सूत्र से ३५ सूत्रो तक सज्ञाओ और सर्वनामो के विभक्ति रूपो को बताया गया है। द्वितीय पाद के २९ सूत्रो मे स्वर परिवर्तन, शब्दादेश और अव्ययो का विधान है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रो मे व्यजनो के परिवर्तनो का विधान है। प्रथम वर्ण के स्थान पर तृतीय का आदेश किया गया है। यथा—एक = एग, पिशाची = विसाजी, कृत कद आदि।

इन तीन पादो मे कुल ९९ सूत्र हैं, जिनमे प्राकृत व्याकरण समाप्त किया गया है। हाएर्नले ने इतने भाग को ही प्रामाणिक माना है। किन्तु इस ग्रन्थ की अन्य चार प्रतियो मे चतुर्थपाद भी मिलता है, जिसमे केवल ४ सूत्र है। इनमे क्रमश कहा गया है १ अपभ्रश मे अधोरेफ का लोप नही होता, २ पैशाची मे र् और स् के स्थान पर ल् और न् का आदेश होता है, ३ मागधी मे र् और स् के स्थान पर ल् और श् का आदेश होता है तथा ४ शौरसेनी मे त् के स्थान पर विकल्प से द् आदेश होता है। इस तरह ग्रन्थ के विस्तार, रचना और भाषा स्वरूप की दृष्टि से चड का यह व्याकरण प्राचीनतम सिद्ध होता है। परवर्ती प्राकृत वैयाकरणो पर इसके प्रभाव स्पष्ट रूप से देखे जाते है। हेमचन्द्र ने भी चड से बहुत कुछ ग्रहण किया है।[२५]

'प्राकृत लक्षण' पर सूत्रकार चंड ने स्वयं वृत्ति की रचना की है। इस वृत्ति में उन्होंने सूत्रों को संक्षेप में स्पष्ट किया है। इस वृत्ति का प्रकाशन सन् १८८० में कलकत्ता से बिब्लिओथेका इण्डिका में हुआ। उसके बाद १९२३ में वहीं से श्री देवकीकान्त भट्टाचार्य ने इसे प्रकाशित किया और बाद में मुनि दर्शनविजय त्रिपुटी द्वारा संपादित होकर यह वृत्ति चारित्रग्रन्थमाला अहमदाबाद से प्रकाशित हुई है।[२६]

वररुचि-प्राकृत प्रकाश :

प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड के बाद वररुचि प्रमुख वैयाकरण हैं। प्राकृतप्रकाश में वर्णित अनुशासन पर्याप्त प्राचीन है। अतः विद्वानों ने वररुचि को ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग का विद्वान् माना है। विक्रमादित्य के नवरत्नों में भी एक वररुचि थे। वे सम्भवतः प्राकृतप्रकाश के ही लेखक थे। छठी शताब्दी से तो प्राकृतप्रकाश पर अन्य विद्वानों ने टीकाएं लिखना प्रारम्भ कर दी थी। अतः वररुचि ने ४-५वीं शताब्दी में अपना यह व्याकरण ग्रन्थ लिखा होगा।

प्राकृतप्रकाश विषय और शैली की दृष्टि से प्राकृत का महत्वपूर्ण व्याकरण है। प्राचीन प्राकृतों के अनुशासन की दृष्टि से इसमें अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं। अतः न केवल प्राचीन आचार्यों ने इस पर कई टीकाएं लिखी हैं, अपितु आधुनिक युग में भी इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। यथा :

१	कौवेल	१८५४	द प्राकृत प्रकाश, प्र० सं०	हार्टफोर्ड
२	,,	१८६८,	भामह की टीका सहित, द्वि० सं०	लन्दन
३	रामशास्त्री तैलंग,	१८९९	मूल पाठ,	बनारस
४	बसन्तकुमार शर्मा चट्टोपाध्याय	१९१४	कात्यायन और भामह की वृत्तियों तथा बंगाली अनुवाद सहित	कलकत्ता
५	,,	१९२७	बसन्तराज और सदानन्द की टीकाओं सहित	बनारस
६	पी० एल० वैद्य	१९३१	भूमिका, पाठभेद सहित मूलपाठ, अंग्रेजी अनुवाद	पूना
७	उद्योतन शास्त्री	१९४०	मनोरमा टीका सहित	वाराणसी
८	उदयराम डबराल वि० सं०	१९७७	मनोरमा व्याख्या सहित	वाराणसी
९	डी०सी० सरकार	१९४३	मूलपाठ एवं अंग्रेजी अनुवाद	कलकत्ता युनिवर्सिटी

१०. डी० सी० सरकार	१९७०	सशोधित एव परिवर्धित सस्करण, मोतीलाल बनारसीदास	बनारस
११ कुनहन राजा	१९४६	भूमिका एव रामपाणिपाद वृत्ति सहित	मद्रास
१२ के० वी० त्रिवेदी	१९५७	गुजराती अनुवाद सहित	नवसारी (गुजरात)
१३ जगन्नाथ शास्त्री	१९५९	हिन्दी अनुवाद सहित	वाराणसी

प्राकृतप्रकाश मे कुल बारह परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद के ४४ सूत्रो मे स्वरविकार एव स्वरपरिवर्तनो का निरूपण है। दूसरे परिच्छेद के ४७ सूत्रो मे मध्यवर्ती व्यजनो के लोप का विधान है तथा इसमे यह भी बताया गया है कि शब्दो के असयुक्त व्यजनो के स्थान पर किन विशेष व्यजनो का आदेश होता है। यथा (१) प के स्थान पर व शाप=सावो, (२) न के स्थान पर ण वचन=वअण, (३) श, ष के स्थान पर स शब्द=सद्दो, वृषभ—वसहो आदि। तीसरे परिच्छेद के ६६ सूत्रो मे सयुक्त व्यजनो के लोप, विकार एव परिवर्तनो का अनुशासन है। अनुकारी, विकारी और देशज इन तीन प्रकार के शब्दो का नियमन चौथे परिच्छेद के ३३ सूत्रो मे हुआ है। यथा १२वे सूत्र **मोबिन्दु**' मे कहा गया है कि अतिम हलन्त म् को अनुस्वार होता है वृक्षम्= वच्छं, भद्रम्=भद्दं आदि। पाचवे परिच्छेद के ४७ सूत्रो मे लिंग और विभक्ति का अनुशासन दिया गया है। सर्वनाम शब्दो के रूप और उनके विभक्ति प्रत्यय छठे परिच्छेद के ६४ सूत्रो मे वर्णित है। आगे सप्तम परिच्छेद मे तिङन्तविधि तथा अष्टम मे धात्वादेश का वर्णन है। प्राकृत का धात्वादेश सम्बन्धी प्रकरण तुलनात्मक दृष्टि से विशेष महत्व का है। नवे परिच्छेद मे अव्ययो के अर्थ एव प्रयोग दिये गये है। यथा णवर: केवले ॥७॥ केवल अथवा एकमात्र के अर्थ मे णवर शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ **एसो णवर कन्दप्पो, एसा णवर सा रई**। इत्यादि

यहा तक वररुचि ने सामान्य प्राकृत महाराष्ट्री का अनुशासन किया है। इसके अनन्तर दसवे परिच्छेद के १४ सूत्रो मे पैशाची भाषा का विधान है। १७ सूत्र वाले ग्यारहवे परिच्छेद मे मागधी प्राकृत का तथा बारहवें परिच्छेद के ३२ सूत्रो मे शौरसेनी प्राकृत का अनुशासन है।

प्राकृतप्रकाश पर एक टीका नारायण विद्याविनोद की भी मानी जाती है, जिसका नाम 'प्राकृतपाद' है। राजेन्द्र लाल मित्र ने सर्व प्रथम इसका परिचय दिया था। प्रारम्भ मे विद्वान् इस टीका को क्रमदीश्वर के 'सक्षिप्तसार' की टीका मानते थे। किन्तु अब 'प्राकृतपाद' वररुचि के ग्रन्थ की ही टीका स्वीकार की

जाती है। क्योंकि उसके ७८ परिच्छेद प्राकृतप्रकाश के प्रथम सात परिच्छेदों में ठीक-ठाक मिलते हैं।[27] वररुचि के ग्रन्थ पर चौथी टीका वसन्तराजकृत 'प्राकृत-सञ्जीविनी' है।[28] १४-१५वीं शताब्दी में यह टीका लिखी गयी थी। कर्पूरमंजरी में इस ग्रन्थ का नाम आता है—'तदुक्तम् प्राकृतसंजीविन्याम्।' डा० पिशेल इस टीका को वसन्तराज का स्वतन्त्र प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ मानते हैं।[29] किन्तु प्राकृत प्रकाश से इस ग्रन्थ की इतनी समानता है कि इसे उसकी टीका ही मानना उचित है। क्योंकि वसन्तराज ने कोई स्वतन्त्र सूत्र नहीं कहे हैं। प्राकृतप्रकाश पर सदानन्दकृत 'प्राकृत सुबोधिनी' नाम की भी टीका है, जिसका प्रकाशन बनारस से हुआ है। १७वीं शताब्दी में रामपाणिपाद ने प्राकृत प्रकाश पर एक संस्कृत वृत्ति लिखी है। इसमें सेतुबन्ध, गाहासत्तसई आदि से उदाहरण दिये गये हैं। यह वृत्ति १९४६ में मद्रास से कुनहन राजा द्वारा प्रकाशित हुई है।[30]

इस तरह प्राकृत व्याकरण के गहन अध्ययन के लिए वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश एवं उसकी टीकाओं का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। महाराष्ट्री के साथ मागधी, पैशाची एवं शौरसेनी का इसमें विशेष विवेचन किया गया है।

प्राकृत प्रकाश की इस विषयवस्तु से स्पष्ट है कि वररुचि ने विस्तार से प्राकृत भाषा के रूपों को अनुशासित किया है। चंड के प्राकृत लक्षण का प्रभाव वररुचि पर होते हुए भी कई बातों में उनमें नवीनता और मौलिकता है।

प्राकृतप्रकाश पर टीकाएं

वररुचि का प्राकृत व्याकरण प्राचीन होते हुए पूर्ण भी है। अतः उस पर कई विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं। डा० पिशेल ने इसका सबसे प्राचीन टीकाकार भामह को माना है, जिसकी टीका का नाम 'मनोरमा' है। किन्तु पिशेल जिस अज्ञातनामा टीका 'प्राकृतमंजरी' का उल्लेख करते हैं और जिसे विशेष महत्व की नहीं मानते[31] उसके टीकाकार का नाम विद्वान् कात्यायन निश्चित करते हैं। अतः कात्यायन भामह से पूर्ववर्ती है। लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में कात्यायन ने प्राकृतमंजरी नामक टीका पद्य में लिखी थी। इसका प्रकाशन १९१३ में निर्णय सागर प्रेस से हुआ। १९१४ में कलकत्ता से बी० के० चटर्जी ने मूल ग्रन्थ के साथ इसे प्रकाशित किया। यह टीका पूरे प्राकृतप्रकाश पर नहीं है।

भामहकृत मनोरमा टीका का कई स्थानों से प्रकाशन हुआ है।[32] यह टीका प्राकृतप्रकाश के १२वें परिच्छेद पर नहीं है। इस टीका में वररुचि के कई सूत्रों को यथावत् नहीं समझा गया है। स्वयं भामह ने कई स्थानों से उद्धरण ग्रहण कर दिये हैं। डा० पिशेल ने उनमें से कुछ की खोज-बीन की है।

सिद्धहैमशब्दानुशासन

प्राकृत व्याकरणशास्त्र को पूर्णता आचार्य हेमचन्द्र के सिद्धहैमशब्दानुशासन से प्राप्त हुई है। प्राकृत वैयाकरणो की पूर्वी और पश्चिमी दो शाखाए विकसित हुई है। पश्चिमी शाखा के प्रतिनिधि प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र हैं (सन् १०८८ से ११७२)।[३३] इन्होने विभिन्न विषयो पर अनेक ग्रन्थ लिखे है। इनकी विद्वत्ता की छाप इनके इस व्याकरण ग्रन्थ पर भी है। इस व्याकरण का अनेक स्थानो से प्रकाशन हुआ है। डा० पिशेल द्वारा सम्पादित होकर यह ग्रन्थ सन् १८७७-८० के बीच दो बार प्रकाशित हुआ है। डा० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित होकर १९३६ मे यह प्राकृत व्याकरण छपा तथा सशोधित होकर १९५८ मे इसका पुन प्रकाशन हुआ। इसके गुजराती, अग्रेजी और हिन्दी अनुवाद भी निकल चुके हैं। ब्यावर से प्रकाशित हिन्दी सस्करण मे अनेक परिशिष्ट सलग्न है अत उसकी विशेष उपयोगिता सिद्ध होती है।

हेमचन्द्र के अपने इस व्याकरण ग्रन्थ मे आठ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायो मे उन्होने सस्कृत व्याकरण का अनुशासन किया है, जिसकी सस्कृत व्याकरण के क्षेत्र मे अलग महत्ता है।[३४] आठवे अध्याय मे प्राकृत व्याकरण का निरूपण है। उसकी सक्षिप्त विषयवस्तु द्रष्टव्य है।

आठवें अध्याय के प्रथम पाद मे २७१ सूत्र है। इनमे सधि, व्यञ्जनान्तशब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यजन-व्यत्यय का विवेचन किया गया है। इस पाद का प्रथम सूत्र प्राकृत शब्द को स्पष्ट करते हुए यह निश्चित करता है कि प्राकृत व्याकरण सस्कृत के आधार पर सीखनी चाहिये। द्वितीय सूत्र द्वारा हेमचन्द्र ने प्राकृत के समस्त अनुशासनो को वैकल्पिक स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने न केवल साहित्यिक प्राकृतो को, अपितु व्यवहार की प्राकृत के रूपो को ध्यान मे रखकर भी अपना व्याकरण लिखा है। इस पाद के तीसरे सूत्र आर्षम् ८।१।३ द्वारा ग्रन्थकार ने आर्षप्राकृत और सामान्य प्राकृत मे भेद स्पष्ट किया है। इसके आगे के सूत्र स्वर आदि का अनुशासन करते है। जिस बात को प्राचीन वैयाकरण चड्र, वररुचि आदि ने सक्षेप मे कह दिया था, हेमचन्द्र ने उसे न केवल विस्तार से कहा है, अपितु अनेक नये उदाहरण भी दिये है। इस तरह प्राकृत भाषा के विभिन्न स्वरूपो का सागोपाग अनुशासन हैमव्याकरण मे हो सका है।[३५]

द्वितीयपाद के २१८ सूत्रो मे सयुक्त व्यजनो के परिवर्तन, समीकरण, स्वर भक्ति, वर्णविपर्यय, शब्दादेश, तद्धित, निपात और अव्ययो का निरूपण है। यह प्रकरण आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि मे बहुत उपयोगी है। हेमचन्द्र ने सस्कृत के कई द्वयअर्थ वाले शब्दो को प्राकृत मे अलग-अलग किया है, ताकि भ्रान्तिया न

हो। संस्कृत के क्षण शब्द का अर्थ समय भी है और उत्सव भी। हेमचन्द्र ने उत्सव अर्थ मे छणो (क्षण) और समय अर्थ मे खणो (क्षण) रूप निर्दिष्ट किये हैं। इसी तरह हेम ने अव्ययो की भी विस्तृत सूची इस पाद मे दी है।[16]

तृतीयपाद मे १८२ सूत्र है जिनमे कारक विभक्तियो, क्रियारचना आदि सम्बन्धी नियमो का कथन किया गया है। शब्दरूप, क्रियारूप और कृत् प्रत्ययो का वर्णन विशेष रूप से ध्यातव्य है। वैसे प्राकृतप्रकाश के समान ही इसका विवेचन हेम ने किया है पर कारक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है।

हैमप्राकृत व्याकरण का चतुर्थ पाद विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके ४४८ सूत्रो मे शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश प्राकृतो का शब्दानुशासन ग्रन्थकार ने किया है। इस पाद मे धात्वादेश की प्रमुखता है। संस्कृत धातुओ पर देशी अपभ्रंश धातुओ का आदेश किया है। यथा - सं०-कथ्, प्रा०-कह को बोल्ल, चव, जप आदि आदेश।

मागधी, शौरसेनी एवं पैशाची का अनुशासन तो प्राचीन वैयाकरणो ने भी संक्षेप मे किया था। हैम ने इनको विस्तार मे समझाया है। किन्तु इनके साथ ही चूलिका पैशाची की विशेषताएं भी स्पष्ट की है। इस पाद के ३२९ सूत्र से ४४८ सूत्र तक उन्होने अपभ्रंश व्याकरण पर पहली बार प्रकाश डाला है।[17] उदाहरणो के लिए जो अपभ्रंश के दोहे दिये है, वे अपभ्रंश साहित्य की अमूल्य निधि है। आचार्य हेम के समय तक प्राकृत भाषा का बहुत अधिक विकास हो गया था। इस भाषा का विशाल साहित्य भी था। अपभ्रंश के भी विभिन्न रूप प्रचलित थे। अत हेमचन्द्र ने प्राचीन वैयाकरणो के ग्रन्थो का उपयोग करते हुए भी अपने व्याकरण मे बहुत सी बाते नयी और विशिष्ट शैली मे प्रस्तुत की है।

हेम एव अन्य प्राकृत वैयाकरण .

आचार्य हेमचन्द्र के पूर्व कई प्राकृत वैयाकरण हो चुके थे। हेमचन्द्र ने यह स्वय स्वीकार किया है कि उन्होने प्राचीन ग्रन्थो का पर्याप्त उपयोग किया है। यद्यपि किसी का नाम नही लिया है। कश्चित्, केचित्, अन्ये आदि शब्दो द्वारा इसकी सूचना दी है। प्राकृत व्याकरण के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चड एव वररुचि का उन पर पर्याप्त प्रभाव है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि हेमचन्द्र मे कोई मौलिकता नही है। डा० डोल्ची नित्ति के इस कथन को समर्थन नही दिया जा सकता है कि हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण की पूर्णता और प्रौढता प्राप्त नही की है या उसमे कोई विशेष प्रतिभा नही है।[18]

वस्तुत हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण मे उस समय तक प्रचलित सभी अनुशासनो को सम्मिलित किया है तथा जहाँ नये नियमो व उदाहरणो की आवश्यकता थी उनको अपने ढग मे प्रस्तुत किया है। चड के प्राकृत लक्षण सूत्र

१७, १८, १९, २३, २४ हेमव्याकरण मे ८ ३ २४, ८ ३ ७, ८ ३ ९, ८ १ ८, ८ १ १६ मे उपलब्ध है। हेम ने आर्ष प्राकृत के उदाहरण वे ही दिये हैं, जो चड ने। किन्तु स्वर और व्यजन परिवर्तन के सिद्धान्त प्राकृत लक्षण मे बहुत सक्षिप्त है, जिनका हेमचन्द्र ने बहुत विस्तार किया है। तद्धित, वृतप्रत्यय, धात्वादेश और अपभ्र श व्याकरण का अनुशासन चड की अपेक्षा हेमव्याकरण मे नवीनता और विस्तार लिये हुए है।

विषयक्रम और वर्णनशैली दोनो मे हेमचन्द्र ने वररुचि का अनुकरण किया है। कुछ सिद्धान्त ज्यो के त्यो प्राकृतप्रकाश के उन्होने स्वीकार किये है। किन्तु अनेक बातो मे हेमचन्द्र वररुचि से अपनी विशेपता रखते हैं। वररुचि ने धातुओ के अर्थान्तरो का कोई सकेत नही दिया है, जबकि हेम ने **धातवोऽर्थान्तरेऽपि** ८ ४ २५९ द्वारा धातुओ के बदलते हुए अर्थों का निर्देश किया है। जैसे

बलि धातु प्राणन अर्थ मे पठित है, किन्तु खादन अर्थ मे भी इसका प्रयोग होता है। कलि धातु गणना के अर्थ मे पठित है पर पहिचानने के अर्थ मे भी वह प्रयुक्त होता है कलइ जानाति सख्यान करोति वा। इत्यादि।

हेमचन्द्र ने यश्रुति का विधान किया है, जिसका वररुचि मे अभाव है। सेतुबन्ध, गउडवहो आदि काव्यो मे यश्रुति का प्रयोग है, जिसका हेम ने नियमन किया है। वररुचि ने जहा तीन-चार तद्धित प्रत्ययो का उल्लेख किया है, वहा हेम ने सैकडो प्रत्ययो का नियमन किया है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने हेम और वररुचि के सूत्रो की तुलनाकर भी यह निष्कर्ष निकाला है कि हेमचन्द्र का व्याकरण अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो की अपेक्षा अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक है।[३९] यही कारण है कि हेमव्याकरण से परवर्ती वैयाकरण भी प्रभावित होते रहे है।[४०] यद्यपि उनकी अपनी मौलिक उद्भावनाए भी हैं, जो उनके व्याकरण ग्रन्थो के मूल्याकन से स्पष्ट हो सकेंगी।

हेमप्राकृत व्याकरण पर टीकाए

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण पर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक सुबोध-वृत्ति (बृहत्वृत्ति) भी लिखी है। मूलग्रन्थ को समझने के लिए यह वृत्ति बहुत उपयोगी है। इसमे अनेक ग्रन्थो से उदाहरण दिये गये है। एक लघुवृत्ति भी हेमचन्द्र ने लिखी है, जिसको 'प्रकाशिका' भी कहा गया है। यह स० १९२९ मे बम्बई से प्रकाशित हुई है।[४१]

हेमप्राकृतव्याकरण पर अन्य विद्वानो द्वारा लिखित टीकाओ मे निम्न प्रमुख हैं

१ द्वितीय हरिभद्रसूरि ने १५०० श्लोक प्रमाण 'हैमदीपिका' नाम की टीका

लिखी है, जिसे 'प्राकृतवृत्तिदीपिका' भी कहा गया है। यह टीका अभी तक अनुपलब्ध है।

२ जिनसागरसूरि ने ६७५० श्लोकात्मक 'दीपिका' नामक वृत्ति की रचना की है।

३ आचार्य हरिप्रभसूरि ने हैमप्राकृत व्याकरण के अष्टम अध्याय में आगत उदाहरणों की व्युत्पत्ति सूत्रों के निर्देश-पूर्वक की है। २७ पत्रों की यह प्रति एल० डी० इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद में उपलब्ध है। हरिप्रभसूरि का समय अज्ञात है।[४२]

४ वि० स० १५९१ में उदयसौभाग्यगणि ने 'हैमप्राकृतढुंढिका' नामक वृत्ति की रचना की है। इसे 'व्युत्पत्तिदीपिका' भी कहते है। यह वृत्ति भीमसिंह माणेक, बम्बई से प्रकाशित हुई है।

५ मलधारी उपाध्याय नरचन्द्रसूरि ने हैमप्राकृत व्याकरण पर एक अवचूरि रूप ग्रन्थ की रचना की है। इसका नाम 'प्राकृतप्रबोध' है। 'न्यायकन्दली' की टीका में राजशेखरसूरि ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। प्राकृतप्रबोध की पाण्डुलिपिया ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद में उपलब्ध हैं।

६ आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि ने हेमचन्द्र निर्मित वृत्ति को पद्य में निर्मित किया है। इसका नाम 'प्राकृतव्याकृति' है, जो 'अभिधानराजेन्द्र' कोश के प्रथम भाग के प्रारम्भ में रतलाम से वि० स० १९७० में छपी है।

७ हेमचन्द्र द्वारा जो अपभ्रंश व्याकरण के प्रसंग में दोहे दिये गये है उन पर 'दोधकवृत्ति' लिखी गयी है, जो हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन से प्रकाशित हुई है।

८ 'हैमदोधकार्थ' नामक एक टीका की सूचना 'जैनग्रन्थावली' से प्राप्त होती है। उसमे (पृ० ३०१) यह भी कहा गया है कि १३ पत्रों की इस टीका की एक पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है।

हैमशब्दानुशासन पर ढुंढिका लिखी गई है। उसके दो चरण ही अब तक उपलब्ध और प्रकाशित थे। किन्तु चारो चरणवाली एक प्रति श्वेताम्बर तेरापंथ श्रमण ग्रन्थ भंडार, लाडनूं में उपलब्ध है। मुनि श्री नथमल ने स्वरचित 'तुलसीमञ्जरी' नामक प्राकृत-व्याकरण में इस (ढुंढिका वृत्ति) का विशेष रूप से उपयोग किया है। तुलसीमञ्जरी अपनी सुबोध शैली एवं विशद विवेचन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह प्राकृत व्याकरण शीघ्र प्रकाशनाधीन है।

इस तरह प्राकृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में हैमप्राकृतव्याकरण का कई दृष्टियों से महत्त्व है। आर्षप्राकृत का सर्वप्रथम उसमें उल्लेख हुआ है।[४३] प्राकृत एव अपभ्रंश भाषा के प्राय सभी रूपों का उसमें अनुशासन हुआ है। न केवल साहित्य में प्रयुक्त शब्द अपितु व्यवहार में प्रयुक्त प्राकृत, अपभ्रंश एव देशी शब्दो

का नियमन हेमचन्द्र ने किया है। इस तरह की आदर्श प्राकृत व्याकरण की रचना कर हेमचन्द्र ने परवर्ती प्राकृत वैयाकरणो को भी इस क्षेत्र मे कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। परवर्ती प्राकृत व्याकरणग्रन्थो के मूल्याकन से यह स्पष्ट होता है कि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण ने उन्हे कितना आधार प्रदान किया है।

पुरुषोत्तम-प्राकृतानुशासन

हेमचन्द्र के समकालीन एक और प्राकृत वैयाकरण हुए है पुरुषोत्तम। ये बगाल के निवासी थे। अत इन्होने प्राकृत व्याकरणशास्त्र की पूर्वीय शाखा का प्रतिनिधित्व किया है। पुरुषोत्तम १२ वी शताब्दी के वैयाकरण हैं। उन्होने प्राकृतानुशासन नाम का प्राकृत व्याकरण लिखा है। यह ग्रन्थ १९३८ मे पेरिस से प्रकाशित हुआ है। एल० नित्ती डोल्ची ने महत्त्वपूर्ण फ्रेन्च भूमिका के साथ इसका सम्पादन किया है।[४४] १९५४ मे डा० मनमोहन घोष ने अग्रेजी अनुवाद के साथ मूल प्राकृतानुशासन को 'प्राकृतकल्पतरु' के साथ (पृ० १५६-१६९) परिशिष्ट १ मे प्रकाशित किया है।

प्राकृतानुशासन मे तीन से लेकर बीस अध्याय है। तीसरा अध्याय अपूर्ण है। प्रारम्भिक अध्यायो मे सामान्य प्राकृत का निरूपण है। नौवे अध्याय मे शौरसेनी तथा दसवे मे प्राच्या भाषा के नियम दिये गये है। प्राच्या को लोकोक्ति-बहुल बनाया गया है। ग्यारहवे अध्याय मे अवन्ती और बारहवे मे मागधी प्राकृत का विवेचन है। इसके बाद विभाषाओ मे शाकारी, चाडाली, शाबरी और टक्कदेशी का अनुशासन किया गया है। उससे पता चलता है कि शाकारी मे 'क' और टक्की मे उद् की बहुलता पाई जाती है। इसके बाद अपभ्रश मे नागर, ब्राचड, उपनागर आदि का नियमन है। अन्त मे कैकय, पैशाचिक और शौरसेनी पैशाचिक भाषा के लक्षण कहे गये हैं।[४५]

त्रिविक्रम-प्राकृतशब्दानुशासन

त्रिविक्रम १३ वी शताब्दी के वैयाकरण थे। उन्होने जैनशास्त्रो का अध्ययन किया था तथा वे कवि भी थे। यद्यपि उनका कोई काव्यग्रन्थ अभी उपलब्ध नही है। त्रिविक्रम ने 'प्राकृतशब्दानुशासन' मे प्राकृत सूत्रो का निर्माण किया है तथा स्वय उनकी वृत्ति भी लिखी है

> प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
> वृत्तिर्यथार्थसिद्ध्यै त्रिविक्रमेणागमक्रमात्क्रियते ॥ ९ ॥

इन दोनो का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन व प्रकाशन डा० पी० एल० वैद्य ने सोलापुर से १९५४ मे किया है। यद्यपि इससे पूर्व भी मूलग्रन्थ का कुछ अश १८९६ एव १९१२ मे प्रकाशित हुआ था। किन्तु वह ग्रन्थ को पूरी तरह प्रकाश मे नही लाता

था।[६६] अत डा० वैद्य ने कई पाण्डुलिपियो के आधार पर ग्रन्थ का वैज्ञानिक सस्करण प्रकाशित किया है। इसके पूर्व वि० स० २००७ मे जगन्नाथशास्त्री होशिंग ने भी मूलग्रन्थ और स्वोपज्ञवृत्ति को प्रकाशित किया था।[६७] इसमे भूमिका सक्षिप्त है, किन्तु परिशिष्ट मे अच्छी सामग्री दी गई है।

प्राकृतशब्दानुशासन मे कुल तीन अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय मे ४-४ पाद है। पूरे ग्रन्थ मे कुल १०३६ सूत्र है। यद्यपि त्रिविक्रम ने इस ग्रन्थ के निर्माण मे हेमचन्द्र का ही अनुकरण किया है, किन्तु कई बातो मे नयी उद्भावनाए भी हैं। प्रथम, द्वितीय एव तृतीय अध्याय के प्रथम पाद मे प्राकृत का विवेचन है। तीसरे अध्याय के दूसरे पाद मे शौरसेनी (१-२६), मागधी (२७-४२), पैशाची (४३-६३) तथा चूलिका पैशाची (६४-६७) का अनुशासन किया गया है। ग्रन्थ के इस तीसरे अध्याय के तृतीय और चतुर्थ पादो मे अपभ्रश का विवेचन है।

त्रिविक्रम ने अपने प्राकृत व्याकरण मे ह, दि, स और ग आदि नयी सज्ञाओ का निरूपण किया है। तथा हेमचन्द्र की अपेक्षा देशी शब्दो का सकलन अधिक किया है। हेमचन्द्र ने एक ही सूत्र मे देशी शब्दो की बात कही थी, क्योकि उन्होने 'देशीनाममाला' अलग से लिखी है। जबकि त्रिविक्रम ने ४ सूत्रो मे देशी शब्दो का नियमन किया है। प्राकृतशब्दानुशासन मे अनेकार्थ शब्द भी दिये गये हैं। यह प्रकरण हेम की अपेक्षा विशिष्ट है। इससे तत्कालीन भाषा की अन्य प्रवृत्तियो का भी पता चलता है। कुछ अनेकार्थक शब्द इस प्रकार त्रिविक्रम ने दिये हैं

अमार=टापू, कछुआ **ओहम**=नीवी, अवगुण्ठन

करोड=कौआ, नारियल, बैल **गोपी**=सम्पत्ति, बाला आदि।

इसी प्रकार त्रिविक्रम का अपभ्रश का अनुशासन भी महत्त्वपूर्ण है। क्योकि उन्होने हेम द्वारा उदाहृत अपभ्रंश उदाहरणो की सस्कृत छाया भी दे दी है। यथा सूत्र ३ ३ ३८ का उदाहरण

सावसलोणी गोरडी नवखी कवि विसगठि।
भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कठि॥ ५७॥
(हेम० ४२० ३)

[सर्वसलावण्या गौरी नवीना कापि विषग्रन्थि।
भट प्रत्युत स म्रियते यस्य न लगति कण्ठे॥] इत्यादि।

इस तरह सस्कृत छाया द्वारा अपभ्रश पद्यो को समझने मे उन्होने सौकर्य उपस्थित किया है। त्रिविक्रम ने हेमचन्द्र के सूत्रो की सख्या घटाकर लाघवप्रवृत्ति का परिचय दिया है। अत कई दृष्टियो मे त्रिविक्रम का प्राकृत व्याकरणशास्त्र के विकास मे योगदान है। इससे यह भी पता चलता है कि प्राकृत वैयाकरणो ने अपने समय की भाषागत प्रवृत्तियो को अनुशासित करने का पूरा प्रयत्न किया है।

प्राकृतशब्दानुशासन पर टीकाए

त्रिविक्रम के इस ग्रन्थ पर स्वय लेखक की वृत्ति के अतिरिक्त अन्य दो टीकाए भी लिखी गयी हैं। लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका' एव सिंहराज का 'प्राकृतरूपावतार' त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सुबोध बनाते है।

(१) षड्भाषाचन्द्रिका

लक्ष्मीधर ने अपनी व्याख्या लिखते हुए कहा है कि त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सरल करने के लिये यह व्याख्या लिख रहा हू। जो विद्वान् मूलग्रन्थ की गूढ वृत्ति को समझना चाहते है वे उसकी व्याख्यारूप 'षड्भाषाचन्द्रिका' को देखे

वृत्ति त्रैविक्रमीगूढा व्याचिख्या सन्ति ये बुधा ।
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥

वस्तुत लक्ष्मीधर ने त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सिद्धान्त कौमुदी के ढग से तैयार किया है तथा उदाहरण प्राकृत के अन्य काव्यो से दिये है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्र श इन छह भाषाओ का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। आगे चलकर इन छह भाषाओ के विवेचन के लिए अन्य कई ग्रन्थ भी लिखे गये है। उनमे भामकवि 'षड्भाषाचन्द्रिका', दुर्गणाचार्य 'षड्भाषारूपमालिका', तथा 'षड्भाषामजरी', 'षड्भाषासुवन्तादर्श,' 'षड्भाषाविचार' आदि प्रमुख हैं।[४८]

(२) प्राकृतरूपावतार

सिंहराज (१५ वी शताब्दी) ने त्रिविक्रम प्राकृतव्याकरण को कौमुदी के ढग से 'प्राकृतरूपावतार' मे तैयार किया है। इसमे सक्षेप मे सज्ञा, सन्धि, समास, धातुरूप, तद्धित आदि का विवेचन किया गया है।[४९] सज्ञा और क्रियापदो की रूपावली के ज्ञान के लिए 'प्राकृतरूपावतार' कम महत्वपूर्ण नही है। कही-कही सिंहराज ने हेम और त्रिविक्रम से भी अधिक रूप दिये है।[५०] रूप गढने मे उनकी मौलिकता और सरसता है।

क्रमदीश्वर-सक्षिप्तसार

हेमचन्द्र के बाद के वैयाकरणो मे क्रमदीश्वर का प्रमुख स्थान है। उन्होने 'सक्षिप्तसार' नामक अपने व्याकरण ग्रन्थ को आठ भागो मे विभक्त किया है। प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत एव आठवे अध्याय 'प्राकृतपाद' मे प्राकृत व्याकरण का अनुशासन किया है। ग्रन्थ के इस स्वरूप मे ही क्रमदीश्वर हेमचन्द्र का अनुकरण करता है। अन्यथा प्रस्तुतीकरण और सामग्री की दृष्टि से उनमे पर्याप्त

भिन्नता है। वस्तुत वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' और 'संक्षिप्तसार' मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखायी देता है।[५१] किन्तु कई स्थलो पर क्रमदीश्वर ने अन्य लेखको की सामग्री का भी उपयोग किया है।[२] लास्सन ने क्रमदीश्वर के इस ग्रन्थ पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्राकृतपाद' का सम्पूर्ण सस्करण राजेन्द्रलाल मित्र ने प्रकाशित कराया था। तथा १८८९ मे कलकत्ता से इसका एक नया सस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

मार्कण्डेय-प्राकृतसर्वस्व

प्राकृत व्याकरणशास्त्र का 'प्राकृतसर्वस्व' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके ग्रन्थकार मार्कण्डेय प्राच्य शाखा के प्रसिद्ध प्राकृतवैयाकरण थे। मार्कण्डेय का यह प्राकृत व्याकरण प्रारम्भ मे भट्टनाथ स्वामी द्वारा सम्पादित होकर १९२७ मे ग्रन्थप्रदर्शिनी, विजगापट्टम् से प्रकाशित हुआ था। किन्तु बाद मे अन्य पाण्डुलिपियो के आधार पर विद्वत्तापूर्ण वैज्ञानिक सस्करण डा० के० सी० आचार्य ने १९६८ मे प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी अहमदाबाद से प्रकाशित किया है। इस सस्करण मे मार्कण्डेय की तिथि १४९०-१५६५ ई० स्वीकार की गयी है तथा ग्रन्थकार और उनकी कृतियो के सम्बन्ध मे विस्तार से विचार किया गया है।[५३]

मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के चार भेद किये हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाच भेद है महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी। विभाषा के शकारी, चाण्डाली, शबरी, आभीरी और ढक्की ये पाच भेद है। अपभ्रंश के तीन भेद है नागर, व्राचड और उपनागर तथा पैशाची के कैकई, पाचाली आदि भेद है।[५४] इन्ही भेदोपभेदो के कारण डा० पिशल ने कहा है कि महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनशौरसेनी के अतिरिक्त अन्य प्राकृत बोलियो के नियमो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मार्कण्डेय कवीन्द्र का 'प्राकृतसर्वस्व' बहुत मूल्यवान है।[५५]

प्राकृत सर्वस्व के प्रारम्भ के आठ पादो मे महाराष्ट्री प्राकृत के नियम बतलाये गये है। इनमे प्राय वररुचि का अनुसरण किया गया है। नौवें पाद मे शौरसेनी और दसवें पाद मे प्राच्या का नियमन है। विदूषक आदि हास्य पात्रो की भाषा को प्राच्या कहा गया है। ग्यारहवें पाद मे अवन्ती बाल्हीकी का वर्णन है। बारहवें मे मागधी के नियम बताये गये है। अर्धमागधी का उल्लेख इसी पाद मे आया है। इस प्रकार ९ से १२ पादो को भाषाविवेचन का खण्ड कहा जा सकता है। १३वें से १६वें पाद तक विभाषा का अनुशासन किया गया है। शाकारी, चाण्डाली, शाबरी आदि विभाषाओ के नियम एव उदाहरण यहा दिये गये है। एक सूत्र मे ओड्री (उडिया) विभाषा का कथन है तथा एक मे आभीरी का। ग्रन्थ के १७वें एव १८वें पाद मे अपभ्रंश भाषा का तथा १९वें और २०वें पाद मे पैशाची भाषा

का नियमन हुआ है। अपभ्रंश के उदाहरण स्वरूप कुछ दोहे भी दिये गये है। इस तरह मार्कण्डेय ने अपने समय तक विकसित प्राय सभी लोक भाषाओ को, जिनका प्राकृत से घनिष्ठ सम्बन्ध था, अपने व्याकरण मे सम्मिलित करने का प्रयत्न किया है।

मार्कण्डेय केवल वैयाकरण ही नही था, अपितु प्राकृत का कवि भी था। उसने अपने प्राकृत सर्वस्व मे अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं, जिनके स्रोतो का पता नही चलता। और वे सम्भवत स्वय ग्रन्थकार के ही किसी काव्यग्रन्थ के होने चाहिए। डा० आचार्य ने 'विलासवतीसट्टक' को मार्कण्डेय की रचना होने की सम्भावना व्यक्त की है।[५६] इस ग्रन्थ की एक सम्भावित गाथा इस प्रकार है

पढुम जीविअसरिच्छा तत्तो सुहवी तदो पुणो घरिणी।
चडि त्ति भणसि एण्हि ण मुणमि काहे हुवेज्ज चामुडा॥

[प्रथम मुझे जीवन-सदृश (प्राणप्रिय) कहा, फिर सुखदातृ तथा बाद मे गृहणि। और अब तुम मुझे चडी (क्रोध करने वाली) कह रहे हो। मैं नही जानती कि मैं कब चामुडा कही जाने लगूंगी ?]

इसी प्रकार मार्कण्डेय ने प्राचीन वैयाकरणो के सम्बन्ध मे भी कई तथ्य प्रस्तुत किये है।[५७] उनमे से शाकल्य एव कोहल निश्चित रूप से प्राकृत के प्राचीन वैयाकरण रहे होगे, जिनके प्राकृत सम्बन्धी नियमन से प्राकृत व्याकरणशास्त्र समय-समय पर प्रभावित होता रहा है। यद्यपि अभी तक इनके मूल ग्रन्थो का पता नही चला है। इस तरह मार्कण्डेय का 'प्राकृतसर्वस्व' कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पश्चिमीय प्राकृत भाषाओ की प्रवृत्तियो के अनुशासन के लिए जहा हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप मे प्रसिद्ध है, वहा पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियो का नियमन मार्कण्डेय के इस व्याकरण से पूर्णतया जाना जा सकता है। पूर्वीय प्राकृत वैयाकरणो के सम्बन्ध मे डा० सत्यरजन बनर्जी ने अपनी थीसिस मे पर्याप्त प्रकाश डाला है।[५८]

अन्य प्राकृत व्याकरण

प्राकृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे लगभग २-३वी शताब्दी से १५-१६वी शताब्दी तक मे हुए इन प्रमुख प्राकृत वैयाकरणो के ग्रन्थो से स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा के विभिन्न पक्षो पर विधिवत् प्रकाश डाला गया है। प्राकृत भाषा के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से १६वी से २०वी शताब्दी तक अनेक प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन्हे दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं। (१) १६वी से १८वी शताब्दी तक के परम्परागत प्राकृत व्याकरण तथा (२) १९वी-२०वी शताब्दी के

आधुनिक सम्पादन से युक्त प्राकृत-व्याकरण। यहाँ प्रथम कोटि के कुछ प्रमुख प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थो का परिचय प्रस्तुत है।

१ अप्पयदीक्षित-प्राकृतमणिदीप :

ईसवी सन् १५५३-१६३६ के शैव विद्वान् अप्पयदीक्षित ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। उन्होने 'प्राकृतमणिदीप' नामक प्राकृत व्याकरण लिखा है। यह १९५४ मे मैसूर से छपा है।[५९] अप्पयदीक्षित ने कहा है कि पुष्पवननाथ, वररुचि और अप्पयज्वन् ने जो व्याकरण ग्रन्थ लिखे है वे बहुत विस्तृत है। अत. सक्षेप रुचिवाले पाठको के लिए मणिदीपिका लिखी गयी है। इन्होने त्रिविक्रम, हेमचन्द्र और लक्ष्मीधर का भी उल्लेख किया है। अत इनका यह व्याकरण इन्ही प्राचीन वैयाकरणो के ग्रन्थो पर आधारित है। इस प्राकृतमणिदीप के सम्पादक श्रीनिवास गोपालाचार्य ने इस व्याकरण पर सस्कृत मे टिप्पणी लिखी है।

२ श्रुतसागर-औदार्यचिन्तामणि

दिगम्बर जैन मुनि श्रुतसागर ने वि० स० १५७५ मे औदार्यचिन्तामणि व्याकरण की रचना की थी। इसमे प्राकृतभाषा के सम्बन्ध मे छह अध्याय हैं। यह ग्रन्थ हेमचन्द्र और त्रिविक्रम के व्याकरणो से बडा है। किन्तु इस व्याकरण की अपूर्ण प्रति ही प्राप्त हुई है।[६०] भट्टनाथस्वामिन् ने इस ग्रन्थ के तीन अध्याय विजागापट्टम् से प्रकाशित किये है। श्रुतसागर ने प्राय हेमचन्द्र का ही अनुसरण किया है।

३. शुभचन्द्र-चिन्तामणि व्याकरण .

षड्भाषाचक्रवर्ती शुभचन्द्रसूरि ने वि० स० १६०५ मे 'चिन्तामणिव्याकरण' की रचना की है।[६१] पाण्डवपुराण की प्रशस्ति मे इस व्याकरण का उल्लेख इस प्रकार हुआ है

> योऽकृत सद्व्याकरण चिन्तामणिनामधेयम् ।

इस प्राकृत व्याकरण मे तीन अध्याय हैं। प्रत्येक मे चार पाद हैं। कुल मिलाकर १२२४ सूत्र हैं। इसमे हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार ही प्राकृत का नियमन किया गया है।[६२] 'चिन्तामणिव्याकरण' पर आचार्य शुभचन्द्र ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी है।

४ रामशर्मा तर्कवागीश-प्राकृतकल्पतरु

रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य बगाल के निवासी थे। इनका समय १७वी शताब्दी माना गया है। इन्होने 'प्राकृतकल्पतरु' नाम का प्राकृत व्याकरण लिखा

है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन १९३९ मे श्रीमती लुइगा निित्ति डोल्ची ने पेरिस से किया।[६३] उसके वाद यह ग्रन्थ प्राकृत के विद्वानो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। १९५४ मे डा० मनमोहन घोष ने इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया है।[६४]

'प्राकृतकल्पतरु' मे तीन शाखाए है। प्रथम शाखा मे दस स्तवक है, जिनमे महाराष्ट्री के नियमो का प्रतिपादन किया गया है। दूसरी शाखा मे तीन स्तवक है। इनमे शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, वाल्हीकी, मागधी, अर्धमागधी और दाक्षिणात्या भाषा का विवेचन है। दाक्षिणात्या के सम्बन्ध मे कहा गया है कि पदो से मिश्रित, सस्कृत आदि भाषाओ से युक्त इस भाषा का काव्य अमृत से भी अधिक सरस होता है। इस दूसरी शाखा मे अन्य सभी विभाषाओ के स्वरूप का विवेचन है।[६५] तीसरी शाखा मे नागर और व्राचड अपभ्र श तथा पैशाचिक का विवेचन है।

५ लकेश्वर-प्राकृतकामधेनु

लकेश्वर अथवा प्राकृत लकेश्वर रावण ने 'प्राकृतकामधेनु' की रचना की है। ग्रन्थ के मगलाचरण से ज्ञात होता है कि लकेश्वर ने प्राकृत व्याकरण पर प्रारम्भ मे कोई वडा ग्रन्थ लिखा था, जिसे सक्षिप्त कर 'प्राकृतकामधेनु' लिखा गया है। डा० मनमोहन घोष एव डा० जी० सी० वसु आदि ने इस ग्रन्थ पर प्रारम्भ मे कुछ लेख लिखे थे।[६६] वाद मे डा० घोष ने इस ग्रन्थ को 'प्राकृतकल्पतरु' के साथ परिशिष्ट २ मे पृष्ठ १७०-१७३ पर प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ मे ३४ सूत्रो मे प्राकृत के नियमो का विवेचन है। कुछ सूत्र अस्पष्ट है। अपभ्र श की उकार प्रवृति का भी इसमे सकेत है।

अभी हाल मे ही वृन्दावन के एक ग्रन्थ भण्डार से 'प्राकृतकामधेनु' की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जिसका परिचय डा० एस० आर० वनर्जी ने अ० भा० प्राच्यविद्या सम्मेलन के २८वे अधिवेशन धारवाड मे प्राकृत के विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत किया था। सभव है, इसके विधिवत् सम्पादन से इस ग्रन्थ व ग्रन्थकार पर कुछ विशेष प्रकाश पडे।

६ शेषकृष्ण-प्राकृतचन्द्रिका

शेषकृष्ण की 'प्राकृतचन्द्रिका' श्लोकवद्ध प्राकृत व्याकरण है। इसके कुछ उद्धरण पीटर्सन ने अपनी तृतीय रिपोर्ट (पृ० ३४२-४८) मे दिये थे। उसके वाद कुछ अन्य विद्वानो ने भी इस पर ध्यान दिया। इधर १९६९ ई० मे श्री सुभद्र उपाध्याय ने पाच कोशो की सहायता से 'प्राकृतचन्द्रिका' का प्रकाशन

किया है।[६७] इस ग्रन्थ में नौ प्रकाश हैं। श्री नृसिंह गुरु को प्रणाम कर शेषकृष्ण ने प्रारम्भिक पाठकों के लिए यह 'प्राकृतचन्द्रिका' लिखी है

श्रीनृसिंहगुरोर्नत्वा पदपङ्कजतल्लजम्।
विशदार्थां शिशुहितां कुर्वे प्राकृतचन्द्रिकाम्॥३॥

इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में सामान्य नियम, द्वितीय में असंयुक्त आदेश, तृतीय में संयुक्त आदेश तथा चतुर्थ में अव्ययों का वर्णन है। पंचम प्रकाश में सुबन्त और छठे में संख्या आदि पर विचार है। तिङन्त का विवेचन सातवें प्रकाश में एवं कृदन्त का आठवें प्रकाश में है। नवां प्रकाश विविध भाषाओं का अनुशासन करता है। इस 'प्राकृतचन्द्रिका' में हेमचन्द्र एवं त्रिविक्रम के ग्रन्थों को आधार बनाया गया है।

७. रघुनाथकवि प्राकृतानन्द

पं० रघुनाथ कवि १८वीं शताब्दी के विद्वान् थे। इनके 'प्राकृतानन्द' में ४१९ सूत्र हैं। ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में शब्द और दूसरे परिच्छेद में धातु-विचार किया गया है। पं० रघुनाथ ने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' के सूत्रों का यह संक्षिप्त संस्करण निकाला है।[६८] यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई में प्रकाशित हुआ है।

८. अज्ञातकर्तृक प्राकृतपद्यव्याकरण

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर अहमदाबाद में ६ पत्रों की एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध है, जो लगभग १७वीं शताब्दी में लिखी गयी है। यह एक प्राकृत पद्य व्याकरण है। इसका कर्ता अज्ञात है। ग्रन्थ के नाम का भी पता नहीं चलता। इस प्रति में कुल ४२७ श्लोक हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है

संस्कृतस्य विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं तत् तु (यद्) नानावस्थान्तरम्॥१॥
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमिति त्रिधा।
सौरसेन्यं च मागध्यं पैशाच्यं चापभ्रंशिकम्॥२॥
देशीगतं चतुर्धेति तदग्रे कथयिष्यते।[६९] ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन व प्रकाशन से इसकी पूरी विषय वस्तु का पता चल सकेगा। ज्ञात होता है कि इन शताब्दियों में पद्यबद्ध प्राकृत व्याकरण लिखने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी।

इन उल्लिखित प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्राकृत व्याकरणों के भी ग्रन्थों में उल्लेख मिलते हैं। कुछ उपलब्ध भी हुए हैं।

विष्णुधर्मोत्तर का 'प्राकृतलक्षण' डा० घोष ने 'प्राकृतकल्पतरु' के परिशिष्ट मे प्रकाशित किया है । डा० पिशल ने अपने ग्रन्थ मे 'प्राकृतदीपिका' (चडीदेवशर्मन्)[७०], 'षड्भाषासुवन्तरूपादर्श' (नागोवा), 'प्राकृतकौमुदी,' 'प्राकृत-साहित्यरत्नाकर', भाषार्णव (चन्द्रशेखर) आदि प्राकृत व्याकरण ग्रन्थो का मात्र उल्लेख किया है।[७१] नरसिंहकृत 'प्राकृतशब्दप्रदीपिका' तथा ऋषिकेश शास्त्री के 'प्राकृतकल्पलतिका' नामक प्राकृत व्याकरणो का भी पता चला है। इन सबके प्रकाश मे आने पर आधुनिक युग के प्राकृत व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्तियो का ठीक-ठीक पता चल सकेगा। वैसे आधुनिक भारतीय भाषाओ के विकास के उपरान्त प्राकृत-अपभ्रश व्याकरणो के मूल ग्रन्थो के प्रणयन मे कमी आना स्वाभाविक है। इस युग मे तुलनात्मक ग्रन्थ अवश्य इस विषय के लिखे गये हैं।

प्रमुख प्राकृत भाषाओ का स्वरूप

प्राकृत भाषा के वैयाकरणो एव उनके ग्रथो के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राय सभी वैयाकरणो ने महाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत के नाम से कहकर उसका स्वरूप विवेचित किया है एव उससे भिन्न लक्षण वाली अन्य शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रश आदि का वाद मे अनुशासन किया है। यद्यपि चड, वररुचि एव हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरणो मे 'महाराष्ट्री' प्राकृत का कोई उल्लेख नही है। किन्तु काव्य की भाषा प्राकृत महाराष्ट्री ही मानी जाती थी। अत उसी को सामान्य प्राकृत स्वीकार किया है।[७२] वररुचि के १०वे एव ११वे परिच्छेदो मे शौरसेनी की प्रधानता है। किन्तु १२वे परिच्छेद मे 'महाराष्ट्री' शब्द का प्रयोग कर उसे सामान्य प्राकृत कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वररुचि के इस १२वे परिच्छेद की रचना के समय महाराष्ट्री शौरसेनी से भिन्न प्राकृत भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वाद के वैयाकरणो ने उसे ही आधार मानकर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। अत यहा महाराष्ट्री या सामान्य प्राकृत के कुछ प्रमुख नियमो का उल्लेख कर वाद मे अन्य प्राकृतो के स्वरूप को स्पष्ट किया जावेगा।

सामान्य प्राकृत (महाराष्ट्री)

प्राचीन प्राकृत वैयाकरण चड ने अपने व्याकरण मे जिन नियमो की मात्र सूचना दी थी वररुचि ने उन नियमो को स्थिर और समृद्ध किया है। हेमचन्द्र ने सूक्ष्मता से साहित्य और लोक मे प्रचलित रूपो के आधार पर अपने नियम प्रस्तुत किये हैं। वाद के वैयाकरणो ने प्राकृत के इन सामान्य नियमो को अपने ग्रन्थो द्वारा प्रचारित किया है।

१ भारतीय आर्य भाषा के ऋ, ॠ, ऌ एव ॡ का सर्वथा अभाव।

२ ऋवर्ण के स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग। यथा नृत्य > णच्चो, तृण > तिणो, मृषा > मुसा, ऋषि > रिसि आदि।

३ ऐ और औ के स्थान पर ए, ओ का प्रयोग पाया जाता है। यथा शैल > सेलो, कौमुदी > कोमुई आदि। कहीं-कहीं अइ और अउ रूप भी मिलते है— दैव > दइवे, पौर > पउरो आदि।

४ प्राय ह्रस्व स्वर सुरक्षित है। यथा अक्षि > अक्खि, अग्नि > अग्गि आदि।

५ संयुक्त व्यजनो के पूर्ववर्ती दीर्घस्वर ह्रस्व हो गये है। यथा शान्त > सतो, शाक्य > सक्को आदि।

६ सानुनासिक स्वर बदलकर दीर्घस्वर हो जाते हैं। यथा सिंह > सीहो आदि।

७ प्राकृत मे विसर्ग का प्रयोग नही होता। उसके स्थान पर ए या ओ हो जाता है। यथा—राम > रामो, देव > देवे।

८ पदान्त व्यजनो का लोप हो जाता है। यथा पश्चात् > पच्छा, यावत् > जाव आदि।

९ श, ष और स के स्थान पर केवल स का प्रयोग। यथा—अश्व > अस्सो, मनुष्य > माणुसो आदि।

१० दो स्वरो के बीच मे आने वाले क ग च ज त द व का प्राय लोप हो जाता है। यथा मुकुल > मुउलो, नगरम् > णयर, शची > सई, प्रजापति > पयावई, यति > जई, मदन > मयणो, रिपु > रिउ, जीव > जीओ आदि।

११ संयुक्त व्यजनान्त ध्वनियों का समीकरण हो गया है। यथा चक्र > चक्को, लक्ष्मी > लच्छी, वृक्ष > वच्छो आदि।

१२ द्विवचन का लोप हो गया है।

१३ हलन्त प्रतिपादिक समाप्त हो गये हे।

१४ षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान पर और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान पर होने लगा है।

१५ न के स्थान पर प्राय ण का प्रयोग होता है। इत्यादि।

अर्धमागधी (आर्ष प्राकृत)

जैन आगमो की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है। वैयाकरणो ने अर्धमागधी को आर्ष भाषा मानकर उसके नियमो का विधान नही किया है। क्योकि अर्ध-मागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी की विशेषताओ से मिलकर हुआ है।[७३] भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे अर्धमागधी का उल्लेख किया है (१८ ३५-३६)। किन्तु वररुचि ने अपने ग्रन्थ मे इसका नाम नही लिया है। क्योकि उनका उद्देश्य

जैन सूत्रो की भाषा का नियमन करना नही था। हेमचन्द्र ने आर्प प्राकृत के अन्तर्गत इसे ग्रहण किया है और कुछ उदाहरण भी दिये है। टीकाकारो मे अभयदेव ने भी अर्धमागधी को मागधी के पूर्ण लक्षणो से युक्त नही माना।[७४] अत अर्धमागधी मागधी और शौरसेनी के कुछ लक्षणो से मिलकर बनी है। कुछ उसकी अपनी विशेषताए भी है। यथा

१ दो स्वरो के मध्यवर्ती असयुक्त क के स्थान मे सर्वत्र ग और अनेक स्थलो पर त् या य् पाये जाते है। यथा—श्रावक >सावगो, आराधक >आराहत, लोक >लोय आदि।

२ ग् का प्राय लोप नही होता। यथा आगम >आगम, भगवान् >भगव।

३ च् और ज् के स्थान पर त् और य् का प्रयोग। यथा कदाचित् >कयाती, पूजा >पूता आदि।

४ शब्द के आदि, मध्य और सयोग मे सर्वत्र ण् की तरह न् भी स्थित रहता है। यथा नदी >नई, ज्ञातपुत्र >नायपुत्त।

५ गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, हर, गिह आदि आदेश।

६. अकारान्त पुलिंग शब्दो के प्रथमा एकवचन मे प्राय सर्वत्र ए और क्वचित् ओ का प्रयोग।

७ धातुओ के भूतकाल के वहुवचन मे इसु प्रत्यय का प्रयोग। यथा गच्छिसु, पुच्छिसु इत्यादि।[७५]

शौरसेनी

हेमचन्द्र ने ६ सूत्रो मे शौरसेनी भाषा का अनुशासन किया है। अन्य विशेषताओ को महाराष्ट्री के समान मान लिया है। अशोक के अभिलेखो और षड्खडागम आदि प्राचीन ग्रन्थो की भाषा मे शौरसेनी के रूप पाये जाते हैं। कृत्रिमरूपो की अधिकता नाटको की शौरसेनी मे पायी जाती है। इस भाषा की प्रमुख विशेषताए निम्न है

१ त् के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध् या ह् होता है। यथा महन्त >महन्दो, यथा >जधा, नाथ >नाध, णाह आदि।

२ र्य के स्थान पर य्य अथवा ज्ज होता है। यथा सूर्य >सूय्य, सुज्ज।

३ क्त्वा के स्थान पर इय, दूण, त्ता, अडुअ आदि आदेश होते हैं। यथा भविय, भोदूण, भोत्ता, कृत्वा >कडुअ आदि।

४ यश्रुति एव वश्रुति का प्रयोग मिलता है। यथा पदार्थ >पयत्थो, वालुका >वालुवा आदि।

५ अन्य पुरुष एकवचन मे ति को दि। यथा भवति >भोदि, होदि आदि।

६ इदानीयम् >दाणि, तस्मात् >ता आदि प्रयोग होते हैं।

मागधी

१ पुलिंग मे सि प्रत्यय के परे अकार के स्थान पर एकार। यथा— एष > एशे, पुरुष > पुलिशे, करः > कले आदि।

२ ष एवं स के स्थान पर श का प्रयोग। यथा सारस > शालशे, मेष > मेशे आदि।

३ र् का ल् मे परिवर्तन। यथा नर > नले आदि।

४ ज् को य्। यथा जानासि > याणासि, जानपदे > यणपदे।

५ छ के स्थान पर श्च। यथा—गच्छ > गश्च आदि।

६ ट्ट तथा ष्ठ के स्थान पर स्ट आदेश। यथा भट्टारिका > भस्टालिका, सुष्ठु > शुस्टु आदि।

७ क्त्वा को दाणि आदेश। यथा कृत्वा > करदाणि।

पैशाची

वररुचि एवं हेमचन्द्र ने पैशाची भाषा की विशेषताओ का उल्लेख किया है। आगे के वैयाकरणो ने पैशाची के भेद-प्रभेद बतलाए है। कुछ विशेष उदाहरण भी दिये है। मार्कण्डेय ने इसे शूरसेन और पाचाल की भाषा कहा है। वस्तुत यह भ्रमणशील किसी जाति विशेष की भाषा थी। इसलिए इसमे कई प्रदेशो की बोलियो के तत्त्व सम्मिलित है। यथा

१ ज्ञ के स्थान पर ञ्ञ होता है। प्रज्ञा > पञ्ञा आदि।

२ वर्ग के तृतीय व चतुर्थ वर्ण का प्रथम व द्वितीय वर्ण मे परिवर्तन। यथा मेघ > मेखो, राजा > राचा, मदन > मतन आदि।

३ ष्ट के स्थान पर सट और स्नान के स्थान पर सन आदेश। यथा कष्ट > कसट, स्नान > सनान आदि।

४ मध्यवर्ती क, ग, च आदि वर्णो का लोप नही होता। यथा शाखा > साखा, प्रतिभास > पतिभास आदि।

हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि प्राकृत वैयाकरणो ने चूलिका पैशाची का भी उल्लेख किया है। पैशाची से इसमे थोडा-सा अन्तर है। यथा

१ र के स्थान पर विकल्प से ल। यथा गोरी > गोली, चरण > चलन, राजा > लाचा आदि।

२ भ् को फ् आदेश। यथा—भवति > फोति आदि।[७६]

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणो ने साहित्य मे प्रयुक्त होने वाली विभिन्न प्राकृतो का नियमन अपने ग्रन्थो मे किया है। तथा उन शब्दो का भी अनुशासन किया है जो लोक मे प्रचलित थे। संस्कृत नाटको व प्रकरणो मे बाद मे कई प्रकार की

भाषाओ का प्रयोग होने लगा था। अत मध्ययुग के प्राकृत वैयाकरणो ने शाकारी, ढक्की, चाण्डाली, आभीरी आदि बोलियो का भी नियमन किया है। किन्तु ये सभी भाषाए थोडे-सी भिन्नता के उपरान्त उपर्युक्त प्रमुख प्राकृतो के अन्तर्गत आ जाती है।

अपभ्रश

प्राकृत भाषाओ के अन्तर्गत वैयाकरणो ने अपभ्रश भाषा का भी नियमन किया है। उनमे हेमचन्द्र प्रमुख है। अपभ्र श भाषा मे छठी शताब्दी के लगभग से साहित्य रचना होने लगी थी और १२वी शताब्दी तक यह साहित्यिक भाषा बन चुकी थी।[७७] हेमचन्द्र ने अपभ्र श को व्याकरण के नियमो से बाधने का प्रयत्न भी इसी युग मे किया था। अपभ्रश मे प्राकृत व्याकरण से भिन्न कई विशेषताए पायी जाती है।[७८] यथा --

१ यह अपभ्र श उकार बहुला होती है।

२ स्वर आपस मे बदल जाते है। यथा – सीता > सीय, मात्रा > मेत्त, मूल्य > मोल्ल आदि।

३ आदि व्यजन मे भी अपवादस्वरूप परिवर्तन हो जाते है। यथा— दुहिता > धीय, यमुना > जमुना आदि।

४ कुछ व्यजन ही बदल जाते हैं। यथा क्रीड > खेल, कर्पर > खप्पर, दहति > डहइ।

५ शब्दरूप तथा क्रियारूप अधिक सरल है।

६ सर्वनामो मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। यथा अहम् > हउ, वय > अम्हे, त्वम् > तुहु पइ आदि।

७. अनुकरणमूलक धातुओ का सर्वाधिक प्रयोग।

८ ह्रस्व स्वर को अनुस्वार। यथा दर्शन > दसण, स्पर्श > फस, अश्रु > असु आदि।

९ मकार को विकल्प से अनुनासिक। यथा – कमल > कवँलु, भ्रमर > भवँरु आदि।

इसी तरह की अनेक विशेषताए हैं जो समय-समय पर अपभ्र श भाषा साहित्य मे सम्मिलित होती रही हैं, जिनका अनुशासन वैयाकरणो ने किया है।[७९]

इस प्रकार प्राकृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे अनेक प्राकृत भाषाओ के स्वरूप का नियमन प्राकृत वैयाकरणो द्वारा हुआ है। किन्तु उनमे अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक है। कुछ ही ग्रन्थकारो मे मौलिकता है। कभी-कभी तो इन प्राकृत वैयाकरणो के निष्कर्ष एक-दूसरे के विरुद्ध भी पडते है। यथा भरतमुनि ने मध्य और सयुक्त व्यजन मे 'न' को 'ण मे परिवर्तित माना है। जबकि हेमचन्द्र देश्यभाषा

मे नकारादि शब्द को असम्भव मानते हैं। इसके विपरीत त्रिविक्रम देशी भाषा मे 'न' को बनाये रखने के पक्ष मे थे। यथा---'निरुप्पइ', 'अनल' आदि। अत यह आवश्यक है कि इन सब प्राकृत वैयाकरणो के अनुशासन को उपलब्ध प्राकृत भाषाओ के साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे पुन जाचा-परखा जाय। डा० पिशल ने जो परिश्रमपूर्वक 'प्राकृतभाषाओ का व्याकरण' लिखा है उस पद्धति पर अब पुन एक ऐसा प्राकृत व्याकरण भाष्य तैयार होना चाहिए, जिसमे पिशल के अतिरिक्त एव अन्य प्राकृत कोशो के बाहर के प्राकृत शब्दो पर व्याकरण की दृष्टि से अनुसधान सम्मिलित हो। पिछले दशक मे पर्याप्त प्राकृत-अपभ्र श साहित्य प्रकाश मे आया है। उस सबका उपयोग करते हुए एक वृहत् प्राकृत व्याकरण के निर्माण की नितान्त आवश्यकता है।

सदर्भ

१ द्रष्टव्य, रत्नाश्रेयान्, 'ए क्रीटीकल स्टडी आफ महापुराण आफ पुष्पदन्त', अहमदाबाद १९६९, पृ० ९-४८।

२ स्थानागसूत्र, स्थान ७, सूत्र ५५३, विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४६६ की टीका।

३ प्राक् पूर्वं कृत प्राकृत, बालमहिलादिसुबोध सकलभाषानिबन्धभूत वचनमुच्यते।—काव्यालकार २/१२ की टीका।

४ द्रष्टव्य, पाइयसद्दमहण्णवो, उपोद्‌घात, पृ० २३ आदि।

५ मुनि नगराज, 'प्राकृतभाषा उद्‌गम विकास और भेद प्रभेद', आनन्दऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३-३१।

६ अणुओगदारसुत्त, सूत्र १३०।

७ वही, सूत्र १२८।

८ दुर्गाचार्य की निरुक्तवृत्ति, पृ० १०, शाकटायन-व्याकरण (सूत्र १ २ ३७), यशस्तिलक-चम्पू (अ० १, पृ० ९०) आदि।

९ द्रष्टव्य, डा० वर्नेल 'ऑन दी ऐन्द्र स्कूल आफ ग्रामेरियन्स'।

१० शाह, प० अम्बालाल, जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग ५, पृ० ६।

११ जैन, हीरालाल, भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० १८३।

१२ Upadhye, A N , A Prakrit Grammar attributed to Samantabhadra Indian Historical Quarterly Vol XVII 1942, PP 511-516

१३ जैन, हीरालाल, 'ट्रेसेज ऑफ एन ओल्ड मीट्रिकल ग्रामर' —भारतकौमुदी (पृ० ३१५-२२)।

१४. पिशेल, 'प्राकृतभाषाओ का व्याकरण' (हिन्दी अनुवाद-जोशी), पृ० ६५-६६।

१५ वही, अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी का फुटनोट द्रष्टव्य।

१६ भायाणी, एच सी , पउमचरिउ, भूमिका, पृ० १२१। तथा

तावच्चिय सच्छदो भमइ अवब्भम-मच्च-मायगो।

जाव ण सयभु-वायरण-अकुसो पडइ॥ पउमचरिउ, गाथा, ३-४।

१७ शाह, वही, पृ० ७० ।
१८ वही, पृ० ८६ ।
१९ द्रष्टव्य, ई०वी० कावेल का मूल लेख तथा उसका अनुवाद 'प्राकृत व्याकरण संक्षिप्त परिचय', भारतीय साहित्य, १०, अंक-३-४, जुलाई-अक्तूबर १९६५ ।
२० शाकल्यभरतकोहलवररुचिभामहवसन्तराजाद्यैः ।
प्रोक्तान् ग्रन्थान्नानालक्ष्याणि च निपुणमालोक्य ॥
आव्याकीर्णं विशदसारं स्वल्पाक्षरग्रथितपद्यम् ।
मार्कण्डेयकवीन्द्रः प्राकृतसर्वस्वमारभते ॥
२१ हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः ।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥६२॥
२२ द्रष्टव्य, वैद्य, पी०एल०, 'प्राकृत ग्रामर आफ त्रिविक्रम,' परिशिष्ट ।
२३ द्रष्टव्य 'द प्राकृतलक्षणम् एण्ड चण्डाज् ग्रैमर आफ द एंशिएन्ट प्राकृत'—डा० होएर्नले ।
२४ जैन, भा० स० में जैन धर्म, पृ० १८२ ।
२५ पिशल, वही, पृ० ७३ द्रष्टव्य ।
२६ शाह, वही, पृ० ६७ ।
२७ कत्रे, 'प्राकृतभाषाएं और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान' पृ० २५-२६ ।
२८ कोवेल—वररुचि की भूमिका पृ० १० आदि, ऑफरेष्ट—का० का० १, पृ० ३६० ।
२९ पिशल, वही, पृ० ८७ ।
३० कापडिया, पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृ० ५५ ।
३१ पिशल, वहा, पृ० ७१ ।
३२ द्रष्टव्य, छबलाल द्वारा सम्पादित प्राकृतप्रकाश (मनोरमासहित), चौखम्बा प्रकाशन, वि० स० १९९६ (द्वि. स०)
३३ बनर्जी, एस० आर०, 'प्राकृत वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा का विहगमावलोकन', अनेकान्त १९, १-२, १९६६ (अप्रैल-जून)
३४ द्रष्टव्य, नेमिचन्द्र शास्त्री, आचाय हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन ।
३५ भायाणी, एच० सी०, 'प्राकृतव्याकरणकारो' (गुजराती), भारतीयविद्या, २,४, जुलाई १९४३, पृ० ४०१-१६ ।
३६ द्रष्टव्य, शास्त्री, वही, पृ० १५७-५८ ।
३७ द्रष्टव्य, उपाध्याय, शालिग्राम, 'अपभ्रंश व्याकरण' तथा श्रीवास्तव, वीरेन्द्र, अपभ्रंशभाषा का अध्ययन ।
३८ डोल्ची नित्ति ले ग्रामैरिया प्राकृत (प्राकृत के व्याकरणकार), पृ० १४७-५० ।
३९ द्रष्टव्य, शास्त्री, वही, पृ० १८०-८४
४० पंडित, प्रबोध, 'हेमचन्द्र एण्ड द लिंग्विस्टिक ट्रेडिशन, महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण-महोत्सवग्रन्थ, बम्बई, भाग-१
४१ ब्यूलर, 'इयूबर डास लेबिन डेस जैन मोएन्शेस हेमचन्द्रा'
(वियना १८८९), पृ० ७२, फुटनोट ३४ ।
४२ शाह, वही, पृ० ७७-७१ ।
४३ वर्मा, जगन्नाथ, 'आर्ष प्राकृत व्याकरण', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९०९ ।

४४ डौल्ची, 'लैं प्राकृतानुशासन डे पुरुषोत्तम केहिब्स', पेरिस ।
४५ जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४० ।
४६ द्रष्टव्य, वैद्य, पी० एल०, 'प्राकृत ग्रामर आफ त्रिविक्रम', जीवराजग्रन्थमाला, सोलापुर, १९५४ ।
४७ शास्त्री, जगन्नाथ, 'प्राकृतव्याकरणवृत्ति', चौखम्बा सीरिज, वाराणसी ।
४८ त्रिवेदी, के०पी०, 'षड्भाषाचन्द्रिका (लक्ष्मीधर)' की भूमिका पृ० ४, वम्बई, १९१६ ।
४९ हुल्श द्वारा सम्पादित, रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से सन् १९०९ मे प्रकाशित ।
५० पिशल, वही, पृ० ८७ ।
५१ वही, पृ० ८२ ।
५२ लास्सन, 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस' परिशिष्ट, पृ० ४० आदि ।
५३ द्रष्टव्य, आचार्य, के सी 'प्राकृतसर्वस्व' भूमिका ।
५४ प्राकृतसर्वस्व, २-५ श्लोक ।
५५ पिशल, वही, पृ० ८६ ।
५६ प्राकृतसर्वस्व, भूमिका, पृ० १३१ ।
५७ वही, पृ० १२४ ।
५८ वनर्जी, एम० आर०, 'द ईस्टर्न स्कूल आफ प्राकृत ग्रेमिरियन्स', कलकत्ता, १९६४ ।
५९ गोपालाचार्य, श्रीनिवास, 'प्राकृतमणिदीप आफ अप्पयदीक्षित', ओरियन्टलरिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन, मैसूर यूनिवर्सिटी, १९५४ ।
६० द्रष्टव्य—एनल्स आफ भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, जिल्द १३, पृ० ५२-५३ ।
६१ उपाध्ये, ए० एन०, 'शुभचन्द्र एण्ड हिज प्राकृत ग्रामर', वही, भाग-१ पृ० ३७-५८, पूना, १९३२ ।
६२ उपाध्ये, ए० एन०, 'शुभचन्द्र का प्राकृत व्याकरण', अनेकान्त, २२,१, अप्रैल १९६९, पृ० ३२ ।
६३ डोल्ची नित्ति, ह् प्राकृत कल्पतरु डेस रामशर्मन् विब्लियोथिक 'डि ले आल हेट्स इट्यूड्स,' पेरिस, १९३९ ।
६४ घोष, मनमोहन, 'रामशर्मन्स प्राकृतकल्पतरु', एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, वि० ई० २७८ ।
६५ जैन, जगदीशचन्द्र, प्रा० सा० इ०, पृ० ६४१ ।
६६ न्यू इंडियन एंटिक्वेरी, जिल्द ८, पृ० ३७-३९, १९४६ ।
६७ प्रभाकर झा, सम्पादक—'शेषकृष्णकृत प्राकृतचन्द्रिका', प्रकाशक—अमर पब्लिकेशन, वाराणसी, १९६९ ।
६८ द्रष्टव्य, 'प्राकृतानन्द पर होएर्नले का लेख'—प्रोसीडिंग आफ द एशियाटिक सोसायटी, बंगाल १८८०, पृ० ११० पिशल, (पृ० ८६) पर उद्धृत ।
६९ शाह, जैन सा० वृ० इ०, भाग ५, पृ० ७३ पर उद्धृत ।

७० द्रष्टव्य, बनर्जी, एम० आर०, 'चण्डीदेवाज् प्राकृतदीपिका, ए कमेन्टरी आफ क्रमदीश्वराज प्राकृत ग्रामर आइडेन्टीकल विद द वृत्ति आफ जुमरनन्दि', अ० भा० प्राच्यविद्या सम्मेलन, १९६८।

७१ पिशल, वही, पृ० ८६-९२।

७२ द्रष्टव्य—शास्त्री, प्रा० भा० सा० का इ०, पृ० ७९-८०।

७३ द्रष्टव्य, मार्कण्डेय—'प्राकृतसर्वस्व' १२-३८ एव क्रमदीश्वर—'संक्षिप्तसार' आदि।

७४ द्रष्टव्य, उपासगदसाओ की टीका।

७५ शास्त्री, नेमिचन्द्र, प्रा० भा० सा० इ०, पृ० ९०-९५।

७६ विस्तार के लिए द्रष्टव्य, पिशल, 'प्राकृतभाषाओं का व्याकरण'

७७ द्रष्टव्य, शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियां'

७८ श्रीवास्तव, वीरेन्द्र, 'अपभ्रंश भाषा का अध्ययन'

७९ जैन, देवेन्द्र कुमार, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'

आर्ष प्राकृत : स्वरूप एव विश्लेषण

मुनि श्री नथमल

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण मे आर्ष-विधियो को वैकल्पिक बताया है।[1] इस नियम के अनुसार उन्होने आगम-सूत्रो के उन स्थलो का निर्देश किया है, जो उनकी दृष्टि मे व्याकरण-सिद्ध नही थे। उदाहरणरूप मे कुछ प्रयोग प्रस्तुत है

'पच्छेकम्म', 'असहेज्ज' ये दोनो आर्ष-प्रयोग है। इनमे जो 'एकार' है, वह व्याकरण-सिद्ध नही है।[2]

'आउटण' इस प्रयोग मे जो 'चकार' को 'टकार' वर्णादेश है, वह व्याकरण-सिद्ध नही है।[3]

'अहक्खाय', 'अहाजाय' प्राकृत व्याकरण के अनुसार आदि के 'यकार' को 'जकार' वर्णादेश होता है। किन्तु आर्ष-प्रयोग मे 'य' का लोप भी हो जाता है। ये दोनो प्रयोग उसके उदाहरण हैं।[4]

'दुवालसगे' प्राकृत व्याकरण के अनुसार इस प्रयोग मे 'लकार' वर्णादेश प्राप्त नही है, किन्तु आर्ष मे ऐसा प्रयोग मिलता है।[5]

इक्खू, खीर, सारिक्ख ये आर्ष-प्रयोग हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार अक्ष्यादि गण के सयुक्त 'क्ष' को 'छकार' आदेश होता है। जैसे उच्छू, छीर, सारिच्छ।[6]

प्राकृत भाषा मे सामान्यत 'क्ष' को 'ख' कार आदेश होता है।[7] आर्ष-प्रयोगो मे प्राय वही मिलता है।

आर्ष-प्रयोग मे 'थ्य' को चकार आदेश होता है।[8] जबकि प्राकृत व्याकरण मे उसे 'छकार' आदेश दिया गया है।

प्राकृत व्याकरण मे 'श्मशान' का 'मसाण' रूप बनता है। आर्ष-प्रयोग मे इसके दो रूप मिलते है सीआण, सुसाण।[9]

प्राकृत में 'स्रोत' शब्द का 'सोत्त' रूप बनता है किन्तु आर्ष में 'पडिसोओ' 'विस्सोअसिआ' रूप भी मिलते है।[१०]

आर्ष-प्रयोग मे संयुक्त वर्ण के अन्त्य व्यंजन से पूर्व 'अकार' होता है[११] तथा 'उकार' भी होता है।[१२]

आर्ष-प्रयोग मे 'किरिया' पद का 'किया' रूप भी मिलता है।[१३]

आर्ष-प्रयोग मे द्रह शब्द का 'हरए' रूप मिलता है।[१४]

'कट्टु' यह आर्ष-प्रयोग है।[१५]

निपात प्रकरण मे आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि आर्ष प्रकरण मे जो प्रयोग उपलब्ध है, वे सब अविरुद्ध है।[१६]

आर्ष-प्रयोगानुसार सप्तमी के स्थान मे तृतीया तथा प्रथमा के स्थान मे द्वितीया विभक्ति भी होती है।

आर्ष-प्रयोग मे संस्कृत-सिद्ध रूपो के प्रतिरूप भी मिलते है।[१७]

शौरसेनी मे 'ण' ननु के अर्थ मे निपात है, किन्तु आर्ष-प्रयोगो मे वह वाक्यालंकार मे भी प्रयुक्त होता है।[१८]

आगम सूत्रो के व्याख्याकार व्याकरण से सिद्ध न होने वाले आर्ष-प्रयोगो को अलाक्षणिक और सामयिक कहते है। 'वत्थगंध-मलंकार' (दसवेआलिय २।२) इस पद में 'मलंकार' का 'म' अलाक्षणिक है। हरिभद्रसूरी ने लिखा है अनुस्वार अलाक्षणिक है। मुख-सुखोच्चारण के लिए इसका प्रयोग किया गया है।[१९] प्राकृत व्याकरण मे सुखोच्चारण और श्रुतिसुख दोनो को महत्व दिया गया है। प्राकृत व्याकरण मे पकार के लुक् का विधान है[२०] और पकार को वकार वर्णादेश भी होता है।[२१] इन दोनो की प्राप्ति होने पर क्या करना चाहिए, इस जिज्ञासा के उत्तर मे आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है जिससे श्रुतिसुख उत्पन्न हो, वही करना चाहिए।[२२]

'दंतसोहणमाइस्स' (उत्तर १९।२७)--इस पद मे भी सकार अलाक्षणिक माना जाता है। किन्तु इन सबके पीछे सुखोच्चारण तथा छंदोबद्धता का दृष्टिकोण है। 'वत्थगंधालंकार' तथा 'दंतसोहणाइस्स' इन प्रयोगो मे उच्चारण की मृदुता भी नष्ट होती है और छंदोभंग भी हो जाता है।

हरिभद्र सूरी ने 'गोचर' शब्द को सामयिक (समय या आगमसिद्ध) बतलाया है। प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार 'गोचार' होना चाहिए था।[२३]

आगमिक प्रयोगो मे विभक्तिरहित पद भी मिलते है। 'गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू (दश० ९।३।११) यहां 'गुण' शब्द द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है। पर यहाँ इसकी विभक्ति का निर्देश नही है।

'इंगालधूमकारण' इस पद मे विभक्ति नही है। आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार के विभक्ति-लोप का हेतु आर्ष-प्रयोग बतलाया है।[२४]

आर्ष या सामयिक प्रयोग के प्रतिपादन का हेतु काल का अन्तराल है। आगम सूत्रो के कुछ प्रयोग व्याकरणसिद्ध नही है, इस धारणा के पीछे दो हेतु थे

१ प्राकृत व्याकरणकारो के समय जो व्याकरण उपलब्ध थे या उन्हे जो नियम ज्ञात थे, उनसे वे प्रयोग सिद्ध नही होते थे।

२ प्राकृत व्याकरणकार प्राकृत की प्रकृति सस्कृत मानकर चले। आगमसूत्रो मे वहुत सारे देशी भाषा के प्रयोग है, जिनका सस्कृत से कोई सवध नही है।

इन धारणाओ से उन्होने उन प्रयोगो को अलाक्षणिक, आर्ष या सामयिक कहा। यदि हम काल के अन्तराल पर ध्यान दे तो कुछ नए तथ्य उद्घाटित होगे। निशीथ भाष्य मे आगमसूत्रो को 'पुराण' कहा गया है। उनका विषय भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित है और उनका सकलन गणधरो द्वारा कृत है, इसलिए वे पुराण—प्राचीन है। उनकी भाषा 'प्राकृत अर्द्धमागधी' है और उसमे अठारह देशी भाषाओ का समिश्रण है।[३५]

अनेक वैयाकरण आर्ष और देश्य भाषाओ को व्याकरण के नियमो से नियन्त्रित नही मानते। डॉ० पिशल ने इस विषय पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी की हैं

"भारतीय वैयाकरण पुराने जैन-सूत्रो की भाषा को आर्षम् अर्थात् 'ऋषियो की भाषा' का नाम देते हैं। हेमचन्द्र ने १,३ मे वताया है कि उसके व्याकरण के सव नियम आर्ष-भाषा मे लागू नही होते, क्योकि आर्ष-भाषा मे इसके वहुत से अपवाद हैं और वह २, १७४ मे वताता है कि ऊपर लिखे गये नियम और अपवाद आर्ष-भाषा मे लागू नही होते, उसमे मनमाने नियम काम मे लाये जाते है। त्रिविक्रम अपने व्याकरण मे आर्ष और देश्य भाषाओ को व्याकरण के वाहर ही रखता है, क्योकि इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र है जो जनता मे रूढि वन गई थी (रूढत्वात्)। इसका अर्थ यह है कि आर्ष-भाषा की प्रकृति या मूल सस्कृत नही है और यह वहुधा अपने स्वतन्त्र नियमो का पालन करती है (स्वतन्त्रत्वाच्च भूयसा)। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने दण्डिन् के काव्यादर्श १,३३ की टीका करते हुए एक उद्धरण दिया है, जिसमे प्राकृत का दो प्रकारो मे भेद किया गया है। एक प्रकार की प्राकृत वह वताई गई है, जो आर्ष भाषा से निकली है और दूसरी प्राकृत वह हैं जो आर्ष के समान है आर्षोत्थम् आर्षतुल्यम् च द्विविधम् प्राकृतम् विदु। 'रुद्रट' के काव्यालकार २, १२ पर टीका करते हुए 'नमिसाधु' ने प्राकृत नाम की व्युत्पत्ति यो वताई है कि प्राकृत भाषा की प्रकृति अर्थात् आधारभूत भाषा वह है जो प्राकृतिक है, और जो सब प्राणियो की वोलचाल की भाषा है तथा जिसे व्याकरण आदि के नियम नियन्त्रित नही करते, चूकि वह प्राकृत से पैदा हुई है अथवा प्राकृतजन की वोली है, इसलिए इसे प्राकृत भाषा कहते हैं। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि प्राकृत प्राक्कृत शब्दो से वनी हो। इसका तात्पर्य हुआ कि वह भाषा जो वहुत पुराने समय से चली आई

हो। साथ ही यह भी कहा जाता है कि वह प्राकृत जो आर्प शास्त्रों में पाई जाती है अर्थात् अर्द्धमागध वह भाषा है, जिसे देवता बोलते हैं 'आरिसवयणे सिद्ध देवाण अद्धमागहा वाणी'। इस लेखक के अनुसार प्राकृत वह भाषा है जिसे स्त्रियाँ, बच्चे आदि बिना कष्ट के समझ लेते हैं, इसलिए मध्यभाषा सब भाषाओं की जड़ है। बरसाती पानी की तरह प्रारम्भ में इसका एक ही रूप था, किन्तु नाना देशों में और नाना जातियों में बोली जाने के कारण (उनके व्याकरण के नियमों में भिन्नता आ जाने के कारण) तथा नियमों में समय-समय पर सुधार चलते रहने से भाषा के रूप में भिन्नता आ गई। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत और अन्य भाषाओं के अपभ्रंश रूप बन गये, जो 'रुद्रट' ने २ १२ में गिनाये हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'नमिसाधु' के मतानुसार संस्कृत की आधारभूत भाषा अथवा कहिए कि संस्कृत की व्युत्पत्ति प्राकृत से है। यह बात इस तरह स्पष्ट हो जाती है कि बौद्धों ने जिस प्रकार मागधी को सब भाषाओं के मूल में माना है, उसी प्रकार जैनों ने अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणों द्वारा वर्णित आर्षभाषा को वह मूल भाषा माना है जिससे अन्य बोलियाँ और भाषाए निकली हैं।"[२६]

अर्धमागधी में मागधी और शौरसेनी का सम्मिश्रण माना है। डा० पिशल के अनुसार आर्ष और मागधी भाषा एक ही है। किन्तु निशीथ चूर्णिकार के अनुसार अर्धमागधी में केवल शौरसेनी की ही नहीं किन्तु अठारह देशी भाषागत विशेषताए उपलब्ध हैं। इसलिए जिसे उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने आर्ष कहा है, वह व्याकरण के नियमों से सर्वथा अनियन्त्रित भी नहीं है और लौकिक संस्कृत की भाँति बहुत नियन्त्रित भी नहीं है। आर्ष-प्रयोग प्राचीन व्याकरण से नियन्त्रित है। उन नियमों की जानकारी वैदिक व्याकरण के नियमों के संदर्भ में की जा सकती है।

अनुयोगद्वार के चूर्णिकार ने शब्द-प्राभृत या पूर्वशास्त्रों के अन्तर्गत व्याकरणों का निर्देश किया है।[२७] इससे ज्ञात होता है कि आगमसूत्रों की रचना के समय जो व्याकरण थे, उनके आधार पर आगमसूत्रों के प्रयोग किए गए। भाषा का प्रवाह और उसके प्रयोग काल-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। पन्द्रह सौ वर्ष बाद बनने वाले व्याकरणों में उन पूर्ववर्ती व्याकरणों के नियमों का अनुवर्तन संभव नहीं होता। इसीलिए प्राचीन प्रयोगों को 'आर्ष' कहने की मनोवृत्ति निर्मित हुई। आगमसूत्रों में प्राचीन व्याकरणों के कुछेक संकेत सौभाग्य से आज भी उपलब्ध है। उनके आधार पर हम अलाक्षणिक प्रयोगों को कसौटी पर कस सकते हैं।

स्थानांग सूत्र में शुद्धवचन अनुयोग के दस प्रकार बतलाए हैं[२८]

१ चकार अनुयोग

चकार शब्द के अनेक अर्थ हैं

(क) समाहार सहति, एक ही तरह हो जाना।

(ख) इतरेतरयोग मिलित व्यक्तियो या वस्तुओ का सबध।
(ग) समुच्चय शब्दो या वाक्यो का प्रयोग।
(घ) अन्वाचय 'मुख्य काम या विषय साथ मे गौण काम का विषय जोडकर।
(ङ) अवधारण—निश्चय।
(च) पादपूरण।

२ मकार अनुयोग इस अनुयोग के द्वारा मकार का विधान किया गया है। यह समस्त और असमस्त पदो मे होता है।

जेणा + एव = जेणामेव, तेणा + एव = तेणामेव। प्राकृत व्याकरण के अनुसार इनके 'जेणेव' 'तेणेव' रूप बनते है। 'छदनिरोहेण उवेइ मोक्ख' (उत्त० ४।८) यहाँ समस्त पद मे अनुस्वार किया गया है। 'अन्नमन्नेण' (उत्त० १३।७) यहाँ भी मकार विहित है।

३ पिकार अनुयोग – 'अपि' शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे सभावना, निवृत्ति, अपेक्षा, समुच्चय, गर्हा, शिष्यामर्षण, विचार, अलकार तथा प्रश्न। 'एवपि एगे आसासे' यहाँ अपि का प्रयोग 'ऐसे भी' और 'अन्यथा भी' इन दो प्रकारान्तो का समुच्चय करता है।

४ सेयकार अनुयोग 'से' शब्द के अनेक अर्थ हैं-- अथ, वह, उसका आदि। से भिक्खू'— यहाँ 'से' का अर्थ 'अथ' है। 'न से चाइत्ति वुच्चइ' यहाँ से का अर्थ वह (वे) है। अथवा 'सेय' शब्द के अनेक अर्थ है श्रेयस्, भविष्यत्काल आदि। सेय मे अहिज्जिउ अज्झयण यहाँ 'सेय' शब्द श्रेयस् के अर्थ मे प्रयुक्त है। 'सेयकाले अकम्म यावि भवइ' यहाँ 'सेय' भविष्यत् काल का द्योतक है। डॉ० पिशल ने 'सकार' की विशद मीमासा की है। देखें— प्राकृत भाषाओ का व्याकरण पृ० ६२२-२५।

५ सायकार अनुयोग साय शब्द के अनेक अर्थ हैं सत्य, सद्भाव, प्रश्न आदि।

६ एकत्व अनुयोग बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग। 'एस मग्गुत्ति पन्नत्तो' (उत्त० २८।२) यहाँ 'मग्ग' शब्द एकवचन का प्रयोग है, जबकि यहाँ बहुवचन होना चाहिए था।

७ पृथक्त्व अनुयोग जैसे धम्मत्थिकाये, धम्मत्थिकायदेसे, धम्मत्थिकायपदेसा। यहाँ 'धम्मत्थिकायपदेसा' इनमे दो के लिए बहुवचन नहीं है किन्तु धर्मास्तिकाय के प्रदेशो का असख्यत्व बतलाने के लिए है।

८ सयूथ अनुयोग 'सम्मत्तदसणसुद्ध' इस समस्त पद का विग्रह अनेक प्रकार से किया जा सकता है, जैसे

(क) सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध (तृतीया)

(ख) सम्यग्दर्शन के लिए शुद्ध (चतुर्थी)
(ग) ,, से शुद्ध (पचमी)

९ सक्रामित अनुयोग इसके अनुसार विभक्ति और वचन का सक्रमण होता है।

विभक्ति संक्रमण

- इन्पेसि छण्ह जीवनिकायाण (दस० ४। २)
  यहाँ सप्तमी के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है।
- वीएसु हरिएसु (दस० ५।१।५७)
  यहाँ तृतीया के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति है।
- भोगेसु (दस० ८।३४)
  यहाँ पचमी के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति है।
- अदीण मणसो (उ० २।३)
  यहाँ प्रथमा के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है।
- कडाण कम्माण (उत्त० १३।१०)
  यहाँ पचमी के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति है।

वचन संक्रमण

- मन्ने (दस ६।१८)
  यहाँ वहुवचन के स्थान पर एक वचन है।
- से दसगेऽभिजायई (उत्त० ३।१६)
  यहाँ वहुवचन के स्थान पर एकवचन है।
- उच्चार समिईसु (उत्त० १२।२)
  यहाँ एकवचन के स्थान पर वहुवचन है।[३९]

१० भिन्न अनुयोग जैसे 'तिविह तिविहेण' यह सग्रह-वाक्य है। इसमे (१) मणेण वायाए कायेण तथा (२) न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुजाणामि इन दो खडो का सग्रह किया गया है। द्वितीय खड न करेमि आदि तीन वाक्यो मे 'तिविह' का स्पष्टीकरण है और प्रथम खड 'मणेण' आदि तीन वाक्याशो मे 'तिविहेण' का स्पष्टीकरण है। यहाँ 'न करेमि' आदि वाद मे है और 'मणेण' आदि पहले। यह क्रम भेद है। कालभेद—'सक्के देविदे देवराया वदति नमसति'- यहा अतीत के अर्थ मे वर्तमान की क्रिया का प्रयोग है।

अनुयोगद्वार मे आठ विभक्तिया वतलाई गई हैं। उनमे आठवी का नाम आमन्त्रणी है। वृत्तिकार ने उन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है इस आठवी विभक्ति का आधार प्राचीन वैयाकरण है। आधुनिक वैयाकरण इसे प्रथमा विभक्ति

ही मानते हैं।[30] अनुयोगद्वार के चूर्णिकार ने इसी के लिए शब्दप्राभृत और पूर्व के अन्तर्गत व्याकरण का निर्देश किया है।

आर्ष-प्राकृत का वैदिक व्याकरण से साम्य पाया जाता है।[31] इससे भी यह प्रमाणित होता है कि उसके नियम प्राचीन व्याकरणो से सबद्ध है।

अनुयोगद्वार मे लिगानुशासन के नियम भी मिलते है

पुल्लिग राया, गिरि, सिहरी, विण्हू, दुमो।

स्त्रीलिग --माला, सिरी, लच्छी, जबू, वहू।

नपुसगलिग धन्न, अत्थि, पीलु, महु।

प्रज्ञापना मे लिग-विषयक निर्देश अनुयोगद्वार से अधिक विशद मिलते है—[32]

पुल्लिग मणुस्से, महिसे, आसे, हत्थी, सीहे, वग्घे, वगे, दीविए, अच्छे, तरच्छे, परस्सरे, सियाले, विराले, सुणए, कोलसुणए, कोक्कतिए, ससए, चित्तए, चिल्ललए।[33]

स्त्रीलिग मणुस्सी, महिसी, वलवा, हत्थिणिया, सीही, वग्घी, वगी, दीविया, अच्छी, तरच्छी, परस्सरा, सियाली, विराली, सुणिया, कोलसुणिया, कोक्कतिया, ससिया, चितिया, चिल्ललिया।[35]

नपुंसकलिग—कस, कमोय, परिमडल, सेल, थूम, जाल, थाल, तार, रूव, अच्छि, पव्व, कुड, पउम, दुद्ध, दहि, णवणीय, आसण, सयण, भवण, विमाण, छत्त, चामर, भिगार, अगण, निरगण आभरण, रयण।[36]

'पुढवी' यह स्त्रीलिग है। 'आउ' यह पुल्लिग है। 'धण्ण' यह नपुसकलिग है।[37]

प्राकृत मे लिग का विधान इतना नियन्त्रित नही है जितना सस्कृत मे है। 'आउ' का सस्कृत रूप 'अप्' होता है। सस्कृत मे यह स्त्रीलिगवाची शब्द है और प्राकृत मे पुल्लिगवाची। प्राकृत का प्रसिद्ध सूत्र है लिगमतन्त्रम्।'

प्रज्ञापना मे सोलह प्रकार के वचनो मे एकवचन द्विवचन और वहुवचन—इन तीनो का निर्देश है।[38] यह निर्देश सस्कृत-व्याकरणानुसारी प्रतीत होता है। प्राकृत व्याकरण के सदर्भ मे एक वचन और वहुवचन ये दो ही निर्देश मिलते है मणुस्से, महिसे यह एकवचन है।[39] मणुस्सा महिसा यह वहुवचन है।[40] इस प्रसग मे द्विवचन का उल्लेख नही है। द्विवचन को वहुवचन का आदेश[41] इसलिए करना पडा कि उन्होने सस्कृत को प्राकृत की प्रकृति मान लिया।[42] किन्तु जो आचार्य जनभाषा को प्राकृत की प्रकृति मानते है[43], उनके सामने द्विवचन को वहुवचन का आदेश करने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

वर्णमाला

प्राकृत भाषा के साथ ब्राह्मी लिपि का घनिष्ठ सवध रहा है। समवाय सूत्र मे उसकी वर्णमाला के ४६ अक्षर वतलाए गए है।[44] उनका स्पष्टीकरण वहा

प्राप्त नहीं है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने संभावित रूप से छियालीस मातृकाक्षरों की जानकारी इस प्रकार दी है[४५]

ऋ ॠ ऌ ॡ	इनका वर्जन कर शेष १२ स्वर।		
क से म तक व्यंजन (५ × ५)		=	२५
अन्तस्थ	य र ल व	-	४
ऊष्म	श ष स ह	=	४
	क्ष	=	१
			४६

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत वर्णमाला के अक्षर ३८ होते हैं। उनके अनुसार प्राकृत में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ, अ ये स्वर तथा ङ, ञ, श, ष व्यंजन नहीं होते।[४६]

स्ववर्ग्य संयुक्त ङ और ञ को मान्य किया है।

ऐ और औ को भी मतान्तर के रूप में मान्य किया है।[४७] मागधी में दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार होता है।[४८] इस प्रकार पांच वर्णों के बढ़ जाने पर वर्णमाला के अक्षर ४३ हो जाते हैं। तीन वर्णों के प्रयोग आधुनिक प्राकृतों में नहीं मिलते।

पालि व्याकरण में ४१ अक्षर निर्दिष्ट हैं अ आ इ ई उ ऊ ए ओ। क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व। स ह ळ अं।[४९] आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में ङ और ञ इन दोनों वर्णों को वर्जित माना है, किन्तु पालि व्याकरण में ये दोनों मान्य हैं।

सत्यवचन के साथ व्याकरण का संबंध माना गया है। सत्यभाषी को नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, सन्धि, पद, हेतु, यौगिक, उणादि, क्रियाविधान, धातु, स्वर, विभक्ति और वर्ण का बोध होना चाहिए। सत्यवचन इनके बोध से युक्त होता है।[५०]

इस प्रतिपादन से ज्ञात होता है कि व्याकरण-बोध की अनिवार्यता प्राचीनकाल से मानी गई है।

दशवैकालिक के आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद इन तीनों शब्दों का अर्थ चूर्णि और टीकाकाल तक व्याकरण से संबंधित था।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ भाषा के विनयो-नियमों को धारण करने वाला किया है।[५१] जिनदास महत्तर के अनुसार 'आचारधर' शब्दों के लिंग को जानता है।[५२]

टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है। प्रज्ञप्तिधर का अर्थ लिंग का विशेष जानकार और दृष्टिवाद के अध्येता का अर्थ प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णाधिकार, काल, कारक आदि व्याकरण के अंगों को जानने वाला किया है।[५३]

उक्त उद्धरण आर्षप्राकृत के प्राचीन व्याकरण की ओर इंगित करते है आर्षप्राकृत के वर्णादेश और शब्द भी आधुनिक प्राकृत व्याकरण से भिन्न है आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार दकार को तकार आदेश होता है मदन = मतन सदन = सतन, प्रदेश = प्रतेश।[५४] किन्तु आर्षप्राकृत मे अनेक स्वरो तथा व्यजनो के स्थान मे तकार आदेश मिलता है

एरावण	तेरावण	(सूत्र कृताग १।६।२१)
मुसावाय	मुसावात	(,, ,, १।६।१०)
साहुक	साहुत	(,, ,, १।११।३३)
विसएसण	विसतेसण	(,, ,, १।११।२८)
ओरब्भिए	तोरब्भिए	(,, ,, २।२।१९)
काय	कात	(,, ,, २।२।४)
समए	समते	(,, ,, २।२।१६)
रुईण	रुतीण	(,, ,, २।२।१८)

द्वित्वादेश

आर्ष-प्रयोगो मे कुछ द्वित्वादेश ऐसे है, जो प्राकृत व्याकरणो से सिद्ध नही होते सच्चित्त = सचित्त, अच्चित्त अचित्त, सगडब्भि = स्वकृतभिद् तहक्कार = तथाकार, कायग्गिरा कायगिरा, पुरिसक्कार = पुरुषकार अणुव्वस = अनुवश, अल्लीण = आलीन

ह्रस्वादेश

प्राकृत व्याकरण के अनुसार सयुक्त वर्ण से पूर्व दीर्घ वर्ण ह्रस्व हो जाता है। किन्तु आर्ष प्राकृत मे यह नियम लागू नही होता। प्राचीन आदर्शों मे कुछ रूप आज भी सुरक्षित है, जिनमे सयुक्त वर्ण से पूर्व दीर्घ वर्ण उपलब्ध है

ओग्गह → उग्गह → अवग्रह

पोग्गल → पुग्गल → पुद्गल

एक्क → इक्क → एक

एत्तो → इत्तो → इत

आगम सूत्रो की मूलभाषा अर्धमागधी रही है। देवर्द्धिगणी ने आगमो का नया सस्करण वल्लभी मे किया था। महाराष्ट्र मे जैन श्रमणो का विहार होने लगा। उस स्थिति मे आगमसूत्रो की अर्धमागधी भाषा महाराष्ट्री से प्रभावित हो गई। आचार्य हेमचन्द्र का विहार-स्थल भी मुख्यत गुजरात था। वह महाराष्ट्र का समीपवर्ती प्रदेश है। उन्होने महाराष्ट्री के प्रचलित प्रयोगो को अपने प्राकृत व्याकरण मे प्रमुख स्थान दिया। अर्धमागधी के उन प्राचीन रूपो, जो उस समय तक आगमो मे सुरक्षित थे, को आर्ष प्रयोग के रूप मे उल्लिखित किया। मूलत प्राचीन आगम-सूत्रो (आयारो, सूयगड, उत्तरज्झयणाणि आदि) की भाषा

महाराष्ट्रीय नहीं थी, किन्तु उत्तरकालीन आगमों तथा उनके व्याख्याग्रन्थों की भाषा महाराष्ट्री हो गई। सभी जैन आगमों की भाषा न अर्धमागधी है और न महाराष्ट्री और आर्ष प्राकृत का अध्ययन करते समय यह तथ्य विस्मृत नहीं होना चाहिए।

संदर्भ

१ हेमशब्दानुशासन, ८।१।३ आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।
२ ,, ,, ८।१।७९ आर्षे अन्यत्रापि। पच्छेकम्मं। असहेज्ज देवासुरी।
३ ,, ,, ८।१।१७७ आर्षे अन्यदपि दृश्यते। आकुञ्चन आउण्टण। अत्र चस्य टत्वम्।
४ ,, ,, ८।१।२४५ आर्षे लोपोपि। यथाख्यातम्—अहक्खाय। यथाजातम् अहाजाय॥
५ ,, ,, ८।१।२५४ आर्षे दुवालसंगे इत्याद्यपि।
६ ,, ,, ८।२।१७ आर्षे इक्खू, खीर, सारिक्खमित्याद्यपि दृश्यते।
७ ,, ,, ८।२।३ क्ष ख क्वचित्तु छझौ।
८ ,, ,, ८-२।२१ आर्षे तथ्ये चोपि तच्च।
९ ,, ,, ८।२।८६ आर्षे श्मशानशब्दस्य सीआण सुसाणमित्यपि भवति।
१० ,, ,, ८।२।९८ आर्षे पडिसोओ विस्सोअसिआ।
११ ,, ,, ८।२।१०१ आर्षे सूक्ष्मेऽपि, सुहुम।
१२ ,, ,, ८।२।११३ आर्षे सूक्ष्मम्, सुहुम।
१३ ,, ,, ८।२।१०४ किरिआ, आर्षे तु हय नाण कियाहीण।
१४ ,, ,, ८।२।१२० आर्षे हरए महपुण्डरिए।
१५ ,, ,, ८।२।१४६ कट्टु इति तु आर्षे।
१६ ,, ,, ८।२।१७४ आर्षे तु यथादर्शन सर्वमविरुद्धम्।
१७ (क) ,, ,, ८।३।१३७ आर्षे तृतीयापि दृश्यते। प्रथमाया अपि द्वितीया दृश्यते।
(ख) ,, ,, ८।३।१६२ आर्षे देविन्दो इणमब्बवी इत्यादौ सिद्धावस्थाश्रयणात् ह्यस्तन्या प्रयोग।
१८ हेमशब्दानुशासन, ८।४।२८३ आर्षे वाक्यालंकारेपि दृश्यते।
१९ दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ८६ अनुस्वारोऽलाक्षणिक। मुखसुखोच्चारणार्थं।
२० हेमशब्दानुशासन, ८।१।१७७ क-ग च-ज-त-द-प-य वा प्रायो लुक्।
२१ ,, ,, ८।१।२३१ पोव।
२२ ,, ,, ८।१।२३१ वृत्ति—एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपविकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः।
२३ दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति पत्र १९ सामयिकत्वात् गोरिव चरण गोचर अन्यथा गोचार।
२४ पिण्डनिर्युक्ति, गाथा १, वृत्ति—सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्।

२५ निशीथभाष्य, गाथा ३६१८
पोराणमद्धमागहभासाणियय हवति सुत्त ।।
चूर्णि—तित्थयरभासितो जस्सऽत्थोगंथो य गणधरणिवद्धो त पोराण ।
अहवा-पाययबद्ध पोराण, मगहऽद्धविसयभासणिवद्ध अद्धमगह ।
अधवा-अट्ठारसदेसीभाखाणियत अद्धमागध भवति सुत्त ।
२६ डा० पिशल- प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० २५, २६ ।
२७ अनुयोगद्वार चूर्णि पृ० ४७ वित्थरो सिं सद्दपाहुडातो णायव्वो पुव्वणिग्गतेसु व वागरणादिसु ।
२८ ठाण, १०।९६
२९ विशेष विवरण के लिए देखें
(१) दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, व्याकरण-विमर्श ।
(२) उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, व्याकरण-विमर्श ।
३० अनुयोगद्वार, मलयधारीया वृत्ति पत्र १२३ वृद्धवैयाकरणदर्शनेन चेयमष्टमी गण्यते एदयुगीनाना त्वसौ प्रथमैवेति मन्तव्यमिति ।
३१ देखें– डा० पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ८, ९ टिप्पण ।
३२ अणुओगद्दाराइ, सूत्र २६४ ।
३३ पण्णवणा पद ११ ।
३४ पण्णवणा पद ११, सूत्र २१ ।
३५ „ „ „ सूत्र २३ ।
३६ „ „ „ सूत्र २४ ।
३७ „ „ „ सूत्र २६ ।
३८ पण्णवणा ११।८६ ।
३९ „ ११।२१ ।
४० „ ११।२२ ।
४१ हेम० श० ८।३।१३० द्विवचनस्य बहुवचनम् ।
४२ „ ८।१।१ प्रकृति सस्कृतम् । तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम् ।
४३ वृहत्कल्प भाष्य १।२, मलयगिरि वृत्ति प्रकृतौ भव प्राकृत स्वभावसिद्धमित्यर्थ ।
४४ समवाय, ४६।२
४५ समवायागवृत्ति, पत्र ६५
४६ हेम० श० ८।१।१
४६ हेम० श० ८।१।१ ङञौ स्ववर्ग्यसयुक्तौ भवत एव । एदौतौ च केषाचित् कैतवम् कैअव सौन्दर्यम्, सौअरिअ, कौरवा ।
४८ „ „ ८।४।२८८ मागध्या रेफस्य दन्त्यसकारस्य च स्थाने यथासख्य लकारस्तालव्य शकारश्च भवति ।।
४९ कच्चायन व्याकरण १।१।२ अक्खरापादयो एकचत्तालीस ।
५० पण्हावागरणाइ ७।१४ नामक्खाय-निवाओवसग्ग-तद्धिय-समास-सधि-पद-हेउ-जोगिय उणादि-किरियाविहाण-धातु-सर-विभत्तिवण्णजुत्त ।

५१ दशवैकालिक ८।४६, अगस्त्यसिंह स्थविर चूर्णि वयणनियमणमायागे। " आयारधरो भासेज्जा तेसु विणीतभासाविणओ, विसेसेण पन्नत्तिधरो एत वयणलिंगवण्णविवज्जासे ण ववधसे।

५२ दशवैकालिक ८।४६, जिनदासमहत्तर चूर्णि, पृ० २८६—आयारधरो इत्थीपुरिसणपुंसग-लिंगाणि जाणइ।

५३ दशवैकालिक, हारिभद्रीय टीका पत्र २३६ आचारधर स्त्रीलिंगादीनि जानाति, प्रज्ञप्तिधर स्तान्येव सविशेषाणीत्येव भूतम्। तथा दृष्टिवादमधीयान प्रकृतिप्रत्यय लोपागमवर्णविकार-कालकारकादिवेदिनम्।

५४ हेम० श० ८।४।३८७ तदोस्त।

५५ " , ८।१।८४ ह्रस्व संयोगे।

आधुनिक युग में
प्राकृत व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन-अनुसन्धान

डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

प्राकृत भारोपीय भाषा परिवार की भारतीय आर्यशाखा की प्राचीनतम और अन्यतम भाषा मानी जाती है। वैदिककाल मे वह एक जनबोली थी, जो क्रमश विकसित होती गई और पालि-प्राकृत तथा अपभ्र श के सोपानो को पार करती हुई आधुनिक आर्यभाषाओ के विविध रूपो मे प्रतिष्ठित हुई। अत भाषा-विज्ञान के आधार पर यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि वर्तमान जनबोलियो का सीधा सम्बन्ध पालि-प्राकृत भाषाओ से अधिक है। उनका परिनिष्ठित रूप भले ही सस्कृत के परिसर मे उपलब्ध हो सकता है।

सदियो से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ मे विवाद के स्वर गूजते रहे हैं। प्राकृत और सस्कृत इन दोनो भाषाओ मे प्राचीनतर तथा मूल भाषा कौन-सी है ? इस प्रश्न के समाधान मे दो पक्ष प्रस्तुत किए गए है। प्रथम पक्ष का कथन है कि प्राकृत की उत्पत्ति सस्कृत से हुई है तथा दूसरा पक्ष उसका सम्बन्ध किसी प्राचीन जनभाषा से स्थापित करता है। प्राकृत व्याकरण-शास्त्र मे दोनो पक्षो का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है —

१ प्रथम पक्ष

(i) प्रकृति सस्कृतम्। तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम् —हेमचन्द्र।
(ii) प्रकृति सस्कृतम्, तत्र भव प्राकृतम् उच्यते मार्कण्डेय।
(iii) प्रकृते सस्कृताया तु विकृति प्राकृती मता नरसिंह।
(iv) प्राकृतस्य तु सर्वमेव सस्कृत योनि वासुदेव।
(v) प्राकृते आगतम् प्राकृतम्। प्रकृति सस्कृतम् धनिक।
(vi) सस्कृतात् प्राकृत श्रेष्ठ ततोऽपभ्र शभाषणम् शकर।
(vii) प्रकृते सस्कृताद् आगत प्राकृतम् — सिंहदेवगणिन्।

(VIII) प्रकृति संस्कृतम्, तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम् पिटसन (प्राकृतचन्द्रिका)

२ द्वितीय पक्ष

(1) 'प्राकृतेति' सकलजगज्जन्तूना व्याकरणादिभिरनाहितसस्कार सहजो वचनव्यापार प्रकृति, तत्र भव सैव वा प्राकृतम्। 'आरिस-वयवो सिद्ध देवाण अद्धमागहा वाणी' इत्यादि —वचनात् वा प्राक् पूर्व कृत प्राक्कृत बालमहिलादिसुबोध सकलभापानिवन्धभूत वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैक स्वरूप तदेव च देशविशेपात् सस्कारकरणाच्च समासादितविशेप सत् सस्कृताद्युत्तरविभेदाना-प्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु सस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन सस्करणात् सस्कृतमुच्यते -नमिसाधु।

(11) सयलाओ इम वाया विसति एतो य णेंति वायाओ। एति समुद्दं चिय णेति सायराओ च्चिय जलाइ॥ वाक्पतिराज।

(111) याद् योनि किल सस्कृतस्य सुदृशा जिह्वासु यन्मोदते।

राजशेखर

उपर्युक्त दोनो पक्षो का विश्लेपण हम इस प्रकार कर सकते है कि प्राकृत वस्तुत जनबोली थी, जिसे उत्तरकाल मे सस्कृत के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया। प्राकृत भापा के समानान्तर वैदिक सस्कृत अथवा छान्दस भापा थी, जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद और अथर्ववेद मे विशेप रूप से दृष्टव्य है। यास्क ने इसी पर निरुक्त लिखा और पाणिनि ने इसी को परिष्कृत किया। विड-म्बना यह है कि प्राकृत के प्राथमिक रूप को दिग्दर्शित कराने वाला कोई साहित्य उपलब्ध नही, जिसके आधार पर उसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सके। हा, यह अवश्य है कि प्राकृत के कुछ मूल शब्दो को वैदिक सस्कृत मे प्रयुक्त शब्दो के माध्यम से समझा जा सकता है। वैदिक रूप विकृत, किकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, प्रथ्, ग्रथ्, क्षुद्र क्रमश प्राकृत के विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, पठ, घट, क्षुल्ल, रूप थे जो धीरे-धीरे जनभापा से वैदिक साहित्य मे पहुच गए। इन शब्दो और ध्वनियो से यह कथन अतार्किक नही होगा कि प्राकृत जनबोली थी, जिसे परिष्कृतकर छान्दस भापा का निर्माण किया। जनबोली का ही विकास उत्तर-काल मे पालि, प्राकृत, अपभ्रश और आधुनिक भारतीय भापाओ के रूप मे हुआ। तथा छान्दस भापा को पाणिनि ने परिष्कृत कर लौकिक सस्कृत का रूप दिया। साधारणत लौकिक सस्कृत मे तो परिवर्तन नही हो पाया पर प्राकृत जनबोली सदैव परिवर्तित अथवा विकसित होती रही। सस्कृत भापा को शिक्षित और

उच्चवर्ग ने अपनाया तथा प्राकृत सामान्य समाज की अभिव्यक्ति का साधन बनी रही। यही कारण है कि सस्कृत नाटको मे सामान्य जनो से प्राकृत मे ही वार्तालाप कराया गया।

डा० पिशल ने होइफर, लास्सन, याकोबी, भडारकर आदि विद्वानो के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है कि प्राकृत का मूल केवल सस्कृत है। उन्होने सेनार से सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि प्राकृत भाषाओ की जडें जनता की बोलियो के भीतर जमी हुई हैं और उनके मुख्य तत्त्व आदि काल मे जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिए गए हैं, किन्तु बोलचाल की वे भाषायें, जो बाद को साहित्यिक भाषाओ के पद पर चढ गई, सस्कृत की भाति ही बहुत ठोकी-पीटी गई, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाय।[1] अपने मत को सिद्ध करने के लिए उन्होने सर्वप्रथम वैदिक शब्दो का प्राकृत शब्दो से साम्य बताया और बाद मे मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियो मे सनिहित प्राकृत भाषागत विशेषताओ को स्पष्ट किया।[२]

इसमे कोई सन्देह नही कि जिस प्रकार वैदिक भाषा उस समय की जनभाषा का परिष्कृत रूप है, उसी प्रकार साहित्यिक प्राकृत भी प्राकृत बोलियो का परिस्कृत रूप है। उत्तरकाल मे तो वह सस्कृत व्याकरण, भाषा और शैली से भी प्रभावित होती रही। फलत लम्बे-लम्बे समास और सस्कृत से परिवर्तित प्राकृत रूपो का प्रयोग होने लगा। प्राकृत व्याकरणो की रचना की आधारशिला मे भी इस प्रवृति ने काम किया।

प्राकृत भाषा पर देशी-विदेशी विद्वानो ने काफी अध्ययन-अनुसन्धान किया है, फिर भी उसे हम सपूर्ण नही कह सकते। अध्ययन कभी सम्पूर्ण होता भी नहीं। यहा हम प्राकृत भाषा और व्याकरण-शास्त्र पर जो भी पाश्चात्य विद्वानो ने कार्य किया है, उसका सक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे है। हम अपने इस सर्वेक्षण को स्थूलत पाच भागो मे विभाजित कर सकते हैं।

१. भाषाविज्ञान के आधार पर प्राकृत भाषाओ का अध्ययन।
२ प्राकृत व्याकरणो का अध्ययन।
३ प्राकृत भाषाओ पर आधुनिक भाषाओ मे लिखे गए व्याकरण।
४ प्राकृत भाषाओ का आलोचनात्मक अध्ययन।
५ सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त बोलियो का अध्ययन।

१ प्राकृत भाषाओ का भाषावैज्ञानिक अध्ययन

प्राकृत भाषाओ ने पाश्चात्य विद्वानो को अपनी विशेषताओ की ओर १९वी शताब्दी के मध्यकाल मे आकर्षित किया। A Hoefer सम्भवत प्रथम विद्वान् रहे होगे जिन्होने १८३६ मे Berotını से De Prakııta Dıalecto Lıbrı duo

प्रकाशित किया। इसमे उन्होने प्राकृत भाषाओ का भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष अध्ययन किया और संस्कृत को उसका मूल उद्गम सिद्ध करने का प्रयत्न किया। J Beames ने भी Outlines of Indian Philology (द्वितीय संस्करण, १८६८) मे शौरसेनी से कुछ उदाहरण देकर यही निष्कर्ष निकाला। इसके बाद G Goldschamidt ने Bildungen aus Passive Stammen in Prakrit (Seitscrhift, der deutschen morgenlanelischen Gesellschrift Vol. XXIX, PP. 491-495, Vol XXX, P. 779 Leipzig, 1875-1876) तथा Der infininitive des passive in Prakrit, ZDMG, Vol XXVIII, P, 491-493, Leipzig, 1874) मे प्राकृत के कर्मवाच्य पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया।

E Muller ने आर्य भाषाओ के विकास मे प्राकृत भाषाओ का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए प्राकृत की रूपिम विशेषताओ को उपस्थित किया। (Beitrage, Zer Grammatik des Jaina Prakrit, Berlin, 1876) A. F Rudolf, Hoernle का A Sketch of the History of Prakrit Philology (CR. LXXI, Art. 7, 1880) नामक ग्रन्थ भी इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है। इसी बीच Wilson ने बम्बई विश्वविद्यालय मे भाषाविज्ञान पर कुछ भाषण दिए, जिनमे उन्होने संस्कृत भाषा के विकास को स्पष्ट करते हुए प्राकृत और आधुनिक भाषाओ की संरचना पर प्रकाश डाला। John Beams ने १८७२ से १८७९ के बीच कुछ भाग प्रकाशित किए, जिनमे उन्होने आर्य भाषाओ की विकासात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हुए उन पर प्राकृत भाषाओ के प्रभाव को परिलक्षित किया।

H Jacobi के Uber Unregelmassige Passive in Prakrit, (Kuhne's Zeitschift fur deutcshen morgenlandischen cesellschaft, Vol XXXIII, P 249-259, Gutersloh, 1887) तथा Uber das Prakrit in der Erzahlungs—Literatur der Jainas (Rivista degli studi Orientali, Vol II PP 231-236, Roma, 1908-1909) भी यहा उल्लेखनीय हैं, जिनमे उन्होने प्राकृत की विभिन्न विशेषताओ को भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे अध्ययन का विषय बनाया। हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा तथा विमलसूरि के पउमचरिय के अध्ययन के आधार पर यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि जैन महाराष्ट्री प्राकृत के गद्य और पद्य साहित्य की विशेषताए पृथक्-पृथक् हैं।

R Pischel ने 1900 मे Strassburg से Grammatik der Prakrit sprachen (Grundriss der indo-arischen Philologie un Altertums Kunde, Band I, Heft 8) प्रकाशित कर भाषावैज्ञानिको को प्राकृत

का अध्ययन करने के लिए और भी प्रेरित कर दिया। यहा लेखक ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्राकृत जैन आगमो की भाषा को अर्धमागधी नाम दिया जाना चाहिए, जैन प्राकृत नही। इसी प्रकार महाराष्ट्री जैन प्राकृत के स्थान पर सौराष्ट्री जैन प्राकृत तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राकृत आगम ग्रन्थो की भाषा को शौरसेनी जैन प्राकृत कहा जाना चाहिए।

Sten Konow (I R A S 1901) ने भी प्राकृत भाषाओ का भाषाविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया। T Burrow का Sanskrit Language (London) तथा J Bloch का फ्रेन्च मे लिखित 'ल' आँर्दो एरिया (भारतीय आर्यभाषा) आदि जैसे ग्रन्थो का भी यहा उल्लेख किया जा सकता है, जिनमे विद्वानो ने प्राकृत के विभिन्न विकासात्मक सोपानो को स्पष्ट करते हुए भारतीय भाषाओ के विकास मे उनके योगदान की चर्चा की। Alsdorf का Origins of New Indo-Aryan languages लेख भी महत्वपूर्ण है।

इसी सन्दर्भ मे हम हल्श के Inscriptions of Ashok (Oxford, 1925), बूलर के Ashoka's text and Glossary (कलकत्ता, १९२४), Bloch के Ashoka a la Magadhi (BSOS, VI, 2, 1932) जैसे कार्यों का भी उल्लेख करना चाहेगे, जिनमे शिलालेखो की प्राकृत का विचार किया है। इन विद्वानो ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तर-लेखो पर प्राकृत का बहुत प्रभाव पडा है और ये विशेषताये केवल साहित्यिक प्राकृत मे ही मिलती हैं। इन प्रस्तर-लेखो की भाषा मे कुछ कृत्रिमता दिखाई देती है। फिर भी वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं प्राकृत के विकास को समझने की दृष्टि से।

२ प्राकृत-व्याकरणो का अध्ययन-अनुसन्धान

प्राकृत-व्याकरणो को साधारणतः दो सम्प्रदायो मे विभक्त किया गया है पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी सम्प्रदाय का नेतृत्व वररुचि करते हैं और पश्चिमी सम्प्रदाय का हेमचन्द्र। पाश्चात्य विद्वानो ने इन दोनो सम्प्रदायो पर काम किया है। पूर्वी व्याकरण-सम्प्रदाय पर शोध प्रारम्भ करने का श्रेय Cl Lassen को दिया जा सकता है जिन्होने १८३७ मे Bonnae से Institutions linguae Pracritieae नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके प्रथम खण्ड मे हेमचन्द्र आदि प्राकृत-वैयाकरणो तथा मागधी आदि प्राकृत बोलियो पर विचार किया गया है। दूसरे खण्ड मे वररुचि के प्राकृत प्रकाश के प्रथम चार अध्याय प्राकृत-सस्कृत अनुक्रमणिका के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। ग्रन्थ का तृतीय खण्ड मागधी, पैशाची, अपभ्रश आदि प्राकृत बोलियो के विवेचन पर आधारित है। १८३९ मे N Delius ने Radices Pracritcae का वही से प्रकाशन किया। इसमे लेखक ने वररुचि के आठवे अध्याय पर अपना अध्ययन विशेषत केन्द्रित किया।

इन दोनों ग्रन्थों से प्रेरणा पाकर E B Cowell ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश की छह प्रतियों के आधार पर सर्वप्रथम सम्पादित कर भामह की प्राचीनतम मनोरमा टीका के साथ १८५४ में Hertwhrd में प्रकाशित किया। वहीं से उसी का द्वितीय संस्करण १८६८ में और कलकत्ता से तृतीय संस्करण १९६२ में हुआ। Cowell ने अपनी भूमिका में प्राकृत व्याकरणों—विशेषतः वररुचि और हेमचन्द्र की—का सर्वेक्षण किया। मूल के साथ ही अंग्रेजी अनुवाद और पांच परिशिष्ट भी जोड़े गये। इन परिशिष्टों में एक परिशिष्ट ऐसा भी है जिसमें हेमचन्द्र द्वारा लिखित शौरसेनी प्राकृत के नियम-सूत्र संकलित किये गये हैं और अन्य में हेमचन्द्र के ही स्वर नविगत सूत्रों को रख दिया गया है। अन्त में एक विस्तृत शब्दसूची दी गई है जिसमें प्राकृत शब्दों की संस्कृत छाया भी समाहित है।

कतिपय विद्वान् चण्ड के प्राकृत लक्षण को वररुचि से भी पूर्ववर्ती मानते हैं। प्राकृत लक्षण का सर्वप्रथम सम्पादन H Hoernle ने किया जो १८८० में कलकत्ता से The Prakrit Lakshanam or Chanda's Grammer of the ancient (आर्ष) Prakrit, Pt I text with a critical introduction and indexes नाम से प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन चार प्रतियों के आधार पर हुआ। Hoernle की दृष्टि में चण्ड ने आर्ष (अर्ध मागधी महाराष्ट्री) व्याकरण लिखा है और यह चण्ड वररुचि से पूर्ववर्ती है। परन्तु Block ने अपने Vararuci Unt Hemachandra शीर्षक निबन्ध में इस मत का खण्डन किया और कहा कि चण्ड ने अपना व्याकरण हेमचन्द्र आदि अनेक वैयाकरणों से उधार लिया है। इतना ही नहीं, उसमें अशुद्धियां भी बहुत हैं। पिशल ने इन दोनों मतों का खण्डन किया और कहा कि चण्ड उतना प्राचीन नहीं जितना Hoernle मानते हैं। चण्ड ने प्रथम श्लोक में ही 'वृद्धमतात्' शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर दिया कि उन्होंने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का आधार लिया है। यह श्लोक क्षेपक या प्रक्षिप्त नहीं बल्कि लगभग सभी प्रतियों में उपलब्ध है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी के सामान्य नियमों को प्रस्तुत किया है। व्यूलर ने इस ग्रन्थ की समीक्षा "त्साइट-श्रिफ्ट डेर मौरगेन लैण्डिशन गेजेलशाफ्ट' में प्राकृत भाषान्तर विधान कहकर की है।

क्रमदीश्वर का संक्षिप्तसार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर लिखा गया है। इसके अध्यायों को प्राकृतपाद कहा गया है। प्रथम सात प्राकृत पाद में संस्कृत व्याकरण और अष्टमपाद में हेमचन्द्र के समान प्राकृत व्याकरण को निबद्ध किया है। इस व्याकरण का सर्वप्रथम सम्पादन Lassen ने १८३९ में 'इन्स्टीट्यूतसीओनेस' में किया जिसका कुछ भाग राडियेत प्राकृतिका ए (बौन्नाए-

आर्ईरनुम) नाम से प्रकाशित हुआ। क्रमदीश्वर ने इस पर स्वोपज्ञ टीका लिखी और चण्डीदेव शर्मन् ने प्राकृत दीपिका लिखी है। क्रमदीश्वर का समय १२-१३ वी शती मानी जाती है।

पुरुषोत्तम के प्राकृत शब्दानुशासन का सर्वप्रथम सम्पादन Nitti Dolci ने नेपाल से प्राप्त एक ही प्रति के आधार पर किया जिसका प्रकाशन १९३८ मे पेरिस से हुआ। इसका समय १३वी शती से पूर्व माना गया है। Dolci ने पिशल के इस मत का खण्डन किया कि व्याकरणकारो की प्राचीनता तथा नवीनता की पहचान या वर्गीकरण इस सिद्धान्त पर करें कि पुराने व्याकरणो मे प्राकृत के कम भेद गिनाए गए हैं तथा नयो मे उनकी सख्या बढती गई है। वास्तव मे पाया तो यह जाता है कि जितना नया व्याकरणकार है, वह उतनी कम प्राकृत भाषाओ का उल्लेख करता है। पिशल के इस मत को भी उन्होने स्वीकार नही किया। वररुचि, महाराष्ट्री छोड, अन्य प्राकृत भाषाओ के बारे मे कम सूत्र देते है। कौवेल और ऑफरेष्ट के भी प्राकृत-अध्ययन का मूल्याकन Dolci ने किया। उन्होने यह स्पष्ट किया कि प्राकृत सजीविनी स्वतन्त्र ग्रन्थ नही वल्कि टीका का नाम है। टीकाकार वसन्तराज का समय १४-१५ वी शती माना जा सकता है। पिशल के काल से ही हेमचन्द्राचार्य द्वारा उल्लिखित 'हुग्ग' की पहिचान अभी तक नही हो सकी। Dolci ने हुग्ग के स्थान पर 'सिद्ध' पाठ सही माना है और कहा है कि हेमचन्द्र के व्याकरण के मूल स्रोतो की खोज अभी तक पूर्ण सफल नही हुई। यह सही भी है।

प्राकृतकल्पतरु के रचयिता रामतर्कवागीश का समय लगभग १७वी शती माना जाता है। लास्सन ने इसका उल्लेख अपने इन्स्टीटयूत्सी ओस मे किया। उसके समूचे भाग को एक साथ प्रकाशित नही किया जा सका। ग्रियरसन ने उसके कुछ भागो को निवन्धो के रूप मे अवश्य प्रस्तुत किया है। बाद मे सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन E Hultzsch ने किया जिसका प्रकाशन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, Hertford से १९०९ मे हुआ।

लकेश्वर की प्राकृत कामधेनु, मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व, नरसिंह की प्राकृत शब्दप्रदीपिका आदि और भी अन्य प्राकृत व्याकरण हैं पर विदेशी विद्वानो ने उनपर प्राय अपनी लेखनी नही चलाई।

प्राकृत व्याकरण के पश्चिमी सम्प्रदाय के प्रमुख वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र को कहा जा सकता है। उनका प्राकृत व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन का अष्टम अध्याय है जिसका सर्वप्रथम सम्पाद R Pischel ने दो भागो मे किया जिनका प्रकाशन Halle से १८७७ और १८८० मे हुआ। प्रथम भाग मे मूल ग्रन्थ और शब्द-सूची दी गई है और द्वितीय भाग मे उसका जर्मन अनुवाद, विशद व्याख्या और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमे पिशल ने हेमचन्द्र के

सिद्धान्तो की मीमासा की है। कही वे उनसे सहमत भी नही हो सके। कही उन्होने अकथ्य की भाषा को कथ्य भी बना दिया। अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि के अतिरिक्त ढक्की, दाक्षिणात्या, आवन्ती और जैन शौरसेनी जैसी प्राकृत बोलियो पर पिशल ने बिलकुल नई सामग्री प्रस्तुत की है।

त्रिविक्रम के शब्दानुशासन के आधार पर सिहराज ने प्राकृत रूपावतार लिखा जिसका प्रथम सम्पादन E Hultzsch ने किया और प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसाइटी, Hertford से १९०९ मे हुआ। सम्पादक ने इसकी भूमिका मे लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

३. प्राकृत भाषाओ पर आधुनिक भाषाओ में लिखे गये व्याकरण

उपर्युक्त व्याकरणो के आधार पर विदेशी विद्वानो ने अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे। उनमे से कतिपय कार्यों का उल्लेख हम प्राकृत भाषाविज्ञान के सन्दर्भ मे कर चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानो मे स्वतन्त्र रूप से सर्वप्रथम व्याकरण लिखने वालो मे Hoeffar का नाम उल्लेखनीय है जिन्होने अपना ग्रन्थ De Prakrıta Dıalects Lıbrıo Duo १८३६ मे बर्लिन से प्रकाशित किया था। लगभग उसी समय १८३७ मे Cl Lassen का Instıtutıons Lınguae Pracrıtıeae नामक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ Bonnae से प्रकाशित हुआ। ये ग्रन्थ सर्वसाधारण पाठको को अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते है। इसी प्रकार R Pıschel की De Grammatıcıs Pracrıtıcıs (Vratıslacıae, 1874), E Muller की Beıtrage Zur Grammatık des Jaına Prakrıt (Berlın, 1876), S Goldschmıdt का Prakrıtıea (Strassburg, 1879, Zeıtschrıft der deutschen morgendıschen Gesellschaft, Vol XXXII. pp. 99-112, Vol XXXVII, pp 457-458, Leıpzıg, 1878-1883), H Jacobi का Das guantıtatsgestz ın den Prakrıtsprachen (Kuhn's Zeıtschrıft fur vergleıchende Sprachforschung, Vol. XXXV, pp 292-298, Berlın, 1881), R F Pavolını की Le Novello Prakrıt de Mandıa edı Aglaladatta (Rome, 1872), Alfred C Woolner का Introductıon to Prakrıt (Lahore, 1917), Sır George Abraham Grıerson का Prakrıt Dhatvadesase (A S B , Calcutta, 1924) आदि और भी प्राकृत व्याकरण हैं, जो प्राकृत भाषाओ के अध्येता के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

यहा Woolner का ग्रन्थ Introductıon to Prakrıt विशेष उल्लेखनीय है। इसे दो भागो मे विभक्त किया गया है। प्रथम भाग मे ग्यारह अध्याय है जिनमे विभिन्न प्राकृतो के सामान्य रूप से तुलनात्मक नियम दिये गये हैं और

दूसरे भाग मे प्राकृत ग्रन्थो के उद्धरणो के साथ उनका अनुवाद और विस्तृत शब्दसूची प्रस्तुत की गई है। लेखक का इस ग्रन्थ की रचना के पीछे एक उद्देश्य "सस्कृत नाटको के शौरसेनी और महाराष्ट्री पाठो का अधिक ध्यान और व्युत्पत्ति पूर्वक अनुशीलन करने के लिए विद्यार्थियो के हाथ मे एक पथप्रदर्शक रखना है। किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक काल से आधुनिक भाषाओ तक के विद्यार्थियो को सहायता पहुचाना है। प्रस्तुत व्याकरण अपने उद्देश्य मे सफल भी रहा।

इसके बाद विद्वानो ने प्राकृत की किसी एक बोली पर अध्ययन करना प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ मे Weber की Maharashtrı and Ardhamagadhı, Adverd Mullar की Ardhamagadhı, H Jacobı की Maharashtrı, Cowell की A Short Indroductıons to the ordınary Prakrıt of the Sanskrıt Dramas wıth a lıst of Common ırregular Prakrıt words (London, 1875), R Schmıdt की Elementarbuch der Saurascnı (Hannover, 1924), Pıschel के Materıalen Zur Kenntrıs des Apabhramsa (Gottıngen, 1902), तथा Eın Nachtrag Zur Grammatık der Prakrıt sprachen (Berlın, 1902) ग्रन्थ अथवा निबन्ध विशेष उल्लेखनीय है।

४ प्राकृत भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन

सामान्य अध्ययन के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानो ने इस क्षेत्र मे भी कार्य किया। H Jacobı के Ueber Vocaleınschub und Vocalısırung des Y ın Palı and Prakrıt (Kuhn's Zeıtschrıft fur Vergleıchende Sprachfor schung, Vol XXIII, pp 594-599, Berlın, 1877), Uber den clocka ın Palı and Prakrıt (वही, Vol XXIV, pp 610-614, Berlın, 1879), Zur genesıs der Prakrıtsprabhen (वही, Vol, XXV, pp, 603 609, Berlın 1881), Noch eınmal das Prakrıtısche guantıtatsgesetz (वही, Vol XXV pp 314-360, Berlın 1883) Ueber unregelmassıge passıva ın Prakıt (वही Vol XXX) VIII, pp 249-256, Gutersloh, 1887), Uber dıe Betonung ın Klassıschen Sanskrıt und ın den Prakrıt-Sprachen (Zeıtschrıft der deutschen Morgenlandıschen Gesellschaft, Vol XLVII, pp 574-582, Leıpzıg, 1893) आदि कार्य उल्लेखनीय है। विद्वान् लेखक ने इन निबन्धो मे आयारग, सूयगडग, उत्तरज्झायण आदि जैन ग्रन्थो का विशेष आधार लिया है।

इसके अतिरिक्त S Goldschmidt के Prakritische miscellen (Kuhn's Zeitschrift fur vergleichende Sprachforschung, Vol XXV, pp, 436-438, 610-617, Vol XXVI, pp 103-112, 327-328, Vol XXVII, P. 336, Berlin, 1881-1885 निबन्धो मे प्राकृत शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियां मिलती हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। R Morris का Notes on some Pali and Jain Prakrit words (The Academy, 1892, PP 217-218, 242-243, 318, London, 1892) भी इसी प्रकार का निबन्ध है जिसमे पम्प, समिति, विवित्त आदि शब्दो का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

Th Bloch का Vararuci Und Hemacanda (Gutersloh, 1893) तथा R Pischel का Der Akzent des Prakrit (Kuhn's Zeitschrift fur Vergleichende Sprachforschung, Vol XXXIV, PP. 568-576; Vol XXXV, PP 140-150, Glutersloh, 1896-1897) भी उपयोगी निबन्ध हैं। पिशल ने प्राकृत और वैदिक ध्वनियो की यहा तुलना की है। Z Wickrema Singhe ने अपने Index of all the Prakrit words occurring in Pischel's "Grammatic der Prakrit-Sprachen" (Bombay, 1905-1909) ने पिशल के प्राकृत व्याकरण मे आए प्राकृत शब्दो की एक सूची तैयार की जो Indian Antiquary, Vol. XXXIV मे प्रकाशित हुई। George A Grierson के Paisachi and Chulikapaisachi (J A Lii 1923, pp. 161-7) तथा The Eastern School of Prakrit Grammarians and Paisachi Prakrit (Sir Ashutosh Mukherji Silver Jublee Volumes (Vol III, Part II, orientals, Calcutta, 1925, PP 119-141) भी उपयोगी निबन्ध है। W E Clerk का Magadhi and Ardhamagadhi (JAOS, 44 1925) J Block का Ashoka's et la Magadhi (BSOS, W), Alsdorf का "Vasudevahindi, a specimen of Arctric Jaina Maharashtri (BSOS, 1936), Grierson का Rajasekhar on the Home of Paisachi (JRAS, 1921), Paisachi and Chulikapaisachi (IA. 1923), Konow का Home of Paisachi (ZDMG, 1910), Grierson का Parkrit Bibhasa (JRAS, 1918), F B J Kuiper का Paisachi fragment of the Kuvalayamala (I I J I I 1957) आदि जैसे निबन्ध भी प्राकृत भाषा के तुलनात्मक क्षेत्र के लिए द्रष्टव्य हैं।

५. संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत बोलियों का अध्ययन

संस्कृत नाटको मे कुछ प्राकृत भाग नियमत आता है जिसे लेखक, महिला वर्ग, बाल वर्ग अथवा अन्य निम्न वर्ग से बुलवाता है। अत स्वभावत इन बोलियो मे वैविध्य मिलता है। E B Cowell ने सभवत इस ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया और A short introduction of the ordinary Prakrit of the Sanskrit dramas (London, 1875) निबन्ध प्रस्तुत किया। Pischel ने कालिदास के 'शाकुन्तलम्' का सपादन करते हुए उसमे प्रयुक्त प्राकृत का विश्लेषण किया। Printz का Bhasa's Prakrits (Frankfurt, A M. 1921) तथा Luder का The fragments of Asvaghosa's Dramas (Berlin, 1911) भी उल्लेखनीय है।

Keith का Sanskrit Drama संस्कृत नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत बोलियो का एक अच्छा अध्ययन प्रस्तुत करता है। लेखक ने लिखा है कि भास और अश्वघोष ने शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी का प्रयोग किया है। मृच्छकटिक मे तो यह वैविध्य और अधिक पाया जाता है। कदाचित् सर्वाधिक। कालिदास के नाटको मे साधारणत: गद्य मे शौरसेनी का और पद्य मे महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। भवभूति ने शौरसेनी, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस मे शौरसेनी और महाराष्ट्री, भट्टनारायण ने वेणीसहार मे शौरसेनी और मागधी तथा राजशेखर ने शौरसेनी का प्रयोग अपने प्राकृत नाटको मे किया है। लेवी और ग्रिल का भी इस क्षेत्र मे योगदान रहा है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानो ने प्राकृत भाषा और व्याकरणशास्त्र के विभिन्न पक्षो पर अपना अध्ययन-अनुसन्धान किया है। उनका शोधकार्य आज भी एक मानदण्ड बना हुआ है।[४]

प्राकृत भाषा और व्याकरण-शास्त्र पर शोधकार्य का सूत्रपात यद्यपि पाश्चात्य विद्वानो ने किया पर बाद मे उसे भारतीय विद्वानो ने सवारा और परिवर्धित-परिष्कृत किया। यहा हम ऐसे ही विद्वानो के कार्यों का मूल्याकन तीन प्रकार से करेंगे

१ प्राकृत व्याकरण-शास्त्रो का सपादन और अनुवादन।

२ स्वतन्त्र व्याकरणात्मक ग्रन्थो का प्रणयन।

३ भाषात्मक चिन्तन।

१ प्राकृत व्याकरण-शास्त्रो का सपादन और अनुवादन।

प्राकृत व्याकरण-शास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ 'भरत' से माना जाता है। मार्कण्डेय ने भरत के साथ ही शाकल्य और कोहल को भी प्राकृत वैयाकरणके रूप मे उल्लेखित किया है। कहा जाता है, पाणिनि ने भी एक 'प्राकृत लक्षण' नामक ग्रन्थ लिखा था।[५] परन्तु इनमे से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही। अत साधारणत

प्राकृतप्रकाश के कर्ता वररुचि को ही प्राचीनतम प्राकृत वैयाकरण माना जाना चाहिए। रामशास्त्री तेलग ने इसका सम्पादन कर मात्र मूल पाठ के साथ १८६९ मे वाराणसी से प्रकाशित किया था। प्राकृतप्रकाश पर अनेक टीकायें भी लिखी गई है। वटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय के सपादकत्व मे 'प्राकृत-मजरी' नामक कात्यायन की टीका निर्णयसागर प्रेस से १९१३ मे प्रकाशित हुई। इसके बाद वसन्तराज की सजीविनी और सदानन्द की सुबोधिनी टीका के साथ प्राकृत प्रकाश यू०पी०गवर्नमेंट प्रेस से १९२७ मे सामने आया। एक अन्य सस्करण डा० पी० एल० वैद्य ने पूना से अग्रेजी अनुवाद सहित १९३१ मे निकाला। उद्योतन शास्त्री भामह की मनोरमा व्याख्या के साथ (वाराणसी, १९४०), और कुनहन राजा ने रामपाणिवाद की व्याख्या के साथ (अडयार लायब्रेरी, मद्रास, १९४६) भी इसे प्रस्तुत किया। भामह और कात्यायन की वृत्तियो के साथ और बगाली अनुवाद के साथ वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने इसका सम्पादन १९१४ मे कलकत्ता से प्रकाशित किया। दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक Grammer of the Prakrit Language (कलकत्ता विश्वविद्यालय,१९४३) मे प्राकृत प्रकाश का अग्रेजी अनुवाद तथा के० पी० त्रिवेदी ने गुजराती अनुवाद, (नवसारी, १९५७) भी प्रकाशित किया है। इसी का एक अन्य सस्करण भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी से भी हुआ है। इन सभी सस्करणो मे प्राय प्रथम आठ अध्याय प्रकाशित हुए हैं जो दक्षिणी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते है परन्तु E B. Cowell ने उसके बारह परिच्छेदो को सम्मिलित किया है। जगन्नाथ शास्त्री होशिग का हिन्दी अनुवाद सहित प्राकृतप्रकाश का नवीन सस्करण भी उल्लेखनीय है (वाराणसी, १९५९) इसके बाद चण्ड के प्राकृत लक्षण को Hoerrle के सस्करण के आधार पर देवकीकान्त ने पुन सम्पादित कर कलकत्ता से १९२३ मे निकाला। उसी का एक अन्य सस्करण सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला की ओर से अहमदाबाद से भी १९२९ मे प्रकाशित हुआ। लीविश ने अपने 'पाणिनि' मे चण्ड के स्थान पर 'चन्द्र' माना पर भण्डारकर के उद्धरणो से ही यह नाम चण्ड ही सिद्ध होता है।

लकेश्वर की प्राकृत कामधेनु या प्राकृत लकेश्वर रावण का प्रथम सम्पादन मनमोहन घोष ने किया, जिसे उन्होने प्राकृत कल्पतरु के साथ (परिशिष्ट क्रमाक २, पृ० १७०-१७३) प्रकाशित किया। क्रमदीश्वर का 'सक्षिप्तसार' यद्यपि प्रथमत Lassen ने किया पर उसका सम्पूर्ण सस्करण राजेन्द्रलाल मित्र ने Bibliothika Indica मे कलकत्ता से १८७७ मे प्रकाशित किया और इसी का एक अन्य सस्करण कलकत्ता से ही १८१९ मे हुआ।

पुरुषोत्तम की प्राकृत शब्दानुशासन को Nitti Dolci के बाद मनमोहन घोष ने प्राकृत कल्पतरु के परिशिष्ट क्र० १, पृ० १५६-१६९ पर सपादित कर अग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। रामतर्कवागीश भट्टाचार्य का प्राकृत

कल्पतरु अभी तक प्रतिलिपि के दोष के कारण सपूर्ण रूप मे प्रकाशित नही हो सका था। इसका श्रेय डॉ० मनमोहन घोष को दिया जा सकता है, जिन्होने उसके सपूर्ण रूप का सपादन कर एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से १९५४ मे प्रकाशित किया। इसी के परिशिष्ट मे प्राकृत कामधेनु आदि जैसे अल्पकायिक प्राकृत व्याकरणो को भी सम्मिलित कर दिया गया। प्राकृत व्याकरण के पूर्वी सम्प्रदाय मे मार्कण्डेय का प्राकृत सर्वस्व (१६-१७वी शताब्दी) सम्भवत सर्वोत्तम माना जा सकता है। इसका प्रथम सम्पादन एस० पी० व्ही० भट्टनाथ स्वामिन् ने किया जिसका प्रकाशन विजगापट्टम से १९२७ मे हुआ। अभी एक नया सस्करण प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदावाद से १९६८ मे हुआ जिसके सपादक हैं कृष्णचन्द्र आचार्य। कुछ और नई प्रतियो का आधार लेकर उसे आधुनिक दृष्टि से सपादित किया गया है। सपादक ने १६४ पृष्ठ की अग्रेजी मे भूमिका लिखी है जिसमे उन्होने मार्कण्डेय का काल, प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति, प्राकृत बोलियो का तुलनात्मक अध्ययन आदि विषयो पर सप्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) पश्चिमी सम्प्रदाय के सर्वमान्य प्राकृत वैयाकरण हुए हैं। सिद्धहेमशब्दानुशासन के अष्टम अध्याय मे उन्होने प्राकृत व्याकरण को परिबद्ध किया। इसका सर्वप्रथम सम्पादन Pischel ने (Halle, १८७७, १८८०) किया। इसके पूर्व कृष्ण महाबल ने Introductien to the Hemachandra Vyakarana (बम्बई, १८७२) लिखा। S P पण्डित ने अपने कुमारपालचरित के परिशिष्ट मे इसका पुन सम्पादन किया (BSS. १९००) (पूना, १९२८) और उसी का बाद मे डॉ० पी० एल० वैद्य ने उसे १९२८ मे सम्पादित किया। सशोधित सस्करण १९५८ मे पूना से ही प्रकाशित हुआ। इसकी प्रियोदय नामक हिन्दी व्याख्या सहित उपाध्याय रत्नमुनि ने अनुवादित कर व्यावर से दो भागो मे प्रकाशित किया। प्रथम भाग विक्रमाब्द २०२० मे निकला और द्वितीय भाग २०२४ मे। इस सस्करण के परिशिष्ट भाग मे प्रत्यय बोध, सकेत बोध, तृतीय पाद शब्दकोष रूप सूची और चतुर्थपाद शब्द-धातुकोष रूप सूची दी गई है। इससे इस सस्करण की विशेष उपयोगिता सिद्ध हो सकी। शा० भीमसिंह माणेक ने निर्णय सागर प्रेस, मुबई से ढुढिका टीका भाषान्तर सहित भी १९०३ मे इसका प्रकाशन किया था।

त्रिविक्रम (१३वी शती) के प्राकृतशब्दानुशासन के तीन अध्यायो मे से प्रथम अध्याय विजगापट्टम् से १८९६ मे प्रकाशित हुआ और सपूर्ण सस्करण टी० लड्डू ने १९१२ मे प्रकाशित किया। एक अन्य सस्करण बटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय के सपादकत्व मे बनारस से भी निकला। पी० एल० वैद्य ने भी अच्छी भूमिका सहित उसे सपादित कर जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से १९५४ मे प्रकाशित किया वृत्ति के साथ। सपादक ने इसके सपादन मे विजगा-

पट्टम तथा चौखम्भा से प्रकाशित संस्करणों का तो उपयोग किया ही, साथ ही तंजौर और मद्रास से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों का भी आधार लिया गया है। अपनी विस्तृत भूमिका में डॉ० वैद्य ने हेमचन्द्र और त्रिविक्रम से पूर्ववर्ती तथा पश्चात्वर्ती प्राकृत वैयाकरणों पर विचार किया। यहीं त्रिविक्रम और हेमचन्द्र के व्याकरण-ग्रन्थों के सूत्रपाठ का तुलनात्मक अध्ययन तथा त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर की तुलना की। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने त्रिविक्रम के शब्दानुशासन का रचनाकाल १२३६ ई० माना। इसके परिशिष्ट में सूत्रपाठ, सूत्रानुक्रमणिका, छन्दश्छायापन्न सूत्रपाठ, अपभ्रंश पद्यसूची तथा देशशब्दसूची दी गई है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ शास्त्री होशिंग ने सं० २००७ में वृत्ति सहित प्राकृत शब्दानुशासन को विद्याविलास, वाराणसी से मुद्रित कराया था। इसी का एक संस्करण १९१२ ई० में लड्डू ने भी प्रकाशित किया था, जिस पर उनको पी० एच० डी० उपाधि से विभूषित किया गया।

प्राकृत शब्दानुशासन के आधार पर सिंहराज (१५ वीं शती) ने प्राकृत रूपावतार और लक्ष्मीधर ने षड्भाषाचन्द्रिका लिखी। षड्भाषाचन्द्रिका का संपादन कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी ने किया (बाम्बे संस्कृत और प्राकृत सीरिज, १९१६)। इसकी भूमिका में संपादक ने महाराष्ट्री प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश इन छह प्राकृत बोलियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। हेमचन्द्र के अतिरिक्त भामकवि की षड्भाषा-चन्द्रिका, दुर्गणाचार्य की षड्भाषारूपमालिका तथा षड्भाषामंजरी, षड्भाषा-सुबन्तादर्श और षड्भाषाविचार में भी इन्हीं छह बोलियों का विवेचन है।

इनके अतिरिक्त अप्पय दीक्षित (१५५३-१६३६ ई०) की प्राकृत मणि-दीपिका का सटिप्पण संपादन श्रीनिवास गोपालाचार्य ने (ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन्स, युनिवर्सिटी आफ मैसूर, १९५४) तथा रघुनाथ (१८ वीं शती) के प्राकृतानन्द का संपादन और प्रकाशन मुनि जिनविजय ने (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई) किया।

इन ग्रन्थों के संपादन और प्रकाशन ने प्राकृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन को सुरुचिपूर्ण और सुविधापूर्ण बना दिया। छात्रों और अध्यापकों को ये ग्रन्थ सुलभ हो गये।

२ स्वतन्त्र प्राकृत व्याकरणात्मक ग्रन्थों का प्रणयन

उपर्युक्त प्राकृत-व्याकरण शास्त्रों के आधार पर बीसवीं शती में आधुनिक भाषाओं में भारतीय विद्वानों द्वारा प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम ऋषिकेश शास्त्री की प्राकृत व्याकरण का प्रकाशन कलकत्ता से १८८३ में हुआ। यद्यपि मूलतः वह संस्कृत में था पर साथ ही उसका अंग्रेजी

अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

Woolner का Introduction to Prakrit कलकत्ते से १६२८ मे प्रकाशित हुआ था। उसकी उपयोगिता और लोकप्रियता को देखकर डॉ० बनारसीदास जैन ने उसका हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत प्रवेशिका" के नाम से पजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से १६३३ मे प्रकाशित किया। "भारतीय नाटको तथा भारतीय भाषा-विज्ञान को सुगम बनाना इसका मूल उद्देश्य था। प्राकृत की विभिन्न स्थितियो का परिचय भी इस ग्रन्थ से हो जाता है।

प० बेचरदास दोसी प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान् है। उन्होने १६२५ मे गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद से गुजराती भाषा मे प्राकृत व्याकरण प्रकाशित की, जिसका हिन्दी रूपान्तर साध्वी सुव्रताजी ने और उसका प्रकाशन १६६८ मे मोतीलाल बनारसीदास ने किया। प्रस्तुत ग्रन्थ मे "सस्कृत, पालि, शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा अपभ्र श के पूरे नियम बताकर सस्कृत के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विशेप परामर्श किया है और वेदो की भाषा, प्राकृत भाषा तथा सस्कृत भाषा, इन तीनो भाषाओ का शब्द समूह कितना अधिक समान है, इस बात को यथास्थान स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दो मे "इसे पिशेल के वृहत् प्राकृत व्याकरण का गुटका सस्करण कहा जाए तो अत्युक्ति नही होगी।"[1]

इसके बाद डॉ० पी० एल० वैद्य ने A Mannual of Ardhamagadhi Grammar (पूना, १६३४) प्रकाशित की। पुस्तक छोटी पर उपयोगी है। इसके पूर्व डा० बनारसीदास जैन ने पजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से १६२३ मे Ardhamagadhi Reader प्रकाशित की थी, जिसमे अर्धमागधी की सामान्य विशेषताओ को स्पष्ट करते हुए जैनागमो मे से प्राकृत-उद्धरण प्रस्तुत किए गये थे।

इसी शृखला मे डा० A M Ghatage की Introduction to Ardhamagadhi कृति १६५१ मे कोल्हापुर (School and College Book-stall) से प्रकाशित हुई। इसमे लेखक ने प्राकृत को सस्कृत से उत्पन्न मानकर अर्धमागधी अथवा जैन महाराष्ट्री की विशेपताओ को तीन भागो मे विभाजित किया ध्वनि, रूपिम और वाक्यविज्ञान तथा समास। यहा भाषाविज्ञान का विशेष रूप से आधार लिया गया है। अर्धमागधी का विश्लेषण करते हुए उन्होने भूमिका मे कहा है कि यह भाषा एक जैसी नही रही। प्राचीन और नवीन विकास का सकेत आगमो मे स्पष्टत देखा जा सकता है। उदाहरणत प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे अ तथा ए प्रत्यय मिलते हैं। इनमे ओ प्रत्यय प्राचीन रूप है जो गाथाओ मे मिलता है तथा ए प्रत्यय अपेक्षाकृत नवीन रूप है जिसे हम गद्यभाग मे पाते है। प्राकृत, विशेषत अर्धमागधी, भाषाओ के विकासात्मक रूपो

को तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रस्तुत करने वाली यह कृति निःसन्देह अनुपम है।

इसके बाद डा० दिनेशचन्द्र सरकार की "Grammar of the Prakrit Languages" उल्लेखनीय है जिसमे उन्होने अर्धमागधी के साथ ही अन्य प्राकृतो पर भी विचार किया है। शिलालेखी प्राकृतो पर डा० एम ए महेन्दले का बहुत अच्छा कार्य हुआ है। उन्होने Historical Grammar of Incriptional Prakrits (पूना, १९४८) मे प्राकृत की विभिन्न विकासात्मक स्थितियो को स्पष्ट किया है। पूना से ही प्रकाशित तगारे का Historical Grammar of Apabhramsa (१९४३) तथा दावाने का Nominal Composition in Middle Indo-Aryan (पूना, १९५६) ग्रन्थ भी यहा उल्लेखनीय है। Comparative Syntax of Middle Indo-Aryan नाम से एक अन्य ग्रन्थ कलकत्ता से १९५३ मे प्रकाशित हुआ। इन ग्रन्थो मे भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत पर विचार किया गया है।

डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल का 'प्राकृत विमर्श' लखनऊ विश्वविद्यालय से १९५३ मे प्रकाशित हुआ। इसमे लेखक ने मुख्य प्राकृतो के अतिरिक्त प्रारम्भिक प्राकृत-पालि, शिलालेखी प्राकृत और उत्तरकालीन प्राकृत-अपभ्रंश का सक्षिप्त परिचय दिया है। नियमो को स्पष्ट करते समय सूत्रो का उल्लेख तथा साथ ही सस्कृत से तुलना कर दी गई है।" इससे सस्कृत और प्राकृत को एक साथ समझा जा सकता है। पिशेल के प्राकृत व्याकरण का भी यहा भरपूर उपयोग हुआ है। पुस्तक पाच अध्यायो मे विभक्त है १ प्राकृत और उसकी विभिन्न बोलियो का परिचय, २ प्राकृत बोलियो की सामान्य विशेषताए, ३ प्राकृत की ध्वनि सम्बन्धी विशेषतायें, ४. प्राकृत के पद, रूपो का विकास, ५ प्राकृत के क्रियापदो का विकास। अन्त मे प्राकृत साहित्य से २१ उद्धरणो को चयनिका भाग मे देकर प्राकृत के विकास को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु ये उद्धरण कालक्रम से नही दिए गए। कालक्रम से दिए जाते तो और अधिक अच्छा रहता। प्राकृत भाषाओ का वर्गीकरण यहा तीन प्रकार से किया गया है धार्मिक साहित्यिक और नाटकीय।

डा० प्रबोध पण्डित भाषाविज्ञान के विश्रुत प्राध्यापक थे। उन्होने पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी द्वारा आयोजित 'प्राकृत भाषा' पर १९५३ मे, तीन भाषण दिए थे, जो १९५४ मे प्रकाशित हो गए। इन तीन भाषणो के शीर्षक थे प्राकृत की ऐतिहासिक भूमिका, २ प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग, और ३ प्राकृत का उत्तरकालीन विकास। डा० पडित ने प्राकृत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'एक ओर से वर्तमान काल की बोलचाल की नव्य भारतीय आर्य-भाषायें और दूसरी ओर से प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा जैसे कि वेद की भाषा,

यह दोनो स्वरूपो के बीच की जो भारतीय भाषा इतिहास की अवस्था है, उसको हम प्राकृत कह सकते हैं।[२१] प्राकृत मे 'प्रकृति' का अर्थ उन्होने आदर्श लिया है अर्थात् प्राकृत का आदर्श है सस्कृत।[१९]

१९६० मे चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से प्राकृत व्याकरण नामक ग्रन्थ निकला जिसके लेखक हैं मधुसूदनप्रसाद मिश्र। इसे हेमचन्द्र का आधार लेकर लिखा गया है। पुस्तक ग्यारह अध्यायो मे विभक्त है। सर्वप्रथम महाराष्ट्री के लक्षणो को स्पष्ट किया गया है और उसके बाद शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्र श को। बीच-बीच मे यथा स्थान प्राकृतप्रकाश, कल्पलतिका आदि का भी उल्लेख किया गया है। सप्तम अध्याय मे कुछ विशिष्ट पदो को एकत्रित किया गया है और पादटिप्पणी मे विशेष सूत्रो का भी उल्लेख कर दिया गया है।

डा० सुकुमार सेन का एक ग्रन्थ Comperative Grammar of Indo Aryan भारत की Linguistic Society के विशेष प्रकाशन के रूप मे १९६० मे सशोधित करके प्रकाशित हुआ है। उसी का हिन्दी रूपान्तर 'तुलनात्मक पालि-प्राकृत-अपभ्र श व्याकरण' के नाम से प्रकाशित किया गया १९६९ मे (लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद)। डा० सेन प्रकृति का अर्थ सस्कृत मानकर चलते हुए लगते हैं। उन्होने प्राग्भारतीय आर्य भाषा (१२०० ई० पू०) से क्रमश. प्रारम्भिक वैदिक १२००-८०० ई० पू० (साहित्यिक तथा बोलचाल का रूप), परवर्ती वैदिक ८००-५०० ई० पू० (साहित्यिक तथा कथ्य रूप), सस्कृत—५०० ई० पू० (साहित्यिक और जन सामान्य)। प्रथम मध्य भारतीय आर्यभाषायें बौद्ध सस्कृत--२००--३०० ई०पू० (उत्तर पश्चिमी, पश्चिम मध्यवर्ती, पूर्वमध्यवर्ती और पूर्वी), द्वितीय मध्यवर्ती आर्यभाषाए (निय प्राकृत २०० ३०० ई, पालि २०० ई०पू० प्राकृत अपभ्रंश -(१-६०० ई०) तृतीय मध्यभारतीय आर्यभाषाए अवहट्ट-६००-१२०० ई०)। यहा अपभ्र श को भारतीय आर्यभाषा के विकास की सीधी परम्परा मे बैठाया है और कहा है कि मध्य भारतीय आर्यभाषा का द्वितीय पर्व वस्तुत अपभ्र श का प्रारम्भिक पर्व है। वैयाकरणो द्वारा प्रस्तुत अपभ्र श इसके दूसरे पर्व का कुछ गढा हुआ रूप है। अपभ्र श का तीसरा पर्व आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का प्राग्रूप है और अवहट्ट या लौकिक कहा जाता है।[६८]

डा० एस० एम० कत्रे ने १९४५ मे भारतीय विद्याभवन, बम्बई मे जो भाषण दिए थे, उनका प्रकाशन Prakrit Languages and their contribution to Indian culture के नाम से हुआ। उसी का हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत भाषाए और भारतीय सस्कृति मे उनका अवदान' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर से (१९७२ मे प्रकाशित हुआ) डा० कत्रे ने भी प्राकृत को सस्कृत से उद्भूत माना है। उन्होने कहा है कि प्राकृत भाषा मे सस्कृत की ही सीधी उपज है, जो स्थान और काल की दृष्टि से परिवर्तित और परिवर्धित होती रही

हैं। या अन्ततः यों कहा जा सकता है कि ये भाषाएं जिस समान स्रोत से उत्पन्न हुई हैं, वह संस्कृत है।[17] यहां हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संस्कृत वह सम्यक प्राचीन भारतीय बोलियों से मानव रूप में परिनिष्ठित और परिष्कृत हुई है। ये बोलियां ऋग्वेद काल में भी प्रचलित थीं और संस्कृत के साथ-साथ पाणिनि और पतंजलि के युग में और उसके बाद भी शताब्दियों तक बनी रहीं। ये ही पालि-प्राकृत भाषाएं थीं। इन्हें कत्रे ने सात श्रेणियों में विभक्त किया है १. धार्मिक प्राकृत, २ साहित्यिक प्राकृत, ३. नाटकीय प्राकृत, ४ वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृत भाषाएं, ५ भारत बहिस्थ प्राकृत, ६ अभिलेखीय प्राकृत, और ७ लोक प्रचलित संस्कृत।[18] आगे के पृष्ठों में इन प्राकृतों पर कुछ विस्तार से ही विचार किया गया है।

उपलब्ध व्याकरणों का आधार लेकर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'अभिनव प्राकृत व्याकरण' लिखा जिसका प्रकाशन तारा प्रिंटिंग प्रेस से १९६३ में हुआ। इसमें डा० शास्त्री ने हेमचन्द्र आदि के प्राकृत व्याकरणों को आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होंने आधुनिक भाषाओं में लिखे प्राकृत व्याकरणों का भी उपयोग किया है।[19] अतः वह छात्रों को विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। डा० शास्त्री का 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' ग्रन्थ भी यहां उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने प्राकृत भाषा का विकास प्राचीन आर्यभाषा छान्दस से माना है। उपलब्ध प्राकृत साहित्य को उन्होंने द्वितीय स्तरीय प्राकृत के अन्तर्गत रखा, जिसके पांच भेद किए १ आर्ष प्राकृत जिसमें पालि भी सम्मिलित है, २ शिलालेखी प्राकृत, ३ नियप्राकृत, ४ धम्मपद की प्राकृत, और ५ अश्वघोष नाटकों की प्राकृत। द्वितीय स्तरीय मध्ययुगीन प्राकृत में महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची, शौरसेनी, शाकारी, ढक्की, आदि भाषाओं पर विचार किया गया है तथा द्वितीय स्तरीय तृतीय युग में अपभ्रंश भाषा को संयोजित किया है। इन सभी की विशेषताएं संक्षेप में इस ग्रन्थ में उपस्थित की गई हैं।

इन ग्रन्थों में अपभ्रंश को भी सम्मिलित किया गया है। परन्तु कुछ विद्वानों ने पृथक् रूप से अपभ्रंश व्याकरणों की रचना की है। पतंजलि से लेकर हेमचन्द्र तक प्रायः सभी वैयाकरणों ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है। अपभ्रंश व्याकरणों की कुछ पृथक् रचनाएं भी हुई हैं, जिनमें डा० देवेन्द्रकुमार जैन का अपभ्रंश व्याकरण (वाराणसी), तथा अपभ्रंश भाषा और साहित्य (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६६) डा० परममित्र शास्त्री का सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण आदि जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। डा० नामवरसिंह और डा० शिवप्रसाद सिंह के ग्रन्थों ने भी अपभ्रंश और अवहट्ट भाषाओं तथा उनके व्याकरणों को समझने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक का भी पालि-प्राकृत

भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ पालि-प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इसका प्रकाशन इसी वर्ष नागपुर विश्वविद्यालय से हुआ है। डा० कोमल जैन ने भी बूलर के आधार पर एक प्राकृत प्रवेशिका का (वाराणसी, १९६४) प्रकाशन किया था।

ये सभी ग्रन्थ आधुनिक भाषाओं मे प्राकृत व्याकरणो पर उपलब्ध हैं। छोटे-मोटे कुछ और भी ग्रंथ लिखे गए है, जिन्होंने प्राकृत भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहित किया।

३ प्राकृत भाषात्मक चिन्तन

पिछले कुछ वर्षों मे प्राकृत ग्रन्थो का आधुनिक दृष्टि से संपादन-प्रकाशन हुआ है। उनमे संपादको ने ग्रन्थो की भाषा पर विचार किया है। इसी प्रकार कुछ फुटकर निबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं। ये सभी यद्यपि स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है, फिर भी भाषान्तर चिन्तन की दृष्टि से उनका मूल्यांकन अवश्य किया जा सकता है।

एम० शाहीदुल्ला का 'Magadhi Prakrit and Bengali (IHQ 1925) डा० घाटगे के Instrumental and Locative in Ardhamagadhi (IHQ. 1937), Locative form in Paumacariya (BBRAS 1957) और Maharashtri language and literature (JBU 1936) तथा डा० P V बापट का The Relation between Pali and Ardhamagadhi (IHQ Vol. VI 1928) निबन्ध मागधी, अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से संबद्ध है।

एस० पी० व्ही० रंगनाथ स्वामी का Paisaci Prakrit (IA , XLVIII, 1919, pp 211-213) P V रामानुज स्वामी का Hemachandra and Paisaci Prakrit (IA Li, 1922 pp 51-54), ए० एन० उपाध्ये Paisaci Language and literature (Annals of the B O. R I XXI 1-2, pp 1-37, Poona, 1940), आदि निबन्ध पैशाची प्राकृत की विभिन्न समस्याओ को उद्घाटित करते है।

इसी प्रकार के कुछ अन्य निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं। डा० के० बी० पाठक का The text of the Jainendra Vyakarana and the Priority of Candra to Pujyapada (ABORI, Vol XIII, 1931-32, pp 25-36), डा० ए० एन उपाध्ये के Joinder and his Apabhramsa works (ABORI, Vol XII, 2 PP 132-168, Poona, 1931), Subhachandra and his Prakrit grammar, (ABORI, Vol XIII, 1931-32, pp 37-58) The Prakrit Dialect of Pravacanasara of Jaina Sauraseni (JUB II, 6, Bombay, May, 1934), Prakrit studies their latest progress and future (A I O C, हैदराबाद, 1941 मे दिये गए भाषण का

भाग), A Prakrit Grammar attributed to Samantabhadra (IH Q.XVII, pp 511-16, कलकत्ता, 1952), Language and dialects used in the Kuvalayamala (Summary of Papers, A I D.C. XXII Session, Gauhati, 1965) आदि। डा० भयाणी, डा हीरालाल जैन, मुनि नथमल, के ऋषभचन्द्र आदि विद्वानो के भी कुछ निबन्ध प्राकृत व्याकरण के विभिन्न पक्षो पर प्रकाशित हुए है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी भारतीय विद्वानो ने प्राकृत भाषा की उपयोगिता पर विचार-मन्थन किया है। इस दृष्टि से डा एस एम. कत्रे के Introduction to Modern Indian Linguistics with special reference to Indo-Aryan and Assamese (University of Gauhati, 1941) डा० एस० एम० घाटगे के Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages (University of Bombay, 1962) तथा डा० प्रबोध पण्डित के 'प्राकृत भाषा' (वाराणसी, १९५४) पर दिए गये भाषण भारतीय आर्य भाषाओ के विकास मे प्राकृत के योगदान को स्पष्ट करते है। इसी प्रकार डा० एस० के० चटर्जी और डा० सुकुमार सेन का Middle Indo-Aryan Reader, (University of Calcutta, 1957), डा० P D. गुणे का 'Introduction to Comparative Philology, Apabhramsa Literature and its importance to Philology (Poona, 1919 A I O C), S.N घोषाल का 'On the Etymology of the Prakrit Vocable Pore (VIG, होशियारपुर, मार्गव, मार्च, १९६७, पृ० ३८-४०), गुरुसेवी शर्मा का "मागधीभासासु क्रियापदाना विश्लेषणम्' (AIOC, अलीगढ), मुनीश्वर झा का Modal Relation in Prakrits (वही) तथा Desi words in Kalidasa's Prakrit (वही) आदि लेख भी उपयोगी हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश के मूल ग्रन्थो के सम्पादन मे सपादको ने ग्रन्थो की भाषाओ पर भी विचार किया है। इस दृष्टि से डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित ग्रन्थ उल्लेखनीय है १ णायकुमारचरिउ (प्रथम सस्करण कारजा सीरिज से १९३१ मे और द्वितीय सस्करण भारतीय ज्ञानपीठ से १९७२ मे), २. पाहुड दोहा (कारजा सीरिज से १९३३ मे), ३ सावयधम्म दोहा (कारजा सीरिज, १०३२), ४ करकडचरिउ (कारजा से १९३४ मे प्रथम सस्करण और भारतीय ज्ञानपीठ से १९६४ मे द्वितीय सस्करण), ५-२० षट्खण्डागम धवलाटीका व हिन्दी अनुवाद के साथ १६ भागो मे (शि० ला० जैन साहित्योद्धार फण्ड, १९३९-५८), २१ सुगधदसमी कहा (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६२), २२ मुदमणचरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७०), २३ मयण पराजय (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६२), २४ कहकोसु (प्राकृत सोसाइटी, अहमदाबाद,

१९६९), २५. जसहर चरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७२), तथा वीरजिणिंद-चरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७५)।

डा० हीरालालजी के अन्यतम विद्वान् मित्र डा० ए० एन० उपाध्ये ने भी अनेक प्राकृत ग्रन्थो का सपादन किया है, जिनमे उन्होने उन ग्रन्थो की भाषा पर भी विस्तार से विचार किया है। उनके कतिपय सम्पादित ग्रन्थ इस प्रकार है पंचसूत्र (१९३४), २ प्रवचनसार (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९३५), ३. परमात्म प्रकाश (१९३७), ४ कसवहो (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई, १९४०), ५ धूर्ताख्यान (भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४४), ३ लीलावई (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९४९), ७ आणद सुन्दरी (मोतीलाल बनारसीदास, १९५५), ८ उसाणिरुद्ध (बम्बई विश्वविद्यालय जर्नल, १९४१), ९ कुवलयमाला (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९५९), १० चदलेहा (भारतीय विद्याभवन, १९४५), ११ सिंगारमजरी, (पूना विश्वविद्यालय जर्नल, १९६०), १२. कट्टिगेयाणु-पेक्खा (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९६०), आदि। इनके अतिरिक्त डा० उपाध्ये ने डा० हीरालालजी के सहयोग से कुछ और ग्रन्थो का सम्पादन किया, जिनका प्रकाशन जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से श्री प० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री के हिन्दी अनुवाद सहित हुआ। इन ग्रन्थो मे तिलोयपण्णत्ती (प्रथम सस्करण, १९४३, द्वि० स० १९५६) भागर्व, तिलोय पण्णत्ती भाग २ (१९५१) तथा जवूदीवपण्णत्ती (१९५७) प्रमुख ग्रन्थ हैं।

मुनि नथमलजी प्राकृत और जैन दर्शन के विश्रुत विद्वान् हैं। उन्होने उत्तरा-ध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थो का सम्पादन तथा अनुवादन किया है। ग्रन्थ-भाग की व्याख्या और उसके विश्लेषण मे प्राकृत व्याकरण को भी स्पष्ट किया गया है। मुनिजी ने प्राकृत भाषा के सन्दर्भ मे पृथक् रूप से भी यत्र-तत्र अपने गभीर विचार प्रस्तुत किये हैं।

इसके अतिरिक्त डा० विमल प्रकाश जैन द्वारा सपादित जम्बू स्वामि चरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ)। डा० भयाणी द्वारा मपादित आहिल का पाउमसिरि-चरिउ, डा० राजाराम जैन द्वारा सपादित विबुध श्रीधर का वड्ढमाणचरिउ आदि ग्रन्थ भी दृष्टव्य हैं, जिनकी भूमिकाओ मे सपादको ने सम्बद्ध ग्रन्थो की भाषा पर विस्तार से विचार किया है।

सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत की भी भारतीय विद्वानो ने मीमासा की है। एस० बी० पण्डित ने विक्रमोर्वशीय (BSS १८८९) और मालविकाग्निमित्र (BSSS, 1889) की भूमिका मे, गोडवोले ने मृच्छकटिक (BSS १८९६) की भूमिका मे, तेलग ने मुद्राराक्षस (१९००) की भूमिका मे तथा आर० जी० भण्डारकर ने मालतीमाधव की भूमिका मे (१९०५), प्राकृत बोलियो की विशेषताओ को स्पष्ट किया है। भास के नाटको पर गणपति शास्त्री (१९१०-

१९१५) तथा सुखतंकर ने (JAOS ४०-४२), भवभूति के महावीरचरित पर टोड़रमल्ल ने (आक्सफोर्ड, १९२८), महाराजविजय पर दलाल ने (वडोदा, (१९१८), बलविजय पर एल० वी० गांधी (वडोदा, १९२६) ने तथा विक्रमोर्वशीय पर एच० डी० वेलकर ने (साहित्य अकादमी, १९६१) विशेष लिखा है। उन्होंने इन नाटकों में प्रयुक्त मागधी, शौरसेनी, पैशाची आदि प्राकृत बोलियों का विश्लेषण किया है।

इस प्रकार भारतीय विद्वानों ने प्राकृत भाषा और व्याकरण की विविध विधाओं पर शोधकार्य किया है। प्रारम्भ में उनका शोध कार्य पाश्चात्य विद्वानों के आदर्श को सामने रखकर किया गया प्रतीत होता है। बाद में उन्होंने कुछ मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। आज वे स्वयं आदर्श बनने की स्थिति में हैं बशर्ते कि वे अपेक्षित श्रम और निष्ठा के साथ कार्य करें। याकोवी और अल्सडोर्फ के आदर्श आज भी पुराने नहीं हुए। डा० हीरालाल जैन और ए० एन० उपाध्ये जैसे प्राकृत के सर्वमान्य विद्वानों के कार्य नयी पीढ़ी के लिए प्रेरक सूत्र बन सकते हैं। सर्वश्री मुनि नथमलजी, पं० सुखलाल संघवी, पं० बेचरदास दोसी, पं० दलसुख मालवणिया, डा० भयाणी, पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पं० बालचन्द सिद्धान्त-शास्त्री आदि जैसे प्राकृत भाषा के निष्णात विद्वान् अपनी लेखनी और विद्वत्ता से प्राकृत भाषा और साहित्य के अनुसन्धान के क्षेत्र को प्रशस्त कर रहे हैं। तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अभी भी प्राकृत भाषा और साहित्य के विविध पक्षों का उद्घाटित होना शेष है। आशा है नयी और पुरानी पीढ़ी का सामञ्जस्य तथा पारस्परिक सहयोग इस दिशा की ओर अपने कदम बढ़ायेगा।

१ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि० सं०, पृ ७५।

२ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४।

३ वही, पृ० ८-१४।

४. द्रष्टव्य—(i) प्रेम सुमन जैन—'विदेशी विद्वानों का जैनविद्या को योगदान' वैशाली बुलेटिन नं० १, पृ० २३२-४४।
(ii) F Wiesinger German Indology—Past & Present
(iii) A M Ghatge A brief sketch of Prakrit studies in progress of Indic studies
(iv) देवेन्द्रकुमार शास्त्री—अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ – 1)

५ मलयगिरि द्वारा कथित-प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६५ ।
६ पिशेल ने इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ माना है, टीका नहीं—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ८७ ।
७ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पिशेल, पृ-७४ (हिन्दी अनुवाद) ।
८ षड्भाषाचन्द्रिका, भूमिका, पृ० ४ ।
९ प्राकृत प्रवेशिका, भूमिका, पृ० ४ ।
१० प्राकृत मार्गोपदेशिका, भूमिका, पृ० १० ।
११ वही, प्रस्तावना, पृ० ७ ।
१२ कलकत्ता, १९४३ ।
१३ प्राकृत विमर्श, प्राक्कथन, पृ० २ ।
१४ प्राकृत भाषा, पृ० १ ।
१५ वही, पृ० ४२ ।
१६ तुलनात्मक पालि-प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १४-१५ ।
१७ प्राकृत भाषायें और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान, पृ० १ ।
१८ वही, पृ० ७-८ ।
१९. अभिनव प्राकृत व्याकरण, प्रस्तावना, पृ० २२ ।

अर्धमागधी आगम-साहित्य की विशिष्ट शब्दावलि

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

बौद्धो के पालि त्रिपिटक की तुलना मे अर्धमागधी मे लिखे हुए जैन आगम-साहित्य का अध्ययन अपेक्षाकृत कम मात्रा मे हुआ है। जैन आगमो के अध्ययन को प्रकाश मे लाने का श्रेय खासकर वेबर, याकोबी, पिशल, लॉयमान, शूब्रिंग, आल्सडोर्फ आदि जर्मन मनीषियो को ही दिया जायेगा, जिन्होने अप्रकाशित आगम-साहित्य की हस्तलिखित प्रतियो को पढकर उनका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया।

आगम-साहित्य का महत्व

जैन आगम-साहित्य अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम, भगवान महावीर एव उनके शिष्य-प्रशिष्यो के अमूल्य उपदेशो का इसमे सग्रह है, भले ही यह साहित्य अपने मूल रूप मे सुरक्षित न हो। इस साहित्य मे तत्कालीन सामाजिक सास्कृतिक, आर्थिक एव भौगोलिक विषयो के अतिरिक्त कितनी ही ऐतिहासिक एव अर्ध-ऐतिहासिक परपराओ का उल्लेख है, जो अन्यत्र उपलब्ध नही। भारत के प्राचीन इतिहास के सागोपाग ज्ञान के लिए इस सामग्री का विश्लेषण आवश्यक है।

जैन श्रमण चातुर्मास को छोडकर, एक वर्ष मे आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते थे। वृहत्कल्प भाष्य के अध्वप्रकरण के अन्तर्गत जनपद परीक्षा मे उल्लेख है कि श्रमण निर्ग्रंथो को विविध देशी भाषाओ मे कुशल होना चाहिये, जिससे कि वे अपने उपदेशो को अधिक-से-अधिक लोगो तक पहुचा सकें। भाषा के अतिरिक्त उन्हे उन-उन प्रदेशो के रहन-सहन और रीति-रिवाजो का ज्ञान होना भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ लोक ज्ञान के लिए यह जानना जरूरी है कि किस प्रदेश मे किस प्रकार से अन्न उपजाया जाता है जैसे लाट देश मे वर्षा से,

सिंधुदेश मे नदियो से, द्रविड देश मे तालाबो से, उत्तरापथ मे कुओ से, और डिमरेलक (?) मे महिरावण (?) की बाढ से खेतो की सिंचाई होती है (बृहत्कल्पभाष्य १-१२२९-३९)।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी जैन आगम साहित्य का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। प्राकृत भाषाओ ने कालान्तर मे किस प्रकार अपभ्रंश का रूप लिया और किस प्रकार उन्होने हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक आर्य भाषाओ को प्रभावित किया, इसकी कल्पना जैन आगम-साहित्य के अध्ययन के बिना नही हो सकती है। इस संबंध मे हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। स्वयं हेमचन्द्र के शब्दो मे "जो शब्द 'सिद्धहैम शब्दानुशासन' व्याकरण मे सिद्ध नहीं किए जा सके, जो संस्कृत के अभिधान कोषो मे मौजूद नही है, तथा गौण लक्षणा शक्ति से जो संभव है, उन शब्दो का संग्रह इन देशी शब्दो मे नही किया गया। उन्ही शब्दो का यहा संग्रह है जो महाराष्ट्र, विदर्भ और आभीर आदि देशो मे प्रसिद्ध है। किन्तु इस प्रकार के शब्दो की संख्या का अन्त नही, अतएव जीवन भर मे भी इन शब्दो का संग्रह कर सकना संभव नही। ऐसी दशा मे अनादिकाल से प्रचलित प्राकृत भाषा के विशेष शब्दो का ही यहा संकलन किया गया है।" इसमे संदेह नही कि हेमचन्द्र द्वारा किया हुआ यह संग्रह देशी शब्दो का अनुपम संग्रह है जो प्राकृत, अपभ्रंश एवं उत्तर भारत मे बोली जाने वाली आधुनिक भारतीय भाषाओ के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए परम उपयोगी है।

भाषा की अनेकरूपता

भाषा के संबंध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवान महावीर ने जिस मागधी भाषा मे अपना प्रवचन दिया था, उसका सही रूप जानने के हमारे पास साधन नही हैं। फिर, आगे चलकर पाटलिपुत्र, मथुरा और वलभि मे जो समय-समय पर आगमो की वाचनायें प्रस्तुत की गई, उनमे उन-उन प्रदेशो की बोलियो का प्रभाव आ जाना स्वाभाविक है। हम देखते है कि व्याकरण के प्रयोगो मे भी जैन आगमो मे एकरूपता दिखाई नही देती। कही यश्रुति मिलती है, कही नही मिलती, कही उसके स्थान मे 'इ' का प्रयोग किया गया है। वररुचि आदि वैयाकरण यश्रुति को स्वीकार नही करते, हेमचन्द्र करते है, लेकिन उन्होने भी अपवादो की ओर लक्ष्य किया है। 'ण' और 'न' के प्रयोग के संबंध मे भी एकरूपता नही। वररुचि ने सर्वत्र 'ण' के प्रयोग को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र के अनुसार स्वर के पश्चात् असंयुक्त और आदि मे न आने वाला 'न' 'ण' मे परिवर्तित हो जाता है, जबकि आर्ष प्राकृत मे यह नियम लागू नही होता। आदि मे आने वाले

असयुक्त 'न' के सबध मे वैकल्पिक नियम है कभी वह 'ण' मे परिवर्तित होता है, कभी नही (प्राकृत व्याकरण, ११२२८।१९)।[1] यही बात 'हु-खु' तथा 'अपि पि-वि-मि-अवि, आदि के प्रयोगो के सबध मे है। प्राकृत वैयाकरणो ने व्याकरण के नियम बनाते समय जगह-जगह 'प्राय' 'बहुल' 'क्वचित्', 'वा' आदि शब्दो का प्रयोग किया है। आगम-साहित्य मे कही महावीर के स्थान पर मवावीर, और देवेहिं के स्थान पर देवेभिं आदि का प्रयोग हुआ है।

प्रकाशित आगम-साहित्य मे ही नही, उनकी मूल प्रतियो मे भी भाषा की विविध रूपता देखने मे आती हे। मुनि पुण्यविजय जी ने भगवती सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो (क) वि० स० १११० की प्रति, (ख-ग) १३वी सदी की जैसलमेर की दो ताडपत्रीय प्रतिया, (घ) १३वी सदी की खंभात की प्रति (ङ) १३वी सदी की बडौदा की प्रति-- का उल्लेख किया है जिनमे भाषा की दृष्टि से विविध प्रयोग पाये जाते है।[2]

कहना न होगा कि भगवान महावीर तथा समय-समय पर होनेवाली अनेक वाचनाओ मे दीर्घकालीन व्यवधान पड जाने के कारण, मूल परम्पराओ के विस्मृत हो जाने से आगमो मे बहुत से परिवर्तन एव सशोधन करने पडे। अनेक स्थलो पर सूत्रो मे विसवाद उपस्थित होने के कारण स्वय नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरि ने अपनी अल्पज्ञता की ओर लक्ष्य किया है (देखिये, स्थानागटीका, पृ० ४९९-५०० प्रश्न व्याकरण टीका, प्रस्तावना)। इसी प्रकार आचार्य मलयगिरि ने वाचनाभेद तथा सूत्रो के गलित हो जाने की ओर लक्ष्य करते हुए सूत्रो के अर्थ को 'सम्यक् सप्रदाय' के द्वारा जानने और समझने की सिफारिश की है।[3]

हस्तलिखित प्रतियो की नकल करने वाले लेखक और सपादक भी कम दोषी नही। जहाँ कोई पाठ उनकी समझ मे न आया अथवा उन्हे अनुकूल दिखाई न पडा तो उन्होने उसमे मन-माना परिवर्तन कर दिया। इस सबध मे प्रोफेसर आल्सडोर्फ लिखते है स्वर्गीय प्रोफेसर लॉयमान के कागजो मे मुझे एक पुरजा मिला, जिस पर उन्होने विशेषावश्यक भाष्य के पाठ एकत्र किये थे। पाठ मे बार-बार अद्यतनभूत (Aorist) का प्रयोग किया गया था, किन्तु लेखक ने उसकी जगह निश्चयार्थ सूचक वर्तमान काल लिखना पसद किया। यह केवल एक उदाहरण है जबकि हस्तलिखित प्रतियो की नकल करने वालो ने व्याकरण के असामान्य प्रयोगो को निकाल दिया। हमे उसी से सतोप करना होगा कि जो थोडा बहुत उन्होने छोड दिया है।[4]

आगम ग्रन्थों की शैली

पालि त्रिपिटक की भाँति जैन आगम ग्रन्थो की शैली भी मन्दगति से अग्रसर

होती है। किसी घटना का वर्णन पढ़कर ऐसा लगता है कि सामने खड़ा हुआ कोई व्यक्ति स्वाभाविकता, सरलता एवं बोधगम्यता के साथ अपनी बात सुना रहा है। हाँ, बीच-बीच में कथा को गंभीर रूप देने और उसे रोचक बनाने के लिए वर्णकों का समावेश कर लिया जाता है। ये वर्णक प्राय बंधे-बंधाये रूप में एक जैसे होते हैं, जिनका प्रयोग सर्वमान्य रूप में किया जाता है। उदाहरण के लिए जो बातें चंपा नगरी के वर्णन-प्रसग में औपपातिक सूत्र में वर्णित हैं, वे ही साकेत के संबंध में अन्यत्र समझ लेनी चाहिए। बौद्ध सूत्रों में 'पेय्याल' (पातु अल) की भाँति यह वर्णन प्राय 'जहा वण्णओ ' शब्दों से सूचित किया जाता है। आगम-साहित्य में इस प्रकार के वर्णन राजा, नगर, चैत्य, साधु-संतों का आगमन, पुत्र-जन्म-उत्सव, प्रीतिदान, निष्क्रमण-सत्कार आदि के प्रसंग उपस्थित होने पर जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं।

इस प्रकार के वर्णन केवल जैन आगम-साहित्य में ही नहीं, प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। १४वीं शताब्दी के मिथिला निवासी ज्योतिरीश्वर के वर्ण रत्नाकर में राजाओं के भाट, आखेट, रणभूमि के लिये प्रस्थान, दूतियों, देश-देशान्तर की तरुणियों तथा नारियों के आभूषण आदि के मनोरंजक वर्णन मिलते हैं। डॉ० बी० जे० सडेसरा द्वारा सम्पादित वर्णक-समुच्चय इस प्रकार की दूसरी महत्वकी रचना है, जिसमें नगर, हाथी, सर्प, समुद्र आदि के वर्णन उपलब्ध होते हैं।

आगमों के विशिष्ट शब्द

यहाँ आगम और उनकी व्याख्याओं में सन्निहित प्राकृत के कतिपय विशिष्ट शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, यह अध्ययन जैन आगम-साहित्य के अनुशीलन में प्रेरणादायक सिद्ध होगा।

१ शैलीगत शब्दावलि :

जैन आगमों की शैली के संबंध में कहा जा चुका है। भगवतीसूत्र, नायाधम्म-कहा आदि आगमों में सर्वमान्य रूप में प्रयुक्त निम्न शब्दावलि आगम-साहित्य की विशिष्ट शैली की ओर संकेत करती है

१ कालमासे काल किच्चा (मृत्यु आने पर काल करके)।

२ तहमेयं अवितहमेयं असंदिद्धमेयं इच्छियमेयं पडिच्छियमेयं इच्छिय-पडिच्छियमेयं सच्चे ण एसमट्ठे 'ज तुब्भे वयह (यह बात तथारूप है, अवितथ है, असंदिग्ध है, इष्ट है, विशिष्ट है, इष्ट-विशिष्ट है और सत्य है, जो आपने कही है)।

३ पडिवुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठा चित्तमाणदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया धाराहयकलव पुप्फग पिव समूससिय रोमकूवा (उठ कर वह हर्षित हुई, सतुष्ट हुई, मन मे आनदित हुई, प्रसन्न हुई, परम सौमनस्य-भाव प्राप्त किया, हर्ष के कारण फूली न समाई और वर्षा की धारा से जैसे कदम का पुष्प खिल जाता है, वैसे ही वह रोमाचित हो उठी)।

४ एय सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जेणामेव समणे भगव महावीरे तेणामेव उवागच्छइ २ समण भगव तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ वदेइ नमसइ २ समणस्स भगवओ नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमसमाणे पजलिउडे अभिमुहे विणएण पज्जुवासइ (वह श्रवण कर, सुनकर, वह हर्षित हुआ, सतुष्ट हुआ और जहाँ श्रमण भगवान महावीर विराजते थे, वहा पहुचा। वहाँ पहुच कर श्रमण भगवान की तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, उन्हे वदन किया, नमन किया। नमन करने के पश्चात् श्रमण भगवान के न बहुत निकट और न बहुत दूर उनकी सुश्रूषा करता हुआ, उन्हे नमन करता हुआ, सामने की ओर दोनो हाथ जोडकर विनयपूर्वक उनकी पर्युपासना मे लीन हो गया)।

५ अम्हे एगे पुत्ते इट्ठे कते पिए मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भडकरडगकसमाणे रयणे रयणभूए जीवियउस्सासए हिययाणदजणणे उवरपुप्फ पिव दुल्लहे सवणयाए किमग पुण पासणयाए ? (तुम मेरे इकलौते बेटे हो इष्ट हो, कमनीय हो, प्रिय हो, मनोज्ञ हो, मन को अच्छे लगते हो, स्थिर हो, विश्वसनीय हो, सम्मत हो, बहुमत हो, अनुमत हो, रत्नो की पिटारी के समान हो, रत्न हो, रत्न स्वरूप हो, जीवन के उच्छ्वास रूप हो, हृदय मे आनन्द पैदा करने वाले हो और उदुबर पुष्प की भाँति हो जिसका सुनना भी दुर्लभ है, देखने की बात तो दूर रही) ?

६ आसुरुत्ते तिवलिय भिउडि निडाले कट्टु (क्रोध से लाल-पीला होकर अपनी तीन बलवाली भृकुटि को मस्तक पर चढाकर)।

७ मिसिमिसायमाणा (क्रोध से दात पीसकर)।

८ निप्पट्ठपसिणवागरण (निष्पृष्टप्रश्न व्याकरण = निरुत्तर)।

९ जाणुकोप्परमाया (केवल घोटू और कोहनी की माता = वध्या)।

१० गिरिकदरमल्लीणेव चपग पायवे सुहसुहेण वड्ढइ (पर्वत की कन्दरा मे सुरक्षित चपक लता की भाति वह सुखपूर्वक बडा होने लगा)।

११ मारामुक्के विव काए (वधस्थान से मुक्त कौए की भाति।

२ समानधर्मी विशिष्ट शब्द सूची

१ ग्राम आदि वाचक शब्दावलि, ग्राम नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट,

मडब, द्रोणमुख, पत्तन (अथवा पट्टन) पुटभेदन, आकर, आश्रम, निवेश (अथवा सनिवेश), विहार, सबाध (अथवा सवाह)।

२ वन आदि वाचक शब्दावलि वन, वनखड, वनराजि, कानन, आराम, उज्जाण (उद्यान) निज्जाण (निर्याण)।

३ वापी आदि वाचक शब्दावलि वापी, पुष्करिणी, सर, सरपक्ति, सरसरपक्ति, अवट (अथवा अवड), तडाग, द्रह (अथवा ह्रद), दीर्घिका, गुजालिया।

४ पर्वत आदि वाचक शब्दावलि टक, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, लयर्न, उज्झर, निज्झर, (निर्झर) पज्झर (प्रक्षर) वप्पिण।

५ भवन आदि वाचक शब्दावलि अट्टालिका, चरिका, गोपुर, प्रासाद, गृह (शीतगृह भी), शरण, द्वार, तोरण, परिधि, इन्द्रकील।

६ मार्ग आदि वाचक शब्दावलि शृगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, पथ, महापथ, शकट, रथ, पाया, युग्म (जुग्ग), गिल्ली, थिल्ली, शिविका स्पन्दमानी।

७ आपण-शाला आदि वाचक शब्दावलि कुत्रिकापण' कुभकारशाला पणितशाला, भाण्डशाला, कर्मशाला, पचनशाला, इधनशाला, व्याधरणशाला, कम्मतसाला, कोट्ठागार (कोष्ठागार), भडागार (भाडागार), पाणागार (पानागार) खीरघर (क्षीरगृह) घघसाला, गजसाला (गजशाला), महाणससाला (महानसशाला), चक्कियासाला (चक्रिकशाला), वोहिय साला (वोधित शाला), दोसिय साला (दौस्यिक शाला), सोत्तिय साला (सौत्रिक शाला), गधिय साला (गाधिक शाला), सौंडिय साला (शौंडिक शाला)।

८ नट आदि वाचक शब्दावलि नट, नर्त्तक, जल, मल, मौष्टिक, विडवक, कथक, प्लवग, लासक, आख्यापक, लख, मर्ख, तूणइल्ल (तूणावत्) तुववीणिक, तालाचर।

९ राजा आदि वाचक शब्दावलि राजा, पाच प्रधान पुरुष राजा, युवराज अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित ईश्वर, गणनायक, दडनायक, तलवर, माडविय (माडविक), कौटुविक, मन्त्री, महामन्त्री, गणक, अमात्य, चेट, इभ्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सेनापति, सार्थवाह, पीठमर्द, दूत, सधिपाल, कचुकी, वर्षधर, महत्तर, दडधर, दडारक्षित, दौवारिक।

३ प्राकृत साहित्य के मनोरजक शब्द

१ ण्हाविय यदि सस्कृत रूपातर किया जाए तो स्नापित होना चाहिए, लेकिन सस्कृत कोशो मे नापित (अर्थात् वाल काटने वाला नाई) किया गया है (मराठी मे नावी इसी अर्थ मे)। ण्हाविय का शब्दार्थ होता है स्नान करानेवाला।

विपाक सूत्र (६) मे उसे अलकारिक भी कहा है, अर्थात् जो स्नान आदि कराकर वस्त्राभूषण से अलकृत करे। मथुरा के राजा के चित्त नामक अलकारिक को सर्वत्र अन्त पुर तक मे आने-जाने की छूट थी। ज्ञाताधर्मकथा में (१३) अलकारिक सभा (वाल काटने के 'सलून') का उल्लेख है जहाँ वेतनभोगी अनेक नौकर-चाकर श्रमण, अनाथ, रुग्ण और कगाल पुरुषो का अलकार-कर्म करते थे।

२ गणिका का अर्थ है जो गणो के द्वारा भोग्य हो। वसुदेवहिंडि (१०३, १२-२४) मे उल्लेख है. सामन्त राजाओ ने कुछ कन्याये चक्रवर्ती राजा भरत को उपहार मे दी। वे छत्र और चमरधारी सखियो के साथ राजा भरत की सेवा-सुश्रूषा मे रहने लगी। अपनी रानी के कहने से भरत ने उन्हे गणो को प्रदान कर दी।[१] भगवान बुद्ध को भोजन के लिये निमन्त्रित करने वाली सुप्रसिद्ध अबापाली वैशाली के गणराजाओ द्वारा भोग्य थी। किन्तु जान पडता है कि आगे चलकर गणिका का मूल अर्थ बदल गया। वात्स्यायन ने कामसूत्र मे गणिकाओ को वेश्याओ का एक उपभेद माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (विवेक, पृ० ४१८) मे अपनी कला की प्रगल्भता और धूर्तता मे कुशल स्त्री को गणिका कहा है (कलाप्रागल्भ्यधौर्त्याभ्या गणयति कलयति गणिका")।

३ वेस्सा (वृहत्कल्प भाष्य ६२५९) = द्वेष्या, लेकिन कालान्तर मे यह शब्द वेश्या के अर्थ मे रूढ हो गया। पाइअसद्दमहाण्णवो मे विशेषावश्यक का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए वेस्सा का अर्थ पण्यागना या गणिका किया गया है।

४ छिन्नाला (हिन्दी मे छिनाल, कुलटा)। वृहत्कल्प भाष्य (२३१५) के टीकाकार ने छिन्नाला का अर्थ किया है छिन्ना नाम ये ऽगम्यगमनाद्यपराध कारित्वेन च्छिन्न हस्तपाद। नासादय कृता, अर्थात् अगम्य गमन का अपराध करने के कारण जिसके हाथ, पैर और नासिका आदि को छिन्न कर दिया गया है। पाइअसद्दमहण्णवो मे छिण्णालिआ अथवा छिण्णाली शब्द को देशी बताया गया है।

५ मेहुणिअ (वृ० भा० २८२२), मेहुणिआ (निशीथ भा० ५७७५)। मेहुणिअ अर्थात् भानजा (मराठी मे मेहुणा वहनोई या साले के अर्थ मे प्रयुक्त) और मेहुणिआ अर्थात् मामा या वुआ की लडकी या साली (मराठी मे भी यही)। मेहुण का सस्कृत रूप मैथुन होता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मेहुणिअ और मेहुणिआ का परस्पर विवाह सवध हो सकता था वे मैथुनगम्य थे। मामा की लडकी से विवाह करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्वय महावीर का विवाह उनकी भानजी से हुआ था। इस प्रकार का विवाह लाट देश और दक्षिणापथ मे विहित तथा उत्तरापथ मे निषिद्ध समझा जाता था (आवश्यक चूर्णी २, पृ० ८१)। वोधायन मे इस प्रकार के विवाह का उल्लेख है। कुमारिल भट्ट ने दाक्षिणात्यो के मामा-भानजी के विवाह का उपहास किया है (एच० सी० चकलदार, सोशल

लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया, स्टडीज इन वात्स्यायन'स कामसूत्र, पृ० १३३)। निशीथ चूर्णी (पीठिका, पृ० ५१) मे अपनी बुआ अथवा मौसी की कन्या के साथ विवाह किये जाने का उल्लेख है। पाइअसद्दमहण्णवो मे उक्त दोनो शब्दो को देशी बताया गया है।

६ भोयडा— (निशीथ भा० १२६)। जिसे लाट देश मे कच्छ कहा जाता था, उसे महाराष्ट्र मे भोयडा कहते थे। महाराष्ट्र की कन्याये इस वस्त्र को बचपन से पहनती थी और विवाह होने तक पहने रहती थी। उसके बाद गर्भवती होने पर सगे-सबधियो को भोज दिया जाता और उत्सव समाप्त होने के पश्चात् इस वस्त्र को निकाल दिया जाता। इस तरह का या इससे मिलता-जुलता रिवाज आज भी महाराष्ट्र मे प्रचलित है या नही, इसकी खोज की जानी चाहिये।

७ कुत्तियावण (बृ० भा० ३४२१४-२२, भगवतीसूत्र और नायाधम्मकहा मे भी) का सस्कृत रूप कुत्रिकापण मानकर आचार्य मलयगिरि ने इस शब्द की बडी विचित्र व्याख्या प्रस्तुत की है कु इति पृथिव्या सज्ञा, तस्या त्रिक कुत्रिक स्वर्गमर्त्यपाताललक्षण तस्यापण हट्ट। पृथिवीत्रये यत् किमपि चेतनमचेतन वा द्रव्य सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षम विद्यते तत् आपणे न नास्ति (देखिये आवश्यक टीका भी, पृ० ४१३ अ) अर्थात् जहा स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक मे मनुष्य के उपभोग्य चेतन व अचेतन कोई भी वस्तु मिल सकती हो (आजकल का 'जनरल स्टोर', पालि मे अन्तरापण)। उज्जैनी, राजगृह और तोसलिनगर मे कुत्तियावण होने का उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि भूत-प्रेत भी इन दुकानो पर सुलभ थे। भृगुकच्छ का कोई वैश्य उज्जैनी की दुकान से एक भूत खरीद कर ले गया, जिसके द्वारा भूततडाग नामक तालाब बनाये जाने का उल्लेख है। तोसलि देश के किसी वणिक् ने ऋषिपाल नामक व्यतर खरीदा, जिसने इसितडाग (ऋषि तडाग) तालाब का निर्माण किया। इसितडाग का उल्लेख खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख मे पाया जाता है। यदि कुत्तियावण के स्थान पर कोत्तियावण पाठ रक्खा जाय तो उसका अर्थ कौतुकिकशाला, यानी जहा कुतूहल पैदा करने वाली चीजे मिलती हो, किया जा सकता है।

८ माहण (ब्राह्मण)। माहण शब्द की व्युत्पत्ति भी कुछ विचित्र ही लगती है। कहते हैं कि भरत के राज्य काल मे श्रावक धर्म उत्पन्न होने पर ब्राह्मणो की उत्पत्ति हुई। राजा भरत ने उन्हे जीवो को हनन न करने की प्रतिज्ञा दिलवाई (मा हणह जीवे) तब से ये लोग माहण कहे जाने लगे (देखिये वसुदेव हिंडि, १८४, २३, आचाराग चूर्णी, पृ० ५, आवश्यक चूर्णी, पृ० २१३ आदि)। इसी प्रकार द्विजाति शब्द से धिज्जाइ (=धिक् जाति) बना लिया गया मालूम देता है। जिनेश्वर सूरि कृत कथा कोष प्रकरण मे ब्राह्मण के लिये डोड्डु शब्द का प्रयोग हुआ है। कन्नड मे दोड्डु आचार्य का अर्थ शेखी बघारनेवाला होता है।

'धिज्जाइ' की भांति बहुत करके इस शब्द का प्रयोग भी ब्राह्मणो के उपहास के लिये किया गया जान पडता है।

९. **अगोहलि** (आकठ स्नान) अग + होल के सयोग से बना है। कन्नड मे होल का अर्थ धोना होता है। मराठी मे आघोल शब्द स्नान के अर्थ मे प्रचलित है। आवश्यक चूर्णी, व्यवहार भाष्य टीका आदि मे इसका उल्लेख है।

१० तक्क (बृ० भा० १७०९)। सस्कृत मे तक्र। प्राकृत मे उदसी (बृ० भा० ५९०४) भी। छास रूप मे भी उल्लेख है, जो खानदेश मे बोली जाने वाली अहिराणी (अहीरो की भाषा) मे आज भी प्रचलित है।

११ **जल्ल और मल** (निशीथ भाष्य ५३४)। जल्ल का अर्थ शरीर का मैल होता है। दोनो मे अन्तर यही है कि जल्ल मे गीलापन रहता है जब कि मल हाथ आदि से रगड कर निकाला जाता है और फूक मारने से उड जाता है।

१२ उज्जल्ल (बृ० भा० २४५७) अर्थात् विशेष मलिन (उत् = प्राबल्येन मलिन), लेकिन हिन्दी मे उज्वल शब्द का अर्थ उज्वल हो गया है, जैसे सस्कृत के भद्रक शब्द से भद्दा उल्टे अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

१३ तुप्प (नि० भा० २०१) अर्थात् मृत शरीर की चर्बी। मराठी मे तूप का अर्थ घी और कन्नड मे तेल होता है। किस प्रकार परिस्थितियो के अनुसार शब्दो के अर्थ मे फेरफार हो जाता है ? यह अध्ययन का विषय है।

१४ **उत्तरोट्ठरोम** (निशीथ सूत्र ३५६), सस्कृत मे उत्तरौष्ठरोम = ऊपर के ओठ के बाल = मूछ।

१५ **वेणुसुइय** (नि० सूत्र) अर्थात् बास की बनी सूई। इससे जान पडता है कि उस समय लोहे की सूई प्रचलित नही थी।

१५ **माउग्गाम** (बृ० भा० २०९६, निशीथ सूत्र मे भी) अर्थात् स्त्री-समूह। मराठी मे स्त्री के अर्थ मे प्रयुक्त, भोजपुरी मे मउगी।

१६ **टिंट** (टिंटा अथवा टेंटा)। टिंटघर का अर्थ द्यूतगृह होता है। भविसत्त कहा, सुपासनाहचरिअ आदि मे इसका उल्लेख है (देखिये पाइअसद्दमहण्णवो) कर्पूरमजरी मे टेंटा का अर्थ द्यूतगृह किया गया है। ज्ञानेश्वरी के १८वे अध्याय मे टिंटघर का प्रयोग हुआ है किन्तु टीकाकार ने उसका सही अर्थ नही किया। टिंट या टेंटा की हिन्दी के टटा (झगडा) शब्द के साथ तुलना की जा सकती है।

१७ **घोडयकडुइय** (व्यवहार भा० ४१०५) का अर्थ है दो साधुओ का परस्पर प्रश्नोत्तर, सभवत जैसे दो घोडे मिलकर आपस मे खुजलाते हैं।

१८ **खट्टामल्ल** (बृ० भा० २६२३-२५) अर्थात् सौ वर्ष का बूढा जो बीमारी के कारण खाट पर से उठने मे असमर्थ हो। खासने और थूकने मे भी उसे कष्ट होता है। वह पूआ खाते समय केवल चबचब शब्द करता है, खा नही सकता, इसलिये उसे पूवलिया खाओ (पूयलिका खादक) भी कहा गया है।

१९ अगठिम (बृ० भा० ३०९३) अर्थात् जिसमे गाठ न हो = केला।

२० उल्लुगच्छी (नि० भा० ३६८६), जो उल्लू की आख के समान हो = सूई की नोक।

२१ खलहाण (नि० भा० ३१८०) = खलिहान।

२२ झझड़िया (नि० भा० ३७०४) = ऋण न चुका सकने पर वणिको मे परस्पर होने वाला गाली गलौज।

२३ डगलक (बृ० भा० ४ ४०९६) = शौच जाते समय टट्टी पोछने के लिये जैन साधुओ द्वारा उपयोग मे लाये जाने वाले मिट्टी आदि के ढेले।

२४ दद्दर (पिंड नि० ३६४) = जीना, मराठी और गुजराती मे दादर।

२५ दीहसुत्त करेइ (नि० सूत्र ५ २४) = कातता है (सूत को बटाता है)।

२६ दुस्सिय (बृ० भा० ३२८१) = दौष्पिक—वस्त्र बेचने वाला। गुजरात व महाराष्ट्र मे दोशी, हिन्दी मे धुस्सा। सुदसणाचरिय मे दोसियहट्ट (वस्त्र की दुकान) का उल्लेख है।

२७ वट्टखुर (बृ० भा० ३७४७) = गोल खुर वाला = घोडा।

२८ सुगेही (बृ० भा० ३२५२)—अच्छे घर वाली, बया के अर्थ मे रूढ।

२९ इड्डर (ओघ निर्युक्ति ४७६) = गाडी।

३० उक्कुरड (बृ० भा० १९२५)—कचरे का ढेर, हिन्दी मे कूरडी, गुजराती मे उकरडी।

३१ कट्टर (पिंड नि० ६२५) = कढी मे डाला हुआ घी का वडा।

३२ कडुहड पोट्टलिक (व्य० भा० ६ ८) = गले मे दारुण कुरूप पोटली वाला काला बकरा।

३३ दोद्धिअ (व्य० भा० १० ४६४) = लौकी, मराठी मे दूधी।

३४ वप्प (नि० चूर्णी ३१८७) = बाप। कतिपय सस्कृत के पडितो ने इसे वप् (बोना) धातु से सिद्ध करने की चेष्टा की है।

३५ वठ (ओघनिर्युक्ति २१८) = अविवाहित, गुजराती मे वाढो।

३६ सीताजन्न (बृ० भा० १ ३६४७) = सीतायज्ञ, हलदेवता के सम्मान मे किया जाने वाला उत्सव।

४ प्राकृत के कुछ शब्द जिनकी परम्परा विनष्ट हो गई है और अर्थ मे खीचा तानी करनी पडी है।

(१) **भिंभिसार**। जैन ग्रथो मे श्रेणिक (बौद्ध ग्रथो मे सेनिय अथवा बिंबिसार) को भिंभिसार (तुलनीय बिंबिसार से), भिंभिसार अथवा भंभसार भी कहा गया है। कहा जाता है कि कुशाग्रपुर (राजगृह) के महल मे आग लग जाने पर जल्दी-जल्दी मे कोई राजकुमार हाथी, कोई घोडा और कोई मणि-मुक्ता

लेकर भागा, श्रेणिक एक भभा (एक वाद्य) लेकर चले। तभी से उनका नाम भभसार पड गया (आवश्यक चूर्णी, २, पृ० १५८)। आचार्य हेमचन्द्र ने यही व्युत्पत्ति स्वीकार की है। बौद्ध ग्रथो मे बिंबिसार का अर्थ सुनहरे (बिंबि) वर्ण वाला किया गया है)।

२ **कूणिक** जैन ग्रथो मे कूणिक (अजातशत्रु बौद्ध ग्रथो मे) को अशोकचन्द्र, वज्जिविदेहपुत्त अथवा विदेहपुत्त भी कहा है। जान पडता है कि इस शब्द की व्याख्या करते हुए भी जैन आचार्यों को खीचातानी करनी पडी। वज्जि-विदेहपुत्त (भगवती ७ ९) अथवा विदेहपुत्त कहे जाने का कारण स्पष्ट है कि उनकी माता चेल्लणा विदेहवश की थी। बौद्ध सूत्रो मे भी अजातशत्रु को वेदेहिपुत्त कहा गया है। यद्यपि दीघनिकाय के टीकाकार अश्वघोष ने 'वेदेन इहति इति वेदेहि', अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने वाले को वेदेहिपुत्त माना है (अट्ठकथा १, पृ० १३९)।

जैन टीकाकारो की कूणिक और अशोकचन्द्र की व्युत्पत्ति भी इसी तरह हास्यास्पद कही जायेगी। कथन है कि कूणिक के पैदा होने पर उसे नगर के बाहर एक कूडी पर छुडवा दिया गया, जहा किसी मुर्गे की पूछ से उसकी कून उगली मे चोट लग गई। तभी से वह कूणिक कहा जाने लगा। एक दूसरी परपरा के अनुसार कूणिक के जन्म के पश्चात् जिस अशोक वन मे उसे छोड दिया गया था, वह प्रकाशित हो उठा। अतएव कूणिक अशोकचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हो गया (आवश्यक चूर्णी २, पृ० १६६) निरयावलि १, ११ ब, हेमचन्द्र, महावीरचरित उल्लेखनीय है कि उक्त दोनो परपरायें एक ही ग्रथ आवश्यक चूर्णी मे उद्धृत है, जिससे जान पडता है कि चूर्णीकार इस सबध मे स्वय असदिग्ध नही थे। बौद्ध ग्रथो मे कूणिक को अजातशत्रु कहा जाना उसके प्रति विशेष आदर का सूचक प्रतीत होता है।

३ **वज्जी** वज्जी एक जाति अथवा वश का नाम है। बौद्धसूत्रो मे वज्जियो के आठ कुलो का उल्लेख है, जिनमे वैशाली के लिच्छवी और मिथिला के विदेह मुख्य माने गये है। भगवती सूत्र मे वज्जी की गणना १६ जनपदो मे की गई है। वज्जिविदेहपुत्त का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर भी लगता है कि जैन और बौद्ध दोनो ही टीकाकारो के काल मे यह मूल परपरा विस्मृत हो चुकी थी। उपर्युक्त प्रसग पर वज्जी विदेहपुत्त के अन्तर्गत वज्जी शब्द का अर्थ टीकाकार ने इन्द्र किया है वज्रम् अस्य अस्ति (भगवती ७ ९ टीका)। आचार्य हेमचन्द्र ने यही अर्थ स्वीकार किया है। मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा मे भी वज्जी वश की विचित्र व्युत्पत्ति दी हुई है जिससे उपर्युक्त वक्तव्य का समर्थन होता है।

४ **लिच्छवि** (अथवा लेच्छइ) शब्द के सबध मे भी यही हुआ। परपरा के अभाव मे टीकाकारो ने अर्थ का अनर्थ कर डाला। कालिदास के टीकाकार

मल्लिषेण द्वारा उष्ट्र को एक प्रकार का पक्षी (उष्ट्र पक्षीविशेष) बताना, संस्कृत साहित्य मे सुप्रसिद्ध है। टीकाकार शीलांक ने 'लेच्छइ' का अर्थ किया है

लिप्सुक स च वणिगादि (सूत्रकृताग टीका २, १ पृ० २७७ ब), अर्थात् लिप्सायुक्त वणिक् आदि को लिच्छवि कहते है। चूर्णीकार ने इस अर्थ का समर्थन किया है (सूत्रचूर्णी, पृ० ३१५)। पाइअसद्दमहण्णवो मे लिच्छवि का यही अर्थ दिया गया है। मज्झिमनिकाय के अट्ठकथाकार अश्वघोष ने लिच्छवि का सबंध निच्छवि (पारदर्शक) शब्द से जोड दिया है, अर्थात् जो कुछ लिच्छवी लोग खाते थे, वह आरपार दिखाई देता था।

आचाराग (२, ३, ३९९-४००) सूत्र मे महावीर भगवान के वश और कुल आदि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि लिच्छवी वश मे पैदा होने के कारण वे प्रियदर्शी और सुन्दर थे। आश्चर्य है कि फिर भी उत्तरकालीन टीकाकार लिच्छवी वश का अर्थ ही भूल बैठे। ऐसी हालत मे उनके जन्म और निर्वाण स्थान के सबध मे अनेक विसगतियो एव विसवाद का उत्पन्न हो जाना अस्वभाविक नही माना जायेगा।

५ वेसाली—(वैशाली)। वैशाली (बसाढ, जिला मुजफ्फरपुर) भगवान महावीर की जन्मभूमि थी। भगवतीसूत्र (शतक २) मे महावीर की जीवन सबधी चर्चाओ के प्रसग मे महावीर के श्रावको को 'वेसालियसावक' अर्थात् वैशाली-निवासी महावीर के श्रावक कहा गया है। किन्तु टीकाकार अभयदेव ने 'वैशालीय' का अर्थ विशाल गुण सपन्न ('वेसालीए' गुणा अस्य विशाला इति वैशालीया) कर डाला है। सूत्रकृताग मे भी भगवान महावीर को वेसालिय नाम से उल्लिखित किया गया है। लगता है कि इस प्रकार भ्रातियो के कारण ही विशाला नाम से प्रसिद्ध उज्जैनी महावीर का जन्म स्थान मान ली गई।

६ कासव—(काश्यप) भगवान महावीर का गोत्र है। समवायाग (७) मे उल्लिखित सात गोत्रो मे कासव गोत्र सर्वप्रथम है। कल्पसूत्र मे कासवज्जिया नाम की जैन श्रमणो की शाखा का उल्लेख है। फिर भी आश्चर्य है कि टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसका सबध इक्षुरस के साथ कैसे जोड दिया—काश उच्छु तस्य विकार कास्य रस स यस्य पान स काश्यप।

७ **आजीविक** आजीविक सप्रदाय की परपरा भी विस्मृत हो गई थी। सूत्रकृताग के टीकाकार शीलाक असदिग्ध नही थे कि गोशाल के मतानुयायी ही आजीविक हैं, इसलिए उन्हे लिखना पडा—गोशाल-मतानुसारियां आजीविका दिगम्बरा वा (३ ३-८, पृ० ९० ब), अर्थात् वैकल्पिक रूप मे उन्होने दिगबरों को भी आजीविक बताया। निशीथचूर्णी १३-४४२० मे गोशाल के शिष्य अथवा पडरभिक्षुओ को आजीवक कहा है। उल्लेखनीय है कि पाइअसद्दम-हण्णवो मे श्वेताबर सप्रदाय के भिक्षुओ को पडरभिक्षु बताया है, जो ठीक नही।

वस्तुत मखलि गोशाल और उनके सिद्धातो की परंपरा विच्छिन्न हो जाने (या विच्छिन्न कर दिये जाने) के कारण यह सब घोटाला हुआ जान पडता है। चित्रपत्र दिखाकर आजीविका चलाने वाले को मख कहा है (बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २०० आवश्यकचूर्णी, पृ० ९२, २८२), फिर भी अश्वघोष जैसे विद्वान् ने 'मत गिर' (मा खलि) इत्यादि व्युत्पत्ति प्रस्तुत कर अपने को उपहास का ही भाजन बनाया है।

८ **अधगवण्हि** यादववशी एक सुप्रसिद्ध राजा। लेकिन अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की टीका (१८ ३, पृ० ७४५ अ) मे इस शब्द का निम्नलिखित अर्थ किया है अह्रिपा-वृक्षास्तेपा वह्नयस्तदाश्रयत्वेनेत्यह्रिपवह्नयो बादरतेजस्कायिका इत्यर्थ । यहा बादरतेजस्कायिक जीवो को अवगवण्हि बताया गया है लेकिन इस अर्थ के बारे मे पूर्णतया असदिग्ध न होने से टीकाकार दूसरो की मान्यता भी प्रस्तुत करते हैं अन्ये त्वाहु —अधका अप्रकाशका सूक्ष्मनामकर्मोदयाद्ये वह्नयस्ते अधकवह्नयो जीवा , यहा सूक्ष्म अग्निकायिक जीवो को अधकवण्हि कहा है। गुणभद्र ने उत्तरपुराण मे (७० ९४) मे अधगवण्हि को अधकवह्नि रूप मे प्रस्तुत कर अधकवृष्टि के रूप मे उल्लिखित किया है, इससे भी इस विषय मे एकमत न होने का ही समर्थन होता है।

९ **वीतिभय**--सिन्धु-सौवीर की राजधानी मानी गयी है। चम्पा से वीतिभय पहुचकर वीतिभय के राजा उद्रायण को भगवान महावीर द्वारा श्रमण दीक्षा देने का प्रसग भगवतीसूत्र मे उल्लिखित है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने वीतिभय की निम्नलिखित व्याख्या की है विगता ईतयो भयानि च यतस्त-द्वीतिभय, विदर्भ इनि केचित् (भगवती १३ ६), अर्थात् जिस स्थान पर भय की आशका न हो, वह वीतिभय है। अपनी इस व्याख्या से सतुष्ट न होने के कारण आगे चलकर टीकाकार को अन्य किसी आचार्य का मत उद्धृत करना पडा, जिसने विदर्भ को वीतिभय स्वीकार किया है। वस्तुत वीतिभय सिन्धु-सौवीर का मुख्य नगर था अतएव विदर्भ से उसकी पहचान नही की जा सकती।

१० **कुत्तियावण**— की टीकाकारो द्वारा दी हुई व्याख्या ऊपर आ चुकी है। और भी कितने ही शब्द ऐसे है जिन्हे उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु विस्तारभय से ऐसा न कर कुछ गिने-चुने शब्दो से ही सतोष किया जा रहा है।

कर्पूरमजरी के विद्वान् सपादक डॉ० मनमोहन घोष ने अपनी भूमिका मे ठीक ही लिखा है कि प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह जाने से आगे चलकर इसके रूप नियत करने मे काफी कठिनाई का सामना करना पडा। नतीजा यह हुआ कि इतस्तत बिखरे हुए प्राकृत साहित्य को पढ-पढकर ही वैयाकरण अपने सूत्रो को गढने लगे। ऐसी हालत मे प्राकृत व्याकरण सबधी जो विवेचन उन्होने प्रस्तुत

किया, उसका अस्पष्ट और अपूर्ण रह जाना स्वाभाविक था। वस्तुत जिस साहित्य का विश्लेषण कर वे लोग व्याकरण के सूत्रो की रचना कर रहे थे, वह सर्वथा भिन्न काल का साहित्य था।

ऐसी दशा मे जैन आगम साहित्य के मूल रूप का निर्धारित करना कठिन ही नही, असभव जान पडता है। फिर भी इतना तो किया ही जा सकता है कि प्रामाणिक मूल प्रतियो की सहायता से जैन आगमो और उनकी प्राचीन टीकाओ के समालोचनात्मक (क्रिटिकल) सस्करण प्रकाशित किये जाये। इस दिशा मे भगवान महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष मे जैन विश्वभारती, लाडनू द्वारा आगम-ग्रन्थो का प्रकाशन एक स्तुत्य प्रयत्न है। आगम ग्रन्थो का पालि त्रिपिटक के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, इससे आगमो का विषय अधिक स्पष्ट हो सकेगा और विषय की पूर्वापर ऐतिहासिक दृष्टि हमारे समक्ष आ सकेगी। आगमो के प्रत्येक आगम का पृथक् रूप से समय-निर्धारण की भी बहुत आवश्यकता है। यह कार्य आगमो मे उल्लिखित विषयवस्तु के विश्लेषणात्मक अध्ययन से सभव हो सकता है। जरूरत इस बात की है कि आगम-साहित्य को देश-विदेश मे उपादेय बनाने के लिये तुलनात्मक व्यापक दृष्टि से उनका अध्ययन और चितन किया जाये।

हरगोविन्ददास सेठ के हम अत्यन्त आभारी है जिन्होने प्राकृत की अनेक हस्तलिखित प्रतियो का अध्ययन कर ई० १९२८ मे पाइअसद्दमहण्णवो जैसा महत्त्वपूर्ण कोष प्रकाशित किया। किन्तु क्या पिछले ४८ वर्षों मे इस दिशा मे हमने कुछ प्रगति की है? १९६३ मे प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी की ओर से इसका कायाकल्प किया गया, किन्तु मुनिराज श्री पुण्यविजयजी द्वारा सूचित कतिपय शब्दो को छोडकर उसे ज्यो का त्यो छाप दिया गया। कहने की आवश्यकता नही कि प्राकृत के कितने ही महत्त्वपूर्ण शब्दो का इस कोष मे समावेश नही है।

आगमो के अन्तर्गत छेदसूत्रो के भाष्य एव चूर्णी-साहित्य मे कितनी सामाजिक एव सास्कृतिक सामग्री भरी पडी है, यह कहने की आवश्यकता नही। जैनकथा साहित्य तो इस प्रकार की सामग्री का अनुपम भडार है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह समस्त साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषाविज्ञान के पडितो का लक्ष्य इस ओर अभी तक नही पहुचा है। दिगम्बरो के प्राचीन ग्रन्थ भगवती आराधना, मूलाचार आदि के तुलनात्मक अध्ययन की भी कुछ कम आवश्यकता नही। इस अध्ययन मे दिगबर-श्वेताबर परपरा के मतभेद की गुत्थियो पर प्रकाश पड सकेगा। भारत के स्वतत्र होने के पश्चात् भारतीय विद्या के क्षेत्र मे जो महत्त्वपूर्ण खोजबीन हुई है, उसका पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है।

शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्यांकन

पं० हीरालाल सिद्धान्ताचार्य

आचार्य हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री प्राकृत से विभिन्नता वतलाते हुए शौरसेनी प्राकृत की विशेषताओं का कुछ वर्णन अपने प्राकृत व्याकरण में किया है। परन्तु यह नाम कैसे पड़ा, इसका कुछ उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। षड्भाषाचन्द्रिकाकार ने उसका स्वरूप इस प्रकार वतलाया है

'शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते'

अर्थात् शूरसेन देश में उत्पन्न हुई भाषा शौरसेनी कही जाती है। यह शूरसेन देश कौन सा है? यह विचारणीय है। पन्नवणासूत्र के

"सात्तियमइया चेदी वीतभय सिन्धुसोवीरा।
महुरा य सूरसेणा पावा भगीय मास पुरिवट्टा॥"

इसकी टीका करते हुए आचार्य मलयगिरि सूरसेन देश की राजधानी पावा वतलाते हैं। यथा--

"चेदिषु शुक्तिकावती, वीतभय सिन्धुषु, सौवीरेषु मथुरा, सूरसेनेषु पावा, भगिषु मास पुरिवट्टा"।

इस उल्लेख के अनुसार सूरसेन की राजधानी पावा वतलाकर वे विहार प्रान्त के अन्तर्गत सूरसेन देश का होना मानते हैं। किन्तु नेमिचन्द्र सूरि ने अपने प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ में पन्नवणासूत्र के उक्त पाठ को अविकल रूप से उद्धृत किया है और उसकी टीका में श्री सिद्धसेन सूरि ने मलयगिरि की उक्त व्याख्या को 'अतिव्यवहृत' कहकर उक्त पाठ की व्याख्या इस प्रकार की है

"शुक्तिमती नगरी चेदयो देश, वीतभय नगर सिन्धुसौवीरा जनपद, मथुरा नगरी सूरसेनाख्यो देश, पापा नगरी भङ्कयो देश, मासपुरी नगरी वर्तोदेश"।

इसमें स्पष्ट रूप से मथुरा नगरी को सूरसेन देश की राजधानी वताया गया है। इससे यह सिद्ध है कि मथुरा के समीपवर्ती देश को शूरसेन या सूरसेन देश कहा जाता था।

भ० अरिष्टनेमिके पूर्वजो मे शूरसेन राजा हुए हैं, वे शौर्यपुर नगर के स्वामी थे। यथा।

अवार्य निज शौर्येण निर्जिताशेपविद्विप ।
ख्यातशौर्यपुराधीशसूरसेनमहीपते ॥ ९३ ॥
सुतस्य शूरवीरस्य धारिण्याश्च तनूद्भवौ ।
विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिर्नरादिवाक् ॥ ९४ ॥
धर्मा वान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च तुग्वरा ।
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तत स्तिमितसागर ॥ ९५ ॥
हिमवान् विजयो विद्वानचलो धारणाह्वय ।
पूरण पूरितार्थीच्छो नवमोऽप्यभिनन्दन ॥ ९६ ॥
वसुदेवोऽन्तिमश्चैव दशाभूवन् शशिप्रभा ।
कुन्ती माद्री च सोमेवा सुते प्रादुर्वभूवतु ॥ ९७ ॥

(उत्तर पुराण, पर्व ७०)

अर्थात् राजा सूरसेन के शूरवीर पुत्र के दो पुत्र हुए—अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि। अन्धकवृष्टि के १ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान्, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिनन्दन और १० वसुदेव, ये दश पुत्र हुए।

आज भी शौर्यपुर नगर सौरीपुर वटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है और जो मथुरा के समीप ही है। इस उल्लेख से यह वात सिद्ध है कि मथुरा के आस-पास का प्रदेश शूरसेन नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा शौरसेनी कहलाती थी। उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्ती काल तक पहुचती है।

शौरसेनी भाषा की कुछ विशेषताए आ० हेमचन्द्र ने इस प्रकार वतलाई है—

१ (तो दो ४,२६०) त के स्थान पर द, यथा तत तदो, पूरित पूरिदो, मारुति मारुदि आदि।

२ (अध क्वचित् ४,२६१) महान्त महन्दो, निश्चिन्त णिच्चिन्दो, अन्त पुरम् अन्देउर आदि।

३ (वादेस्तावति ४,२६२) तावत् ताव, दाव।

४ (मो वा ४, २६४) भो राजन् भो राय, विजयवर्मन् विजयवम्म आदि।

५ (भवद् भगवतो ४,२६५) भवान् भव, भगव, भयव आदि।

६ (न वा र्यो य्य ४,२६६) आर्यपुत्त अय्यउत्त, पक्षे अज्जपुत्त आदि।

७ (थो ध ४,२६७) कथयति कधेदि, कहेदि, नाथ णाधो, णाहो, कथ कध कह, राजपथः— राजपधो, राजपहो आदि।

८ (इह ह्योर्हस्य ४,२६८) इह इध, भवथ—होध, होह, परित्रायध्वे परित्तायध, परित्तायह आदि।

९ भुवो भ ४,२६९) भवति—भोदि, होदि, भुवदि, हुवदि, भवदि, हवदि आदि।

१० (क्त्व इय दूणौ ४,२७१) भूत्वा--भविय, भोदूण, हविय, होदूण, पठित्वा पढिय, पढिदूण, रन्त्वा रमिया रन्दूण आदि।

११ (कृ गमो डडुअ ४,२७२) कृत्वा, कडुअ, गडुअ, पक्षेकरिय, करिदूण, गत्वा गच्छिय गच्छिदूण आदि।

१२ (दि रिचेचो ४,२७३) नयति—नेदि, ददाति देदि, भवति भोदि, होदि।

१३ (अतो देश्च ४,२७४) आस्ते अच्छदि, अच्छदे, गच्छति गच्छदि, गच्छेदे, करोति – किज्जदि, किज्जदे आदि।

१४ (भविष्यति स्सि ४,२७५) भविष्यति---भविस्सिदि, करिष्यति करिस्सिदि आदि।

१५ (तस्मात्ता ४,२७८) तस्मात् ता।

संस्कृत नाटको मे प्राकृत गद्यांश प्राय शौरसेनी भाषा मे लिखे गए है। अश्वघोष भास और कालिदास के नाटको मे तथा इनके परवर्ती नाटको मे प्राय शौरसेनी के उदाहरण दिखाई देते हैं।

ऊपर जो हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के सूत्र और नियम दिए गए है, प्राय वे ही नियम, उनसे मिलते-जुलते सूत्र और प्रयोग वररुचि, लक्ष्मीधर और त्रिविक्रम आदि के प्राकृत व्याकरणो मे भी पाए जाते है।

दण्डी, रुद्रट और वाग्भट आदि ने भी अपने ग्रन्थो मे इस भाषा का उल्लेख किया है। भरत के नाट्यशास्त्र मे भी सौरसेनी भाषा का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध है

'नायिकाना सखीना च सूरसेनाविरोधिनी' अर्थात् नायिका स्त्री और उनकी सखियो के लिए सौरसेनी का प्रयोग अविरोधी है।

इस प्रकार शौरसेनी या सौरसेनी भाषा की प्राचीनता और उद्गम स्थान ज्ञात हो जाने पर स्वभावत ये प्रश्न उपस्थित होते हैं

(१) क्या वे सब दिगम्बर आचार्य शूरसेन देश के ही निवासी थे, जिन्होने कि अपने ग्रन्थो की रचना शौरसेनी मे की है?

(२) यदि नही थे, तो फिर दि० कुन्दकुन्दाचार्य और नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती जैसे दक्षिण प्रान्त मे जन्मे अनेक दि० आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थो की रचना शौरसेनी प्राकृत मे ही क्यो की?

(३) अथवा इसमे रचना करने का और कोई अन्य कारण विशेष रहा है, जिससे प्रेरित होकर प्राय सभी दिगम्बर आचार्यों ने इसे अपनाया है?

उक्त प्रश्नो का समाधान करने के पूर्व यह ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष मे उत्तर से

दक्षिण तक जाने-आने का जो मध्य मार्ग था और जिसमे हिन्दुओ के परम उपास्य श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, वह मथुरा नगरी इस उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मध्य मे पडती है। आज भी सुदूर दक्षिण के तीर्थयात्री जब उत्तर प्रान्तो के तीर्थो की यात्रार्थ निकलते है तो वे उत्तर के बदरीनारायण, गगोत्री, और कैलाश की यात्रार्थ जाते-आते हुए मध्यवर्ती मथुरा मे अवश्य उतरते है। इस आवागमन से आज भी दक्षिणयात्री जैसे इस शूरसेन देश की राजधानी मथुरा की वर्तमान भाषा हिन्दी से परिचित हो जाते है, उसी प्रकार श्री कृष्ण के समय इस देश मे बोली जाने वाली शौरसेनी से परिचित हो जाते थे।

अब हम ऊपर दिए गए प्रथम प्रश्न का समाधान करेंगे दि० जैन ग्रन्थो, अनुश्रुतियो एव दक्षिण मे प्राप्त अनेक शिलालेखो से यह सिद्ध है कि आ० भद्रबाहु श्रुत-केवली के समय उत्तरभारत मे १२ वर्ष का भयकर दुष्काल पडा था। अपने निमित्तज्ञान से जब आ० भद्रबाहु ने यह जाना कि निकट भविष्य मे ही भयकर दुष्काल पडनेवाला है तो अपने सघस्थ २४ हजार साधुओ को सम्बोधित करते हुए इस देश को छोडकर सुदूर दक्षिण देश मे चलने को कहा। उसमे से १२ हजार साधु तो उनके साथ दक्षिण देश को चले गए। किन्तु शेष १२ हजार इधर के श्रावको के आग्रह और दुर्भिक्षकाल मे भी भिक्षा-सुलभता के आश्वासन पर स्थूल-भद्र के नेतृत्व मे यही उत्तरभारत मे रह गये।

उक्त परिप्रेक्ष्य मे यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि जो साधु भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ दक्षिण प्रान्त मे गये, वे प्राय अधीतश्रुत एव गीतार्थ थे, क्योकि उस समय अगो और पूर्वो का पठन-पाठन प्रचलित था। दक्षिण प्रान्त की तात्कालिक भाषाए आज के समान ही उत्तर भारत की बोलचाल की भाषा से सर्वथा भिन्न थी, फिर भी उधर के निवासी इधर के सूरसेन देश की बोली से आवागमन के कारण परिचित थे, इस कारण उक्त सघ के बहुश्रुतज्ञ साधुओ ने अपनी ही बोली सौरसेनी मे उपदेश देना प्रारम्भ किया और समयानुसार ग्रन्थ रचना करना प्रारम्भ किया। अत. प्रारभ मे जिन आचार्यो ने शौरसेनी भाषा मे ग्रन्थो की रचना की, उनमे अधिकतर उत्तर भारत के थे। इन हजारो साधुओ के दक्षिण प्रान्त मे विचरण से, उपदेश देने से एव सत्सग से दक्षिण देशवासी भली भाति परिचित हो गये थे, अत दक्षिण देश मे जन्मे हुए पीछे के दिगम्बर आचार्यो ने भी उसी सर्वाधिक समझी जाने वाली शौरसेनी भाषा मे ही अपने ग्रन्थो की रचना की।

(२) इस प्रकार उक्त कथन से दूसरे प्रश्न का समाधान भी स्वय ही हो जाता है। यत पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारो की मूल-परम्परा आ० भद्रबाहु तक पहुचती है, अत उनके सघस्थ साधुओ की जो बोलचाल की भाषा थी, और जिसे कि आज शौरसेनी नाम से कहा जाता है, उसी मे उन पीछे के दक्षिणी आचार्यो ने उत्तर

और दक्षिण के प्रान्तों में समझी जाने वाली शौरसेनी भाषा में ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना उचित समझा।

(३) तीसरे प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे प्राकृत की शाखा मागधी, अर्धमागधी, या महाराष्ट्री आदि प्राचीन बोलचाल की प्राकृतिक (स्वाभाविक) बोलियों का संस्कार करके संस्कृत भाषा के रूप में तात्कालिक महर्षियों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का निर्माण किया, और जो समान रूप से बिना किसी परिवर्तन के सारे भारतवर्ष में समझी जाने लगी थी, उस संस्कृत भाषा के अति समीप या अत्यधिक साम्य होने के कारण परवर्ती दिगम्बर जैनाचार्यों ने शौरसेनी में अपने ग्रन्थों की रचना करना अधिक उपयोगी और श्रेयस्कर समझा।

यह बात इस नीचे दी जाने वाली तालिका से सहज में ज्ञात हो सकेगी

प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत
अइसय	अदिसय	अतिशय	अइरेअ	अदिरेग	अतिरेक
अइहि	अतिहि	अतिथि	अईअ	अदीद	अतीत
अउअ	अयुद	अयुत	अकुरिअ	अकुरिद	अकुरित
अइर	अचिर	अचिर	अज्ज	आरिय	आर्य
अहिगरण	अधिगरण	अधिकरण	आअअ	आगद	आगत
आअपिअ	आकपिय	आकम्पित	आअव	आतव	आताम्र
आएस	आदेस	आदेश	आआस	आगास आयास	आकाश
आउत्त	आजुत्त आगुत्त	आयुक्त आगुप्त	आवस्सअ	आयस्सय आवस्सग	आवश्यक
इइ	इदि	इति			
ईसा	इरिसा	ईर्ष्या	इण्हि इयण्हि	इयाणि	इदानीम्
उदअ	उदग	उदक			
उड	पुड	पुट	ईइस	ईदिस	ईदृक्, ईदृश
एअ	एग	एक	उउ	उदु	ऋतु
ओइण्ण	ओदिण्ण	अवतीर्ण	उप्पायपुव्व	उप्पादपुव्व	उत्पादपूर्व
कइ	कदि	कति	एअंत	एगंत	एकान्त
कडुअ	कडुग	कटुक	ओअण	ओदण	ओदन
कवलिअ	कवलिद	कवलित	कउह	ककुध	ककुद
कोअंड	कोदंड	कोदण्ड	करआ	करगा	करका (ओला)
खेअ	खेद	खेद	कायव	कादव	कादम्ब
गइ	गदि	गति	खाइर	खादिर	खादिर
गोआवरी	गोदावरी	गोदावरी	खोह	खोभ	क्षोभ
घओअ	घओद	घृतोद	गणअ	गणग	गणक
चउक्क	चदुक्क	चतुष्क	गोअ	गोव	गोप
चलिअ	चलिद	चलित	घायअ	घायग	घातक

छाउमत्थिअ	छादुमत्थिय	छाद्मस्थिक
जइ	जदि	यदि
णई	णदी	नदी
तइय	तदिय	तृतीय
दलिअ	दलिद	दलित
धंअ	धंव	धंव (पति)
पउइ	पगइ	प्रकृति
फलअ	फलग	फलक
वउर	वदर	वदर
सजअ	सजद	सयत

चओर	चगोर	चकोर
चाय	चाग	त्याग
छेअण	छेदण	छेदन
जीअ	जीव	जीव
णट्टअ	णट्टग	नर्तक
तइअ	तदिय	तृतीय
दिआअर	दिवागर	दिवाकर
धुअ	धुव	ध्रुव
पयअ	पगय	प्रकृत प्रगत
फुल्लअ	फुल्लग	फुल्लक
भिउर	भिदुर	भिदुर (विनश्वर)
हअ	हद	हत

ऊपर से दिये गये शब्द-रूपों के भेद से प्राकृत (महाराष्ट्री) और शौरसेनी का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। अब हम आ० कुन्दकुन्द रचित ग्रन्थों से कुछ प्रयोग उद्धृत करते हैं, जिससे कि पाठक दि० शौरसेनी की विशेषता से स्वयं परिचित हो जायेंगे।

समयसार से

प्रयोग	गाथांक	प्रयोग	गाथांक	प्रयोग	गाथांक
पदेसट्ठिय	२	विसंवादिणी	३	सुदपरिचिदाणुमूदा	४
जाणगो	७	जाणिदूण	१७	अणुचरिदव्वो	१८
भूदत्थ	२२	मोहिदमदी	२३	इदर	२५
आदा	२६	जदि	२६	वदिदो	२८
वंदिदो	२८	थुणदि	२९	कदा (कृता)	३०
थुदा (स्तुता)	३०	णादूण	३४	एदे	५५
विज्जदे	५१	कोधादिसु	६९	कुणदि	७२
णादूण	७४	परिणमदि	७८	कुव्वदि (करोति)	८५
अविरदि	८८	आदा (आत्मा)	९७, १०२	अप्पा, अत्ता	९४,९७, १०२
चेदा	११८	वधदि मुचदि	१५०, २८१	णादव्व	१५९
नव्वदो	१६०	विजाणादि	१६०	जहण्णादो णाणगुणादो	१७१
भुंजदि वज्झदि	१९५ १९६	आदम्मि	२०३	छिज्जदु भिज्जदु	२०९

अधम्मस्स	२११	वेददि	२१६	विणस्सदे	२१६
पजहिदूण	२२३	आधाकम्म	२८७	जिज्जदि	२०९

प्रवचनसार से

चदिद	१,१	सपज्जदि	१,६	चरित्तादो / पहाणादो	१,६
अदिदिओ	१,१९	जाणदि / जाणादि	१,५५	तध, तधा / तधा	१,६७ / १,६८
किध (कथ)	१,७२	जहदि / लहदि	१,८१	समधिदव्व	१,८६

पचास्तिकाय से

इदसदवदियाण	१,	विज्जदि	१४५	चेदिय	१६६

षट्खण्डागमसूत्र (छक्खडागमसुत्त)

णाणाणि	१,१	इमाणि	१,१	अणियोगद्दाराणि	१,५
सजदासजदा	१,१३	पमत्तसजदा	१,१४	अप्पमत्तसजदा	१,१५
ओदेसेण	१,२४	णिरयगदी आदि	१,२४	असजदसम्मादिट्ठी	१,२७
छदुमत्था	१,२७	साधारणसरीरा	१,४१	सोधम्मीसाण	१,६६
पुरिसवेदा	१,१०१	चदुसु	१,१०५	मदिअण्णाणी	१,११६

इस प्रकार के प्रयोगो से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है।

कसायपाहुडसुत्त की सारी गाथाए शुद्ध शौरसेनी मे ही रची हुई है। यहा पर हम केवल एक गाथा ही उदाहरणार्थ देते है

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि ।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥२॥

रेखाकित तीनो पद स्पष्टत शौरसेनी भाषा के परिचायक हैं।

उक्त ग्रन्थो के पश्चात् जितने भी मूलाचार, नियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड, भगवती आराधना, दर्शनसार, तिलोयपण्णत्ती, भावसग्रह, लब्धिसार, गोम्मटसार जीवकाड, कर्मकाड आदि प्राकृत दि० जैन ग्रन्थ है, वे सभी शौरसेनी मे ही रचे गये है।

मैंने वसुनन्दि श्रावकाचार के परिशिष्ट न० ५ मे प्राकृत धातु रूप और परिशिष्ट न० ६ मे प्राकृत शब्द रूप सग्रह दिया है, उससे भी दि० ग्रन्थो की शौरसेनी भाषा को अपनाने की बात भली भाति सिद्ध होती है।

इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत का मूल उद्‌गम भले ही उत्तरी मथुरा का समीपवर्ती प्रदेश रहा हो, परन्तु दक्षिणी यात्रियो के उत्तर भारत मे आने से तथा

उत्तर प्रान्तीय भद्रबाहु के मुनि संघ के दक्षिण में जाने से यह भाषा वहां पर (दक्षिणी मदुरा तक) अच्छी तरह समझी और बोली जाने लगी थी। यही कारण है कि शेषगिरि राव जैसे अजैन दक्षिणी विद्वान् ने अपने लेख 'दी एज आफ् कुन्द-कुन्द' में लिखा है कि मेरे पास तमिल साहित्य में और लोक बोली में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि जिस प्रकार की प्राकृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ निबद्ध किये हैं, वह केवल समझी ही नहीं जाती थी, बल्कि आन्ध्र और कलिंग प्रदेशों में जन-सामान्य के द्वारा बोली जाती थी। (जैन गजट, १८ अप्रैल सन् १९२२ पृ० ६१)

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह कथन पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत होता है।

आ० हेमचन्द्र ने संज्ञा शब्दों के जो सातों ही विभक्तियों में अनेक रूप दिये हैं, उनमें से शौरसेनी भाषा में कुछ सीमित ही रूप अपनाये हैं, जो कि संस्कृत के साथ बहुत अधिक साम्य रखते हैं। यथा

प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत
ठाणाइ	ठाणाणि	स्थानानि	एए	एदे	एते
वच्छाओ	वच्छादो	वृक्षात्	अच्छीइ	अच्छीणि	अक्षीणि

इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत की अपेक्षा शौरसेनी के धातुरूप भी संस्कृत के बहुत अधिक समीप हैं। यथा।

प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत
भवइ	भवदि	भवति	गच्छई	गच्छदि	गच्छति
भवउ	भवदु	भवतु	गच्छउ	गच्छदु	गच्छतु

इस प्रकार जन-साधारण को सुगम होने से बहुजन-हिताय दि० जैनाचार्यों ने अपनी रचनाएं शौरसेनी प्राकृत में की हैं।

प्राकृत एवं अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रभाव

डॉ० महावीर सरन जैन

प्राकृत एव अपभ्रंश के विविध भाषिक रूपो से ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के विविध रूपो का विकास १०वी से १२वी शताब्दी के बीच मे हुआ। यह बात अलग है कि इस विकास परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना एक सीमा तक असम्भव सा है। इस सबध मे अभी तक जितने कार्य सम्पन्न हुए है उनमे अधिकाशत अज्ञात से ज्ञात की ओर आया गया है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना जरूरी है कि ज्ञात से अज्ञात की ओर वैज्ञानिक ढग से उन्मुख होने पर ही अज्ञात अनुपलब्ध रूपो को पुनर्निर्मित किया जा सकता है और पुनर्निर्माण के सिद्धान्तो पर आवेलम्वित होकर ही प्राकृत से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ तक की विकास यात्रा का वैज्ञानिक अध्ययन अशत सम्पन्न किया जा सकता है।

आज हमारे पास प्राकृत एव अपभ्रंश की जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के विकास की सारी कडिया अलग-अलग सुस्पष्ट रूप से जोड पाना दुष्कर कार्य है। इसके निम्नलिखित कारण है

१ हमारे पास प्राकृत युग एव अपभ्रंश युग के साहित्यिक भाषिक रूप ही उपलब्ध है। मध्य भारतीय आर्य भाषाकाल मे उसके सम्पूर्ण क्षेत्र मे विभिन्न भाषाओ के जो विविध क्षेत्रीय एव वर्गीय भाषिक रूप बोले जाते होंगे, वे उपलब्ध नही है।

२ प्राकृत एव अपभ्रंश के जो साहित्यिक भाषिक रूप प्राप्त है उनके क्षेत्रीय प्रभेदो का विवरण मिलता है। इस सम्बन्ध मे विचारणीय यह है कि उपलब्ध क्षेत्रीय भेद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ यथा पजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बगला, असमिया, उडिया आदि की भाति भिन्न साहित्यिक भाषाये है अथवा उस काल की किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत अथवा

साहित्यिक अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूप है। दूसरे शब्दो मे प्राकृतो के उपलब्ध क्षेत्रीय रूप भिन्न-भिन्न भाषाये हैं अथवा किसी एक ही भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं।

इस दृष्टि से जब हम विविध प्राकृत रूपो पर विचार करते है तो पाते हैं कि इनका नामकरण विभिन्न दूरवर्ती क्षेत्रो के आधार पर हुआ है तथापि इनमे केवल उच्चारण के धरातल पर थोडे से ध्वन्यात्मक अन्तर ही प्रमुख है। महाराष्ट्री मे स्वर बाहुल्यता है, द्विस्वरान्तर्गत व्यजन का लोप हो जाता है तथा श् ष्, स् सवर्षी ध्वनिया काकल्य संघर्षी 'ह्' मे बदल जाती है। शौरसेनी मे द्विस्वरान्तर्गत स्थिति मे अघोष व्यजनो का घोषीकरण हो जाता है। मागधी प्राकृत मे र् > ल् मे तथा मूर्धन्य 'ष्' तथा दन्त्य 'स्' > तालव्य 'श्' मे परिवर्तित हो जाते हैं। अर्ध-मागधी प्राकृत मे दन्त्य > मूर्धन्य तथा मूर्धन्य 'ष्' एव तालव्य 'श्' > दन्त्य 'स्' मे परिवर्तित हो जाते है तथा द्विस्वरान्तर्गत श्रुति का आगम हो जाता है। पैशाची प्राकृत मे सघोष > अघोष, र् > ल तथा मूर्धन्य 'ष्' > श् स् मे परिणत हो जाते हैं।

प्राकृतो के ये अन्तर अथवा इनकी विशिष्ट विशेषताये इतनी भेदक नही हैं कि इन्हे अलग-अलग भाषाओ का दर्जा प्रदान किया जा सके।

मराठी, हिन्दी, गुजराती, बगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे केवल थोडे से उच्चारणगत भेद ही नही है अपितु इनमे भाषागत भिन्नता है, पारस्परिक सरचनात्मक एव व्यवस्थागत अन्तर है तथा पारस्परिक अवबोधन का अभाव है। आज कोई मराठी भाषी मराठी भाषा के द्वारा मराठी से अपरिचित हिन्दी, बगला, गुजराती आदि किसी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के व्यक्ति को भाषात्मक स्तर पर अपने विचारो, सवेदनाओ का बोध नही करा पाता। भिन्न भाषी व्यक्ति अभिप्राय को सकेतो, मुखमुद्राओ, भावभगिमाओ के माध्यम से भले ही समझ जावे, भाषा के माध्यम से नही समझ पाते। किन्तु अर्धमागधी का विद्वान् मागधी अथवा शौरसेनी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत को पढकर उनमे अभिव्यक्त विचार को समझ लेता है। इस रूप मे जो साहित्यिक प्राकृत रूप उपलब्ध हैं उनका नामकरण भले ही सुदूरवर्ती क्षेत्रो के आधार पर हुआ हो किन्तु तत्वत ये उस युग के जन-जीवन मे उन विविध क्षेत्रो मे बोली जाने वाली भिन्न-भिन्न भाषायें नही हैं और न ही आज की भाति इन क्षेत्रो मे लिखी जाने वाली भिन्न साहित्यिक भाषाये हैं, प्रत्युत एक ही मानक अथवा साहित्यिक प्राकृत के क्षेत्रीय रूप हैं।

ऐसा नही हो सकता कि दसवी-बारहवी शताब्दी के बाद तो भिन्न-भिन्न भाषाये विकसित हो गई हो किन्तु उसके पूर्व प्राकृत युग मे पूरे क्षेत्र मे भाषात्मक अन्तर न रहे हो। आधुनिक युग मे 'भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र' मे जितने भाषात्मक

अन्तराल है उसकी अपेक्षा प्राकृत युग मे 'भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र' मे भाषात्मक अन्तराल कम होने का तो प्रश्न ही नही उठता, ये निश्चय ही बहुत अधिक रहे होगे। प्राकृत युग १ ईस्वी से ५०० ईस्वी तक है। आधुनिक युग की अपेक्षा डेढ-दो हजार साल पहले तो सामाजिक-सम्पर्क निश्चित ही बहुत कम होगा फिर भाषात्मक अन्तराल के कम होने का सवाल कहा उठता है? सामाजिक सम्पर्क जितना सघन होगा, भाषा विभेद उतना ही कम होगा। आधुनिक युग मे तो विभिन्न कारणो से सामाजिक सम्प्रेषणीयता के साधनो का प्राकृत युग की अपेक्षा कई कई गुना अधिक विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त नागरिक जीवन, महानगरो का सर्वभाषायी स्वरूप, यायावरी वृत्ति, शिक्षा, भिन्न भाषायी क्षेत्रो मे वैवाहिक, व्यापारिक एव सास्कृतिक सबध तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष मे एक केन्द्रीय शासन आदि विविध तत्त्वो के द्रुत विकास एव प्रसार के कारण आज भिन्न भाषाओ के बीच परस्पर जितना आदान-प्रदान हो रहा है उसकी डेढ दो हजार साल पहले कल्पना भी नही की जा सकती थी। इनके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषा काल मे तो अरबी, फारसी, अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओ की शब्दावली, ध्वनियो एव व्याकरणिक रूपो ने सभी भाषाओ को प्रभावित किया है। इतना होने पर भी आज भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रो की भाषाओ मे पारस्परिक बोधगम्यता नही है। आज भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र मे जितनी भिन्न भाषाये एव किसी भाषा के जितने भिन्न-भिन्न उपरूपो का प्रयोग होता है प्राकृत युग मे तो उस क्षेत्र मे निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक सख्या मे भिन्न भाषाओ तथा उनके विभिन्न क्षेत्रीय उपरूपो का प्रयोग होता होगा किन्तु हमे आज जो प्राकृत रूप उपलब्ध हैं वे एक ही प्राकृत के क्षेत्रीय रूप है जिनमे बहुत कम अन्तर है एक भाषा की क्षेत्रीय बोलियो मे जितने अन्तर प्राय होते है उससे भी बहुत कम। भाषा की बोलियो के अन्तर तो सभी स्तरो पर हो सकते हैं जबकि इन तथाकथित भिन्न प्राकृतो मे तो केवल उच्चारणगत भेद ही उपलब्ध हैं। विभिन्न प्राकृतो को देश भाषाओ के नाम से अभिहित किया गया है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ये देश की अलग-अलग भाषायें न होकर एक ही प्राकृत भाषा के देश भाषाओ से रजित रूप हैं। एक ही मानक साहित्यिक प्राकृत के विविध क्षेत्रीय रूप है जिनमे स्वभावत विविध क्षेत्रो की उच्चारणगत भिन्नताओ का प्रभाव समाहित है। आधुनिक दृष्टि से समझना चाहे तो ये हिन्दी, मराठी, गुजराती की भाति भिन्न भाषायें नही है अपितु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा के ही 'कलकतिया हिन्दी,' 'बम्बइया हिन्दी,' 'नागपुरी हिन्दी' जैसे रूप है।

मेरी इस प्रतिपत्तिका आधार केवल भाषा वैज्ञानिक ही नही है, इसकी पुष्टि अन्य स्रोतो से भी सम्भव है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र' मे यह विधान किया है कि नाटक मे चाहे शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जाये चाहे अपनी

इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का, क्योकि नाटक मे नाना देशो मे उत्पन्न हुए काव्य का प्रसग आता है। उन्होने देश भाषाओ का वर्णन करते हुए उनकी सख्या सात बतलायी है (१) मागधी, (२) आवती, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्ध मागधी, (६) वाह्लीका, (७) दाक्षिणात्या।

इस विवेचन के आधार पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भरत मुनि सात भाषाओ की बाते कर रहे है किन्तु यदि हम सदर्भ को ध्यान मे रखकर विवेचना करे तो पाते है कि भरत मुनि यह विधान कर रहे है कि नाटककार किसी भी नाटक मे इच्छानुसार देश प्रसग के अनुरूप किसी भी देश भाषा का प्रयोग कर सकता है। कोई भी नाटककार अपने नाटक मे पात्रानुकूल भाषा नीति का समर्थक होते हुए भी विविध भाषाओ का प्रयोग नही करता, नही कर सकता। इसका कारण यह है कि उसे ऐसी भाषा का प्रयोग करना पडता है जिसका अभिनेता ठीक प्रकार उच्चारण कर सके और उस नाटक का दर्शक समाज भिन्न-भिन्न पात्रो के भिन्न-भिन्न सम्वादो को समझ सके। यदि सम्प्रेषणीयता ही नही होगी तो 'रस' कैसे उत्पन्न होगा? यही कारण है कि समाज के विविध स्तरो एव विभिन्न क्षेत्रो के पात्रो के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते समय एक ही भाषा के विविध रूपो तथा उस भाषा के अन्य भाषियो के उच्चारण-लहजो के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। कोई हिन्दी नाटककार अपने हिन्दी नाटक मे बगला भाषी पात्र से बगला भाषा मे नही बुलवाता अपितु उसकी हिन्दी को बगला उच्चारण से रजित कर देता है।

इस दृष्टि से सात देश भाषायें अलग-अलग भाषायें नही हैं, किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत के भिन्न देशो की भाषाओ से रजित रूप है। यदि ये देश भाषाये अलग-अलग भाषाये ही होती तो भरत मुनि यह विधान न करते कि अन्त-पुरनिवासियो के लिए मागधी, चेट, राजपुत्र एव सेठो के लिए अर्ध मागधी, विदूषकादिको के लिये प्राच्या, नायिका और सखियो के लिए शौरसेनी मिश्रित आवती, योद्धा, नागरिको और जुआडियो के लिए दाक्षिणात्या और उदीच्य, खसो, शबर, शको तथा उन्ही के समान स्वभाव वालो के लिए उनकी देशी भाषा वाह्लीका उपयुक्त है।[२] जहा तक इन तथाकथित भिन्न प्राकृतो के प्रयोग का प्रश्न है शौरसेनी प्राकृत का उपयोग सस्कृत नाटको मे गद्य की भाषा के रूप मे हुआ है। मागधी प्राकृत मे कोई स्वतन्त्र रचना नही मिलती। सस्कृत नाटककार निम्न श्रेणी के पात्रो मे मागधी का प्रयोग कराते है। अर्ध मागधी मे मागधी एव शौरसेनी दोनो की प्रवृत्तिया पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं। महाराष्ट्री प्राकृत को आदर्श प्राकृत कहा गया है।[१] दण्डी ने यद्यपि महाराष्ट्री को महाराष्ट्र आश्रित भाषा कहा है तथापि सत्य यह है कि यह क्षेत्र विशेष की प्राकृत न होकर शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती विकसित रूप है। यह जरूर विवादास्पद है कि शौरसेनी एव महाराष्ट्री

का अन्तर कालगत है अथवा शैलीगत। कालगत अन्तर मानने वालो का तर्क है कि प्राकृत के वैयाकरणो ने महाराष्ट्री का अनुशासन आठवी शताब्दी के पश्चात् निबद्ध किया है। डा० मनमोहन घोष ने स्थापित किया कि प्राचीन शौरसेनी महाराष्ट्री की जननी है।[४] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की एक अवस्था को महाराष्ट्री प्राकृत माना है।[५] इनका शैलीगत अन्तर मानने वालो मे स्टेन कोनो प्रमुख है, जिन्होने यह नियम प्रतिपादित किया कि पद्य की महाराष्ट्री एव गद्य की शौरसेनी होती है। शौरसेनी मे द्विस्वरान्तर्गत व्यजनो का घोषीकरण अर्थात् व्यजन वर्ग के प्रथम व्यजन के स्थान पर उसी वर्ग के तृतीय व्यजन की स्थिति पायी जाती है जबकि महाराष्ट्री मे द्विस्वरान्तर्गत व्यजनो का लोप होकर स्वर बाहुल्य स्थिति हो जाती है।

डा० मनमोहन घोष ने विकास एव शैली मे तारतम्य स्थापित कर प्रतिपादित किया कि पहले शौरसेनी प्राकृत थी जिसमे गद्य रचना हुई। सस्कृत के नाटककार जब गद्य मे पात्रो से वार्तालाप कराते थे तो शौरसेनी प्राकृत का उपयोग करते थे क्योकि वह तत्कालीन जनता के भाषिक रूपो के निकट थी। बाद मे उसका विकास महाराष्ट्री प्राकृत के रूप मे हुआ। जब कवियो ने पद्यरचना मे महाराष्ट्री प्राकृत का उपयोग किया तो उन्होने मृदुता के लिए व्यजनो का लोप कर भाषा को स्वर बाहुल्यता प्रदान कर दी।[६]

प्राकृतो की भाति अपभ्रशो की भी स्थिति है। अपभ्रश शब्द के भाषागत प्रयोग का जो प्राचीनतम उल्लेख प्राप्त है उसमे तो अपभ्रंश किसी भाषा के लिए प्रयुक्त न होकर सस्कृत के विकृत रूपो के लिए प्रयुक्त मिलता है।[७] नाट्यशास्त्र-कार के समय प्राकृतो के युग मे अपभ्रंश एक बोली थी। कालान्तर मे इस बोली रूप अपभ्रश पर आधारित मानक अपभ्रश का उत्तरोत्तर विकास हुआ जिसका स्वरूप स्थिर हो गया। अपनी इसी स्थिति के कारण हिमालय से सिन्धु तक इसका रूप उकार बहुला था। प्राकृतो के साहित्यिक युग के पश्चात् उकार बहुला अपभ्रश साहित्यिक रचना का माध्यम बनी। आठवी नौवी शताब्दी तक राजशेखर के समय तक यही अपभ्रश सम्पर्क भाषा के रूप मे पजाब से गुजरात तक व्यवहृत होती थी।

"समस्त मरुएव टक्क, और भादानक मे अपभ्रश का प्रयोग होता है"[८] तथा सौराष्ट्र एव त्रिवणादि देशो के लोग सस्कृत को भी अपभ्रंश के मिश्रण सहित पढते हैं[९] जैसी उक्तिया इसकी परिचायक हैं।

आगे चलकर इसी मानक साहित्यिक अपभ्रश रूप के विविध क्षेत्रो मे उच्चारण भेद हो गए। नौवी शताब्दी मे ही रुद्रट ने स्वीकार किया कि अपभ्रंश के देशभेद से बहुत से भेद है।[१०]

अपभ्रश भाषा के उपनागर, आभीर एव ग्राम्य भेदो को 'भूरिभेद' कहकर

अर्थात् भूमि की भिन्नता के कारण एक ही भाषा के स्वाभाविक भेद बतलाकर रुद्रट ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है।

ईसा की १२वीं शताब्दी तक अपभ्रंश लोकभाषा न रहकर साहित्य में प्रयुक्त होने वाली रूढ भाषा बन चुकी थी। वस्तुतः ११वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के प्राचीन भाषा रूपों में लिखित साहित्यिक ग्रन्थ मिलने आरम्भ हो जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि बोलचाल की भाषा के रूप में तो अपभ्रंश के विविध रूप ९०० ई० या अधिक से अधिक १००० ई० तक ही व्यवहृत होते होंगे। अपभ्रंश के इन विविध रूपों की सामग्री, जिनसे विविध आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ, उपलब्ध नहीं है। अपभ्रंश के देशगत भेद उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक विद्यमान रहे होंगे जिस प्रकार आज आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के भेद विद्यमान हैं।

विष्णुधर्मोत्तरकार के अनुसार तो स्थान भेद के आधार पर अपभ्रंश के भेदों का अन्त ही नहीं है।[11] प्राकृत सर्वस्व से भी पता चलता है कि अपभ्रंश के २७ भेद स्वीकृत थे।[12]

'प्राकृतानुशासन' में भी नागर, ब्राचड, उपनागर, पचाल, वैदर्भी, लाटी, ओड्री, कैकेयी, गौडी, टक्क, वर्वर, कुन्तल, पाड्य तथा सिंहल आदि अपभ्रंशों का उल्लेख है।

अपभ्रंश के विविध रूप बोले जाते थे इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु इन भिन्न-भिन्न रूपों में साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इनका परिचय प्राप्त नहीं है। अपभ्रंश साहित्य का विकास मालवा, राजस्थान तथा गुजरात में ही हुआ। इन्हीं प्रदेशों की अपभ्रंशों के आधार पर विकसित साहित्यिक अपभ्रंश में साहित्यिक रचना हुई। इसी साहित्यिक अपभ्रंश का रूप आज सुरक्षित है जिसमें कालान्तर में प्रत्येक प्रदेश के साहित्यकारों ने साहित्य रचना की। इस प्रकार साहित्य के रूप में जिस मानक अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है उसमें प्राकृतों की भांति यत्किंचित स्थानीय भेदों की झलक तो है किन्तु वस्तुतः वे एक ही साहित्यिक अपभ्रंश भाषा के रूप हैं।

३ अपभ्रंश के विविध रूपों से निःसृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जो रूप बोला जाता होगा उसकी भी हमें जानकारी नहीं है। इस प्रकार के विवरण तो उपलब्ध हैं कि किस अपभ्रंश रूप से किस आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का विकास हुआ है। इस सम्बन्ध में 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' का विवरण उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि "महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोकणी भाषा, मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से बंगला, उडिया और असमिया भाषा, मागधी अपभ्रंश की बिहारी शाखा से मैथिली, मगही और भोजपुरिया, अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वीय हिन्दी

भाषाये अर्थात् अवधी, बघेली, और छत्तीसगढी, शौरसेनी अपभ्र श से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, वागरू, हिन्दी या उर्दू ये पाश्चात्य हिन्दी भाषायें, नागर अपभ्र श से राजस्थानी, मालवी, मेवाडी, जयपुरी, मारवाडी तथा गुजराती भाषा, पालि से सिंहली और मालदीवन, टाक्की अथवा ढाक्की से लहण्डी या पश्चिमीय पजाबी, टाक्की अपभ्र श (सौरसेनी से प्रभावयुक्त) से पूर्वीय पजाबी, ब्राचड अपभ्र श से सिन्धी भाषा, और पैशाची अपभ्र श से कश्मीरी भाषा का विकास हुआ।[१३]

यद्यपि यह विवरण भी केवल ऐतिहासिक सम्बन्धो का द्योतन कराने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत है फिर भी इसमे यह दृष्टि तो मिलती ही है कि अपभ्र श मे ही विविध भाषिक धारायें थी तथा अलग-अलग धारा से किस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की किन प्रमुख शाखा प्रशाखाओ का विकास हुआ है। जिस प्रकार हमे अपभ्र श की अलग-अलग भाषा धारा के वैशिष्ट्य की जानकारी एव सामग्री प्राप्त नही है उसी प्रकार इन धाराओ से नि सृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्य भाषा की किस शाखा का क्या जन प्रचलित स्वरूप था इसका ज्ञान नही है।

४ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे से कुछ भाषाओ मे प्राचीन साहित्य अवश्य उपलब्ध है। इस सम्बन्ध मे भी दो सीमायें हैं

(क) उपलब्ध साहित्य सक्रान्तिक काल के प्रथम चरण का न होकर परवर्ती युग का है। हिन्दी मे ग्यारहवी सदी मे राउलवेल, उडिया मे १०५१ई० मे अनन्त वर्मा के उरजम शिलालेख, बगला मे १०५० ई० से १२०० ई० तक के चरियागीति, मराठी एव गुजराती मे १२वी शताब्दी मे क्रमश मुकुन्दराय के गीत तथा शालिभद्र कृत भारतेश्वर बाहुबलिरास मिलता है। पजाबी मे तो १२वी शताब्दी के भी अन्तिम चरण मे बाबा फरीद शकरगज की रचनायें तथा असमिया मे १३वी शताब्दी मे जाकर हेम सरस्वती, हरि विप्र, माधवकदाले तथा शकरदेव की रचनायें प्राप्त हो पाती हैं।

(ख) इससे लिखित साहित्यिक भाषा के ही स्वरूप का पता चल सकता है, जनजीवन मे व्यवहृत तत्कालीन भाषिक रूपो का पता नही चलता।

इस प्रकार यह यद्यपि निर्विवाद है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के विविध रूपो का विकास उनके प्राकृत एव अपभ्र श रूपो से हुआ किन्तु उपर्युक्त कारणो से हम इस विकास यात्रा का पूरा लेखा जोखा प्रस्तुत नही कर सकते।

अतएव प्राकृत एव अपभ्र श के साहित्यिक भाषा रूपो की सामान्य उच्चारण-गत अभिरचनाओ, व्याकरणिक व्यवस्थाओ एव सरचनाओ ने आधुनिक भारतीय

आर्य भाषाओं को जिस प्रकार सामान्य रूप से प्रभावित किया है यहां केवल उसी प्रभाव की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है।

ध्वन्यात्मक

१ प्राकृत अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक अभिरचनाओं एवं प्रमुख स्वर व्यंजन ध्वनियां आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की केन्द्रवर्ती भाषाओं में सुरक्षित हैं। इसके विपरीत सीमावर्ती आर्य भाषाओं में प्राकृत अपभ्रंश ध्वन्यात्मक अभिरचना से भिन्न ध्वन्यात्मक विशेषताओं का भी विकास हुआ है।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य हैं

(क) असमिया में दन्त्य एवं मूर्धन्य व्यंजनों की भेदकता एवं वैषम्य समाप्त हो गया है। तालव्य व्यंजन दन्त्य सघर्षी में तथा दन्त्य सघर्षी 'स्' का कोमल तालव्य सघर्षी के रूप में विकास हुआ है।

(ख) मराठी में चवर्गीय ध्वनियों का विकास दो रूपों में हुआ है तथा स्वरों की अनुनासिकता का लोप हो गया है।

(ग) केन्द्रवर्ती भाषाओं में पूर्व भारतीय आर्य भाषा की परम्परानुरूप महाप्राण ध्वनियों का उपयोग होता है किन्तु अन्य भाषाओं में सघोष महाप्राण व्यंजनों एवं हकार का भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चारण होता है। इस दृष्टि से डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पूर्वी बंगला में कण्ठ-नालीय स्पर्श के साथ-साथ आंशिक रूप में विशिष्ट स्वर विन्यास का व्यवहार तथा पंजाबी में स्वर विन्यास परिवर्तन मानते हैं तथा राजस्थानी में ह-कार की जगह कण्ठनालीय स्पर्श ध्वनि तथा सघोष महाप्राणों के आश्वसित उच्चारण की उपस्थिति से यह अनुमान व्यक्त करते हैं कि राजस्थानी तथा गुजराती में इस प्रकार का उच्चारण कम से कम अपभ्रंश काल की स्थिति तो अवश्य ही है।[14]

(घ) सिन्धी एवं लहदा में अन्त स्फोटात्मक ध्वनियों का विकास हुआ है।

(ङ) पंजाबी में तान का विकास हुआ तथा सघोष महाप्राण व्यंजन तानयुक्त अल्पप्राण व्यंजनों के रूप में परिवर्तित हो गए। इस सम्बन्ध में डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने डा० सिद्धेश्वर वर्मा के मत का उल्लेख किया है कि श्रुति की दृष्टि से पंजाबी में 'भ, घ, ढ' आदि के परिवर्तन में महाप्राणता सुनायी नहीं पड़ती, बाद के स्वर के साथ श्वास का कुछ परिमाण संलग्न रहता है, जो उसके स्वर-विन्यास की एक विशिष्टता माना जा सकता है।[15]

२ 'ऋ' का उच्चारण पालि युग में ही समाप्त हो गया था। इसका उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'र' 'रि' एवं 'रु' रूप में हुआ। आज भी 'रि'

मे 'र्' के बाद का 'इ' का उच्चारण अग्र की अपेक्षा मध्योन्मुखी होता है।

३ 'ष' वर्ण का मूर्धन्य उच्चारण किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा मे नही होता।

४ अपभ्र श के 'ऍ' एव 'ऑ' के ह्रस्व उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे सुरक्षित है। इसी कारण 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' का उच्चारण मूल स्वरो के रूप मे होने लगा है।

५ हिन्दी, उर्दू, सिन्धी, पजाबी, उडिया आदि मे मूर्धन्य उत्क्षिप्त 'ड' एव 'ढ' विकसित हो गए है।

६ मध्य भारतीय आर्य भाषा काल मे जिन शब्दो मे समीकरण के कारण एक व्यजन को द्वित्व रूप हो गया था, अपभ्र श के परवर्ती युग मे एक व्यजन शेष रह गया तथा उसके पूर्ववर्ती अक्षर के स्वर मे क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया। सिन्धी, पजाबी एव हिन्दी की बागरु एव खडी बोली के अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे यह प्रवृत्ति सुरक्षित है। यथा

कर्म > कम्म > कम्मु > कामु > काम्

७. अपभ्र श मे अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण एव लोप की प्रवृत्ति मिलती है। 'पासणाह चरिउ'[१६] से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है

महिला > महिल १।१०।१२। जघा > जघ ३।२।८।

गृहिणी > घरिणि १।१०।४। गम्भीर > गहिर ३।१४।२।

पाषाण > पाहण २।१२।६। पुडरीक > पुडरिय १७।२१।२।

बिहारी, काश्मीरी, सिन्धी और कोकणी के अतिरिक्त अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे भी यह प्रवृत्ति है।

हिन्दी मे अकारान्त शब्दो को प्राय व्यजनान्त रूप मे उच्चरित किया जाता है।[१७]

व्याकरणिक

१ **विभक्ति रूपो की सख्या मे कमी** प्राकृत काल मे ही विभक्ति रूपो की सख्या मे कमी हो गयी थी। विभिन्न कारको के लिए एक विभक्ति तथा एक कारक के लिए विभिन्न विभक्तियो का प्रयोग होने लगा था। एक ओर कर्म, करण, अपादान तथा अधिकरण के लिए षष्ठी विभक्ति का तथा कर्म एव करण के लिए सप्तमी विभक्ति का तो दूसरी ओर अपादान के लिए तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियो का प्रयोग मिलता है।[१८]

अपभ्र श मे विभक्ति रूपो की सख्या मे और कमी हो गयी। कर्ता-कर्म-सम्बोधन के लिये समान विभक्तियो का प्रयोग आरम्भ हो गया। इसी प्रकार एक ओर करण-अधिकरण के लिए तो दूसरी ओर सम्प्रदान-सम्बध के लिए समान

विभक्तियो का प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के विभक्ति रूपों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है

	एक वचन	बहुवचन	
		पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
कर्ता-कर्म-सम्बोधन	–अ, –आ, –उ, –ओ	–अ, आ	–अ, –आ, –उ

	एक वचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
करण-अधिकरण	–ए, –ए –एण, –इण –इँ	–ए, –इ –हिं	–हि –एहिं	–हिं
सम्प्रदान-सम्बन्ध	–हो –आसु –स्स	–हे –हि	–हँ –आहं	–हँ
अपादान	–हो, हे-हु	–हे, –हि	–आहु	–हिं

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं मे विभक्ति रूपो की सख्या मे क्रमश ह्रास हुआ है। जिन भाषाओ की सश्लिष्ट प्रकृति अभी भी विद्यमान है उनमे विभक्ति रूपो की सख्या अभी भी अधिक है किन्तु जिन भाषाओ ने वियोगात्मकता की ओर तेजी मे कदम बढाया है उनमे विभक्ति प्रत्ययो की सख्या बहुत कम रह गयी है। इस दृष्टि से यदि हम मराठी एव हिन्दी का अध्ययन करे तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मराठी मे सज्ञा शब्द के जहा अनेक वैभक्तिक रूप विद्यमान हैं मुलास (द्वितीया) मुलाने (तृतीया), मुलाला (चतुर्थी), मूलाहून (पचमी), मुलाचा (षष्ठी), मुलात (सप्तमी), मुला (सम्बोधन) वहा दूसरी ओर हिन्दी मे पुल्लिंग सज्ञा शब्दो मे या तो केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए अथवा अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन एव विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्तिया लगती है। स्त्रीलिंग सज्ञा शब्दो मे केवल अविकारी बहुवचन एव विकारी बहुवचन के लिए विभक्तिया जुडती है, एकवचन मे प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है।[१]

२ परसर्गो का विकास अपभ्रंश मे विभक्ति रूपो की कमी के कारण अर्थो

मे अस्पष्टता आने लगी होगी। कारको के अर्थों को व्यक्त करने के लिए इसी कारण अपभ्रंश मे शब्द के वैभक्तिक रूप के पश्चात् अलग से शब्दो अथवा शब्दाशो का प्रयोग आरम्भ हो गया। यद्यपि सस्कृत मे भी 'रामस्य कृते' तथा प्राकृत मे 'रामस्य केरक धरम्' जैसे प्रयोग मिल जाते है तथापि इतना निश्चित है कि अपभ्रंश मे परसर्गो की सुनिश्चित रूप से स्थिति मिलती है। करण के लिए सहु, सउ, समाणु, सम्प्रदान के लिए तेहिं, केहिं, अपादान के लिए लइ, होन्तउ, ठिन,—पासिउ, सम्बन्ध के लिए तण, तणि—केरउ तथा अधिकरण के लिए मज्झे,—मज्झि जैसे परसर्गों का बहुल प्रयोग अपभ्रंश साहित्य मे हुआ है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे परसर्गों का विकास हुआ है। इनके प्रयोग मे सभी भाषाओ की स्थिति समान नही है। आज भी कुछ भाषायें कारकीय अर्थों को परसर्गों से नही अपितु शब्द के विभक्तियुक्त रूपो से द्योतित कर रही है किन्तु फिर भी परसर्गों का प्रयोग कम या अधिक सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे होता है। जिन भाषाओ मे विभक्तियुक्त शब्द द्वारा कारक का अर्थ व्यक्त किया जाता है उनमे भी अलग-अलग कारक के लिए अलग-अलग विभक्ति रूपो का सम्बन्ध सुनिश्चित नही है। यथा मराठी मे एक ही कारक को व्यक्त करने के लिए अनेक विभक्तियो का प्रयोग होता है तथा एक ही विभक्ति अनेक कारको का अर्थ व्यक्त करती है।[३०] उसमे भी तृतीया के ने, नी, पचमी के —ऊन, —हून तथा षष्ठी मे प्रयुक्त —चा, ची, चे, च्या आदि रूपो को परसर्ग कोटि मे रखा जा सकता है। इसी प्रकार बगला की प्रकृति भी अपेक्षाकृत सश्लिष्ट है किन्तु वहा भी दिया, द्वारा, के दिया, सगे, हइते, थेके जैसे शब्दाशो की स्थिति परसर्गों की ही है। यथा

मन **दिया** पढ (मन से पढो), तोमा **द्वारा** हाइबे ना (तुमसे नही होगा)
बहू के दिया गधाउ (बहू से रसोई बनवाओ)
आमी बधु **सगे** देखा करिते गेल (मैं मित्र से मिलने गया)
बाडी **हइते** चलिया गेल (घर से चला गया)
बाडी **थेके** चलिया गेल (,, ,,)।[३१]

गुजराती मे भी सम्प्रदान मे 'माटे' तथा सम्बन्ध के लिए 'ना', 'नी' का प्रयोग होता है। पजाबी मे भी सम्बन्ध मे 'दा', 'दी' का प्रयोग होता है।

परसर्गों के प्रयोग के सम्बन्ध मे हिन्दी की स्थिति अधिक स्पष्ट है। हिन्दी मे सज्ञा शब्दो मे कारकीय अर्थो को विश्लिष्ट प्रकृति के परसर्गों द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।

हिन्दी मे परसर्गों का विकास आरम्भ से ही अधिक हुआ। हिन्दी के आदि-कालीन साहित्य मे ही विभिन्न कारकीय रूपो को सम्पन्न करने के लिए परसर्गों

का प्रयोग मिलता है। कर्ता के अर्थ में डा० उदयनारायण तिवारी ने चंदरवरदाई की भाषा में 'ने' का प्रयोग स्वीकार किया है।[२२] कीर्तिलता[२३] की भाषा में कर्ता के अर्थ में –आ, –ए, –ओ का प्रयोग हुआ है।[२३]

कर्म के अर्थ में 'को' का प्रयोग ११वीं सदी से राउलवेल में मिलने लगता है। वीसलदेव रासो[२४] में 'नूं' एवं कीर्तिलता[२३] में 'हि', 'हिं' का प्रयोग कर्मकारक के अर्थ में हुआ है।

करण के अर्थ में कीर्तिलता में[२६] 'ए' 'एन' 'हि' का, पृथ्वीराजरासो[२७] में 'तें', 'वाचा', 'से', सहुं', 'सूं', 'सों', तथा खुसरो[२८] के काव्य में 'से' का प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार की स्थिति अन्य कारकीय अर्थों को व्यक्त करने के सम्बन्ध में है।

३ भाषा प्रकृति अर्द्ध अयोगात्मक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की विवेचना करते समय प्रायः विद्वानों ने उन्हें अयोगात्मक भाषायें कहा है। यह ठीक है कि 'हिन्दी' ने अपभ्रंश की अर्द्ध-अयोगात्मक स्थिति की अपेक्षा अयोगात्मकता की ओर अधिक विकास किया है तथापि भाषा-प्रकृति की दृष्टि से आज भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें अर्द्ध-अयोगात्मक हैं। शब्द के वैभक्तिक रूप भी मिलते हैं तथा परसर्गों का भी प्रयोग होता है। कारकीय रूपरचना में विभिन्न भाषाओं में विभक्तियां संश्लिष्ट रूप में भी व्यवहृत होती हैं। उदाहरणार्थ सिन्धी एवं पंजाबी में अपादान एवं अधिकरण कारकों में, गुजराती में करण एवं अधिकरण में, मराठी में करण, सम्प्रदान तथा अधिकरण में तथा इसी प्रकार उड़िया में अधिकरण में विभक्तियों का संयोगात्मक रूप द्रष्टव्य है। बंगला में भी सम्बन्धतत्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है।

हिन्दी में भी सर्वनाम रूपों में कर्म सम्प्रदान में इसे, उसे, इन्हें, उन्हें, तुझे जैसे रूप मिलते हैं जिनकी प्रकृति संश्लिष्ट है। यह बात अलग है कि हिन्दी में इनके वियोगात्मक रूप भी उपलब्ध हैं यथा इसको, उसको, उनको, इनको, तुझको। इसी प्रकार वर्तमान सम्भावनार्थ पढ़ू, पढ़े, पढ़ें, पढ़ो तथा आज्ञार्थक पढ़ना, पढ़ियेगा, पढ़ो, पढ़ में संयोगात्मकता की स्थिति देखी जा सकती है।

४ नपुंसकलिंग की स्थिति अपभ्रंश काल में नपुंसकलिंग का लोप हो गया था। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मराठी एवं गुजराती को छोड़कर शेष सभी में नपुंसकलिंग नहीं हैं। सिंहली में प्राणी तथा अप्राणीवाची आधार पर प्राणवान तथा प्राणहीन दो लिंग हैं, जो द्रविड परिवार की भाषाओं के प्रभाव के सूचक प्रतीत होते हैं। शेष में पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग दो लिंग हैं। इनमें भी बंगला एवं उड़िया में देशज शब्दों में लिंग विधान शिथिल है। जान बीम्स के अनुसार इनमें तत्सम शब्दों को छोड़कर शेष शब्दों में लिंग व्यवस्था नहीं है।[२९]

५. बहुवचन द्योतक शब्दावली सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी के

अतिरिक्त शेष अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं मे कर्ता कारक के शब्दो मे बहुवचन का द्योतन विभक्तियो से न होकर बहुवचन द्योतक शब्दो अथवा शब्दाशो से व्यक्त होने लगा है। उदाहरणार्थ बगला मे 'सकल' यथा कुक्कुर सकल (कुत्ते)। इसी प्रकार उडिया मे 'मनि' असमिया मे 'बोर' मैथिली 'सम' एव भोजपुरी 'लोगनि' इत्यादि शब्द रूप बहुवचन द्योतक है।

पश्चिमी हिन्दी, सिन्धी, मराठी मे कर्ता कारक बहुवचन के वैभक्तिक रूप उपलब्ध है। यथा

सिन्धी	एकवचन	पिउ	बहुवचन	पिउर
मराठी	एकवचन—	—रात	बहुवचन—	—राती
हिन्दी—	—एकवचन	लडका	बहुवचन	लडके

यहा यह उल्लेखनीय है कि इन भाषाओ मे भी बहुवचन को स्वतत्र शब्दो द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति बढ रही है। यथा

हिन्दी	एकवचन	राजा	बहुवचन	राजा लोग
मराठी—	—एकवचन	दोघे	बहुवचन	दोघे जण

इस प्रकार की प्रवृत्ति सज्ञा शब्दो की अपेक्षा सर्वनाम रूपो मे अधिक है। यथा—पश्चिमी हिन्दी हम लोग। भोजपुरी हमनीका। मागधी हमनी। मैथिली हमरा सम। बगला— आमि सब।

आधुनिक भारतीय भाषाओ की यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन भाषाओ की व्यवस्था से अवश्य भिन्न है तथा अयोगात्मकता की ओर उन्मुख होने की सूचक है।

६ **प्राकृत एवं अपभ्रंश के क्रिया रूप** मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की क्रिया सरचना का प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे वर्तमान अथवा वर्तमान सम्भावनार्थ काल एव आज्ञार्थक रूपो पर पडा है।

अपभ्रंश मे वर्तमान काल द्योतक उत्तम पुरुष उ, —हु, मध्यम पुरुष —हिं, —हु एव अन्य पुरुष —अइ, —हिं, —अन्ति विभक्तिया थी।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे ये प्रवृत्तिया इस प्रकार है

पुरुष	वचन	हिन्दी	गुजराती	मराठी	बगला	उडिया	पजाबी
उत्तम पुरुष	एकवचन	—ऊ	—ऊ	—ए	—इ	—अइ	—आ
	बहुवचन	—ए	—इये	—ओ —ऊ	—इ	—उ	—अय
मध्यम पुरुष	एकवचन	—ए	—ए	—अस	—इस	—उ	—ए
	बहुवचन	—ओ	—ओ	—आ	—अ	—अ	—ओ

अन्य पुरुष	एकवचन	–ए	–ए	–ए	–ए	–अइ	–ए
	बहुवचन	–ए	–ए	–अत	–एन	–अन्ति	–अण

आधुनिक भारतीय भाषाओं के वर्तमान आज्ञार्थक रूपों का विकास भी मध्य-कालीन भारतीय क्रिया रूपों से हुआ है।

अपभ्रंश में भविष्यकालिक रूपों की रचना में धातु में विभक्ति लगने के पूर्व 'इस्स' अथवा 'इह' प्रत्यय जुड़ता था। गुजराती -करीश, –करिशु, करशे –आदि रूपों से 'इस्स' का तथा हिन्दी की ब्रज आदि बोलियों के –करिहौं –करिहै आदि में 'इह' का प्रभाव विद्यमान है।

७ **क्रिया के कृदन्तीय रूपों का प्रयोग** प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल में भूतकालिक रचना के कई प्रकार थे। लङ्० से असम्पन्न भूत, लुङ्० से सामान्य भूत तथा लिट् से सम्पन्न भूतकाल की रचना होती थी। उदा० गम् धातु के रूप अगच्छत्, अगमत् एवं जगाम बनते थे। इनमें क्रिया रूप विद्यमान था।

प्राकृत अपभ्रंश युग में इनके बदले भूतकाल भावे या कर्मणि-कृदन्त 'गत' लगाकर बनाया जाने लगा।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कर्मणि कृदन्त रूप तो विद्यमान हैं ही, कृदन्तीय रूपों से काल रचना होने लगी है।

अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में वर्तमान कालिक कृदन्तीय रूप में पुरुष एवं लिंग वाचक प्रत्यय लगाकर काल रचना होती है। यथा—हिन्दी —करता। गुजराती —करत। बंगला —करित। मराठी—करित। उड़िया करन्त।

इसी प्रकार भूतकालिक कृदन्तीय रूपों से भी कालरचना सम्पन्न होती है। अपभ्रंश में भूतकालिक कृदन्त रूप विशेषणात्मक रूप में पूर्ण क्रिया के स्थान में भी व्यवहृत होने लगे थे। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी गया गुजराती लीधु जैसे रूप वर्तमान है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से बंगला, उड़िया, असमिया, भोजपुरी मैथिली, मराठी आदि में भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय 'ल' जुड़ता है। यथा बंगला गेल, होइल, मराठी गेलो, गेलास, भोजपुरी मारलो, मारलास। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश में हुआ है। राउलवेल की भाषा में इसका प्रयोग देखा जा सकता है।[30]

८ **क्रियाओं में लिंगभेद** — अपभ्रंश में कृदन्तीय रूपों में लिंगभेद किया जाता था। हिन्दी जैसी भाषाओं में क्रियाओं में लिंगभेद का कारण अपभ्रंश के कृदन्तीय रूपों का क्रिया रूपों में प्रयोग है। कृदन्त रूपों को क्रिया रूपों में अपनाने के कारण

हिन्दी मे पढता, पढती, पढा, पढी आदि क्रियाओ मे लिगभेद मिलता है। मराठी मे भी मी जातो (मैं जाता हू) एव मी जाते (मैं जाती हू) तथा तू जातोस (तू जाता है) एव तू जातेस (तू जाती है) क्रियाओ मे लिगभेद द्रष्टव्य है।

६ सयुक्त कालरचना एव संयुक्त क्रिया निर्माण—हिन्दी जैसी भाषाओ मे मूल धातुओ मे प्रत्यय लगाकर कालरचना की अपेक्षा वर्तमानकालिक कृदन्त एव भूतकालिक कृदन्त रूपो के साथ सहायक क्रियाओ को जोडकर विविध कालो की रचना की जाती है। इसी प्रकार क्रिया के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिये मुख्य क्रिया रूप के साथ सहकारी क्रियाओ को सयुक्त किया जाता है। मध्य-भारतीय आर्य भाषाकाल तक इस प्रकार की भाषायी प्रवृत्ति परिलक्षित नही होती। इस कारण विद्वानो ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे सयुक्त काल रचना एव सयुक्त क्रिया निर्माण को द्रविड भाषाओ के प्रभाव का सूचक माना है। इस सम्बन्ध मे मेरा यह अभिमत है कि हिन्दी ने इस परम्परा को परवर्ती अपभ्र श परम्परा से स्वीकार किया है। सयुक्त काल एव सयुक्त क्रिया निर्माण की प्रवृत्ति 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' एव 'राउलवेल' की भाषा मे दिखायी देती है और इसी का विकास हिन्दी मे हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश मे इस प्रकार की व्यवस्था भले ही द्रविड परिवार की भाषाओ के प्रभाव के कारण आयी हो।

सदर्भ

१ नाट्यशास्त्र १८।३४-३५।
२ नाट्यशास्त्र १८।३६-४०।
३ महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु।—काव्यादर्श १।३४।
४ Introduction to Karpurmanjari, p 75
University of Calcutta (1948)
५ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १०३ (१९६३) तृतीय परिवर्द्धित सस्करण, दिल्ली
६ Mana Mohan Ghosh, Maharaṣṭri, a late phase of Sauraseni Journal of the Department of Letters of the Calcutta University, Vol XXXII, 1933
७ गरीयानप शब्दोपदेश। एकैकस्य हि शब्दस्य वहवोऽपभ्र शा। तद्यथा गोरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयो वहवोऽपभ्र शा।(पातजल, महाभाष्य १।१।१)।
८ सापभ्र शप्रयोगा सकलमरुभुवष्टक्कु भादानकाश्च (काव्यमीमासा, अध्याय १०)।
९ सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्र शवदशानि ते सस्कृत वचास्यपि (काव्यमीमासा, अध्याय ७)
१० ' भूरिभेदो देशविशेषादपभ्र श (काव्यालकार २।१२)।
११ स चान्यैरुपनागराभीर ग्राम्यत्व भेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरि भेद इति।
१२ व्राचडो लाट वैदर्भानुपनागर नागरो वार्वरावन्त्यपाचालटाक्कमालवकैकया। गौडोढ्
वैनपाश्चात्यपाड्यकौन्तल सैहला। कलिंग्यप्राच्य कार्णाटिका चद्राविडगौर्जरा। आभीरो

मध्यदेशीय सूक्ष्म भेदव्यवस्थिता सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैतालादि प्रभेदता (प्राकृत सर्वस्व २)।

१३ पंडित हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ, पाइअ-सद्द-महण्णवो (प्राकृत श॰ महार्णव) कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति संवत् १९८५ (सन् १९२८ ई०)।

१४ दे० भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १२२-१३२।

१५ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १२७-१२८।

१६ पासणाहचरिउ सम्पादक प्रफुल्लकुमार मोदी (सन् १९६५)।

१७ डा० महावीरसरन जैन, परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन। पृ० २०-२२

१८ दे० (१) कोमलचंद जैन, प्राकृत-प्रवेशिका, पृ० ५८।

(२) प० ऋषिकेश भट्टाचार्य, प्राकृत ग्रामर, पृ० १२८।

१९ डा० महावीर सरन जैन, हिन्दी संज्ञा, भाषा, हिन्दी भाषा विशेषांक।

२० महादेव मा० वासुतकर, मराठी की कारक व्यवस्था, गवेषणा, पृ० ८२-८४ वर्ष १०, अंक २०।

२१ सरोजिनी शर्मा--हिन्दी और बंगला के परसर्गों का व्यतिरेकात्मक अध्ययन, गवेषणा, पृ० ९३-११०, वर्ष १०, अंक २०।

२२ सं० उदयनारायण तिवारी—वीरकाव्य, पृ० १६५ सं० २०१२।

२३ सं० वासुदेवशरण अग्रवाल कीर्तिलता २।२२८, २।२१८, ४।२४।

२४ सं० उदयनारायण तिवारी वीरकाव्य, पृ० २२०।

२५ सं० वासुदेवशरण अग्रवाल —कीर्तिलता २।२७, ३।७८।

२६ वही—क्रमश १।५०, १४६, ४।४०।

२७ सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवरसिंह संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० २५, ३१, ३२, १०८।

२८ सं० बालकृष्ण राव हिन्दी काव्यसंग्रह (खुसरो), पृ० २७।

२९ John Beams, A Comparative grammar of the Modern Indian Aryan Languages, p 177

३० दे० डा० कैलाश चन्द्र भाटिया, राउलवेल मे प्रयुक्त क्रियाएँ, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक पृ० ४५७, वर्ष ६६, अंक २-३-४ (सम्वत् २०१८)।

प्राकृत-अपभ्रंश का राजस्थानी भाषा पर प्रभाव

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

'राजस्थानी-भाषा' पदबंध के 'राजस्थानी' पद को विशेष सावधानीपूर्वक प्रयुक्त करने की अपेक्षा है। इस पदबंध के 'राजस्थानी' पद का अर्थ आधुनिक वृहत्-राजस्थान नहीं है। वरन् 'राजस्थानी भाषा' से तात्पर्य उस भाषा से है, जिसका मूल भारत के इस पश्चिमी प्रदेश मे ५०० ई० से १००० ईसा तक प्रचलित जनभाषा अपभ्रंश मे है। इसी राजस्थानी भाषा का साहित्यिक रूप 'डिंगल' है। राजस्थान की इस साहित्यिक भाषा डिंगल की दो अवस्थाओं का उल्लेख विद्वानों ने किया है। ईसवी सन् की १३वी शताब्दी से लेकर १६वी शताब्दी के अंत तक के युग को टैसीटोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कहा है।[1] १७वी शताब्दी के प्रारंभ से लेकर आज तक के समय को आधुनिक मारवाडी का युग कहा जाता है। इसी आधार पर इन दो कालो की डिंगल को 'प्राचीन डिंगल' एवं 'अर्वाचीन डिंगल' कहा गया। किन्तु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि अपने मूल से पृथक् होने के समय से अब तक की राजस्थानी की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट हैं। एक वह जिसे 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' नाम दिया गया है। यही रूप अपभ्रंश का उत्तराधिकारी है।[2] द्वितीय अवस्था वह है जो पृथ्वीराज रचित 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' मे मिलती है। 'वेलि' की भाषा मे ढांचा तो प्राचीन राजस्थानी का है, परन्तु माध्यमिक राजस्थानी मे विकसित कतिपय विशेषताए भी 'वेलि' की भाषा मे है। 'वेलि' साहित्यिक राजस्थानी मे रची गई है।[3] तृतीय अवस्था वीरसतसई एवं आधुनिकतम काव्यो, जैसे--बादली, साझ आदि मे देखी जा सकती है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के उदाहरण 'मुग्धावबोधमौक्तिक' की भाषा मे है।

इस प्रकार 'कान्हडदे प्रबंध', वेलि, वीरसतसई, बादली, साझ आदि रचनाएँ राजस्थानी के ऐतिहासिक विकास की सामग्री प्रस्तुत करती है। प्राकृत-अपभ्रंश से आधुनिक राजस्थानी तक की विकास यात्रा का इतिहास इन रचनाओं के माध्यम से ही जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से राजस्थानी के लिखित साहित्य

को आधारभूत सामग्री के रूप मे ग्रहण करना समुचित है। विकास के ऐतिहासिक स्वरूप को ध्वनि (उच्चारण), रूप, वाक्य और शब्दसमूह की दृष्टि से परखा जा सकता है। प्रस्तुत निबंध मे 'ध्वनि' और 'रूप' को ही आधार बनाया गया है। 'ध्वनि' मे भी उन परिवर्तनो को दिखलाना अभिप्रेत है, जो प्राकृत-अपभ्रंश से राजस्थानी मे किञ्चित् अंतर के साथ आए हैं, अथवा वैसे ही प्रयुक्त हो रहे हैं। उच्चारण पर विचार नहीं किया जा रहा है। रूपवैज्ञानिक विकास मे सभी संभव आयामो का आख्यान करना उचित होगा। भारत के पश्चिमी प्रदेश की जन-भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित राजस्थानी रूपात्मक दृष्टि से कितने विकास स्तरो से गुजरी यह स्वयं मे महत्त्वपूर्ण शोध का विषय है। पिंगल अपभ्रंश प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का स्रोत नहीं है। उसमे अनेक तत्त्व ऐसे है जो पूर्वी राजस्थानी बोलियो की विशेषता है। प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से विकसित माध्यमिक राजस्थानी और फिर आधुनिक राजस्थानी मे दिखलाई पड़ने वाले प्राकृत-अपभ्रंश के प्रभाव की रूपरेखा प्रस्तुत करना है।

(क) ध्वनि विवेचन

राजस्थानी की ध्वनि-व्यवस्था वही है जो प्रा प राजस्थानी मे थी और प्रा प रा मे वह अपभ्रंश से आई थी। टेसीटोरी ने प्रा प राजस्थानी मे 'ळ' ध्वनि की संभावना व्यक्त की है। संभावना इसलिये कि पाडुलिपियो मे उन्हे इसके लिए पृथक् से चिह्न नहीं मिला। परन्तु जो भी हो माध्यमिक राज० की कृति 'वेलि क्रिसन रुकमणी री', आधुनिक राजस्थानी की सतसई, बादली आदि मे यह ध्वनि है और इसे 'ल' चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है। ल/और/ल़/ दो स्वनिम है। इनके अल्पतम युग दल और दळ है। प्रथम का अर्थ समूह और द्वितीय का दलना, कुचलना आदि है।

अपभ्रंश का 'अ' प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे सुरक्षित रहा परन्तु जहा आद्य अथवा मध्य 'अ' के पूर्व या पश्चात दीर्घ स्वर वाला अक्षर हो तो अ > इ हो जाता है, पिशेल के अनुसार प्राकृत मे ऐसा नहीं होता।[१] प्रा प रा के कतिपय उदाहरण ये हैं

अगडकम् > अप० अगडउँ > इंडउँ (आदिनाथ चरित्र)

कपाट > ,, कवाँड > किमाड (,, ,,)

मारवाडी मे अ > इ होता है। 'किमाड' का प्रयोग भी लोकभाषा है और अपभ्रंश की प्रवृत्ति के अनुसार 'कवाँड' भी प्रचलित है 'कवाँड दे द्यो' और किमाड लगाद्यो' दोनो प्रयोग चलते हैं। 'कवाँड' अपभ्रंश के प्रभाव स्वरूप ही है। इसी प्रकार 'गिमार' (गवाँर) शब्द भी है।

इसी प्रकार 'अ' 'उ' मे भी परिवर्तित होता है। प्राकृत मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है, अपभ्रंश मे नही है।

प्रहर > अप० पहर > पुहर या पुहुर

'वेलि क्रिसन रुकमणी' मे अपभ्रंश रूप 'पहर' ही प्रयुक्त हुआ है

वधै मास ताइ पहर वधन्ति (छन्द १३)

श्मसान > अप० मसाण > मुसाण (उपदेशमाला बालावबोध) आधुनिक राजस्थानी मे अपभ्रंश 'मसाण' और प्रा प रा का 'मुसाण' दोनो प्रचलित है। 'मुसाणा' बहुवचन प्रयोग प्राय मिलता है। परवर्ती और पूर्ववर्ती 'उ' के कारण भी 'अ' 'उ' मे परिवर्तित हो जाता है

गरुड > गुरुड
दर्दर > दुर्दुर } (पचाख्यान)

कभी-कभी 'अ' का रूपातर 'अइ' हो जाता है। मारवाडी मे ऐसे स्थलो पर 'ऐ' होता है।

अपभ्रंश के आद्य 'अ' का लोप भी प्राय राजस्थानी मे होता है। यह प्रवृत्ति प्रा प रा से ही प्रारभ हो गई थी

अपभ्रंश अच्छइ > अछइ > छइ

मारवाडी ढूढाडी मे 'अइ', ऐ मे परिवर्तित हुआ है, 'छै' का प्रयोग लिग और वचन का अनुसरण करता है कुण छी (स्त्री०), कुण छै या 'कुण छा' (पुलि०)।

आत्मनक > अप० अप्पणउ > पणउ। तणउ का प्रयोग 'वेलि' मे है

कमलापति **तणी** कहेवा कीरति (छन्द-३)

श्रुति के रूप मे 'अ' का आगम राजस्थानी की विशेष प्रवृत्ति कही जा सकती है। यह प्रवृत्ति भी प्रा प रा मे ही प्रारभ हो गई थी

गर्भ > गरभ

जन्म > जनम

'वेलि' मे इस प्रकार की श्रुति के शतश उदाहरण हैं

अन्तर्यामी > अतरजामी

अदर्शन > अदरसणि आदि।

अपभ्रंश 'इ' के राजस्थानी मे निम्नलिखित परिवर्तन हुए है

(क) 'इ' दुर्बल होकर 'अ' हो जाता है।

(ख) ई' ह्रस्व हो जाता है।

त्रीणि > अप० तिण्णि > त्रण्णि

परन्तु पृथ्वीराज ने 'त्रिणि' = तीन का प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अप० के तिण्णि से ही अनुमत है। द्वित्त का सरलीकरण और 'इ' का पुन दीर्घीकरण

त्रिणि दीह लगन वेला आडा तै (छन्द-६६)

'इ' का दीर्घरूप ई भी होता है

नास्ति > प्राकृत मे णत्थि > नथी

'गुजराती' मे 'नथी' का प्रयोग सुरक्षित है, राजस्थानी मे भी इसका प्रयोग हुआ है। सूर्यमल मिश्रण की वीरसतसई का निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

नथी रजोगुण ज्या नरा वा पूरौ न उफाण (दोहा-८)

'वेलि' मे अन्त्य 'इ' का लोप और 'थ' के महाप्राण अश वाला रूप 'नह' पाया जाता है—

निसा पडी चालियौ नह (छन्द-४६)

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे अपभ्रश का मध्यम 'इ' 'य' मे परिवर्तित हुआ है

वैर > अप० वइर > वयर

परन्तु राजस्थानी मे 'इ' का यह रूप नही मिलता वरन् 'वैर' ही प्रयुक्त हुआ है। हाँ वीरसतसइ मे 'व' का 'ब' अवश्य हो गया है

बर घर **बैर** बसाविया दिन दिन लूबै धाड' (दोहा-९६)

अपभ्रश का 'अअ' प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे दो रूपो मे मिलता है

(क) या तो 'अअ' सयुक्त होकर 'आ' हो जाते थे, अथवा

(ख) दोनो 'अ' के बीच 'य' श्रुति आ जाती थी

रत्न > अप० रअण > रयण

वचन > ,, वअण > वयण

मदन > ,, मअण > मयण

'य' श्रुति वाला रूप भी अपभ्रश मे मिलता है—

त सुणेविणु **मयण** राएण (मयण पराजय चरिउ-१५)

वेलि मे भी 'य' श्रुति युक्त प्रयोग मिलते हैं

आयु **रमणी** लुटन्ति इम (छद-१८१)

अपभ्रश के 'अअ' और 'अआ' मे सामान्यत सधि हो जाती है। राजस्थानी मे ये सधीकृत रूप ही मिलते है

उष्णकालक > अपभ्रश उण्हआलउ > उण्हालउ (आदिनाथ च०)

यह प्रा प रा की स्थिति है। मारवाडी तथा अन्य बोलियो मे 'अउ' ओ मे परिवर्तित होकर 'उण्हालो' रूप मिलता है।

अपभ्रश 'अउ' का सकोचन राजस्थानी मे 'ऊ' के रूप मे मिलता है

अपभ्रश महु > मूँ

,, हउँ > हूँ

अपभ्रंश के इन प्रयोगों का आख्यान हेमचंद्र ने 'मावस्मदो हउं' (३७९) तथा महु मज्झु ङसि ङस्भ्याम् (३७५) सूत्रों मे किया है। इनके उदाहरण हैं

तसु हउं कलजुगि दुल्लहो तथा महु होन्तउ आगदो

'अउं' का यह संकोचन राजस्थानी के सभी विकास चरणों मे पाया जाता हुआ आज भी सुरक्षित है वेलि मे,

महण मथे **मूं** लीध महमहण (छंद ६२) तथा

कहिया **मूं** मैं तेम कहे

गावण गुणनिधि **हूँ** निगुण

वीर सतसइ मे 'हूँ' का प्रयोग अधिक है

हूँ बलिहारी राणियाँ (दोहा ९४,९५)

राजस्थानी वर्ग की मेवाडी मे 'मु' अधिक प्रचलित है।

अपभ्रंश 'इअ' का संकोचन 'ई' मे मिलता है

दिवस > अप० दिअह > दीह (प्रा प. रा)

'वेलि' मे भी यह प्रयोग मिलता है--

त्रिणि **दीह** लगन वेला आडा तैं (छंद-६६)

अपभ्रंश 'ए' प्रा प रा मे निम्नलिखित रूपो मे परिवर्तित हुआ है

(क) ए > इ

अम्हे > अम्हि

यह 'वेलि' मे भी है, 'ढोलामारू रा दूहा' मे भी है।

एवँ > इम

केवँ > किम

जेवँ > जिम

प्रा प रा. के ये प्रयोग वेलि मे भी उपलब्ध होते हैं

पहि **किम** पूजै पांगुली[18]

प्रमणन्ति पुत्र **इम** मात पिता प्रति (छंद-४)

जा सुख दे स्यामा नैं **जिम** (छंद-३१)

इस प्रकार माध्यमिक राजस्थानी मे तो ये प्रयोग मिलते हैं, पर आधुनिक राजस्थानी मे विरल है।

मध्यवर्ती अनुस्वार का पूर्ववर्ती स्वर जब दीर्घ हो जाता है तो अनुस्वार अनुनासिक मे परिवर्तित हो जाता है

सस्मरति > प्राकृत सभरइ > अप० सभलइ > माँभलइ। अपभ्रंश मे प्राकृत 'र' > ल हो गया है।

इसी 'साँभलइ' का पूर्वकालिक रूप 'वेलि' मे प्रयुक्त मिलता है

रथ वैठा साँभलि अरथ (६६)

स्मरण करने के अर्थ मे 'सभरइ' 'ढोला मारू रा दूहा' मे भी प्रयुक्त हुआ है।

अपभ्रंश का पदान्त अनुस्वार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे तो सुरक्षित रहा पर वाद मे नही मिलता —

अप० वल्लहहँ > वाहलाँ

मध्यवर्ती 'आ' मे प्राय अनुनासिक श्रुति के रूप मे आ जाता है--

ग्राम > गाँम

नाँम आदि प्रयोग मिलते हैं।

सामान्यत 'ज', 'य' मे परिवर्तित हुआ है---

अप० कहीज्जइ > कहीजइ > कहियइ

प्रा. प रा मे तो यह है ही, 'वेलि' मे 'कहिया' का प्रयोग है

कहिया मूँ मैं तेम कहे (३०२)

'क' का घोषीकरण भी हुआ है

कातिक > कातिग

चातक > चातिग

'त' का 'प' हो जाता है

जीतवउँ > जीपवउ

वेलि मे

जाणे वाद माँडियौ जीपण (३)

'ह' यदि अन्त्य अक्षर के दो स्वरो के वीच आए और पदान्त का एक भाग हो तो प्राय उसका लोप हो जाता है। दोनो स्वर प्राय सयुक्त हो जाते है, पर कभी-कभी वैसे ही रह जाते हैं

अप० करहहँ > करहाँ

'ढोलामारू रा दूहा' मे ये प्रयोग उपलब्ध है।

आद्य सयुक्त व्यञ्जन और उसके वाद वाले स्वर के वीच मे कभी-कभी 'र' का आगम हो जाता है। वहुधा ग, त, प, भ और स के साथ 'र' का आगम होता है। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश मे भी थी और प्रा प रा मे भी

गोध > गोहली > ग्रोहली > गिरोहली > ग्रीधणी

आधुनिक राजस्थानी मे भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

अपभ्रंश के द्वित्त व्यञ्जन प्रा प. रा मे नियमत सरलीकृत हो गए हैं। यही प्रवृत्ति आगे भी रही है---

अप० लच्छी > लाछी

महुमास लच्छि ण तरुवरेहिँ (सदेश रासक-३०५)

परन्तु वेलि मे लक्ष्मी से 'लिखमी' वना है

लिखमी समी रुकमणी लाडी (छद-३३)

आधुनिक राजस्थानी मे 'लिखमी' ही मिलता है। पालि और प्राकृत मे लक्ष्मी का लखमी होता है। राजस्थानी मे आदि 'अ' का इ मे परिवर्तन होकर 'लिखमी' वना है।

इसी प्रकार अप० पुत्तली > पूतली हो गया है

किरि कठचीत्र पूतली निज करि (छद-२)

उपर्युक्त परिवर्तनो के अतिरिक्त अन्य ध्वनि परिवर्तनो के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं-

१. कालिदी > कालिद्री (वे कि रु री)

२ कर्दम > कादो (,, ,,)

३ किजल्क > किजलक (,, ,,)

४ कीर्तन > कीरतन

श > स

५ किशुक > किसुक (,, ,,)

६ पलाश > पलास

७ केशव > केसव

क्ष > ख

८ क्षणान्तर > खिणतर

९ क्षीण > खीण

१०. क्षीर > खीर

११ क्षुधा > खुधा

ऋ > इ

यह परिवर्तन पालि मे ही हो गया था। ऋ के अ, इ और उ मे परिवर्तन पालि मे इस प्रकार मिलते हैं

नृत्य > नच्च

तृण > तिन

वृद्ध > वुड्ढो

प्राकृत अपभ्रंश मे यही परपरा रही।

वेलि मे—कृष्ण > किसन मिलता है।

ज्ञ > ग्य

वेलि मे ज्ञान और ज्ञाति को क्रमश 'ग्यान' और ग्याति लिखा गया है।

भ, घ > ह

गभीर > गुहिर (वेली)

सिहनी > सीहणी (वीर सतसई)

मेघ > मेह

दो महाप्राण एक साथ आने पर प्रथम के अल्पप्राण होने के उदाहरण भी मिलते है

भाभी > वाभी

न > ण

अपभ्र श की विशेष प्रवृत्ति थी जो राजस्थानी मे भी मिलती है

धनी > धणी

खाना > खाणो

पीना > पीणो

अतएव ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से राजस्थानी ने प्राकृत अपभ्रश की परपरा को सुरक्षित रखा है।

(ख) रूपवैज्ञानिक विवेचन

रूपवैज्ञानिक विवेचन में दीर्घ उक्तियो को उनके लघुतम सरचको मे विभक्त कर इन सरचको का कार्यकलन की दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित होता है। रूपरचना मे सरलीकरण की प्रक्रिया आर्यभाषाओ के मध्यकाल मे ही प्रारभ हो गई थी। प्राकृतो मे दो लिंग और दो वचन रह गए थे। अपभ्र श मे भी दो वचन है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे भी दो वचन है एक वचन और बहुवचन। प्राकृतो मे सस्कृत के सन्धि नियम शिथिल हो गए थे। हलन्त सज्ञाएँ न रहने के कारण उनकी कारकावली भी सरल हो गई। करण, अपादान और सप्रदान-सबध के रूपो मे समानता पालि मे ही आ गई थी, कर्ता और कर्म भी समरूप होने लगे। वैभक्तिक प्रत्ययो के स्थान पर स्वतन्त्र शब्दो का प्रयोग प्राकृत मे ही होने लगा था, अपभ्र श मे भी यह प्रवृत्ति चलती रही। सर्वनामो मे जटिलता रही पर एकरूपता का आधार इनमे भी खोजा जा सकता है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे टेसीटोरी के अनुसार 'नियमत सभी सज्ञाओ के रूपान्तर केवल करण, अपादान, अधिकरण और सम्बोधन मे ही होते है। अन्य कारको मे केवल स्वरान्त प्रातिपदिक ही होते है, व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक अपरिवर्तित रहते है', यद्यपि इसमे कुछ अपवाद मिलते हैं।

कर्त्ता-कर्म एकवचन

पुल्लिग स्वरान्त प्रातिपदिको मे-उ प्रत्यय लगता है। अपभ्र श व्याकरण मे हेमचद्र ने इस स्थिति का आख्यान किया है। सूत्र है 'स्यमोरस्यात्' अर्थात् अपभ्र श मे प्रथमा और द्वितीया के एकवचन सज्ञा शब्दो के अन्त्य 'अ' का 'उ' होता है। 'सि' और 'अम्' क्रमश प्रथमा (कर्ता) एक० व० और द्वितीया (कर्म) एकवचन के बद्ध रूपिम हैं। हेमचद्र ने दहमुहु भुवण भयकरु तोसिअ सँकरु उदाहरण दिया है। दहमुहु (दशमुख) पुल्लिग एकवचन का कर्ताकारकीय रूप है और 'सकरु' द्वितीया एकवचन पुल्लिग रूप। प्राचीन राजस्थानी मे भी यह प्रवृत्ति रही है—

प्राहुणउ (आदिनाथ चरित्र)
कुशीलउ (आदिनाथ चरित्र)
विवेकरूपीउ हाथीउ (शीलोपदेशमाला)

परन्तु माध्यमिक और आधुनिक राजस्थानी मे यह प्रवृत्ति नही है। इसके साथ ही अपभ्र श मे एक और प्रवृत्ति विभक्ति लोप अथवा शून्य विभक्ति की भी पाई जाती है। हेमचद्र ने कहा है —

स्यम्-जस्-शसा लुक् ॥३४४॥

अर्थात् सि, अम्, जस् और शस् मे विभक्ति का प्राय लोप होता है। सि, अम्, जस् और शस् क्रमश प्रथमा एक०व०, द्वितीया एक०व०, प्रथमा ब०व० और द्वितीया बहु० व० के रूपिम हे। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे व्यजनान्त और आकारान्त प्रातिपदिक निर्विभक्तिक पाए जाते है। विकल्प से इकारान्त प्रातिपदिको की भी यही स्थिति रही है। कभी कभी व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक भी उ-विभक्ति ग्रहण कर लेते हैं। राजस्थानी मे लोप की यह प्रवृत्ति है। कर्ता एकवचन और बहुवचन मे प्रातिपादिक ही पद के रूप मे प्रयुक्त होते है। बहुवचन मे भी ब० व० सूचक रूपिम जोडा जाता है, कर्ता की कोई विशेष विभक्ति नही होती। आधुनिक राजस्थानी के

घोडो घास खार्‌या है १
घोडा घास खार्‌या है—२

प्रथम वाक्य मे 'घोडो' एक वचन मे कर्ता विभक्ति शून्य है, द्वितीय मे 'आ' बहुवचन सूचक है, कर्ताकारक की विभक्ति नही है। प्रातिपदिक ही पद के रूप मे कार्य कर रहा है। 'वेलि' के व्याकरण के प्रसग मे कर्ता और कर्म की शून्य विभक्ति भी प्रदर्शित की गई है—

१ जाणे वाद माँडियो जीपण
वागहीन वागेसरी (छद-३)

उपर्युक्त उदाहरण मे वाणहीन कर्ता एक वचन है, इसके साथ कर्ताकारक की विभक्ति नही है।

२ राजति एक **भीखमक राजा**।
सिरहर अहि नर असुर सुर (छद-१०)

इसमे भी कर्ता 'भीखमक राजा' कर्ताकारक विभक्ति रहित है। कर्मकारक मे भी यही स्थिति है

१ पेखि रुखमणी **जल प्रसन** (छद-१३२)
२ वेलखि अणी मूठि द्रिठि वन्धि (छद-१३१)
३ केस उतारि विरूप कियौ (छद-१३४)
४ करै भगति राजान क्रिसन ची (छद-१४६)

ढोलामारू रा दूहा मे भी विभक्तिरहित कर्ता और कर्म के प्रयोग मिलते हैं

कूझड़ियाँ कलख कियउ (दोहा-५४)

उपर्युक्त उदाहरण मे 'कूझडियॉ' और 'कलख' क्रमश कर्ता और कर्म मे प्रयुक्त हैं परन्तु इनमे इन कारको की विभक्तियाँ नही है। परन्तु 'ढोला मारू रा दूहा' मे ही कर्ताकारक मे अपभ्रंश का 'उ' भी मिलता है

जोवण आँवउ फलि रह्यउ (दोहा ११७)

कर्मकारक मे भी यह 'उ' प्रयुक्त हुआ है

ढाढी एक **सदेशडउ** ढोलइ लगि लइ जाइ (दोहा-१२१)

भविष्यकाल के प्रयोगो में कर्ता विभक्तिरहित भी है

जोवण वधन तोडसइ

इससे यह स्पष्ट होता है कि 'ढोलामारू रा दूहा' मे 'उ' विभक्ति और शून्य विभक्ति वाले दोनो रूप प्रयुक्त हुए हैं। 'वेलि' मे केवल शून्य विभक्ति वाले रूप। अपभ्रंश मे जहा प्रातिपदिक के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'उ' होता था, 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा मे प्रातिपादिक के साथ 'उ' पृथक् से जोडा गया है आँवउ, सदेसडउ आदि

परन्तु उन्नीसवी शताब्दी की 'वीर सतसई' मे कर्ता और कर्म विभक्ति रहित ही हैं

१ धणिया पग लूवी **धरा**, अवखी ही घर आय (दोहा-३२)। 'धरा' स्त्रीलिंग है और विभक्तिरहित भी।

२. **तियाँ** धरीजै चाव (दोहा-३३)। 'तियॉ' बहुवचन स्त्रीलिंग है, विभक्ति यहाँ भी नही है।

३ एथ धराणै **सोहणी** कवर जणै सो काल उपर्युक्त उदाहरण मे कर्ता और कर्म दोनो मे शून्य विभक्ति है।

४. नागण जाया **चीटला**, सीहण जाया **साव**
राणी जाया नहँ एकै, सो कुल वाट सुभाव (दोहा-४०)

इस प्रकार माध्यमिक राजस्थानी और आधुनिक राजस्थानी मे कर्ता और कर्म एकवचन तथा बहुवचन मे शून्य विभक्ति के साथ ही मिलते है। शून्य विभक्ति का कार्यफलन गणित के शून्य सदृश है। जसे शून्य के योग से अक मे कोई अतर नही आता। वैसे ही शून्यविभक्ति के योग से प्रातिपदिक अप्रभावित रहता है। वस्तुत शून्य विभक्ति की परिकल्पना नियम पालनार्थ है। पाणिनि ने इस परिकल्पना का सूत्र-विन्यास किया था। आधुनिक राजस्थानी का निम्नलिखित उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है

ओ भूडो **बगत**
दिन रात म्हारै पसवाडै मे
रसोली ज्यू कुलै (जागती जोत, पृ० ४७)

कर्ता 'बगत' पुल्लिग एक० व० विभक्ति रहित है।

रात घनख डोर ज्यू तणाव
रीस मे भरियोडी (वही-पृ० ४८)

'रात' स्त्रीलिग एक० व० भी विभक्तिरहित है।

अतएव यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजस्थानी के विकास स्तरो मे अपभ्र श की स्यम्-जस्-शसा लुक् प्रवृत्ति ही चली। 'स्यमोरस्यात्' सूत्र का विधान वहुत कम पाया जाता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे भी स्त्रीलिग शब्द विभक्ति रहित प्रयुक्त हुए है। नपुसक लिग शब्द लिग सकोचन के कारण पुल्लिगवत् रूप रचना वाले होते है। इनमे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे अपभ्र श का 'ऊँ' मिलता है, पर कालान्तर मे यह भी लुप्त हो गया। व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक और 'इ', 'ई', 'उ' और 'ऊ' अन्त वाले प्रातिपदिक तथा स्त्रीलिग प्रातिपदिक निर्विभक्तिक ही प्रयुक्त हुए मिलते हैं। अपभ्र श और प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की यही प्रवृत्ति आधुनिक राजस्थानी मे पाई जाती है। वस्तुत यह भी सरलीकरण की प्रक्रिया का ही प्रतिदर्श है। इस प्रकार अपभ्रश मे कर्ताकारक के रूपिम 'सि' के योग से सज्ञा शब्दो के अन्त्य स्वर मे परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन 'सि' रूपिम और शब्द के अन्त्य स्वर मे सधि के कारण नही होता। हेमचद्र ने कर्ता का चिह्न 'सि' माना है, जैसे पाणिनी ने 'सु' माना है। आधुनिक भाषाविज्ञान की शब्दावली मे 'सि' वद्ध रूपिम है। शून्य इसी 'सि' का सहरूपिम है। आधुनिक राजस्थानी मे इसी सहरूपिम का प्रचलन रह गया है, अन्य सहरूपिम काल के प्रवाह मे लुप्त हो गए है।

अपभ्रंश मे करण कारक के लिये ६ सूत्र हेमचद्र ने दिए है---

१ एट्टि अपभ्र श मे तृतीय एकवचन के रूप मे सज्ञा शब्द के अन्त्य 'अ' के

स्थान पर 'ए' होता है, यथा दइएँ। दइ मे एँ करण एकवचन का सूचक है। सूत्र मे 'एँ' के ँ का निर्देश नही है।

२ आट्टोणानुस्वारौ अपभ्रंश मे तृतीया एकवचन मे 'ण' और अनुस्वार आदेश होते है।

३ एँ चेदुत इकारान्त और उकारान्त शब्दो के परे तृतीया एक० व० की विभक्ति 'टा' को 'एँ' आदेश होता है। 'च' से सूत्र सख्या दो का भी ग्रहण किया जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'अग्गि' जैसे प्रातिपदिक के तीन रूप हो सकते है अग्गिएँ, अग्गिण और अग्गि। ध्यातव्य है कि एँ, ण और तीनो मुक्त वितरण (Free distribution) मे है। मूल शब्द मे रूप स्वनिमिक (Morphophonemic) परिवर्तन नही होता। किन्तु उकारान्त मे यह परिवर्तन होता है, वायु से वाएँ बनता है।

४ टए स्त्रीलिंग शब्दो मे 'टा' को एँ आदेश होता है--

चन्द्रिमा + टा → चन्द्रिम + एँ → चन्द्रिमएँ

५ भिस्सुपोर्हि तृतीया बहुवचन की विभक्ति भिस् परे होने पर 'हिं' आदेश होता है, शब्द के अत मे कोई भी स्वर हो सकता है।

गुण | भिस् → गुणहि

६ भिस्येद्वा — सज्ञा शब्द के अन्त्य 'अ' को तृतीया ब० व० की विभक्ति परे रहते विकल्प से 'ए' होता है गुण + भिस् → गुणे। इस प्रकार तृतीया के बद्ध रूपिम टा के निम्नलिखित सहरूपिम होगे

ए--	अन्त्य 'अ' पु० ए० व० के परिवेश मे
एँ/ण —	इ और उ पु० ए० व० के परिवेश मे
ए	स्त्रीलिंग एक० व० के परिवेश मे
हि	ब० व० मे किसी भी स्वर के परिवेश मे

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे करण कारक एकवचन के दो विभक्ति चिह्न मिलते है ईं (इ) और इऊँ (—इहिँ)। प्रथम का विकास अपभ्रंश के एँ से माना गया है, द्वितीय का प्राकृत 'एहिं' से, अपभ्रंश मे प्राकृत 'एहिं' का 'हिं' ही रह गया है। टेसीटोरी के अनुसार प्रथम का प्रयोग नियमत स्वरान्त प्रातिपदिको के साथ ही होता है, दूसरे का प्रयोग विरल है। व्यञ्जनान्त प्रातिपदिको के साथ 'हिं' का प्रयोग अधिक प्रचलित है। कभी-कभी ये प्रातिपदिक विभक्ति से मुक्त भी होते है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के उदाहरण निम्नलिखित है

पसाइँ (शालिभद्र चउपइ)
वाइँ (दशवैकालिका सूत्र)
राइँ (उपदेशमालावालावबोध)
पायीइँ (पञ्चाख्यान)

पाणीइँ (दशवैकालिक सूत्र)

स्त्रीलिंग मे भी 'मालाइँ' मिलता है, अपभ्र श मे 'ए' प्रयुक्त होता था।

रूपिहि, दैविहि जैसे प्रयोगो मे टैसीटोरी ने 'इहिँ' प्रत्यय माना है। मेरा मत है कि प्रत्यय तो 'हिँ' ही है, इसके पूर्व 'इ' का आगम रूपस्वनिमिक परिवर्तन के कारण है। टैसीटोरी के ही अनुसार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का 'अइँ' मारवाडी मे 'अइ' हो जाता है।

वेलि की भाषा मे करणकारक के सहरूपिम निम्नलिखित हैं

शून्य (०), इ, ए, सू, करि, और आ

'इ'	का उदाहरण	जेणि उपायौ, जेण→जेणि	(छद, २)
ए	,, ,,	विचित्रे सखिए समावृत	(' १६१)
करि	,, ,	मुख करि किसू कहीजै माहव	(,, ६४)
शून्य	,, ,,	(१) एकणि ग्रहियौ अगुली	(,, ८४)
		(२) भूप कणय तुलता भू भाति	(,, २१२)
		(३) क्रिसा अग मापित करल	(,, १६)

इसके अतिरिक्त सस्कृत के रूप भी प्रयुक्त हुए है करेण, जनेन। अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं

१	चात्रण खल खगि खेत्र चढि	(२७८)	(इ)	
२	छत्रे अकास एम औछायौ	(१४४)	(ए)	
३	ऊजलियाँ धाराँ ऊवडियौ	(१२०)	(आँ/याँ व व)	
४	निहसे वूठौ घण विणु नीलाणी	(१९७)	(ए)	
५	पकवाने पाने फले सुपुहपे	(२३०)	(ए)	(ब व)
६	परनाले जल रूहिर पडै	(१२०)	(ए)	(ब व)
७	वलि रितुराइ पसाइ वेसन्नर जण भुरडीतौ रहै जगि	(२५४)	(इ)	

'अपभ्र श की ही तरह 'अ' पुल्लिग एकवचन के परिवेश मे तो 'ए' आया ही है, बहु व मे भी प्रयुक्त हुआ है

अपभ्रश मे गुण + भिस्→गुणे

वेलि मे पान + ,, →पाने

फल + ,, →फले

सुपुहप + ,, →सुपहुये

परनाल | ,, →परनाले

छत्र + ,, →छत्रे

लेकिन 'इ' जहा है वह अन्त्य 'अ' के स्थान पर ही है

खग + टा→खग् — अ + इ→खगि

पसाअ+टा→पसा—अ | इ→पसाइ

करण बहुवचन में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ए तृतीया ब० व० में मिलता है, इँ भी प्रयुक्त हुआ है, इहिँ भी है। अपभ्रंश में तृतीया ब०व० में 'ए' स्त्रीलिंग में और 'हिं' अन्यत्र प्रयुक्त होता था। परन्तु राजस्थानी में तृतीया ब० व० में-ए स्त्रीलिंग में ही सीमित नहीं रहा, पुल्लिंग में भी चला। 'हिं' का 'इँ' ही रह गया। वेलि की भाषा में बहुवचन में 'आँ' भी प्रयुक्त हुआ है। वीर सतसई में भी बहु० व० में 'आँ' माना जा सकता है

१ **तुंडा** गज **फेटाँ** तुरी डाढां भड वौझाड (दोहा-५७)

२ **भाला** थभ बणाय (दोहा-६०)

तुड (एक० व०) तुडा (ब० व०)

फेट (,, ,,) फेटाँ (,, ,,)

भालो (एक० व०) भाला (ब० व०) भाला (ब० व०)

३ भर खप्पर वाल्है **रुहिर** (रुधिर से)

आधुनिक राजस्थानी में करण कारक की अभिव्यक्ति पृथक् शब्द से कराई जाती है। 'सू' ऐसा ही परसर्ग है, अचर तत्व है, लिंग—वचन और पुरुष से प्रभावित नहीं होता।

मिया-मिया सबदा सू नी

वा सबदा रै लारै लुक्योडो

एक उतावली हॉफ सू अरथ दिया करतो। (जागती जोत, पृ० ५३)

वीर सतसई के 'भाला', 'तुडा' में ब० व० और तृतीया ब०व० का एकीकरण है। आधुनिक राजस्थानी के उपर्युक्त उदाहरण में 'सबदा' केवल ब० व० है। करण-कारकीय परसर्ग 'सू' पृथक् से प्रयुक्त हुआ है। गद्य में भी यह 'सू' ही चलता है

(क) एक निजर सू देखा।

(ख) ईं दीठ सू विचार करा।

इसके साथ ही पगा-पगा चाल जैसे प्रयोग भी मिलते हैं।

इस दृष्टि से आधुनिक राजस्थानी प्राकृत-अपभ्रंश से पृथक् हो गई है। करण कारक में योगात्मक रूप नहीं मिलते, परसर्गीय 'सू' वाली संरचनाएँ ही प्रयुक्त होती हैं। माध्यमिक राजस्थानी तक ही अपभ्रंश का प्रभाव रहा है।

अपादान के संदर्भ में अपभ्रंश में निम्नलिखित विधान का कथन है

ङसि~हे अकार/इकार/उकार से परे और स्त्री एक वचन में

(ङसि-भ्यस्ङीना हे हु हय , ङसेर्हेहु)

ङस् ङस्यो र्हे)

हु अकार से परे ब० व० मे

(ष्यसो हु)

हुँ इकार/उकार से परे ब० व० मे

हु अकार से परे एक० व० मे

(ङसेर्हुं)

अपादान कारक के लिए प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे—आँ और ओ दो बद्ध रूपिम है। प्रथम का प्रतिबधित प्रयोग सर्वनामो के स्थानवाचक क्रिया-विशेषण रूपो के साथ होता है, जैसे तिहाँ, ताँ, जिहाँ, जाँ आदि। परन्तु, ये रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे कम मिलते हैं। विचित्रता यह है कि इसी प्रा प रा से विकसित मारवाडी मे 'आँ' वाले अपादान रूप अधिक प्रयुक्त होते है और गुजराती मे इनका अभाव है। टैसीटोरी ने इस आँ को अपभ्रंश मे प्रयुक्त अपादान बहुवचन रूपिम अहुँ से निकला हुआ कहा है तथा मारवाडी के 'आँ' मे अ (ह) उँ का सकोचन विशेषता के रूप मे स्वीकार किया है। परन्तु, हेमचद्र के अनुसार अपभ्रंश मे प्रयुक्त अपादान कारकीय रूपिमो मे —'अहुँ' का परिगणन नही हैं, वहाँ पर रूपिम —'हुँ' है। आँ वाले अपादान रूपो के उदाहरण टेसीटोरी ने निम्नलिखित दिए है——

१ कोपा जलि थयउ

२ सुख केडाँ दुख आवइ

द्वितीय अपादान कारकीय रूपिम प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे ओ है। इसकी व्युत्पत्ति अपभ्रंश अहु से मानी गई है, पर जैसा कि उपरिलिखित सूत्रो से स्पष्ट है, अपभ्रंश मे सीधे—'हु' का आदेश है। विभक्ति अहु मानकर पुन हु का विधान नही किया गया है। प्रा प रा मे ये प्रयोग नही हुए है जहाँ अपादान सज्ञा रूप के बाद अधिकरण सज्ञा रूपो से युग्म बने है

हाथो-हाथइँ, खण्डो-खण्डि, दिसो-दिसि

मध्यकालीन राजस्थानी मे (वेलि मे) अपादान के लिए निम्नलिखित सहरूपिम मिलते हैं

०, हूँ, हुँताँ, हुँती, हुँवा,

हूँत, हूँता, हूँती, हूँतो, प्रति

हूँ का उदाहरण	हूँ ऊधरी पताल हूँ
हुँता ,, ,,	कुन्दणपुर हुँता वसा कुन्दणपुरि
हूँत ,, ,,	दखिण हूँत आवतो उतर दिसि
हूँता ,, ,,	कुसमथली हूँता कुन्दणपुरि
हूँती ,, ,, —	हूँ ऊधरी त्रिकुटगढ हूँती

इन रूपो मे अपभ्रंश का केवल प्रथम अर्द्धांश ही है। पुन अपभ्रंश मे यह अर्द्धांश

भी विभक्ति की तरह अर्थात् प्रातिपदिक के साथ संयुक्त होकर प्रयुक्त होता था, जैसे 'वच्छहु' आदि मे। माध्यमिक राजस्थानी मे यह एक परसर्ग की भाँति प्रयुक्त हो रहा है।

वीर सतसई मे 'थी' अपादान कारकीय परसर्ग के रूप मे प्रयुक्त हुआ है

'देखीजै निज गोख थी' (दोहा-८८)

वीर सतसई मे 'हूत' अधिकरण मे भी आया है

धावा कत पधारिया, पावाँ हूत प्रणाम (दोहा-११७)

आधुनिक राजस्थानी की वोलियो मे 'सू' परसर्ग अपादान कारक मे प्रयुक्त होता है

'ओ ही कारण है कै शौरसेनी प्राकृत सू विगस्योडी गुर्जरी अपभ्रंस सू निकली जूनी गुजराती या राजस्थानी री परपरागत कविता ऊपर कथणी अर मडणी दोन्यू ही द्रिस्टिया सू अपभ्रंस रो पूरो अर गैरो असर दीखै है।' (जागती जोत, पृ० ३१)

अपादान के उपर्युक्त विवेचन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत अपभ्रंश का प्रभाव आशिक रूप से माध्यमिक राजस्थानी तक ही रहा। आधुनिक राजस्थानी मे प्रयोगात्मक स्थिति है, पृथक् से परसर्ग प्रयुक्त होता है। करण-कारकीय और अपादान कारकीय रूप एक हो गए है।

जहा तक 'सूं' की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, यह 'हूँ' का परिवर्तित रूप हो सकता है। 'स' का राजस्थानी मे 'ह' होता है, सभवत 'हूँ' से 'सूं' विपर्ययित परिवर्तन हुआ हो। एक और प्रयोग भी अपादान मे मिलता है

'जोधपुरु आयो है'

अर्थात् प्रातिपदिक के साथ 'उँ' जुडता है, यह निश्चय ही अपभ्रंश 'हुँ' का अवशेष है। इस दृष्टि से 'सू' और 'उँ' दोनो ही मूल रूप अपभ्रंश की परपरा से आए प्रतीत होते है। काल प्रवाह मे ध्वनि-परिवर्तन हो गया है।

सम्बन्ध कारक

अपभ्रंश मे सबध कारक एकवचन मे अकारान्त शब्दो के आगे 'सु', हो, स्सु आदेश होते है—ङस सु हो स्सव। पर, तस और दुल्लह के इसके अनुसार परस्सु, तसु और दुल्लहो रूप बनते है। इस प्रक्रिया मे भी रूपस्वनिमिक परिवर्तन नही होते।

बहुवचन मे अकार के परे 'ह' आदेश होता है 'आमो ह'। इकारान्त और उकारान्त शब्दो मे परे 'हुँ' आदेश होता है हुँ' चेदुद्भ्याम्'। सूत्र मे आए 'च' से पूर्वसूत्र का 'ह' भी ग्रहण करना पडेगा। अर्थात् इकारान्त और उकारान्त के आगे 'ह' और 'हुँ' दोनो हो सकते है।

तरु + आम् → तरु + हु → तरुहुँ
सउणि + ,, → सउणि + ह → सउणिहँ

सूत्र मे 'हुँ' और 'ह' है, पर उदाहरणो मे '॰' दिया गया है।

स्त्रीलिंग सज्ञा शब्दो मे षष्ठी बहुवचन मे 'हु' आदेश होता है—'भ्यसामो हुँ'

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे 'ह' प्रत्यय का प्रयोग रहा और सभवत सभी प्रातिपदिको के साथ समान रूप से प्रयुक्त होता था। पर बाद मे यह लुप्त हो गया और प्रातिपादिक ही पद के सदृश प्रयुक्त होने लगा। फिर भी 'अ अ' वाले रूपो के साथ इसका प्रयोग मिलता है। गद्य मे यह 'ह' वाला रूप नही मिलता, पर पद्य मे मिलता है जैसे

वन > वनह
सुपन > सुपनह
कटक > कटकह

उपर्युक्त वन, सुपन, कटक आदि व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक कहे गए है। स्वरान्त के साथ यह सधि मे घुल गया। 'ई' और 'ऊ' वाले प्रातिपदिको मे 'ह' के अवशेष पाए जाते है और इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं

'बाँधिया हाथीया'
'सोसइ तालुआ'

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे स्त्रीलिंग इकारान्त और उकारान्त प्रातिपदिको मे यह प्रत्यय एकदम छूट गया प्रतीत होता है। सबधकारक बहुवचन मे रूप तो एकवचन की ही भाँति होता है पर सानुनासिक होता है। अपभ्रंश मे 'हँ' होता था जिसके पूर्व का 'अ' विकल्प से 'आ' हो जाता था। इस प्रकार दो रूप बनते थे 'अहँ' और 'आहँ'। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे 'अहँ' और 'आहँ' सकुचित होकर आँ हो जाता है, जैसे

करहाँ,
वाहलाँ
पागलाँ
घोडाँ
चारित्रियाँ

वैसे 'गयाँह' और 'नयणाँह' जैसे उदाहरण भी कही-कही मिलते है।

माध्यमिक राजस्थानी मे सबधकारक के लिए पृथक् से परसर्गों का प्रयोग मिलता है

रो, को, चो, तण, तणो, तनि

इनके अतिरिक्त 'आँ' और 'काँ' भी वैभक्तिक प्रत्यय है।

१	वयण डेडराँ किसो वस वयण डेडराँ = मेंढकों के वचन	आँ (छंद-५)
२	कामणि करग सु वाण काम रा वाण कामरा — काम के वाण	(,,– २३) रा
३	वाककति करि हंस चौ बालक हंस चौ बालक = हंस का बच्चा	(,, १२) ('चौ' का ब व रूप चाँ है। एवं स्त्रीलिंग रूप भी)
४	कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन तिणि तणौ कीरतन = उनका कीर्तन	तणौ (,, ६०)
५	हलधर काँ वाहताँ हलाँह हलधर के (काँ) चलाए हुए हलों में	काँ (,, —१२४)
६	ययाति किसी राजवियाँ रवालाँ राजवियाँ = राजवंशियों का	याँ
७	वेलि गलि तरुवराँ विलागी गलि तरुवरा वृक्षों के गले	आँ (,, २५१)
८	क्रमियौ तासु प्रणाम करि उसे प्रणाम करके चला	सु
९	तिहि कुसुमित देखे उसको कुसुमित देखा	
१०.	दलाँ दुँह दोनों दलों की	आ
११	पुहपा, पाता	आँ
१२	वरहासाँ नासाँ वजन्ति घोड़ों के नथुने बज रहे हैं	आँ

वेलि के उपर्युक्त उदाहरणों में अपभ्रंश का 'सु' है, 'आहँ' का संकुचित रूप 'आँ' है। याँ में भी आँ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त तणौ, तणी, चौ/चाँ/ची, तथा रा, री आदि परसर्ग हैं। मध्यकालीन राजस्थानी में, इस प्रकार अपभ्रंश का प्रभाव भी है और विकास के दौर में गृहीत परसर्गीय प्रवृत्ति भी। परन्तु इन रूपों का इतिहास स्पष्ट है, विकास यात्रा की पूरी रूपरेखा राजस्थानी के तीनों चरणों में सुरक्षित है।

वीर सतसई में संबंधकारक एक व में शून्य भी मिलता है—

१	वाणी जगराणी वले मैं चीताणी मूढ (वाणी जगरानी का चिन्तन किया)	शून्य (दोहा—२)
२	सुमिरण लग्गा वीर सब, वीरा रौ कुलवाट वीरा रौ कुलवाट = वीरों का कुलमार्ग	रौ (,, ६)

३	वीर धणी रौ धान वीर स्वामी का अन्न	रौ
४	डाकी ठाकर रौ रिजक, ताखा रौ विष एक जबरदस्त स्वामी का रिजक और तक्षक का विष एक है	रौ (,, १२)
५.	निज भग्गा तो नाह रौ, साथ न सूनो टाल	रौ
६	पण वण रौ किम पेखही, नयण विणट्ठा नाह	
७	भड घोडा रा भामणा जेथ जुडीजै कत	रा (,, २०)
८	मिजमानी री वार	री
९	वीर जमीरा जे जणै	रा
१०	सतियाँ आयो साथ सतियाँ साथ = सतियो का समूह	आँ
११	धणियाँ पग लूबी धरा धणियो के पैरो से लटकती धरती	आँ
१२	वाजा रै सिर चेतनो, भ्रूणा कवण सिखाय	रै (,, ५१)
१३	घोडा घर ढाला पटल, भाला थभ वणाय	आँ
१४	कोसा चा सुण ढोलडा ऊठे नीद विछोड	चा
१५	धणी रै रुण्ड (धणी का शरीर)	रै
१६	वव सुणीजै पार को, लीजै हात लगाम	को
१८	आपा रा मिजमान	रा
१८	पहर धणी चा पूगरण धनी के वस्त्र पहनकर	चा (,, १०६
१९	चीत खटक्कै मास चौ	चौ
२०	जोडी हदा घोर जम, रोडी हदा राव	हदा (पजाबी) = का (,, १७७)

उपर्युक्त उदाहरणो के परीक्षण से ज्ञात होगा कि अपभ्रंश से प्रभावित 'आँ' वाले सबधकारकीय रूप उन्नीसवी शताब्दी की सतसई मे अत्यल्प है। 'हदा' परसर्ग तो एक दोहे मे आया है। अधिकाश प्रयोगो मे 'रौ' परसर्ग का ही प्रयोग हुआ है। 'रौ' वचन और लिंग से प्रभावित होता है, परिणामत रौ, री, रा, तीनो रूप चलते हैं। इस समय तक अपभ्रंश का प्रभाव इस सदर्भ मे बहुत कम रह गया है। सबधकारकीय परसर्ग 'को' भी प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक राजस्थानी मे 'का', को', की जैसे, 'कुण को बेटो', 'कुण का बेटा', 'कुण की बेटी' प्रयोग होते है। रा, रौ तो बहु प्रयुक्त है ही। आधुनिक राजस्थानी के कतिपय उदाहरण यहा दिए जा रहे है।

१ "समाज सुधार री लहर रै साथै प्रवासी राजस्थानी लेखका वृद्ध-
विवाह, दहेज, जीमण रै बारै में जिकी रचनावा करी"

(जागती जोत पृ० ५५)

२ अर टेम री नस पिछाणवो
वीया भी देश भगती है
सिरकार री सोराई सारू
नसवदी पैला हीजडो कैवाडजणो

३ जिको, किण रै ई मार्ई
किण रै ई भतीजो
किण रै ई काको (वही पृ० ५२)

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि प्राकृत-अपभ्र श के विभक्ति प्रत्यय माध्यमिक राजस्थानी और प्रत्यल्प रूप मे उन्नीसवी शती की राजस्थानी मे भी रहे। परन्तु आज की राजस्थानी मे सबध अर्थ व्यक्त करने के लिए परसर्ग ही प्रयुक्त होते है, कही-कही शून्य भी। सर्वनामो के साथ भी यही रो, री, रा जुडते है—थारो, यारो, म्हारो, म्हारा, म्हारी, वणी री, वणी रा आदि आधुनिक राजस्थानी के सिद्ध प्रयोग है। एक उदाहरण देखे —

"थारो, म्हारो व्याव कोनी हो सकै
म्है विरज री एक गूजरी
थारी जान री किण विध खातरी करस्यूं"

अपभ्र श मे सप्तमी एक व० मे प्रातिपदिक के अन्त्य 'अ' को 'इ' और 'ए' होते है। 'इ' और 'ए' मे मुक्त वितरण है, यह निश्चित नही है कि अ' का 'इ' कहाँ हो और 'ए' कहाँ)डि ने च्च)

ङसि-भ्यस्ङीना हे-हू-हय सूत्र के अनुसार अन्त्य 'इ' और उकार को सप्तमी एकवचन मे 'हि' आदेश भी होता है। सप्तमी वहुवचन मे भिस्सुपोहिं सूत्र से हिं आदेश होता है।

स्त्रीलिग शब्दो मे सप्तमी एकवचन मे ङि को 'हि' आदेश होने का विधान भी निहित है। हेमचद्र ने सस्कृत की ङि विभक्ति को आधार रूप मे ग्रहण किया हैं। रूपवैज्ञानिक धारणा के अनुसार 'ङि' वद्ध रुपिम है तथा इसके परिपूरक वितरणीय सहरूपिम निम्नलिखित है

ङि~ इ/ए (मुक्त वितरण मे) अन्त्य 'अ' के परिवेश मे
हि अन्त्य इ और 'उ' के परिवेश मे
हिं वहुवचन के हेतु
हि स्त्रीवाचक प्रातिपदिक के परिवेश मे

अपभ्र श के उपर्युक्त सहरूपियो मे दो ही रूप प्रमुख है हिँ (हि) और

/इ/ये दोनो ही रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे भी प्रयुक्त होते रहे, परन्तु ध्यातव्य यह है कि 'हिं' भी —इ (इँ) के रूप मे रह गया था। अपभ्रंश की भांति हिं' 'अ' को छोडकर शेष स्वरान्त प्रातिपदिको के साथ आता था, इ/ए अकारान्त के साथ। टैसीटोरी ने हिँ अथवा हि प्रत्यय से निष्पन्न रूपो के उदाहरण निम्नलिखित दिये हैं—विद्याइ, शिविकाइँ, रात्रइ, आदि परन्तु घरि, सूरि, गोअलि, पेटिमझारि आदि रूपो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश के ए, एँ, इ से मानी जाती है।

पुल्लिंग और आ, ई तथा ऊ अत वाले प्रातिपदिक अइ और—अइँ प्रत्यय ग्रहण करते है नगरीअइँ, नगरीयइँ आदि। अधिकरण ब० व० मे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे प्रयुक्त होने वाला प्रत्यय ए है

श्रवणे, कॉने, घणी देसे आदि

इस प्रकार अधिकरण मे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे प्रयुक्त प्रत्यय है—

—इ अथवा हू (अपभ्रंश हिँ अथवा हि से व्युत्पन्न)
इ (ए/इ से व्युत्पन्न)
अइ और अइँ
ए बहुवचन मे

माध्यमिक राजस्थानी कृति वेलि मे 'इ' और 'ए' दोनो प्रयुक्त हुए है, साथ ही 'मैं', 'महि', 'परि', लगि, लगी, लगै परसर्ग भी मिलते है। उदाहरण निम्नलिखित हैं

१ जिणि सेस सहस फण **फणि फणि** बि बि जीह —'इ' (छद-५)
२ लखण बत्तीस वाल **लीलामै** मैं
३ सुणि स्रवणि वयण मन **माहि** थियौ सुख माहि
४ पखी कवण गयण **लगि** पहुँचै लगि
५ राज **लगै** मेल्हियौ रूखमणी लगै
६ आयौ अस खेडि अरि सेन **अतरै** ए
७ पूछत पूछत ग्यौ **अतहपुरि** इ
८ ऊपडी धुडी रवि लागी **अम्बरि** —इ
९ **अम्बि अम्बि** कोकिल आलाप इ
१० उतमग किरि अम्बर आधो **अधि** इ
११ आगणि जल तिरय उरप अलि पिअति इ
१२ ए अखियात जु **आउधि** आउध इ
१३ **आवासि** उतारि जोडि कर ऊभा इ
१४ झाँखाणा **उरि** उठि झल इ

अतएव माध्यमिक राजस्थानी तक अपभ्रंश 'इ' ही अधिकरण में अधिक प्रयुक्त हुआ है। परसर्गों का प्रयोग—इ वाले रूपों की तुलना में कम मिलता है। वीरसतसई में प्रथम दोहे में ही परसर्ग 'पै' का प्रयोग हुआ है—

१	लाऊँ **पै** सिर लाज हू सदा कहाऊँ दास	पै
२	वीर हुतासण बोल **मे**, दीसै हेक न दोस	मे
३.	सूरा आलस ऐस **मे** अकज गुमाई आव	मे
४	खोयो मै घर **मे** अवट, कायर जबुक काम	मे
५	**उरसाँ** खेती बीज धर, रजवट उलटी राह	आँ
६	आज **घरे** सासू कहे, हरख अचाणक काय	ए
७	देख सखी होली रमै, फौजाँ मे धव एक	मे
८	**चगताँ धावाँ** चैकसी, जे सुणसी बवाल	—आँ
९	बिण माथै दल वाढियो, आँख **हियै** कै सीस	ए
१०	मोनू ओछै **कचुवै** हाय दिखाता लाज	ए
११	तोहि मचाई छोकरै, वैरी रे **घर** बूव	—०
१२	गोठ गया सब गेहरा, वणी अचाणक आय	०
१३	भाभी हू **डोढी** खडी लीधाँ खेटक रूक	०
१४	**घोड़ा** चढणो सीखिया भाभी किसडै काम	आँ
१५	सूने **घर** सीधू थिया आपा रा मिजमान	०
१६	हूँ बलिहारी **राणियाँ**, भ्रूण सिखावण भाव	आँ
१७.	घर **मे** देखू दोय कर **रण मे** दोय हजार	मे
१८	सीहाँ रे गल साकलै वे भड घालै हाथ	०
१९.	पैला काकड, पीव **घर** वीच बुहारै खेत	–०
२०.	भाभी कुल खेती बिचा, भय न हुवै धव भग	आँ
२१.	**रण** हालीजै चारणा चाहे अब लग चैन	०

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि 'आँ' और 'ए' वाले रूप अपभ्रंश परपरा के है। 'मे' प्राकृत परपरा से मध्ये > मज्झे > माँझ > माँहि > मे से आया है, जो पहले इस रूप मे नही मिलता। एक नई विशेषता जो आधुनिक राजस्थानी मे विकसित हुई है, अधिकरण मे शून्य प्रत्यय का योग है। उपर्युक्त उदाहरणो मे 'घर', 'गोठ', डोढी, गल और रण पद अधिकरण मे है, पर इनके आगे अधिकरण सूचक विभक्ति नही है। आधुनिक राजस्थानी मे 'आँ' चलता है—'घराँ चालो' जैसे वाक्य नित्य बोलचाल की राजस्थानी मे मिलते ही हैं। परन्तु परसर्ग का प्रचलन ही अब अधिक है

ओल्यू—
थारी ओल्यू

धीमै धीमै
हालतै पाणी मे (जागती जोत, पृ० ५०)

मे के अतिरिक्त 'माय' का भी प्रयोग होता है 'उणरै माय'। तब भी यह कहना पड़ेगा कि 'मे' का ही प्रयोग अधिक होता है या फिर शून्य का।—आँ वाले प्रयोग भी मिलते है, पर 'मे' की तुलना मे कम।

उपर्युक्त विभक्ति प्रत्यय और परसर्गो मे से परसर्गो की परिगणना इस प्रकार की जा सकती है इनका प्रयोग प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे होता रहा है

कर्म नइँ, प्रति, रहइँ
करण – करि, नइँ, पाहिँ, साथि सिउँ
सप्रदान कन्हइँ (कनै) नइँ, माटइ (माटै)
अपादान कन्हइँ, लउ, थउ, थकउ, थाकी, थी, पासइ,लगइ, लगी, हुँतउ, हुँती
सबध केरउ, तणउ, नउ
अधिकरण ताँई, पासइ, मझारि, माझि, माँ, माहि

इन्ही से विकसित रूप आधुनिक राजस्थानी मे प्रयुक्त होते हैं। अतएव इस दृष्टि से प्राकृत—-अपभ्र श का प्रभाव निर्विवाद है।

क्रियापद

अपभ्र श व्याकरण मे हेमचद्र ने तिङ् रूपो से सबद्ध केवल सात सूत्र दिए है। इनमे से ५ वर्तमान काल का विधान करते हैं तथा दो भविष्य और आज्ञा का निर्देश करते है। भूतकालिक प्रयोग के लिए अपभ्र श मे कृदन्त रूपो का प्रयोग होता रहा। पूर्वकालिक और तुमुनन्त अर्थ मे अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते थे। वर्तमानकालिक कृत् प्रत्ययो से निष्पन्न रूप विशेषणवत् भी प्रयुक्त हुए है और क्रिया के स्थान पर भी।

अस्तिवाचक सहायक क्रिया इसकी व्युत्पत्ति 'भू' और ऋच्छ धातु से हुई है। 'भू' धातु से होवऊँ और ऋच्छ से अछवउँ (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी)। 'भू' धातु से बनने वाले रूप निम्नलिखित है

सामान्य वर्तमान काल

अन्य पुरुष एकवचन हुइ, होइ (सभवति > अप होइ) प्राकृत मे हुवइ मिलता है। आधुनिक मारवाडी मे हुवइ व्है प्रयुक्त होता है।

अन्य पुरुष बहुवचन हुइँ, हुइ, होइँ, होइ

सयुक्त वर्तमान काल की रचना मे 'हुइ' के साथ सहायक क्रिया छवउँ का वर्तमान कालिक रूप जोडा जाता है हुइ छइ = होता है।

आज्ञाबोधक मे अन्य पुरुष एकवचन, 'हुउ' म =भवतु > अप० होउ > हुउ है। विधि मे उत्तम पुरुष मे हुजिउँ, मध्यम पुरुष मे होइजे, अन्य पुरुष मे हुए, मध्यम-पुरुष बहुवचन होयो।

भविष्यकाल मे 'होइसि', हुएसि, हुइसिइ, होसि, आदि रूप बनते हैं।

वर्तमानकालिक कृदत का सर्वाधिक प्रचलित रूप है—हुँतउ। अपभ्र श मे भूतकालिक कृत् प्रत्यय 'उ' है जिससे हूअउ, हूयउ बने।

अछवउँ द्वितीय क्रिया है, परन्तु यह मुख्य और सहायक दोनो प्रकार से प्रयुक्त होती थी। यह स ऋच्छति से अपभ्र श मे अच्छइ हुई है। पिशेल के अनुसार आदि 'अ' प्राय लुप्त होकर छइ' रूप बनते हैं जो वचन और पुरुष के अनुसार बदलते हैं। यह छई ही छै, छो, छी के रूप मे आधुनिक राजस्थानी मे सहायक क्रिया के रूप मे प्रयुक्त होता है।

राजस्थानी मे धातु से निष्पन्न क्रिया रूपो मे अपभ्र श का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपभ्र श व्याकरण के अनुसार अन्य पुरुष की एक व० द्वि व० और ब० व० की विभक्ति को विकल्प से 'हिं' आदेश होता है। (त्यादेराद्यत्रयस्य सबधिनो हिं न वा) इसी प्रकार मध्यम पुरुष एक व० की विभक्ति को 'हि' आदेश होता है। बहुवचन मे 'हु' आदेश होता है (बहुत्वे हु) उत्तमपुरुष एक व० मे 'उ' और बहुवचन मे हु होता है। इन्ही रूपो से आधुनिक राजस्थानी के रूपो की सिद्धि होती है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के रूप तो अपभ्र श जैसे ही है

	अपभ्रंश	प्रा० प० रा०	राजस्थानी
अन्य पुरुष एकवचन	कर्अइ	कर्अइ	करइ > करै
,, ,, ब० व०	कर्अहिँ	कर्अइँ	करइ > करैं
मध्य ,, एकवचन	कर्अहि	कर्अइ	करइ
,, ,, ब० व०	कर्अहु	कर्अउ	करो
उत्तम ,, एकवचन	कर्अउँ	कर्-अ-उँ	करूँ
,, ,, ब० व०	कर्अहुँ	कर्अउँ	करॉ
		अउँ > आँ	कराँ

'वेलि क्रिसण रुकमणी री' मे वर्तमान काल के अन्य पुरुष एक व० (सकर्मक) (१) मूकै (२) मूकई (३) मूकति, आदि रूप मिलते है, इनमे से प्रथम और द्वितीय तो अपभ्र श से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की परपरा से आए है। द्वतीय संस्कृत के 'पठति' के सादृश्य पर निर्मित लगता है।

स्त्रीलिंग मे भी मूकै रूप ही चलता है। मध्यम पुरुष एक व० मे 'मूकै', मूकई, मूक तथा स्त्रीलिंग मे भी यही प्रचलन है। उत्तम पुरुष एकवचन मे 'मूकू' और बहुवचन मे आँ वाला रूप 'मूकाँ' चलता है, जिसकी परपरा अपभ्र श दिखलाई है। वेलि मे इस काल रचना के उदाहरण निम्नलिखित हैं

१ आलोचै आपो आप सू (५३) अन्य पुरुष एकवचन पुल्लिंग
२ सीखावि सखी राखी आखै सुजि (७९) ,, ,, ,, स्त्रीलिंग
३ घ्रू ढलियै ऊकसै धड (१२१) ,, ,, ,, ब०व०पुल्लिंग
४ रतवंण
ऊँच छिछ ऊछलै अति (१२५) ,, ,, ,, ,,
५ कहै वेलि वर लहै कुमारी (२८१) ,, ,, ,, स्त्रीलिंग
६ काई रे मन कलपसि कृपणा (२८९) मध्य पु० ,, पुल्लिंग
७ किसन पधार्‌या लोक कहन्ति (७२) अन्य पु०व०व० ,,

अत वेलि की भाषा मे वर्तमान काल मे वही रूप चलते है, जो अपभ्रश की परपरा से आये है। 'कलपसि' जैसे लट् लकार के मध्यम पुरुष एक वचन के अनुवर्ती है। 'कहति' आदि सस्कृत के 'पठति' के सादृश्य पर बनाए गए हैं।

वीरसतसई मे भी वर्तमान मे इन्ही रूपो का प्रयोग हुआ है

१ झूरै डम रंगरेजणी कूडा ठाकुर काम (८५) अ० पु० ए० व० स्त्री०
२ चून सलूणो सेर ले, मोल समप्पै सीस (१००) ,, ब० व० पु०
३ रुण्ड हुवा जीवे जिके, सदा न हेरै साथ (१०१) अ० पु० ,, ,,
४ पग पग पाछा देण री, हुलसै अच्छर हेत (१०७) ,, ,, ए० व०
५ भोला की चहरौ भडा ईखौ धारण ऐण (१२२) म० पु० ब० व० पु०
६ घावा कत पधारिया, पावा हूत प्रणाम (११७) अ० पु० ए० व० पु०
७ पथ निहारै पाहुणा, गीध विहारै गैण (१२१) अ० पु० ब० व० पु०

आधुनिक राजस्थानी मे

ज्यू मोर खुजालै पाखा अ० पु० ए० पु०
हलवो हेवण नै नारवै
आ विणी तराजे ओलू अ० पु० ए० स्त्री
(जुगजुगानी रूप ही हिलोरा लेवै) अ० पु० ए० पुल्लिंग

अतएव धातु से निष्पन्न वर्तमानकालिक रूपो की धारा आधुनिक राजस्थानी मे भी अपना मूल स्रोत अपभ्र श से ही ग्रहण किये है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।

सामान्य भविष्य काल के रूप भी अपभ्रश से ही प्रेरित हैं। हेमचद्र ने भविष्यकाल से सबद्ध एक सूत्र दिया है 'वर्त्स्यति स्यस्य स' अर्थात् अपभ्र श मे भविष्यत् अर्थ मे 'स्य' के स्थान पर 'स' आदेश होता है

ज अच्छइ त माणिअइ होसइ करतु म अच्छि

इस पक्ति मे 'होसइ' भविष्यत् अर्थ मे है। अपभ्र श मे भविष्यकालिक क्रिया की रूप सारिणी निम्नलिखित है

	ए० व०	ब० व०
अन्य पु०	करिसइ/करिहइ	करिसहि/करिहहि
मध्यम पु०	करिहिसि/करिसहि	करिसहु/करिहहु
उत्तम पु०	करीसु/कीसु	करिसहु/करिसउ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी अपभ्रंश के यही स-मूलक रूप भविष्यकाल के लिए प्रयुक्त होते हैं। कुछ उदाहरण ये हैं- -

जाइसु, बोलिसु, धरिसिउँ	उत्तम पु० एकवचन में
बोलिसिउँ, करिस्यउँ, उपजिस्यौं	,, ,, ब० व० में
जाइसि, हुइसिइ	मध्यम पु० ए० व० में
थाइसिउ, जीमिस्यउ	,, ,, ब० व० में
कहिसिइ, देसिइ, करिसइ	अन्य पु० ए० व० में
कहिसिँ, धरस्यइँ	,, ,, ब० व० में

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में लउ > लो वाले रूपों के उदाहरण अत्यल्प हैं। आधुनिक राजस्थानी के पूर्वी रूप में यही चलते हैं तथा लिंग, वचन और पुरुष से प्रभावित होते हैं। वर्तमान निश्चयार्थ से भी भविष्य की प्रतीति होती- -'मू अबार नी मरू' (मैं अभी नहीं मरूंगा) यह स्थिति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी थी और आज भी है। बेलि में 'स' वाले रूप प्रयुक्त हुए हैं

पूजा मिसि आविसि पुरुखोतम (६६) उत्तम पु० ए० व० स्त्री०

किं कहिसु तासु जसु अहि थाको कहि (२७२) ,, ,, ,, पुल्लिंग

वेलि में भविष्यकालिक रूपों की सारणी निम्नलिखित है---

	ए० व०	ब० व०
अन्य पु०	मूकिसी, मुकिस्यै	
मध्यम पु० उत्तम पु०		मुकिस्यो
उत्तम पु० मध्म पु०	मुकिसि, मुकिस्यो	मूकिस्या, मूकेस्या, मूकस्या

वीरसतसई में भविष्यकाल अर्थ में यही 'स' वाले रूप प्रयुक्त हुए हैं

१ चगतां धावां चैंकसी, जे सुणसी ब्रवाल (६२) अ० पु० ए० व० पु०

२ भर खप्पर वाल्हे रूहिर, देसी कत धपाय (६७) ,, ,, ,, ,,

३ वलण कढायो अतर धण, मुहँगो लेसी कोण (८६) ,, ,, ,,

४ मुडिया मिलसी गीदवो वलै न धणरी बाँह (६७) ,, ,, ,,

आधुनिक राजस्थानी के प्राय सभी विविध रूपों में यही रूप चलते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में 'लो' वाले रूप कम प्रयुक्त हुए हैं, आधुनिक राजस्थानी में यह भी 'स' वाले रूपों के सदृश ही चलता है। आधुनिक राजस्थानी के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित है----

थारी जान री किण विधि खातरी करस्यू

दायजो कठो सू लास्यु

सासरा नै कँया केवटस्यु
× × ×
कोई राजकवारी
थारा चितराम कोर-कोर
दूतिया नै दिखाती होसी
कामण' करती होसी (जागती जोत, पृ० ३७)

निष्कर्षत इन रूपो के विषय मे कहा जा सकता है कि इनमे पूर्णत अपभ्र श की ही परपरा प्रवहमान है।

अपभ्र श मे आज्ञार्य मध्यम पु० एकवचन और वहुवचन मे इ, उ और ए का वैकल्पिक प्रयोग 'हि स्वयोरिदुदेत्' सूत्र द्वारा निर्दिष्ट है। प्राचीन पचिश्मी राजस्थानी मे यह 'इ' अन्तवाला होता है। कविता मे 'ए' वाले रूप भी मिलते हैं। अउ या उ वाले रूप मध्यम पुरुष वहुवचन मे प्रयुक्त होते है।

माध्यमिक राजस्थानी मे-

	एक व०	व० व०
मध्य पु०	मूक, मूकि, मूकहि	मूको

मे मिलते है।

आवुनिक राजस्थानी मे अकारान्त रूप

थू भण	था भणो

प्रयुक्त होते है।

विध्यर्थ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे विध्यर्थ तीनो पुरुषो मे मिलता है।

अन्य पुरुष एक व०	हुये, जोइजे
मध्य ,, ,, ,,	करिजे, जाणिजे, जोजें
,, ,, व० व०	सुणजो, करज्यो, जाज्यो
उत्तम ,, एक व०	हुजिउँ

मारवाडी मे 'अजइ, ईजइ,—अज्ये,—अजो वाले रूप मिलते है। लासेन ने इनकी व्युत्पत्ति सस्कृत विध्यर्थ से सकेतित की है। टेसीटोरी के अनुसार यह प्राचीन प्राकृत मे भी रही है। प्राकृत वैयाकरणो ने होज्जइ, होज्जसि जैसे रूपो का आख्यान किया है। टेसीटोरी प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के 'हुजिऊँ' की व्युत्पत्ति अपभ्रश के होज्जउँ से मानते है, तथा इसे होज्जामि के समकक्ष प्रतिपादित करते हैं। अर्द्धमागधी और जैन महाराष्ट्री प्राकृत मे 'होज्जामि' का प्रयोग होता रहा है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के अन्य रूपो का विकाससूत्र निम्नलिखित है--

अप०		प्रा० प० रा०
होएज्जहि	>	होइजे
करेज्जहु	>	करिज्यो

'होइजे' और 'करिज्यो' कर्मवाच्य के रूप नहीं हैं। क्योंकि कर्मवाच्य रूप में 'इ' ह्रस्व नहीं होता। ज्जहि में कर्मवाच्यीय रूप 'ईजइ' बनता है। परन्तु, 'वेलि' के संपादकों ने 'मण्डिजै' जैसे रूपों को कर्मवाच्य में ही माना है। इसलिए 'मंगलरूप गाइजै माहव' का अर्थ 'मंगलरूप माधव का गुणानुवाद गाया जाता है' दिया है। इसका विधिपरक अर्थ होगा - 'मंगलरूप' माधव का गुणगान करना चाहिए।'

वीरसतसई दोहा संख्या १११ में- 'रण हालीजै चारणा' पदबंध प्रयुक्त हुआ है। हालीजै, गाइजै के ही समान रूप है। सतसई के संपादकों ने 'हालीजै' का कर्मवाच्य वाच्यीय अर्थ नहीं किया, वरन् इसे विध्यर्थक मानकर 'अवयुद्ध में चलो' अर्थ किया है। इसी प्रकार के अन्य प्रयोग भी हैं

१ मतवाला दल आविया छोडीजै गलबाँह (२३०)
२ लहँगे मूझ लुकीजियै वैरी रो न विसास (७५)
३ दरजण लवी अगिया आणीजै अव मूल (८३)

आधुनिक राजस्थानी में इन रूपों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता वरन् कर, करजे करजो, करज्यो। 'चाइज/चाईज' क्रियार्थक संज्ञा रूपों के साथ प्रयोग आधुनिक राजस्थानी में अधिक होता है।

भूतकाल

अपभ्रंश में भूतकाल की अभिव्यक्ति के लिए कृदंत रूपों का प्रयोग हुआ है। प्राकृतों में भी आख्यात के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रचलन होने लगा था। अपभ्रंश में ऐसे कृत् प्रत्यय निम्नलिखित थे—

१ उ थिउ, गउ, धाइउ, किउ, परिगलउ, णीसरिउ आदि
२ य— भिलिय, भिडिय, लुट्टिय, तुट्टिय, गय आदि
३ ओ हिंडिओ, सेवियो, भणिओ, रमिओ
४ य पडिय, भणिय, रमिय आदि

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भूत कृत् प्रत्ययों की सारणी इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है

१ इउ, इअउ, यउ करउ जोयउ, थायउ, कहिउ, हुयउ आदि
२ आणउ उल्हाणउ (बुझा), चपाणउ (चापा हुआ)
सधाणउ (पूर्ण) आदि
३ धउ—कीधउ, साधउ, दीधउ, आदि

४ व्यञ्जनान्त धातुओ मे बने त या—न वाले सस्कृत कृदतो से बने रूप। इनमे एक धातु का अतिम व्यञ्जन होता है, दूसरा सस्कृत प्रत्यय है। अपभ्र श मे इनका समीकरण हो गया। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे सरलीकरण होकर रूप प्रयुक्त हुए

भागउ, लागउ, छूटउ, दीठउ, आदि

माध्यमिक राजस्थानी मे उ, ए, और 'यो' वाले रूप चलते रहे

आरंभिया, ऊग्रहिया, औछायो,

उतारे, काढे, करेउ, आदि

आधुनिक राजस्थानी मे यो प्रचलित है

गयो, पढ्यो, भण्यो कह्यो, आदि

'धउ' वाला रूप 'धो' मे परिवर्तित हो गया है

कीधो, खाधो, पीधो, दीधो आदि

१ गोठ गया सब गेहरा (वीर सतसई ९०)
२ बाप गयो ले माहिरी (,, ,, ८९)
३ पूत महा दुख पालियो (,, ,, ११५)
४ नीराजण बाधावियो (,, ,, २६)

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट होता है कि अपभ्र श के 'उ', 'य' और ओ भूत कृत प्रत्यय ही आधुनिक राजस्थानी मे भी भूतकालिक रूपो का निर्माण करते हैं। भूतकृदन्त जब विशेषण की भाति प्रयुक्त होता है तो इसके साथ सहायक क्रिया का वर्तमान अर्थ मे निर्मित कृदन्त 'हूंतउ' का प्रयोग पश्चिमी राजस्थानी मे होता है। जैसे गिउ हूंतउ=गया हुआ, इस हूंतउ के स्थान पर थकउ (थिकउ) भी मिलता है, जैसे वइठी यकी=बैठी हुई, हर्षिउ थिकउ=हर्षित हुआ आदि। अपभ्र श भूतकृदन्त के ऐसे प्रयोगो के साथ 'रहइ' का प्रयोग होता था। परन्तु यह 'रहइ' सातत्य का बोध कराता था।

भूतकृदन्त से सयुक्तकाल का निर्माण भी होता रहा है, जैसे

१ आविउ छूं इहा
२ निद्रावसि हुई छइ वाल
३ अव्या छू अम्हे
४ लोक भेला थया छइ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का यह प्रयोग जिसमे—भूतकृदन्त+अछवउँ, से सरचना हुई है, आधुनिक राजस्थानी मे पूर्णत चलता है। आयो छूं, गयो छै, वा आयी छी आदि बोलचाल की भाषा के प्रयोग है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से लेकर आधुनिक राजस्थानी तक भूत कृदत रूप कर्तरि सरचना मे तो आता ही है

१ प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी हउं बोल्लिउ—मैं बोला
२ „ „ „ करहउ भणिउ=करहा बोला
३ ढोला मारू रा दूहा ढाढी गाया निसहभरि
४ वेलि क्रिसन रुकमणी री हूँ उधरी पाताल हूँ
५ आधुनिक राजस्थानी मू बोल्यो, मैं बोल्यो

प्राचीन प्रयोगो और यदा कदा आधुनिक राजस्थानी मे कर्मवाच्य सरचना मे भूत-कृदन्त के रूपो का प्रयोग होता है

१ राजकन्या मई दीठी=मैंने राजकन्या देखी
२ देवताए दुन्दुभी वजावी=देवताओ ने दुदुभी वजाई

अपभ्रश मे भी ऐसे प्रयोग होते रहे है। उपर्युक्त प्रयोगो के अतिरिक्त क्रियार्थक सज्ञा के रूप मे भूतकृदन्त के प्रयोग होते हैं—

'यो काम कर्यां विना न चालसी'

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे भी ऐसे प्रयोग हुए है

१ पुण्य कर्यां विना
२ नीसर्यां पछी

पूर्वकालिक रूप

प्राकृत-अपभ्र श मे पूर्वकालिक अर्थ मे 'इ', इउ, इवि और अवि ये चार प्रत्यय होते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे 'एवि' और 'ई' प्रत्यय से पूर्वकालिक के रूप निष्पन्न होते थे

भणेवि, धरेवि, पणमेवि आदि
लेई, जाई

इन 'ई' वाले रूपो के साथ 'नई' परसर्ग भी जोडा जाता रहा है

करी नई, वांची नई, छांडी नई आदि

'नई' के स्थान पर 'करी' परसर्ग भी प्रयुक्त किया जाता था

तेडावी-करी, देखी करी आदि

'वेलि' मे 'अवि' का प्रयोग किया गया है

परमेसर प्रणवि प्रणवि पुणि सरसति (१)

'इ' वाले रूप का उदाहरण यह है—

दसमास उदर धरि वले वरस दस (६)

आधुनिक राजस्थानी मे 'इ' और 'इ' वाले रूपो के साथ 'नई' परसर्ग युक्त सरचनाओ का प्रयोग होता है। नई का परिवर्तित रूप 'नै' अथवा केवल 'न' है। 'वठै जाई न पछै आऊँ' अथवा 'वठै जाइऽर आऊँ' आधुनिक प्रयोग हैं। अपभ्र श का अश 'इ' मे ही रह गया है, परसर्ग वाद का योग है। टैसीटोरी के अनुसार

'भूतकृदन्त का भावे सप्तमी प्रयोग अपभ्रंश में धड़ल्ले से होता था। यही ढंग प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी तथा अन्य सजातीय भाषाओं में भी सुरक्षित रहा। ऐसे ही भावे सप्तमी कृदन्तों से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के ईवाले पूर्वकालिक कृदन्त उत्पन्न हुए है।' 'नइ' और 'करी' सप्तमी परसर्ग हैं। यही 'नइ' आधुनिक राजस्थानी में 'नैं' अथवा 'न' रह गया है। संभवत 'करी' का ही संक्षिप्त रूप 'र' है।

क्रियार्थक संज्ञा

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अण और इवउँ---अवउँ प्रत्ययों से बनी है। यह अपभ्रंश के अण से मिलती जुलती है। राजस्थानी मे---अण और--- वा रूप प्रचलित है।

१ जीमवा गयो छै

२ देखण गयो

इन्हीं 'अण' वाले रूपों के साथ---हार जोड़कर कर्तृवाचक संज्ञा बनाई जाती है। करणहार, भोगणहार आदि रूप इसी प्रकार बने है। केवल अण वाले रूप भी मिलते है---

१ दमँगल विण अपचौ **दियण**, वीर धणी रौ धाण (वीरसतसई १०)

२ नहँ डाकी अरि **खावणो** आयाँ केवल वार।
वधावधी निज **खावणौं**, सो डाकी सरदार॥ (,, ११)

३ **सहणो** सवरी हूँ सखी, दो उर उलटी दाह (,, १४)

४ **असिधावण** तो पीव पर, वारी वार अनेक (,, ४१)

५ इणरा **भोगणहार** जे आज भिडाणा आय (,, ४०)

गद्य मे भी 'मायला बदलावा मे फूटरापौ लखाण रो बदलतौ नजरियौ' जैसे प्रयोग मिलते है। आधुनिक राजस्थानी मे आलो लगाकर भी क्रियार्थक संज्ञा बनाई जाती है। परन्तु आलो के पूर्व वा वाला रूप होता है। 'जावाळो' 'देखबालो' आदि बोलचाल की भाषा के प्रयोग है। अणहार की व्याख्या मे टेसीटोरी ने लिखा है "यह प्रणवाली क्रियार्थक संज्ञा के षष्ठी रूप तथा 'कार' (करनेवाला) के संयोग से बना है। अपभ्रंश के पालणह+कार से 'क' का लोप होकर 'पालणहार' बना।" अतएव यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक राजस्थानी की क्रियार्थक संज्ञा का स्रोत भी प्राचीन है और किसी न किसी अंश मे अपभ्रंश से जुडा है। अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी मे प्रयुक्त होता हुआ ध्वनिपरिवर्तन के साथ आधुनिक राजस्थानी मे प्रचलित है।

कर्मवाच्य

धातु मे ईज और 'इ' जोडने से कर्मवाच्य रूप निष्पन्न होता है। अपभ्रंश मे इसका द्वित्व रूप 'इज्ज' ही मिलता है। प्राकृत पैंगल मे 'इज्ज' ही 'ईज' हुआ है। अपभ्रंश मे ईअइ वाले रूपो का विधान नही है, इससे टेसीटोरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ईअइ वाले रूप भी 'इज्ज' के ईजइ रूप से बने है-

ईजइ > ईयइ

'य' के निर्बल होने पर 'ईयइ' ही 'ईय' रह गया होगा। आधुनिक राजस्थानी मे 'ईज' रूप ही प्रचलित है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे वर्तमान कर्मवाच्य के निम्नलिखित उदाहरण किए जा सकते है

अप० कीज्जइ > कीजइ

,, दिज्जइ > दीजइ

,, दीज्जइ > दीयइ

,, कहीज्जइ > कहीयइ

कर्मवाच्य संयुक्त वर्तमान मे इन रूपो के साथ 'छइ' जोडा जाता है

'कहीअइ छइ' (आदिनाथ चरित्र)

भविष्यत् कर्मवाच्य मे 'ईज' और ई ही चलते थे

कीजसी = किया जाएगा।

लीजिस्यइ = लिया जाएगा।

कहीस्यइ = कहा जाएगा।

वखाणीस्यइ = वखाना जाएगा।

आदि

माध्यमिक राजस्थानी मे 'इजै' हो गया है। वेलि मे निम्नलिखित उदाहरण मिलते है

१ कुँअर रुकम कहि विमलकथ (११)

और रुकम कहे जाते थे।

२ स्त्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि (८)

स्त्री का वर्णन पहले करना चाहिए।

३ जगनि जगनि कीजै जप ताप (५०)

४ आगमि सिसुपाल मण्डिजै ऊछव (३८)

५ पटमण्डप छाइजै कुंदणपुरि (३८)

६ दूरा नयर कि कोरण दीसै (४१)

उपर्युक्त उदाहरणो मे सिद्ध होता है कि सामान्यत 'ईजै' वाले रूप प्रयुक्त हुए है,

कही 'ई' के परिवर्तित रूप 'ऐ' वाले भी। अतएव कर्मवाच्यीय रूपो को अपभ्र श स्रोत से ही मानना ठीक है।

प्रेरणार्थक रूप

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे प्रेरणात्मक क्रिया-रूप निम्नलिखित विधि और प्रत्ययो से निष्पन्न होते हैं

१ स्वरवृद्धि से टेसीटोरी ने इसमे मूल स्वर की वृद्धि मानी है। परन्तु मूल स्वर से उनका तात्पर्य क्या है, यह स्पष्ट नही किया गया।

(क) ऊतरइ > ऊतारइ

(ख) पडइ > पाडइ

प्रथम उदाहरण मे द्वितीय अक्षर का स्वर दीर्घ हुआ है, द्वितीय मे प्रथम अक्षर का स्वर। परन्तु सामान्यत प्रथम अक्षर का स्वर ही वृद्धिगत होता है।
क्योकि मरइ > मारइ, मिलइ > मेलइ मे यही स्थिति है। 'ऊतरइ' मे पहले ही प्रथम स्वर दीर्घ है अत द्वितीय अक्षर के स्वर की वृद्धि हुई लगती है।

२ आव प्रत्यय से निष्पन्न प्रेरणार्थक रूप

आव प्रत्यय की व्युत्पत्ति अपभ्र श के आव प्रत्यय से है, बल्कि वही है। प्राकृत मे यह प्रत्यय है। इस प्रत्यय के योग मे रूपस्वनिमिक परिवर्तन होता है। क्रिया के प्रथम अक्षर का स्वर ह्रस्व हो जाता है, परन्तु यह सदैव नही होता।

आपइ + आव > अपावइ

बोलइ + आव > बोलावइ

मानइ + आव > मनावइ

लिइ + आव > ल्यावइ

एक बात और ध्यातव्य है, यह प्रत्यय क्रिया रूप के बीच मे आता है। आ का एक सहरूपिम (allomorph) और है—अब जो प्रथम अक्षर मे दीर्घ स्वर वाली क्रियाओ के साथ आता है जैसे

मेलइ > मेलवइ

वीनइ > वीनवइ

सीखइ > सीखवइ

यह स्थिति प्राकृत-अपभ्र श से ही प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे आई है। उपर्युक्त उदाहरणो के मूल प्राकृत रूप 'पढ्वइ', विण्णवइ' 'मेलवइ' आदि है, जो 'सिद्धहेम' व्याकरण मे मिलते है।

३ आड-प्रत्यय से निर्मित रूप

उडाडइ = उडाता है।

जगाडइ = जगाता है।

देखाडइ = दिखाता है।

४ आर प्रत्यय से निर्मित रूप

घटइ > घटारइ घटाता है।

दिवइ > दिवारइ = दिलाता है।

५ आल प्रत्यय से निर्मित रूप-

जैसे, दिखालइ = दिखाता है।

मारवाडी मे 'र' के विपर्यय से 'दिरावइ' और 'लिरावइ' रूप मिलते हैं, इनके मूल रूप दिवारइ' और 'लिवारइ' है। वेलि मे

पधरावि प्रिया वामै प्रभणावै (१५७)

(प्रिया को बाँई ओर विठाकर)

मिलता है—यह रूप 'प्रभणइ' मे 'अव' प्रत्यय से बना है। परन्तु प्रत्यय-योग के पूर्व अत्य स्वर 'इ' का लोप हुआ है।

प्रभणइ + अव > प्रभण + अव > प्रभणाव

इस प्रातिपदिक पुरुष और लिंग के प्रत्यय से रूप बनते है।

यहाँ कतिपय उन रचनात्मक प्रत्ययो पर भी विचार करना प्रासगिक होगा जो प्राकृत अपभ्रंश से प्रा० पश्चिमी राजस्थानी मे आए हैं और जो आधुनिक राजस्थानी मे भी प्रयुक्त हुए है।

१ इलउ

अपभ्रंश के इल्लउ से सरलीकरण होकर प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे प्रचलित रहा

आगिलउ = आगे

पूर्विलउ = पहले का

आधुनिक राजस्थानी मे 'लउ' का 'लो' हो गया है, तथा 'आगलो', 'पाछलो' आदि रूप बनते हैं। इसी प्रकार प्रा० प० रा० के माहिलउ आदि से आधुनिक राजस्थानी के मायलो (भीतरी) वीचलो/विचलो (वीच का) रूप बने है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और आधुनिक राजस्थानी के रूपो मे अतर अन्त्य 'उ' और 'ओ' का है।

अपभ्रंश अवरिल्लउ से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे 'ओरिलउ' और फिर ओलिउ बना। इसी प्रकार परिल्लउ से परिलउ और पइलउ। इन्ही परिलउ से परलो' और पइलउ से 'पैलो' आधुनिक राजस्थानी के रूप निष्पन्न हुए है।

२ अलउ

इसी प्रकार एक और प्रत्यय है—अलउ, जो प्रा० प० रा मे आँधलउ और [illegible] जैसे रूपो मे दिखलाई पडता है। अपभ्रंश मे भी यह -अलउ रूप मे ही मिलता है। आधुनिक राजस्थानी के 'आँधलो' और 'एकलो' जैसे शब्दो के साथ

प्रत्यय लउ > लो परिवर्तन के साथ प्रयुक्त हुआ है।

३ डउ

अपभ्रंश से आगत यह प्रत्यय प्रयोग मे भी अपभ्रंश के सदृश है अर्थात् स्वार्थे प्रयुक्त होता है

कागडी, गाँठडी, चाँमडउँ,

आदि मे यही प्रत्यय है। कभी-कभी इसके साथ अलउ प्रत्यय और जुड जाता है, जैसे

कूखडली, माडली

आधुनिक राजस्थानी मे भी यह प्रत्यय (स्वार्थ प्रयोगो मे आता है गोरडी (गोरी) कुरजडली (कुरज पक्षी) आदि प्रयोगो मे यही प्रत्यय है।

ये वे प्रत्यय है, जिनका राजस्थानी मे धडल्ले से प्रयोग होता है और जो सीधे प्राकृत अपभ्रंश स्रोत से राजस्थानी मे आए है।

सर्वनाम

जैसे राजस्थानी के रचनात्मक प्रत्यय, पूर्वकालिक क्रिया रूप, भविष्यकालिक क्रिया रूपो मे प्राकृत अपभ्रंश का असदिग्ध प्रभाव दिखलाई पडता है, वैसे ही सर्वनामो की स्थिति भी है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम का रूप 'हूँ' प्रचलित था। निश्चय ही यह अपभ्रंश 'हउँ' का सकुचित रूप है। हेमचद्र ने हउँ का विधान 'सावस्मदो हउँ' सूत्र मे किया है। माध्यमिक राजस्थानी मे इस उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम का यही रूप सुरक्षित है वेलि मे इसके निम्नलिखित रूप मिलते है-

कर्ता हूँ
कर्म मूं, हूँ, मूझ, अह्म
सबध मूझ, माहरो, मो, मू, अम्हीणो
अधिकरण अह्माँ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे सबध कारक मे 'मझ', 'मुझ' और मूं मिलते ही है। आधुनिक राजस्थानी मे 'हूँ', मूं, म्हारा, म्हैं, आदि रूपो के प्रयोग हेतु प्रमाण की आवश्यकता नही है।

उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप अपभ्रंश मे—'जसशसोरम्हे, अम्हइ' सूत्र के अनुसार कर्ताकारक मे 'अम्हे' और कर्मकारक मे 'अम्हइ' होता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे एकदम यही रूप 'अम्हे' था। मारवाडी मे यह आदिस्वर लोप के पश्चात् 'म्हे' रह गया है। इसी 'म्हे' से सबध कारकीय रूप 'म्हारा' बनता है।

मध्यम पुरुष एक वचन मे अपभ्रंश मे 'तु हु' आदर्श होता था। प्रथमा और

द्वितीया व० व० मे इसके क्रमश 'तुम्हें' और तुम्हइँ रूप होते थे। तृतीया एकवचन, सप्तमी एक वचन और द्वितीया एक वचन मे 'पइ' और 'तइ' प्रयोग प्रचलित थे। तृतीया वहुवचन मे 'तुम्हेहिं', पचमी एक वचन और पष्ठी एक वचन मे तउ और तुज्झ आदेशो का कथन हेमचद्र ने किया है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे अपभ्रंश तुहुँ > तूं हो गया है। मारवाडी मे तुहुँ का 'ह', 'त' मे मिलकर उसे महाप्राण बना देता है, इस प्रकार 'थूं' रूप बनता है। वहुवचन मे 'तम', यम, तुम्हे, रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे पाए जाते है। आधुनिक राजस्थानी मे 'था' और 'थे' रूप चल रहे है।

अपभ्रंश के प्रश्नवाचक तथा अनिश्चयवाचक सर्वनामो के लिए हेमचद्र ने 'किम काइ कवणौ वा' सूत्र दिया है। अर्थात् अपभ्रंश मे किम् के स्थान पर काइ और कवण आदेश विकल्प से होते हैं। अपभ्रंश मे इनके निम्नलिखित प्रयोग मिलते है

कर्ता-कर्म	कवणु को कोई, को-वि काइँ	सबध	—कवणह
करण	कवणएँ,	अधिकरण	कवणहिँ कहिँ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे कवण, कउँण, कूण, कुण, कांइ, कांई रूपो के उदाहरण मिलते हैं।

माध्यमिक राजस्थानी की साहित्यिक कृति वेलि मे

कर्ता को, कवण, केइ, किणि, किणै, कुण,

कर्म किणि, किणै

मिलते है

१ स्त्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति

तारु कवण जु समुद्र तरै।

पखी कवण गयण लगि पहुचै

कवण रक करि मेरु करै॥ (६)

२ कांइ इवडा हठ निग्रह किया (२८८)

आधुनिक राजस्थानी मे 'कवण' का 'कुण' और 'कूण' वाले रूप ही प्रचलित है। यह परिवर्तन प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे ही घटित हो गया था। 'वेलि' मे भी 'कुण' मिलता है। मेवाडी मे 'कूण' चलता है, ढूंढाडी मे 'कुण'। 'कांइ' का प्रयोग राजस्थानी के सभी रूपो मे किञ्चित् अतर के साथ किया जाता है। मेवाडी मे कइ/कई चलता है।

'कड है'—क्या है (मेवाडी)
काँइ छै=क्या है (ढूढाडी)

इसी प्रकार एम, केम रूप अपभ्रंश से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे आए है। माध्यमिक राजस्थानी तक ये रूप 'इम', 'केम' आदि चलते रहे।

१ स्नम कीधा विणु केम सरै (७)
२ कागल दीधो एम कहि (५६)

आधुनिक राजस्थानी मे 'केम', 'एम' लुप्त हो गए है। इसके स्थान पर कांई से बने रूप कया अथवा 'कय्याँ' और 'अय्याँ' का प्रयोग होता है। आधुनिक राजस्थानी मे 'केम सरै' का रूपांतर 'कय्याँ चालै' होगा।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणो मे राजस्थानी मे प्राकृत- अपभ्रंश से किञ्चित् ध्वनिपरिवर्तन के साथ आगत सर्वनामो का स्वरूप सकेतित होता है। इस दृष्टि से यह कहना अनुचित न होगा कि सर्वनामो के ऐतिहासिक विकास की कहानी राजस्थानी के तीनो विकास चरणो मे भलीभाँति सुरक्षित है।

विशेषण

विशेषणो के प्रयोग के विषय मे उल्लेखनीय है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे जो स्थिति थी, वही आधुनिक मारवाड़ी मे भी है। इनकी रूपरचना सज्ञा शब्दो के सदृश ही होती है तथा ये विशेष्य के लिग, वचन आदि से प्रभावित होते है। स्त्रीलिग विशेषणो के सदर्भ मे ध्यातव्य है कि वचन और कारक सबधी विशेषता इनमे नही होती, तथा 'ई' का रूपरचना-रहित रूप ही इनके लिए प्रयुक्त होता है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से आई है। पउमचरिउ मे

१ दिव्वइँ गन्धोदयाइँ (बाइसवी सधि)
२ सुरसमर सहासेहि दुम्महेण दसरहेण („ „)
३ वित्तन्तु कहेप्पिणु णिरवसेसु („ „)

यह प्रवृत्ति सिद्ध है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे

१ विवेक-रूपीउ हाथीउ (शीलभद्रचरित्र)
२ कष्ट रूपिणी सापिणी (कल्याणमदिर स्तोत्र)
३ घणइ आडबरि (आदिनाथ चरित्र)

वेलि मे

१ पीला भमर किया पहराइत (वेलि ६७)
२ फल मोतियाँ („ ६१)

प्रयोग मिलते है।

किंतु जब विशेषण क्रिया० वि० की भाँति प्रयुक्त होते हैं तो

१ नपुंसक एकवचन में रहते हुए सभी कारकों में अपरिवर्तित रहते हैं। अथवा

२ समानाधिकरण विशेषण की तरह लिंग, वचन और कारक के अनुसार रूप-रचना करते हैं।

यह प्रवृत्ति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में तो है ही, मारवाडी में भी जीवित है। टेसीटोरी ने मारवाडी में हमें, परो, वरो, दो विशेषणों का उपयोग करके एक प्रकार के Verbal intensives बनायें जाने का उल्लेख किया है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार तुलनासूचक संरचना में जिस वस्तु से तुलना की जाती है उसका वाचक अपादान कारक में होता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्राकृत के तुलनात्मक रूपों को तर, यर प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त किया है। तुलना के अर्थ में प्रयुक्त अपादान परसर्ग निम्नलिखित हैं—

पाहिँ, पाहन्ति, तथा थकी और थी

उदाहरण

१	तुझ नइँ जीव्या पाहिँ मरण रूडुं	तुझे जीवन से अधिक अच्छा मरण है।
२	समुद्र ना पाणी थकउ गाढउ घणउ —	समुद्र के पानी से भी घना गाढा।
३	गुरु-थकी ऊँचइ आसनि वइसइ =	गुरु से भी ऊँचे आसन पर बैठता है।

परन्तु आधुनिक राजस्थानी में 'सूं' और 'उँ' प्रयुक्त होते हैं जो अपादान कारकीय परसर्ग हैं।

१ उण सूं चोखो=उनसे अच्छा।

२ उणुं बीच अच्छो है=उनसे अच्छा है।

इन 'सूं' और उँ का संबंध अपभ्रंश से पहले बतलाया जा चुका है।

ध्वनि के कतिपय और रूपरचना के विविध तत्वों के आधार पर यह स्पष्ट किया गया कि राजस्थानी कितने अंश में आज भी प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा को ग्रहण किए है। भाषावैज्ञानिकों के मतानुसार 'भाषा चिर परिवर्तनशील है'। यह परिवर्तन सभी स्तरों में घटित होते हैं। यदि परंपरा-स्थापन में हम मूल रूप को ही आधुनिक भाषा में पाने का प्रयत्न करें तो भूल होगी, हाँ परिवर्तित रूप के परिवर्तन—चरणों का क्रमबद्ध सूत्र स्थापन आवश्यक है। भाषा के विकास के दौर में प्रतिवेशिनी भाषाओं के प्रभाववश ऐसे तत्व भी आ जाते हैं जिनका मूल भाषा से संबंध-स्थापन संभव ही नहीं होता। प्राकृत-अपभ्रंश से राजस्थानी के विकास में इन आगत तत्वों का ध्यान रखना आवश्यक है।

पूर्व पृष्ठों मे रूप-तत्व के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि आधुनिक राजस्थानी का साँचा उन विशेषताओ को सुरक्षित रखते हुए ही विकसित हुआ है। चाहे क्रिया रूप हो या सज्ञापद, सभी मे सरलीकरण की जो प्रवृत्ति प्राकृत-अपभ्र श मे उत्पन्न हुई थी, आज भी है। विभक्ति लोप सरलीकरण का ही प्रतिदर्श है, इसी को सूत्रवद्ध रूप मे हेमचद्र ने 'स्यम् जस् शसालुक्' कहा था। यह प्रवृत्ति राजस्थानी मे ही नही, अन्य आधुनिक आर्य भाषाओ मे भी है, वस्तुत इसमे और परिवर्तन का अवसर भी नही है अत यथावत् चल रही है। इसी प्रवृत्ति ने प्रातिपदिक और पद का भेद भी लुप्त कर दिया है।

प्रस्तुत निवध मे राजस्थानी परिनिष्ठित राजस्थानी की विशिष्ट कृतियो को आधार वनाया गया है। एक तरह से यह विवेचन प्रयोगाश्रित है, यह इसलिए किया गया है कि प्रामाणिक वन सके। और इन प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि प्राकृत-अपभ्र श से ही राजस्थानी भाषा के मूल तत्त्व विकसित हुए है। अतएव राजस्थानी के सही स्वरूप को समझने मे प्राकृत-अपभ्र श की परपरा का अध्ययन वहुत आवश्यक है। राजस्थानी के लोकप्रचलित विविध रूपो के तुलनात्मक अध्ययन की भी नितान्त अपेक्षा है।

सदर्भ-ग्रथ

१ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, राजस्थानी भाषा।
२ प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पुरानी हिन्दी
३ डा० टेसीटोरी (हिन्दी, अनुवाद डा० नामवरसिंह), पुरानी राजस्थानी।
४ श्री भूपतिराम साकरिया, आधुनिक राजस्थानी साहित्य।
५ डा० शिवस्वरूप शर्मा, राजस्थानी गद्य साहित्य।
६ डा० मनोहर शर्मा (सपादक) 'जागती जोत' का समीक्षा अक।
७ श्री सीताराम लालस राजस्थानी सवद कोस
८ गौड, आशिया एव सहल, वीरसतसई (द्वितीय आवृत्ति)
९ " " वेलि क्रिसन रुकमणी री।
१० डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अपभ्रश भाषा का अध्ययन
११ आ० हेमचद्र, सिद्धहेमशब्दानुशासन
१२ " अपभ्रश व्याकरण (शालिग्राम उपाध्याय)
१३ डा० पिशेल प्राकृत भाषाओ का व्याकरण
१४ डा० प्रेमसुमन जैन, आचार्यप्रवर आनद ऋषि अभिनदन ग्रथ मे प्रकाशित 'राजस्थानी भाषा में प्राकृत अपभ्र श के प्रयोग' लेख।
१५ " " कुवलयमाला कहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, १९७५
१६ डा० प्रेम सुमन जैन और डा० कृष्ण कुमार शर्मा—अपभ्रश काव्य-धारा।
१७ श्री चद्रसिह 'वादली'
१८. डा० नारायणसिह भाटी, 'सांझ'

१९ Gleason, Descriptive Linguistics

२० ,, Linguistics and English grammar

२१ Hockett, Modern Linguistics

२२ Robert A Hall, Introductory Linguistics

३ कृष्णकुमार शर्मा शोध पत्रिका मे प्रकाशित 'अपभ्रंश का वर्णनात्मक व्याकरण' लेख।

४ डा० तगारे 'हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश'

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आनुपूर्वी में कोशसाहित्य

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय वाङ्मय मे शब्दकोशो की एक सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। लगभग एक सहस्र से भी अधिक शब्दकोशो की रचना हो चुकी है। ये शब्दकोश भारत की विभिन्न भाषाओ मे लिखे हुए मिलते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी भिन्न शब्द-सम्पदा तथा प्रकृति है, जिनके आधार पर अन्य भाषाओ से उसका वैलक्षण्य सूचित होता है। प्रत्येक कोश एक सन्दर्भ ग्रन्थ के समान होता है, जिसमे शब्द-रूपो की परिचिति, उच्चारण, कार्य, व्युत्पत्ति, अर्थ, वाक्यात्मक विन्यास तथा मुहावरे के प्रयोग के साथ शब्दो का वर्णादि क्रम से सयोजन किया जाता है। यथार्थ मे शब्दकोश की अपनी विशिष्ट पद्धति है। सिडनी एम० लैम्ब ने शब्दकोश के अन्तर्गत उपलब्ध सभी प्रकार के शब्दो और अर्थों के छह प्रकार के सम्बन्धो का विवेचन किया है[1] (१) अनेकार्थ शब्द, (२) विभिन्न एकार्थक शब्द, (३) सहयोगी विनिश्चयार्थक शब्द, (४) सयोगी शब्दो का अर्थ-निर्णय, जैसे कि ऊष्मा-ताप, विध्वस-विस्फोट, लूट-खसूट इत्यादि, (५) विपर्यय शब्द, (६) सामान्य गर्भित अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द, जैसे पेड शब्द मे पौधे का भाव भी निहित है। कोश के मुख्य अग माने गये हैं शब्द-रूप, उच्चारण, व्याकरण-निर्देश, व्युत्पत्ति, व्याख्या, पर्याय, लिंग आदि। यदि कोई भाषा अपने पीछे इतिहास की दीर्घ परम्परा रखती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह साहित्य से सामग्री का चयन कर प्रचलित साहित्यिक स्तर का भी सन्धान करे। शब्दकोशकार ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर कोश का सकलन करता है, किन्तु यह सभव नही होता कि बोलियो के प्रकारो को भी वह चित्रित कर सके।[2]

यद्यपि शब्दकोश या कोश का निर्माण शब्दो से होता है, किन्तु कोशगत शब्दो मे तथा सामान्य शब्दो मे अन्तर किया जाता है। सामान्य शब्द पूर्णत एक

व्याकरणिक रूप है, किन्तु कोशगत शब्द एक निश्चित अर्थ का वाचक है। उदाहरण के लिए, "मुझे फल खाने की चाह है" इस वाक्य में 'चाह' एक कोशीय शब्द है, किन्तु "वह फल खाना चाहता है" में 'चाहता' कोशीय शब्द नहीं है। यद्यपि वाक्यरचना में दोनों समान स्थिति में हैं, परन्तु प्रथम 'चाह' शब्द मुक्त पदिम है और दूसरे वाक्य में "चाहता" शब्द आवद्ध रूप है, इसलिये दोनों में "चाह" समान होने पर भी अन्तर है।[३] भाषाशास्त्री यह मानकर चलता है कि प्रत्येक सक्रिय अर्थवान इकाई पद के अर्थ की दृष्टि से स्थिर तथा निश्चित है। वह अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ से अन्वित हो सकता है, किन्तु अन्य अर्थ के समान नहीं होता। पदिम का अर्थ ही सक्रिय अर्थ इकाई है। भाषा का प्रत्येक मिश्र रूप पदिमों से निर्मित होता है। पदिमों की रचना ध्वन्यात्मक रूपों से होती है। भाषा का सम्पूर्ण पदिम-भण्डार कोश कहलाता है।[४]

कोश और व्याकरण

शब्द-संरचना की दृष्टि से कोश एव व्याकरणिक शब्द-रूपों में समानता लक्षित होती है, किन्तु शब्द-व्यवस्था में दोनों भिन्न हैं। स्पष्टत भाषिक संकेतों के अर्थवान लक्षण दो प्रकार के हैं कोशीय रूप, जिनमें ध्वनि-ग्राम और व्याकरणिक रूप एव व्याकरणिक लक्षण भी व्याप्त हैं। कोशीय रूप व्याकरणिक रूपों से दोनों ओर से सम्बद्ध होते है। एक ओर से, साराश रूप में वह अर्थवान व्याकरणिक संरचना है और दूसरी ओर से भाषिक रूप में वह वास्तविक उच्चार है जो सदा व्याकरणिक रूप से समन्वित रहता है।[५] भाषा के सम्बन्ध में प्राचीन वैयाकरणों की दृष्टि साधु तथा असाधुता का निर्णय करने में व्यापृत रही है। व्याकरण में शब्दों के शुद्धाशुद्ध रूप सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। प्रमुख रूप से उसमें सत्य-असत्य तथा साधु-असाधु का विवेचन पाया जाता है।[६] व्याकरण साधु शब्द का विवेचन इसलिए करता है कि हम असाधु शब्द के प्रयोगों से बचें। कोश की आवश्यकता इसलिये मानी गई है कि उसमें अर्थ का अनुशासन किया जाता है, इसलिये निश्चित अर्थ के वोध के लिए कोश का पठन-पाठन आवश्यक होता है। कुछ टीकाकार व्याकरण को प्रामाणिक मानते हुए भी कोश को विशेष वलवान मानते है। उनके अनुसार जिस शब्द की सिद्धि किसी भी शब्दशास्त्र के वचन में न होती हो, उसके साधुत्व का वोध केवल कोश से किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, अकारान्त "मरुत" शब्द की सिद्धि व्याकरण के उणादि सूत्रों से नहीं होने पर भी इसे साधु माना जाता रहा है, क्योंकि "विक्रमादित्य कोश" में इसका उद्धरण इस प्रकार है "मरुत स्पर्शन प्राण समीरो मारुतो मरुत्।" जब तक यह जानकारी नहीं थी, तब तक "मरुत" शब्द को असाधु माना जाता था जो कि एक भ्रान्त धारणा थी।[७] यथार्थ में शब्द के

सम्बन्ध मे प्रत्येक प्रकार की जानकारी देने वाला कोश ही प्रामाणिक माना जाता है। कोश केवल शब्दो की सकलना मात्र नही है। उसमे शब्द के प्रकृत रूप से लेकर उच्चारण, व्युत्पत्ति, लिंग, धातुगत अर्थ, पर्यायवादी शब्द तथा व्याकरणिक निर्देश यथास्थान किया जाता है।

शब्दकोश की उत्पत्ति

कोश को सस्कृत-साहित्य मे व्यावहारिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग माना गया है। इस देश मे कोशो का अस्तित्व छब्बीस सौ वर्ष से भी अधिक काल का मिलता है।[८] भारतीय परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल मे मौखिक थी। इसलिये यह कहना वहुत ही कठिन है कि यह कव से प्रारम्भ हुई। किन्तु इसे वैदिक तथा शास्त्रीय सस्कृत साहित्य का समकालीन रूप कहा जाता है जो कि सामान्यत निघण्टुओ के रूप मे प्रचलित था।[९] परवर्ती काल मे इसमे परिवर्तन होते रहे। वस्तुत कोश भाषिक शब्दो का अविछिन्न अग है। इसलिये यह उतना ही प्राचीन है, जितनी कि भाषा।

प्राय यह समझा जाता रहा है कि प्राकृत जैनो की, पालि बौद्धो की और सस्कृत ब्राह्मणो की भाषा रही है। इस कथन मे सचाई भी है। किन्तु जैन ग्रन्थकारो ने भारत की लगभग सभी प्रमुख भाषाओ मे साहित्य-सर्जना की और विभिन्न भाषाओ मे उनके लिखे हुए शब्दकोश भी सम्प्रति उपलब्ध है। अत युग विशेष की आम प्रचलित भाषा से वर्ग विशेष का सम्वन्ध जोडना उचित नही है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि जैनो मे युग विशेष के अनुरूप साहित्य-रचना की प्रवृत्ति विशिष्ट रूप से लक्षित होती है। जैन साहित्य के इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्व कोई भी जैन रचना सस्कृत मे लिखी हुई नही मिलती।

जैन परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण जैन वाड्मय द्वादशागवाणी के अन्तर्गत निवद्ध है। अत कोश-साहित्य की रचनाए भी सत्यप्रवादपूर्व और विद्यानुवाद की पाँच सौ महाविद्याओ मे से अक्षर विद्या मे सन्निविष्ट हैं। प्रारम्भ मे एकादश अगो, चतुर्दश पूर्वो के भाष्य, चूर्णिया, वृत्तियाँ तथा विभिन्न प्रकार की टीकाएँ कोश-साहित्य का काम करती रही, किन्तु जव कालान्तर मे उनका परिज्ञान न रहा, तव शब्दकोशो की आवश्यकता अनिवार्य हो उठी।[१०] यह कथन सत्य ही है कि निघण्टु तथा शब्दकोशो की प्रारम्भिक परम्परा मौखिक रही है। जैनो मे यह परम्परा परवर्ती काल मे "नाम माला" के रूप मे प्रचलित रही है। वास्तव मे यह परम्परा व्यावहारिक आवश्यकता के अनुरूप स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई। आदि तीर्थङ्कर वृषभ के कथानक से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के आदि कल्प मे उन्होने जग के प्राणियो के हित के लिए असि, मसि, कृषि, वाणिज्य तथा

विविध प्रकार की विद्याओ की शिक्षा दी थी। सभी कलाओ को उन्होने सिखाया था।[11]

सस्कृत मे शब्दकोश की प्राचीनतम परम्परा वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो जाती है। निरुक्तो की गणना वैदिक ग्रन्थ-समुदाय मे की जाती है। यद्यपि महर्षि यास्क कृत "निरुक्त" अत्यन्त प्रसिद्ध है, किन्तु उनके पूर्व भी कई निरुक्तकार हो चुके थे। श्री दुर्गाचार्य ने चतुर्दश निरुक्तो का उल्लेख किया है।[12] उनके रचयिताओ के नाम है—आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाम, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, यास्क, वार्ष्यायणि, शतवलाक्षमौद्‌गल्य, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि, कौत्स, चर्मशिरा, परुच्छेप, पारस्कर, भारद्वाज, भूताश काश्यप, मुद्‌गल भार्ग्याश्व, शाकटायन, शाकपूणिपुत्र, शाकल्य। इन चौवीस निरुक्तारो का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त मे किया है। परन्तु इनमे प्रारम्भ के चतुर्दश निरुक्तकार थे, यह निश्चित है, किन्तु सम्प्रति उनकी कोई कृति उपलब्ध नही है। निरुक्त तथा निघण्टु वैदिक कोश रहे है। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि वेदो की भाषा शिष्टो की साहित्यिक भाषा है। उसे मानकरूप अवश्य प्राप्त नही हुआ था, किन्तु प्रक्रिया सतत चालू थी। अतएव उनकी भाषा मे परिवर्तन लक्षित होते है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल की भाषा मे अत्यन्त भेद परिलक्षित होता है। परन्तु प्राकृत मे निवद्ध आगम साहित्य के सम्बन्ध मे यह वात लागू नही होती। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि आगम सीधे जन-भाषा के प्रवाह रूप मे निवद्ध हुए है, किन्तु वे वैदिक सस्कृत से सर्वथा अछूते नही है। पालि पर प्राकृत की अपेक्षा सस्कृत का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक प्रमाणो से यह निश्चित है कि वैदिक युग मे प्राकृत बोल-चाल की भाषा थी। जब सस्कृत एक पूर्ण तथा साहित्य की भाषा थी, तब भी प्राकृत वोलियाँ थी।[13] कालान्तर मे जव प्राकृत साहित्य की भाषा वनी, तव सस्कृत वैयाकरणो के आदर्श (मॉडल) पर भाषा का निर्वचन करने के लिए विशेष नियम वनाने पडे। वैयाकरणो ने ही सस्कृत को प्राकृत भाषा मे ढालने के लिए वचन-व्यवस्था का आदेश किया और उन्होने ही प्राकृत वोलियो को प्राकृत-अपभ्रश नाम दिए। यही कारण है कि प्रथम, द्वितीय शताब्दी तक प्राकृत वोलियो के प्रचलित रहते शब्दकोश की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। जनता की भाषा जनता समझती थी। जनता के लोक जीवन मे प्राकृते प्रतिष्ठित थी। किन्तु साहित्य मे आरूढ होने के अनन्तर धीरे-धीरे उनको समझने मे भी कही-कही कठिनाई होने लगी। सस्कृत-साहित्य की स्पर्धा मे प्राकृत शब्दो मे वहुत तोड-मरोड होने लगी। इसलिए टीकाओ का युग आरम्भ हुआ। किन्तु प्राकृत आगम-ग्रन्थो की टीकाएँ विक्रम की छठी शती से पूर्व की लिखी हुई नही मिलती। अत अनुमान यही किया जा सकता है कि पाँचवी-छठी शताब्दी से पूर्व

प्राकृत मे व्याकरण तथा शब्दकोश की रचना नही हुई होगी। यही समय निर्युक्तियो तथा चूर्णियो का भी रहा है। लगभग पाँचवी शताब्दी से दसवी शताब्दी के मध्य अधिकतर आगम-साहित्य के अन्य सूत्र ग्रन्थो, निर्युक्तियो एव चूर्णियो की रचना हुई। प्राकृतो के रूढ होते ही लगभग छठी शताब्दी से अपभ्रश अस्तित्व मे आ जाती है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि आगम ग्रन्थो के लिपिवद्ध होने तक किसी प्रकार की रचना की आवश्यकता नही थी। जैन परम्परा के अनुसार जैन आगम ग्रन्थ भगवान महावीर के ६६३वें वर्ष मे सर्वप्रथम वल्लभी मे देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने लिपिवद्ध किए। इतने लम्बे समय तक उन्हे कण्ठस्थ ही रखा जाता रहा और उसका परिणाम भी जो वतलाया गया है, वह वर्तमान मे प्राप्त ग्रन्थो की अपेक्षा बहुत ही अधिक था।[१५] इसका अर्थ यह है कि लगभग ईसा की पाँचवी शताब्दी मे जैनागम लिपिबद्ध हुए और तब तक निश्चित रूप से कोई शब्दकोश नही रचा गया था। किन्तु सस्कृत मे निरुक्त लिखे जा रहे थे। निघण्टु ग्रन्थो की परम्परा प्रचलित थी। अतएव साहित्य-रचना की दृष्टि से सस्कृत-परम्परा प्राचीन है।

सस्कृत-शब्दकोश की परम्परा

यह पहले ही कहा जा चुका है कि यास्क के निरुक्त मे जिन चौवीस नामो का उल्लेख किया गया है, उनमे से एक नाम शाकटायन का भी है। सस्कृत वैयाकरणो मे आठ की प्रसिद्धि है[१६] इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशल' शाकटायन, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र। भट्टोजी दीक्षित ने अमरकोश की टीका मे आचार्य आपिशल का एक वचन उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनका लिखा हुआ कोई कोशग्रन्थ भी था जो उपलब्ध नही है।[१७] इसी प्रकार केशव स्वामी ने "नानार्यार्णव सक्षेप" मे शाकटायन के कोश से वचन उद्धृत किए है।[१८] किन्तु आज उनका लिखा हुआ कोश उपलब्ध नही है। भले ही निरुक्त मे अनेक निरुक्तकारो का उल्लेख हुआ हो और उनके उद्धरण भी मिलते हो, किन्तु यास्क के पूर्ववर्ती आचार्यो मे शाकटायन, गार्ग्य और औदुम्बरायण ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होने भाषाशास्त्र की दिशा मे मौलिक प्रयोग किए।[१९] इन्ही शाकटायन का व्याकरण भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से प्रकाशित हो चुका है। सम्भवत कोश भी किसी भाण्डागार मे दवा पडा होगा।

प्राच्यविद्या-विशारद बूलर ने सर्वप्रथम सस्कृत-शब्दकोशो की विवरणिका प्रस्तुत की थी।[२०] सस्कृत मे अनेक ऐसे शब्दकोशो का उल्लेख कोशो मे तथा टीका ग्रन्थो मे मिलता है, जो लुप्तप्राय हैं। इन कोशो मे भागुरि, व्याडि, कात्यायन और विक्रमादित्य के शब्दकोश प्राचीन माने जाते है। भागुरि कृत शब्दकोश, उत्पलिनी (व्याडि), नाममाला (कात्यायन), शब्दार्णव (वाचस्पति), ससारावर्त

(विक्रमादित्य) आदि कोश लुप्त हो चुके हैं। श्री शिवदत्त मिश्र के शिवकोश की व्याख्या मे ५१ कोशो का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार है शब्दार्णव, मेदिनी विश्व, धन्वन्तरि, भावमिश्र कृत, सिंह विरचित, राजनिघण्टु, अमरमाला, कैयदेव रचित, अभिधानचूडामणि, अमर, अजय डल्लण, हृदयदीपक, वाचस्पति, वाप्यचन्द्र, अशोकमल्ल, वाग्भट, मदनविनोद, त्रिकाण्डशेष, हैम, वोपदेव, रभस, लोचन, धर्मिष्ठ, देवल, हलायुध, स्वामी, द्विरूपकोश, नाममाला, हारावली, मदनविनोद, अनेकार्थध्वनिमजरी, केशव, केसरमाला, गालव, गुणरत्नमाला, धरणि, नामगुणमाला, पुरुषोत्तम, मदनपाल, निघण्टु, रत्नकोश, रन्तिदेव, विद्वद्वैद्यवल्लभ, वैजयन्ती, व्याडि, शाश्वतकोश, शिवप्रकाश, शिवदत्त, हृद्रुचन्द्र, हेमाद्रि। प्रकाशित कोशो मे "अमरकोश" प्राचीन है। इसका रचना-काल लगभग ५०० ई० कहा जाता है।[२१] शाश्वत कृत "अनेकार्थसमुच्चय" इससे भी प्राचीन माना जाता है, किन्तु समय अज्ञात है। हलायुध कृत 'अभिधानरत्नमाला" का समय लगभग ९५० ई० है। इसके लगभग सौ वर्ष पश्चात् यादव कृत "वैजयन्ती कोश" लिखा गया। इसका सम्पादन जी० आपर्ट ने किया था जो मद्रास से सन् १८९३ ई० मे प्रकाशित हुआ था। महेश्वर कवि कृत "विश्व प्रकाश" ११११ ई० की रचना है। इनकी एक अन्य रचना शब्दभेदप्रकाश है। इनके ही अनुकरण पर "मेदिनी", "अनेकार्थसग्रह" आदि कोशो का निर्माण हुआ। मख कवि कृत "अनेकार्थकोश" लगभग ११५० ई० मे कश्मीर मे निर्मित हुआ था। यह कोश सम्पादित होकर सन् १८९७ ई० मे प्रकाशित हो चुका है। "अमरकोश" का पूरक पुरुषोत्तमदेव कृत "त्रिकाण्डशेष कोश" है जो तेरहवी शताब्दी का रचा हुआ कहा जाता है। उनके रचे हुए दो अन्य ग्रन्थ है हारावली और एकाक्षर कोश। महामहोपाध्याय पाण्डेय श्री रामावतार शर्मा ने चार ग्रन्थकारो का विशेष रूप से उल्लेख किया है[२२] रत्नाकर, मल्ल, सोमदेव और भारवि। श्री केशव कृत "कल्पद्रुमकोश" तथा राघव विरचित "नानार्थमजरी" प्रकाशित हो चुके हैं। इसी प्रकार से महीप रचित "अनेकार्थतिलक" भी प्रकाशित हो चुका है। यह कोश चौदहवी शताब्दी के लगभग रचा गया माना जाता है। कोशकार ने जिन पूर्व रचनाओ के आधार पर कोश की रचना की है उनके नाम हैं[२३] पाणिनि, अहीन्द्र, भागुरि, भोज, भेड, हेमचन्द्र, और अमर इत्यादि। वास्तव मे सस्कृत मे इतने अधिक कोशो की रचना हुई, इतने अधिक उनके उल्लेख मिलते है और अभी इस दिशा मे इतना अधिक कार्य अस्पृष्ट पडा है कि शोध-अनुसन्धान मे सकडो वर्ष लग सकते है। वैष्णव, जैन और बौद्ध आदि कोई भी ऐसा शाब्दिक सम्भवत न होगा, जिसने शब्दकोश की रचना न की हो। दक्षिण भारत के भाण्डागारो मे भी अनेक अज्ञात एव अप्राप्त दुर्लभ कोश-ग्रन्थो की सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। अनेकार्थकोश के नाम से ही सस्कृत मे लगभग एक दशक रचनाएँ

मिलती है। इसी प्रकार से "शब्दभेदप्रकाश" के नाम से चार-पाँच कोश उपलब्ध होते हैं। उनमे से कुछ प्रकाशित भी हो चुके है। उन सब का यहाँ उल्लेख करना इस छोटे-से लेख मे सम्भव नही है।

सस्कृत के जैन कोशकार

सस्कृत मे जिन जैन आचार्यों ने शब्दकोश-निर्माण का महान् कार्य किया, उनमे शाकटायन का नाम उल्लेखनीय है। शाकटायन का काल पाणिनि से भी पूर्व का है। पाणिनि का समय विक्रम के पाँच सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। उन्होने अष्टाध्यायी मे शाकटायन का उद्धरण देते हुए उनके नाम का उल्लेख किया है। यद्यपि कोई उल्लेख नही मिलता है, तथापि अनुमान यह है कि आचार्य पूज्यपाद ने कोई कोश ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा। उपलब्ध जैन कोशो मे आचार्य धनजय कृत 'नाममाला' सर्वप्रथम है। महाकवि धनजय का समय आठवी शताब्दी माना गया है।[२६] इस शब्दकोश की विशेषता यह है कि महाकवि ने २०० श्लोको मे सस्कृत भाषा के प्रमुख शब्दो का सकलन कर गागर मे सागर भरने की उक्ति चरितार्थ की है। शब्द से अन्य शब्दान्तर रचने की इनकी अपनी विलक्षण पद्धति है। इस पद्धति से सस्कृत का सामान्य जानकार भी शब्दान्तर रचना कर सस्कृत शब्द-कोश का भाण्डार बढा सकता है। जैसेकि यह एक सामान्य नियम है पृथिवी वाचक शब्दो के आगे 'धर' शब्द जोड देने से वे पर्वतवाची हो जाते है भूधर, महीधर आदि। इसी प्रकार दूसरा नियम है मनुष्य वाचक शब्दो के साथ 'पति' शब्द जोड देने से वे राजा अर्थ के वाचक हो जाते है—नरपति, मानवपति, जनपति आदि। इसी प्रकार वृक्ष वाचक शब्दो के आगे चर' शब्द जोड देने से वे बन्दर अर्थ के वाचक हो जाते है तरुचर, पादपचर आदि। इस तरह के अनेक नियम इस कोश मे दिए गए है, जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं

१ आकाश शब्द के साथ 'चर' शब्द जोड देने से वह विद्याधर का वाचक हो जाता है नभश्चर, नगनचर, मेघपथचर, अभ्रमार्गचर, अन्तरिक्षचर आदि।

२ हल वाचक शब्द के साथ 'कर' शब्द जोड देने से बलभद्र के वाचक हो जाते है जित्याकर, हलिकर, हलकर, सीरकर, लागलकर इत्यादि।

३- जल वाचक शब्द के साथ 'चर' शब्दके जोड देने से मत्स्य वाची नाम बन जाते है, जैसेकि जलचर, नीरचर, पयश्चर, अम्भश्चर, विपचर, जीवनचर, तोयचर, कुशचर इत्यादि।

४ जल वाचक शब्द के साथ 'प्रद' शब्द जोड देने से मेघवाची नाम बन

जाते हैं, जैसेकि- तोयप्रद, जीवनप्रद, कम्प्रद, वारिप्रद, अप्प्रद, शरप्रद, सलिलप्रद, कुशप्रद इत्यादि।

५ जल वाचक शब्द के साथ 'उद्भव' शब्द जोड देने से कमलवाचक बन जाते हैं और 'धि' शब्द जलवाचक शब्दो के साथ जोड देने से वही समुद्र का वाचक बन जाता है।[२५]

इस प्रकार इस कोश के अध्ययन से अत्यन्त सरलता के साथ संस्कृत का शब्द-भाण्डार वृद्धिगत हो जाता है। इस कोश की मौलिकता यह है कि उस युग मे शब्दनिर्माण की प्रचलित प्रक्रिया को जो रूढ हो चुकी थी, यह प्रस्तुत करता है। वास्तव मे शिक्षार्थियो के लिए यह कोश अत्यन्त उपयोगी है। इस कोश मे कुल २०३ श्लोक है। इस लघुकाय ग्रन्थ मे १७०० शब्दो का सकलन किया गया है। सामान्य रूप से विद्यार्थियो के लिए इतना ज्ञान होना आवश्यक है।

महाकवि धनजय की 'नाममाला' के अतिरिक्त 'अनेकार्थ नाममाला' ४४ श्लोको की लघुतम रचना तथा 'अनेकार्थ-निघण्टु' रचनाएँ भी मिलती है जो 'नाममाला सभाष्य' के अन्तर्गत भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुकी है। 'अनेकार्थ-निघण्टु' मे १५३ श्लोक हैं और १९ श्लोक 'एकाक्षरी नाममाला' के है। वास्तव मे ये सब नाममाला के ही उपविभाग है।

वस्तु-कोश

केवल उत्तर भारत मे ही नही, दक्षिण भारत मे भी जैनाचार्यों ने संस्कृत और प्राकृत मे विशाल साहित्य की रचना की है। कविशिरोमणि नागवर्म द्वितीय ने जहाँ संस्कृत मे 'भाषा-भूषण' नामक उत्कृष्ट व्याकरण की रचना की, वही 'वस्तु-कोश' की रचना कर कन्नड़ भाषा मे प्रयुक्त होने वाले संस्कृत शब्दो का अर्थ परिचायक पद्यमय निघण्टु या कोश की प्रसिद्धि की। यह कोष वररुचि, हलायुध, शाश्वत, अमरसिंह आदि के कोशग्रन्थो को देखकर निर्मित हुआ। इसका रचना-काल ११३९-११४९ ई० है।[२६] यह संस्कृत-कन्नड का सबसे बडा कोश माना जाता है। इसी प्रकार देवोत्तम का नानार्थरत्नाकर' भी उल्लेखनीय है।[२७] किन्तु सम्प्रति इस कोश के सम्बन्ध मे विशेष विवरण उपलब्ध नही है। इस प्रकार के अन्य कोश भी हो सकते हैं जो हमारी जानकारी मे नही हैं।

अभिधानचिन्तामणि

जैन कोशो मे 'अभिधानचिन्तामणि' का एक विशिष्ट स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने इसमे जैन पारिभाषिक शब्दो का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके अनेक पर्यायवाची शब्द भी दिए है। यह कोश

छह काण्डो मे निबद्ध है। प्रथम देवाधिदेवकाण्ड है, जिसमे त्रिकाल चौबीस तीर्थंकरो की नामावली, उनके अन्य उपनाम, माताओ के नाम, शासनदेवता, ध्वजाओ आदि का वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण कोश मे जैन साहित्य मे आगत प्रमुख पारिभाषिक शब्दो का अर्थोल्लेख किया गया है। कोश मे कुल १८८६ श्लोक है। केवल 'अभिधानचिन्तामणि' मे १५४२ श्लोक है, शेष श्लोक 'शेषनाममाला' के हैं। प्रस्तुत कोश मे कई मौलिक विशेषताएँ लक्षित होती है। प्रथम कोश का विभाजन ही अपनी मौलिक सूझ-बूझ को प्रदर्शित करता है। वास्तव मे चार गतियो के आधार पर कवि ने चार काण्डो का नामकरण किया है। प्रथम काण्ड मगलाचरण रूप मे है और अवशिष्ट शब्दो का सकलन सामान्यकाण्ड मे किया गया है। वास्तव मे चार गतियो मे सभी वस्तुएँ और उनके नाम सगृहीत हो जाते है। अपनी इस पद्धति का उल्लेख स्वय कोशकार ने किया है।[२८]

कोशकार की मुख्य प्रतिज्ञा है "रूढयौगिकमिश्राणा, नाम्ना माला तनोम्यहम्" अर्थात् रूढ, यौगिक और मिश्र तीनो प्रकार के शब्दो का सकलन कर उनका विस्तार करूँगा। सैकडो वर्षों से जिन शब्दो का प्रयोग रूढ हो चुका था, उनका यथास्थान उसी अर्थ मे सकलन करना स्वाभाविक भी था। कोशकार ने इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि रूढ शब्दो मे से कोई छूटने न पावे। उदाहरण के लिए, अमरकोश, विश्वप्रकाश तथा मेदिनी अनेकार्थक कोशो मे "क्षुल्लक" शब्द के दो अर्थो का उल्लेख है "क्षुल्लक स्वल्पनीचयो" थोडा, छोटा या नीच। 'अभिधानचिन्तामणि' मे यह उल्लेख इस प्रकार है

"क्षुद्रकस्तव शखनका क्षुल्लकाश्च।" श्लोक १२०५

यद्यपि सस्कृत के सभी कोशो मे थोडे-बहुत देशी तथा लोकभाषा के शब्दो का सग्रह भी मिलता है, जैसाकि होरा, होलक, खटक्किका, कट्टार, खुड, खुड, छाग, डल्लक और घुटक आदि। सामान्यत सस्कृत मे 'क' स्वार्थिक प्रत्यय जोड कर अन्य भाषाओ से शब्दो के ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रचलित रही है। अत टिटहरी के लिए 'टिट्टिभक', मूली के लिए 'मूलक', कटोरा के लिए 'कटोरक', झाझ के लिए 'झल्लक', डलिया के लिए 'डल्लक' और करेला के लिए 'कटिल्लक' आदि देशी शब्द कहे जाते हैं। सस्कृत मे अनेकार्थक शब्दो के विकास का भी रहस्य यही प्रतीत होता है। क्योकि जब चूल्हे के लिए 'मूषक' या 'मूषिक' शब्द प्रचलित था, तब 'उन्दुरु या उन्दूर' कहने का क्या कारण था ? केवल इतना ही कि जिस समय जो सस्कृतकोश निर्मित हो रहा था, तब ये शब्द विशेष चलन मे थे। अत ऐसे शब्दो को साधारण रूप से कोई भी कोशकार नही छोड सकता था। फिर भी, इस दृष्टि से 'त्रिकाण्डशेष' कोश विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमे मूषक के पर्यायवाची शब्द तीन (उन्दुरु, तुटुम और रन्ध्रबभ्रु) और छुछुन्दरी के चार पर्यायवाची शब्द दिए गए है[२९] चिक, वेश्मनकुल पुवृष और गन्धमूषिक। किन्तु

'अभिधानचिन्तामणि' में 'छछुन्दरी' शब्द का स्पष्ट अभिधान किया गया है[३०] जो निश्चित ही देश्य भाषाओं से आगत है। 'अभिधानचिन्तामणि' कोश में अनेक नवीन शब्दों का समावेश लक्षित होता है जो उसके पूर्व के संस्कृत कोशों में उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ चौल, चोटी, गोणी, हेरिक, कुमिला, समिता, पिण्डोलि, फेली, प्रोज्जासन, फरक, छुरी, ईर्यापथ, सवर, इल्मी, तरवालिका, वाटी, झम्फान, खोल, पृपातक, पटाका, टकपति, हैरिक, गन्दुक, मकुट, सिंघाण, सिंघाणक, गोनाम, गोराटी, गोरुत, गोहिर, घुटक, घुटिक, घूकारि, घृतेली, घोणम, घोल, चडिल, चलचचु, चिकिल, चिहुर, चीनक, चीनपिष्ट, चीरिल्लि, छगण, जडुल, जलालोका, जलसर्पिणी, जागुड, जोन्नाला, डिंगर, ढौकन, तन्तुल, तीर्थंकर, तीर्थवाक्, दध्न, भरूटक भोलि, मनस्ताल, मिथ्यात्व, मुसटी, मूलपुट, मेरक, राटि, रुपा, वड्, खण, वण्ड, वर्चस्क, वाहिक, वोल्लाह, वोहित्थ, शूकल, श्वेतकोलक, सर्वमूपक, सार्पी, सार्व, मृपाटिका, स्थलशृंगार, हारहूरा इत्यादि। सम्भव है कि इनमें से कोई एक-दो शब्द किसी प्राचीन शब्दकोश में हों, जो हमारे देखने में न आए हों। किन्तु जानकारी के अनुसार ये अधिकतर नवीन शब्द हैं। इन शब्दों के अध्ययन से यह भी निश्चय हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अमरकोश और उसकी परम्परा का अनुगमन किया है। अनेकार्थक कोशों में प्राचीनतम उपलब्ध 'विश्वप्रकाश' को आधार मानकर 'अभिधानचिन्तामणि' की रचना नहीं हुई। 'अमरकोश' के अवश्य अधिकतर शब्दों का संकलन इस कोश में किया गया है, किन्तु वे संस्कृत साहित्य में या लोक-जीवन में भी प्रचलित प्रतीत होते हैं। जैनागम-परम्परा के कई शब्द अमरकोश में मिलते हैं, यथा मिथ्यादृष्टि, मिथ्यामति, मुनि, मुनीन्द्र, जिन, अर्हत्, आश्रव आदि। 'विश्वप्रकाश' कोश में कई ऐसे शब्द हैं जो अनेक संस्कृत कोशों में लक्षित नहीं होते। उनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं जैमुरि, मर्करा, एलावली, दुम्बरिका, चर्माड्ग, लम्पा, चार्वटीर, कम्बिका, शिराला, कदैवत, वरघू, जराटक, वशकम्बिका आदि। इस कोश में कुछ कोशकार के गढ़े हुए शब्द भी मिलते हैं, जैसेकि—दध्यग्र (दही के ऊपर की मलाई), दुग्धाग्र (दूध के ऊपर की मलाई), वेणुसार (वंशलोचन), नीरविकार (समुद्रफेन) आदि। ये सब शब्द 'अभिधानचिन्तामणि' में भी संकलित नहीं हुए हैं। परन्तु कवि महेश्वर की भाँति आचार्य हेमचन्द्र ने भी कुछ शब्द गढ़े हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द ये हैं—जलमार्जार (जलविलाव), जलवालिका (विद्युत्), झलक्का (चिनगारी), वायुवाह (धूम, धुआँ), अग्निवाह (धूम), तैलाटी (वर्र), वर्षकरी (झींगुर) गृहमृग (कुत्ता), रात्रिजागर (कुत्ता), चक्रमण्डलि (अजगर), मेघसुहृत् (मयूर), अम्बुप (चातक) इत्यादि। कहीं-कहीं 'मेदिनीकोश' का भी प्रभाव लक्षित होता है।[३१] किन्तु कहीं-कहीं दोनों के अर्थ में भिन्नता भी लक्षित होती है। उदाहरण के लिए, 'अभिधानचिन्तामणि' में 'जगल'

का अर्थ निर्जल है, किन्तु 'मेदिनी' मे निर्जन स्थान है।[१२] इसके अतिरिक्त 'अभिधानचिन्तामणि' मे सकलित अनेक शब्द 'मेदिनी' मे परिलक्षित नही होते, जैसेकि—चषाल, तैलपायिका, निशाटनी, पिक्क, विक्क, पारिन्द्र, पारीन्द्र, चिक्कस, गृहोलिका, शूलिको, शलल, शयु, विसार, शल्की, वादाल, शखमुख इत्यादि। इसका एक कारण यह भी है कि 'मेदिनी' अनेकार्थक कोश है।

'अभिधानचिन्तामणि' की एक विशेषता यह भी है कि इसमे पर्यायवाची शब्दो की सख्या बहुत है। एक 'मीन' शब्द के सोलह पर्यायवाची शब्द दिए हुए है[१३] मत्स्य, पृथुरोमा, झष, वैसारिण, अण्डज, सघचारी, स्थिरजिह्व, आत्माशी, स्वकुलक्षय, विसार, शकली, शल्की, शम्बर, अनिमिष और तिमि। इसी प्रकार १७ प्रकार के धान्यो का वर्णन 'अभिधानचिन्तामणि' मे किया गया है। फिर, उनकी पहचान भी बताई है। उदाहरण के लिए, पीला छोटे दाने का चावल 'कगु' कहा गया है

"कड्गुस्तु कङ्गुनी कड्गु प्रियड्गु पीततण्डुला।' (११७६)

उडद के सम्बन्ध मे कहा गया है

"मापस्तु मदनो नन्दी वृष्यो बीजवरो बला।" (११७१)

इस कोश मे सबसे अधिक नाम ११८ पार्वती के सकलित हैं।[१४] इसी प्रकार सुन्दरता के पर्यायवाची २७ शब्द है।[१५] निकट के वाचक २० पर्यायवाची शब्द हैं।[१६] अन्य शब्दो के भी इसी प्रकार अधिक-से-अधिक पर्यायवाची शब्दो का सकलन लक्षित होता है। कई महत्त्वपूर्ण शब्दो के भी पर्यायवाची शब्द दिए गए है। जैन का पर्यायवाची शब्द अनेकान्तवादी दिया गया है। चार्वाक को लोकायतिक और वैशेषिक को 'कणाद' कहा गया है। अग्नि के २४ पर्यायवाची नामो का उल्लेख किया गया है। मुर्गे के १८ पर्यायवाची नाम और कोयल के ११ नामो का वर्णन किया गया है। 'नारककाण्ड' मे इस धरती के नीचे सात भूमियो का नरक के पर्यायवाची शब्द का उल्लेख किया गया है। नरक सात हैं और पर्यायवाची नाम भी सात है। अन्य सस्कृत के शब्दकोशो मे इन सात नरको का उल्लेख नही मिलता।

आचार्य हेमचन्द्र के इस कोश मे सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के शब्दो का भी समावेश परिलक्षित होता है। जैसेकि पट्टन, वोहित्थ, वप्पीह, खडक्किका, कण्डोलक, चोटी, सिड्घाण, सिड्घाणक, झम्पा और गोविन्द आदि। कुछ देशी शब्द भी इस कोश मे लक्षित होते हैं। वे इस प्रकार है

१ लडह रमणीय। हिन्दी मे 'लाड' (लाड-प्यार)।
२ चिल्ल—एक पक्षी। हिन्दी मे 'चील'।
३ लट्टुक—मोदक (अभि० १६४०)। हिन्दी मे लड्डू, बुदेली मे लडुआ, राजस्थानी मे लाडू गुजराती मे लाड्डु।

४ खल्ल चर्ममयी (अभि० १०२५)। हिन्दी में 'खाल'। खल्ला (देशी० २,६६)।
५ गेंदुक गेंद (अभि० ६८६)। हिन्दी में 'गेंद', ब्रज-बुन्देली में गेंद।
६ तरवारि तलवार (अभि० ७८२)। ब्रज, बुन्देली, गुजराती में 'तरवार'।
७ चालनी चलनी (अभि० १०१८)। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में चलनी।
८ खटी खडी मिट्टी (अभि० १०३७)। राजस्थानी 'खडी', बंगला, उडिया में 'खडी', मराठी में 'खडी' और गुजराती 'खडी'।[39]
९ कुरुल भ्रमरालक (अभि० ५६९)। प्राकृत कुरुल (लट), जूनी गुजराती में 'कुरुल', मराठी में 'कुरुल'।[40] द्रविड भाषाओं में 'कुरुल'।
१० तम्बा गाय (अभि० १२६६)। तवा-गौ (देशीनाममाला ५,१)।
११ फुल्ल फूला हुआ (अभि० ११२७)। पालि-प्राकृत 'फुल्ल'। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में 'फूल' अर्थ है।[41]
१२ बप्पीह पपीहा (अभि० १३२९)। बप्पीह (देशीनाममाला, ६,९०)।
१३ पुत्तिका पतंगिका (श्वेत चींटी, अभि० १२१४)। कन्नड 'पुत्तु' तेलुगू 'पट्ट', परजी (द्राविडी) 'पुटकल'।

इनके अतिरिक्त कई अन्य ऐसे शब्द भी परिलक्षित होते हैं जिनका निश्चित पता नहीं है, पर वे देशी ही प्रतीत होते हैं। इन शब्दों में कुछ ये हैं

(१) पोटा, (२) वोटा, (३) चुन्दी, (४) पट्टी, (५) चोटी इत्यादि। पाठ इस प्रकार है

सा वारमुख्याथ चुन्दी कुट्टनी शम्भली समा।
पोटा वोटा च चेटी च, दासी च कुटहारिका॥ अभि०, ५३३-३४

इसी प्रकार से संस्कृत के अन्य शब्दकोशों की भाँति इसमें भी अन्य भाषाओं के परम्परागत शब्दों की भी उचित रूप से सन्निवेश परिलक्षित होता है। अतएव कई दृष्टियों में इस कोश का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से शोध खोज का महान् कार्य है। अभी तक इस दिशा में कोई कार्य नहीं किया गया है।

अनेकार्थकसंग्रह

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का यह कोश 'अभिधानचिन्तामणि' का पूरक है। क्योंकि 'अभिधानचिन्तामणि' में पर्यायवाची शब्दों का संकलन है और इसमें एक शब्द के अनेक अर्थों का आकलन किया गया है। यह कोश सात काण्डों में निबद्ध है, जिनमें कुल १९३१ श्लोक हैं। इस कोश में कई नवीन शब्द मिलते हैं, जो 'मेदिनी' में नहीं पाए जाते। उनमें से कुछ ये हैं

घृणि, घोषा, चन्द्रिल, चमरी, चात्वाल, चूडाल, चौल, छगली, छत्र, छत्रा, चास, चित्र, चित्या, चुक्री, चुलक, चुलुक, चुल्ल, छित्वर, जलाटनी, जवनी, जिह्वा, झर्झरी, झल्लरी, झषा, झिल्ली, झूणि, तण्डक, तण्डुला, तमोनुद्, तल्प, तानित, त्रपु, त्रिगर्ता, त्रिपुटा, त्विष्, दक्षा, दक्षिणा, दण्डयाम, दन्ति, दम्म, दाढा, दाय, दाव, दिष्टि, द्रू, धन्य, धनिक, धवल, धातु, धातृ, धाराधर, ध्रुवा, नलिन, नली, नवकलिका, नवाह, निर्नर, पक्षी, फलि, फली फल्गु, फेरव, बद्धशिख, महाघोषा, रक्तागा, रल्लक, लतामर्कटक, वरटा, वरत्रा, वरद, शावर, शिलीन्ध्री, शीतशिव इत्यादि।

यद्यपि विश्वप्रकाश' और 'मेदिनीकोश' के आधार पर इस कोश का निर्माण हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अनेक औषधियो के नाम तथा अन्य नाम इस कोश मे नही मिलते। मेदिनीकोश के निम्नलिखित शब्द इस कोश मे नही है

ऋद्धि, कुनटी, चिरटी, चेष्टित, जलतापिक ज्वलित, जह्नु, जाङ्गूली, जातु, जानपद, जालक, जालिक, जाहक, जीर्ण, टगर, टुण्टुक, डिङ्गरी, डिम्बिका, तर्ष, तलुनी, तातगु, तातल, त्रायमाणा, त्र्यक्षर, त्वक्पत्र, दत्त, दन्तधावन, दानु, दान्त, दारु, दारुण, दीना, दीर्ण, दुग्धी, दुण्डुक, दूषिका, द्वीपवान्, धट, धूसरी, ध्वजी, नर्मद, नर्मरा, निर्ग्रन्थक, पाल, मसूरी, महाकच्छ, यक्षराट्, यूथिका, रज्जु, वारक, वारकी वारकीर इत्यादि।

संस्कृत के इन प्रकाशित मूल ग्रन्थो का सम्पादन ठीक से नही हुआ है। प्रथम बार यह सम्भव भी नही था। अत कई स्थानो पर अनेक अशुद्ध पाठ रह गये हैं। यह कार्य तभी हो सकता है जबकि विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्थसग्रह आदि अनेकार्थक कोशो का तुलनात्मक अध्ययन कर प्रामाणिक पाठ निर्धारित किए जाए। उदाहरण के लिए

"पानपात्रे दैत्यभेदे कारू शस्त्रयायुधे रुजि।" अनेकार्थ० २,५६१ 'अनेकार्थसग्रह' की यह पक्ति ज्यो की त्यो हमे 'विश्वप्रकाश' और 'मेदिनीकोश' मे मिलती है। किन्तु उनमे 'कारू' के स्थान पर 'कासू' पाठ है। अत क्या 'कासू' होना उचित है? इसी प्रकार एक अन्य पाठ है

स्याद्गौरिलस्तु सिद्धार्थे लोहचूर्णेऽथ चन्द्रिल। अनेकार्थ० ३,६८१ 'चन्द्रिल' के स्थान पर 'विश्वप्रकाश' मे 'चण्डिल' पाठ है। अनेकार्थसग्रह की मुद्रित पुस्तक मे टिप्पणी मे 'चण्डिल' पाठ भी है। अत यही उचित प्रतीत होता है कि 'चण्डिल' पाठ ठीक है, चन्द्रिल नही। अतएव अनेकार्थसग्रह का 'चन्द्रिल' शब्द चण्डिल होना चाहिए। ऐसे अनेक पाठ है जो स्वतन्त्र अध्ययन के विपय हैं। 'विश्वप्रकाश' कोश के कई शब्द 'अनेकार्थसग्रह' मे लक्षित नही होते। कुछ शब्द इस प्रकार है

कदला, खण्डाली, बिडाली, विशाल, विशाला, विमला, शीवल, विकेशी, वीतसो, भूयस्, क्रूरदृक्, एकसहा, कुटार, नाह, अश्व इत्यादि।

सस्कृत के अनेकार्थक कोशो के तुलनात्मक अध्ययन से यह निश्चित प्रतीत

होता है कि सभी कोशकार 'विश्वप्रकाश' से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित अवश्य रहे हैं। मेदिनी और अनेकार्थ पर इसका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए कुछ उद्धरण लिए जा सकते हैं

अस्र: शिरसिजे कोणे स्यादस्र शोणिते स्रुणि। अनेकार्थ० २,४०५
तरिर्दशाया नौकाया वस्त्रादीना च पेटके। वही, २,४३८
पूर स्यादम्भसा वृद्धौ व्रणसंशुद्धिखाद्ययो।
पोत्र वस्त्रे मुखाग्रे, च सूकरस्य हलस्य च। वही, २,४५२-५३
होरा तु लग्ने राश्यर्धे शास्त्ररेखाप्रभेदयो। वही, २,४८५
शालु कषायद्रव्ये स्याच्चोरकाख्यौषधेऽपि च। वही, २,५२४
लध्वी ह्रस्वविवक्षाया प्रभेदे स्यन्दनस्य च। वही, २,५४६
अवध्यमवबार्हे स्यादनर्थकवचस्यपि। वही, ३,५०६
मलयो देश आरामे शैलांशे पर्वतान्तरे। वही, ३,५३०
विशल्या लाङ्गलीदन्तीगुडूचीत्रिपुटासु च। वही, ३,५३८
ऋक्षर वारिधाराया मृक्षर पुन ऋत्विजि। वही, ३,५६०
कच्चर कुत्सिते तक्रे — —— वही, ३,५६४
केदार कुम्भिनरके शिर कपालसन्धिषु। वही, ३,५८०
कोट्टारो नागरे कूपे पुष्करिण्याश्च पाटके। वही, ३,५८१
खिङ्खिरस्तु शिवाभेदे खट्वाङ्गे वारिवाहके। वही, ३,५८४
जम्बीर प्रस्थपुष्पाख्यशाके दन्तशठद्रुमे। वही, ३,५९२
नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्येऽथ नागरम्। वही, ३,६०१
वल्लूर तु वनक्षेत्रे वाहनोपरयोरपि। वही, ३,६३३
वशिर किणही सिन्धुलवणे कुम्भकेषु च। वही, ३,६३४
वागरो वारके शाणे निर्णये वाडवे वृके। वही, ३,६३५
शणीर शोणमध्यस्थपुलिने दर्दरीतटे। वही, ३,६४३
शिलीन्ध्र कदलीपुष्पे कवकत्रिपुटाख्ययो.। वही, ३,६४८
सङ्गर तु फले शम्या संस्मार सम्भृतो गणे। वही, ३,६५२
सैरन्ध्री परवेश्मस्थशिल्पकृत्स्ववशस्त्रियाम्।
वर्णसङ्करसम्भूतस्त्रीमहल्लिकयोरपि। वही, ३,६५६-५७
अङ्गुलि कारशाखाया कर्णिकाया गजस्य च। वही, ३,६६०
जलाशयमुशीरे स्याज्जलाशयो जलाश्रये।
तण्डुलीय शाकभेदे विडङ्गतरुताप्ययो। वही, ४,२२९-३०
अरुष्कर व्रणकरे भल्लातकफलेऽपि च। वही, ४,२४१
उत्पलपत्रमुत्पलदले स्त्रीणा नखक्षते। अनेकार्थ० ५,४४
तमालपत्र तिलके तापिच्छे पत्रकेऽपि च। वही, ५,४५

भवेदुद्दण्डपालस्तु मत्स्यसर्पप्रभेदयोः । वही, ५,५१
भवेत्सुरतताली तु दूतिकायां शिरस्रजि । वही, ५,५५

उक्त सभी पंक्तियां शब्दशः 'विश्वप्रकाश' कोश में उपलब्ध होती हैं। अतः यही जान पड़ता है कि ये वहां से उद्धृत की गई है। केवल 'विश्वप्रकाश' से ही नहीं, 'मेदिनी' से भी कुछ उद्धृत है। परन्तु 'मेदिनी' की अपेक्षा 'विश्वप्रकाश' की उद्धृत पंक्तियां बहुत अधिक है। 'मेदिनीकोश' से उद्धृत कुछ ही पंक्तियां हैं जो इस प्रकार है

प्रत्युद्गमनीयमुपस्थेये धौतांशुकद्वये । अनेकार्थ० ६,६
एककुण्डल इत्येष बलभद्रे धनाधिपे । वही, ५,५२
रोचना रक्तकल्हारे गोपित्ते वरयोषिति । वही, ३,४३४

इस प्रकार यह 'अनेकार्थसंग्रह' कोश पूर्व परम्परागत शब्दों की संकलना का एक सुन्दर कोष है। इतना ही नहीं, इसमें कई देशी भाषा के ऐसे प्रचलित शब्दों का भी समावेश है जो अन्य कोशों में नहीं मिलते। जैसे कि

(१) लंच घूस (अनेकार्थ० ३,७७१)। बुन्देलखंडी 'लांच' (रिश्वत)।
(२) गेन्दुक तकिया (अनेकार्थ० ४,१६६)। 'विश्वप्रकाश' में 'गेण्डुक' शब्द है। बुन्देलखंड में इसे 'गेंडुआ' कहते हैं।
(५) गान्धिक गांधी (अनेकार्थ० ३,३६)। ब्रज, बुन्देली में 'गंधी', 'उड़िया, बिहारी और हिन्दी में भी 'गंधी'। प्राकृत 'गंधिय'।[४३]
(४) जठर मूर्ख, मन्दबुद्धि (अनेकार्थ० ३,६१५)। वट्ठर, माठर बुन्देली, मालवी और हिन्दी में।
(५) चिल्ल चील (अनेकार्थ० २,४६७)। कुमायूं, नेपाली, बंगाली, उड़िया और अवधी में 'चील'।[४४]
(६) वण्ठ अविवाहित (अनेकार्थ० २,११०, देशीनाममाला ७,८३)। प्राकृत 'वंठ' और उड़िया 'वाठिया'।[४५]

'अनेकार्थसंग्रह' में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जो संस्कृत में तथा प्राकृत में भी समान रूप से प्रचलित रहे है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से उन शब्दों को तथा रचना की दृष्टि से भी गढे हुए होने के कारण देशी कहा जाता है। अर्थ की दृष्टि से यह है कि जब एक शब्द का एक अर्थ नियत है और अधिक-से-अधिक दो-तीन शब्द एक ही अर्थ को बतलाने वाले हैं, तो उसमें दो या दो से अधिक शब्दों की वृद्धि कैसे हुई? निश्चित ही वे शब्द किसी-न-किसी धारा से होकर भाषा विशेष में समा गए होंगे, जो कालान्तर में उस भाषा के अपने बन गये। यह क्रम सैकड़ों-हजारों वर्षों से चला आ रहा है। 'अनेकार्थसंग्रह' में भी इसी परम्परा का पालन दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए यहां संस्कृत का 'कुट' शब्द लिया जा सकता है। संस्कृत में 'कुट' शब्द के निम्नलिखित अर्थ है[४६] कोट, पत्थरफोड़ी, घड़ा और

मकान। मूल मे यह शब्द द्राविड 'कुट्ट' से निकला है। पालि मे यह 'कूट' है और प्राकृत मे 'कूड' है। इसका अर्थ लोहे की हथोडी है। सिन्धी मे इसी अर्थ मे 'कुलु' शब्द प्रचलित है।[४७] इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों मे यह शब्द परिलक्षित नही होता। 'कुट' का अर्थ 'कोट' इसलिए शब्दकोशो मे आ गया, क्योकि प्राकृत-बोलियो मे 'कुट' और 'कोड' दोनो शब्द प्रचलित रहे है। घट और गेह अर्थ के सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि ये दोनो ही सादृश्य से सम्बन्धित है। सस्कृत मे अनेक शब्दो का निर्माण इसी प्रक्रिया से हुआ। आचार्य हेमचन्द्र मे यह प्रकृति विशेष रूप से लक्षित होती है।[४८] 'अनेकार्थसग्रह' मे भी यही प्रवृत्ति भली-भाति देखी जा सकती है। यही आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ तथा बोलियो मे कुट्ट, कूटना, कुहा, कूटा आदि शब्दो मे द्योतित होती है। यह विषय अत्यन्त रोचक तथा शोध-अनुसन्धान का है। इससे भारतीय आर्यभाषाओ की पुनर्निर्माण की प्रक्रिया मे कुछ नवीन सकेत भी उपलब्ध हो सकते है।

निघण्टुशेष

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'निघण्टुशेष' शब्दकोश-ग्रन्थो मे एक विलक्षण रचना है। क्योकि इसमे एकार्थक और अनेकार्थक दोनो प्रकार के देशी शब्दो का सग्रह किया गया है। स्वय उन्होने इस बात का उल्लेख किया है कि जो शब्द शेष रह गए है, उनका यहा समुच्चय किया गया है।[४९] डॉ० ब्लुल्हर के अनुसार यह एक श्रेष्ठ वनस्पतिकोश है। उनका यह कथन तथ्यपूर्ण है। क्योकि यह कोश छह काण्डो मे विभक्त है। प्रथम वृक्षकाण्ड है, द्वितीय गुल्मकाण्ड, तृतीय लताकाण्ड, चतुर्थ शाक-काण्ड, पचम तृणकाण्ड और षष्ठ धान्यकाण्ड है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण कोश स्वतन्त्र रूप से एक वनस्पतिकोश है जो 'अभिधानचिन्तामणि' का पूरक प्रतीत होता है। 'अभिधानचिन्तामणि' और 'अनेकार्थसग्रह' मे आ० हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती जिन अनेकार्थक कोश मे उल्लिखित औषधियो तथा वृक्षो आदि के नाम छोड दिए थे, उनका पृथक् रूप से इस कोश मे सकलन किया है। यह वास्तव मे उनकी ही सूझ-बूझ है। आयुर्वेद के निघण्टुओ के अतिरिक्त अन्य इस प्रकार के कोश उपलब्ध नही होते। अत आयुर्वेद के निघण्टु ग्रन्थो की परम्परा मे यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका कारण यह है कि यह कोश कुल ३९६ श्लोको मे निबद्ध होने पर भी वनस्पति-जगत् की लगभग सभी वस्तुओ का उनके पर्यायवाची नामो के साथ अभिधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि 'विश्वप्रकाशकोश' तथा 'शिवकोश' एव 'राजनिघण्टु' आदि कोशो मे उल्लिखित सभी अभिधानो का सकलन इस छोटे-से कोश मे नही है, किन्तु कई अप्रसिद्ध शब्दो की जानकारी के लिए यह अत्यन्त सहायक है। जैसेकि 'गोपकन्या' का अर्थ सारिवा किया गया है। यह अर्थ 'शिवकोष'

(५०७) मे भी उपलब्ध है। अत इसकी प्रामाणिकता का पता चलता है। इसी प्रकार 'वहुसुता' का अर्थ 'शतावरी' किया गया है। यह शब्द 'शिवकोष' मे नही मिलता। अतएव ऐसे अप्रसिद्ध शब्दो का अर्थ समझने के लिए भी इसकी उपयोगिता निस्सन्देह है। 'निघण्टुशेष' मे कई ऐसे अप्रसिद्ध शब्द मिलते है जो आयुर्वेद के सामान्य निघण्टुओ मे दृष्टिगोचर नही होते। उदाहरण के लिए- गोपवल्ली, प्रतानिका, मृदङ्गफलिनी, कुटा, घण्टाली, अजाण्टा, फरण, वुस्तिका, कर्वरी, वर्वरी, अर्जुन घास, उलपू, मुशटी इत्यादि। इनमे से अनेक शब्द देशी प्रतीत होते है, जो तत्कालीन लोक वोलियो मे प्रचलित थे। अतएव आयुर्वेद के शब्दकोशो मे उनका प्रवेश सहज तथा स्वाभाविक था। अतएव कोशकार के वचन सत्य प्रमाणित होते हैं।

लिङ्गानुशासन

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत 'लिगानुशासन' भी एक स्वतन्त्र लघु रचना है। यह भी एक अभिधानकोश है जो १३८ श्लोको मे निवद्ध है। इसमे सात विभाग है प्रथम पुलिगाधिकार मे १७ श्लोक, द्वितीय स्त्रीलिगाधिकार मे ३३ श्लोक, तृतीय नपुसकलिगाधिकार मे २४ श्लोक, चतुर्थ पुस्त्रीलिगाधिकार मे १२ श्लोक, पचम पुनपुसकलिगाधिकार मे ३६ और ५७० स्त्रीनपुसकलिगाधिकार मे केवल ५ तथा स्वतस्त्रिलिगाधिकार मे केवल ६ श्लोक है। अन्त मे पाच श्लोक और है। अन्त मे ३८ श्लोको मे निवद्ध 'एकाक्षरकोश' भी है, जिसमे केवल एक अक्षरवाले शब्दो के विभिन्न अर्थो का उल्लेख किया गया है।

विश्वलोचनकोश

श्रीधरसेन कृत 'विश्वलोचनकोश' सस्कृत के सुवन्ध कोशो मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका एक अन्य नाम मुक्तावलिकोश भी है। कवि श्रीधरसेन दिगम्वर आम्नाय के सेन सघ की परम्परा के थे। वे स्वय शास्त्रो के पारगामी कवि और नैयायिक थे। वे स्वय शास्त्रो के पारगामी कवि और नैयायिक थे। श्रीधरसेन भी अपने गुरुवर के समान विद्वान् तथा महान् राजाओ के द्वारा सम्मान्य थे।

सस्कृत के 'विश्वप्रकाशकोश' की भाति 'विश्वलोचनकोश' के भी टीका ग्रन्थो मे उद्धरण मिलते है, जिससे इसके पठन-पाठन तथा लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सुन्दरगणि ने अपने ग्रन्थ 'धातुरत्नाकर' मे इस कोश के कई उद्धरण दिए है।[१०] यह शब्दकोश न अधिक 'विशाल और न अधिक सक्षिप्त होने के कारण विद्वानो और विद्यार्थियो दोनो के लिए समान रूप से उपयोगी है। विक्रमोर्वशीय की रगनाथ कृत टीका मे भी 'विश्वलोचनकोश' का उल्लेख मिलता

है। शैली की दृष्टि से 'विश्वलोचनकोश' पर हैम विश्वप्रकाश और मेदिनी इन तीनों कोशों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। 'विश्वप्रकाश' का रचनाकाल ई० ११११ है, मेदिनी और अनेकार्थसंग्रह आदि का बारहवीं शताब्दी है। अतः इस 'विश्वलोचनकोश' का समय तेरहवीं शताब्दी कहा जाता है।"

इस 'विश्वलोचनकोश' में कुल २४५३ श्लोक हैं। अन्य संस्कृत कोशों की भाँति इसमें भी वर्णादिक्रम से शब्दों का संकलन है। यह कोश सन् १६१२ में निर्णयसागर प्रेस में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन पं० नन्दलाल शर्मा ने किया था। उनके ही शब्दों में "संस्कृत में कई नानार्थ-कोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं, कोई भी इतना बड़ा और इतने ही अधिक अर्थों को बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरों में प्रायः इससे कम ही बतलाया है। उदाहरण के लिए, एक रुचक शब्द को ही लीजिए जहाँ तक अमर में इसके चार व मेदिनी में दश अर्थ बतलाये गये हैं, वहाँ इसमें १२ अर्थ बतलाये गये हैं, यही इस कोश की विशेषता है।[५२] इसके अतिरिक्त इसमें कई शब्दों के ऐसे भी अर्थ मिलते हैं जो सामान्य रूप में संस्कृत के अन्य किसी कोश में नहीं मिलते। अतः सम्भव है कि किसी अन्य प्राचीनतम संस्कृतकोश के आधार पर इस कोश की रचना हुई हो जो आज उपलब्ध नहीं है।

नाममालाशिलोंछ

श्री जिनदेवसूरि ने 'अभिधानचिन्तामणिकोश' के पूरक के रूप में वि० सं० १४३३ में 'नाममालाशिलोंछ' की रचना की थी। यह १४६ श्लोकों का लघुतम कोश है। यह कोश 'अभिधानचिन्तामणिकोश' के परिशिष्ट रूप में श्रेष्ठि देवचन्द लालभाई जैनपुस्तकोद्धार संस्था, सूरत से १६४६ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इसी ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र कृत "शेषनाममाला" और श्री सुधाकलश विरचित "एकाक्षरनाममाला" भी संकलित है।

शेषनाममाला

आचार्य हेमचन्द्र सूरि का यह कोश पाँच काण्डों में निबद्ध है। इसमें कुल २०८ श्लोक हैं। प्रथम देवाधिदेवकाण्ड में २, द्वितीयकाण्ड में ६०, तृतीय नरकाण्ड में ६५, चतुर्थकाण्ड में ४० और पंचम नारककाण्ड में २ तथा अन्य ६ श्लोक हैं। इन सभी कोशों में लोकप्रचलित शब्दावली का सुन्दर संग्रह परिलक्षित होता है। कई नवीन शब्द भी मिलते हैं। जैसेकि डक्कारी (किन्नरी), टट्टरी (वाद्य विशेष), मड्डु (वाद्य), तिमिला (वाद्य), किरिकिञ्चिका (वाद्य), फुल्लक (आश्चर्य) इत्यादि। इसी प्रकार से कई नवीन अर्थों का सूचन भी इस कोश से

मिलता है, जो इसकी अपनी विशेषता है। ऐसे कई नये शब्द हैं जो पर्यायवाची रूप में मिलते हैं।[५३]

अनेकार्थध्वनिमंजरी

महाक्षपणक कृत 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' के सम्बन्ध में अभी तक विशेष ऊहा-पोह नहीं हो सका है। यह शब्दकोश प्रकाशित हो चुका है। इसका सम्पादन क्षुल्लक सिद्धसागर महाराज ने किया है। उनका कथन है कि यह महाक्षपणक जैन मुनि की रचना है जैसाकि बासठवें श्लोक में जिन शब्द के अर्थ करने से प्रतीत होता है[५४] इसी प्रकार समिति का अर्थ 'समय' और 'स्व' का अर्थ 'आत्म' से भी पता चलता है कि ग्रन्थकार जैन होगा।

'अनेकार्थध्वनिमंजरी' एक लघुकाय रचना है। इसमें कुल २२४ श्लोक हैं। यह कोश तीन परिच्छेदों में निबद्ध है। प्रथम श्लोकाधिकार में १०४, द्वितीय अर्द्ध-श्लोकाधिकार परिच्छेद में ८७, और तृतीय पादाधिकार परिच्छेद में ३३ श्लोक हैं। यह एक अनेकार्थक कोश है। इसके प्रथम परिच्छेद में एक श्लोक में एक शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख किया गया है। दूसरे परिच्छेद में केवल अर्द्ध श्लोक में ही शब्द का अर्थ वर्णित किया गया है और तृतीय परिच्छेद में चौथाई श्लोक में एक शब्द के अनेक अर्थ निबद्ध हैं। कुछ नवीन शब्दों का संकलन भी इस कोश में मिलता है। उदाहरण के लिए, चुवर (लोमवस्त्र, ऊनी कपड़ा), तुरायण (क्रिया-हीन), तोक (पुत्र), भूकुडी (शूकर, किसान), वासुरा (चलनी, छज्जा), प्रहि (कूप, सरोवर) इत्यादि। सम्भव है कि इस तरह के कुछ शब्द देशज हों जो परम्परा से शब्दकोश में संकलित होकर उन-उन अर्थ के वाचक हों।

द्विरूपकोशनिघण्टु

इस शब्दकोश के रचयिता हर्ष कवि हैं। कोश संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है और आज दिन तक अप्रकाशित है। इस कोश में कुल २३० श्लोक हैं। इस ग्रन्थ की ताडपत्रीय प्रति श्री दिगम्बर जैन मठ के शास्त्र-भाण्डार में साउथ आरकाड के जिंजी जिला के अन्तर्गत चित्तामूर में सुरक्षित है। इसके १७ ताडपत्र हैं। अनुमान यही किया जाता है कि यह जैन कवि की रचना है। वहाँ पर १४० ताडपत्रीय ग्रन्थ हैं जो सभी जैन विद्वानों की रचनाएँ हैं। उनमें से अधिकतर प्रकाशित हो चुकी हैं। किन्तु कई अज्ञात रचनाएँ भी वहाँ पर उपलब्ध हैं।

एकाक्षरनाममाला

इसके रचयिता जैन मुनि विश्वशम्भु हैं। यह ११५ श्लोकों में निबद्ध लघुकाय

रचना है। दिगम्बर जैन शास्त्र-भाण्डारो मे इस की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं।[५५] वर्णादिक्रम से इसमे एक-एक वर्ण का अलग-अलग अर्थ वर्णित किया गया है।

श्री जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत 'एकाक्षरनाममाला' भी कही जाती है।[५६] श्री राजशेखर के शिष्य सुधाकलश विरचित 'एकाक्षरनाममाला' के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है। उक्त कोशकार चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी के जान पडते है।

अन्य संस्कृतकोश

संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि तथा कोशकार महेश्वर सूरि कृत 'विश्वप्रकाश' की वृत्ति वि०स० १६५४ मे खरतरगच्छ के आचार्य भानुकेश के शिष्य जिनविमल ने रची थी, जो महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसका प्रकाशन होना अत्यन्त आवश्यक है।

साधुकीर्ति यतिवर के शिष्य साधुसुन्दरगणि ने 'धातुरत्नाकर' नामक वृहत् ग्रन्थ वि० स० १६८० मे रचा था। इस मे संस्कृत की प्राय सभी धातुओ का सग्रह किया गया है और उनके रूपाख्यानो का विशद आलेखन किया गया है।[५७] डॉ० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री के अनुसार उन्होंने 'शब्दरत्नाकर' की रचना की थी। इस कोश मे कुल १०११ श्लोक है। कोश छह काण्डो मे विभक्त है।[५८]

सक्षेप मे, डॉ० शास्त्री के शब्दो मे "राजचन्द्र का देश्यनिदेश-निघण्टु और विमलसूरि का देश्यशब्दसमुच्चय भी महत्त्वपूर्ण हैं।" वि०स० १६४० मे विमलसूरि ने 'देशीनाममाला' के शब्दो का सार ले कर अकारादि क्रम से 'देश्यनिदेश-निघण्टु' की रचना की थी। पुण्यरत्नसूरि का 'द्वयक्षरकोश', असगकवि का 'नानार्थकोश', रामचन्द्र का 'नानार्थसग्रह', एव हर्षकीर्ति की नाममाला की गणना भी उपयोगी कोशो मे की जा सकती है। तपागच्छ के आचार्य सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने 'नामसग्रहकोश' की रचना की। हर्षकीर्तिसूरि की 'लघुनाममाला' भी भाषा और साहित्य के अध्येताओं के लिए उपयोगी है।[५९] इनके अतिरिक्त भी संस्कृत के कुछ अन्य कोश जैन शास्त्र-भाण्डारो मे मिलते हैं, जिनका विवरण न मिलने से उल्लेख नही हो सका हैं। श्री ज्ञानविमलगणि ने ई० १५६८ मे 'शब्दभेदप्रकाश' की रचना की थी।[६०] सम्भवत उपर्युक्त उल्लिखित जिनविमल कृत वृत्ति वाली यह रचना है। क्योंकि महेश्वरसूरि कृत 'विश्वप्रकाश' और 'शब्दभेदप्रकाश' दोनो रचनाए एक ही ग्रन्थ मे है। अत दोनो को एक समझना चाहिए। ज्ञानविमलगणि के नाम से कोई 'शब्दभेदप्रकाश' अभी तक हमारे देखने मे नही आया है।

प्राकृत के शब्दकोश

यह निश्चित है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत के शब्दकोशो की रचना बहुत बाद मे हुई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। क्योकि लोकभाषा के लिए व्याकरण, कोश की आवश्यकता नही पडती। प्राकृत के जिन प्राचीनतम शब्दसग्रहकारो के उल्लेख मिलते है, उनमे अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम स्मरणीय है। इनके अतिरिक्त कुछ दक्षिण भाषाओ के, विशेष कर कन्नड के कोशकारो ने प्राकृत-अपभ्रंश शब्दो का उल्लेख किया है।

पाइअलच्छीनाममाला

उपलब्ध प्राकृत-कोशो मे महाकवि धनपाल कृत 'पाइअलच्छीनाममाला' प्रथम कोश कहा जा सकता है। यह दसवी शताब्दी की रचना है। वि० स० १०२९ मे धारानगरी के अन्तर्गत मानखेड ग्राम मे अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिए कवि ने इस शब्दकोश की रचना की थी।[११] यह कोश २७६ गाथाओ मे निबद्ध है। विद्यार्थियो के लिए यह अत्यन्त उपयोगी कोश है। इसमे ९९८ शब्दो के पर्यायवाची शब्दो का सकलन लक्षित होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने "अभिधान-चिन्तामणि" की स्वोपज्ञ विवृति मे "व्युत्पत्तिर्धनपालत" का सकेत कर इनकी प्रशसा की है। इसका एक कारण यह भी है कि देशी शब्दो का अभिधान करने वाला एक मात्र यही ग्रन्थ उनके सम्मुख था। स्वय महाकवि धनपाल ने देशी शब्दो के सकलन का उल्लेख किया है।[१२] वास्तव मे परम्परा से प्राप्त जो भी शब्द प्रचलित थे (चाहे वे सस्कृत-प्रवाह के हो अथवा लोक-बोलियो के)' उनका सग्रह मात्र सरलता से प्रस्तुत किया गया है। अतएव आज भी हमारे बोलचाल के बहुत-से शब्द इस कोश मे ज्यो-के-त्यो मिलते हैं। उदाहरण के लिए . कुपल (कोपल), ओली (अवलि, पक्ति), मुक्खा (मूर्ख), कच्छा, तुद (तोद), दहिज (दही), मडुक्का (मेढक), विरालीओ (विलाडी, बिल्ली), खाईया (खाई), लचा (लाच, घूस), छल्ली (छाल), गुच्छा (गुच्छा), मामी (मामी), असमजस, गुद (गोद), इल्ल, आल (वाला अर्थ मे प्रत्यय) इत्यादि। इसी प्रकार से सस्कृत तथा अन्य भाषाओ से मिश्रित शब्द भी द्रष्टव्य हैं।[१३]

यह वास्तविक तथ्य है कि हजारो वर्षो तक भारतीय जनता को इस बात की कोई आवश्यकता नही जान पडी कि प्राकृत का भी शब्दकोश होना चाहिए। यद्यपि सस्कृत के शब्दकोशो मे कई स्रोतो से देशज शब्दो का समावेश लक्षित होता है, किन्तु उनसे प्राकृत काव्य को समझने मे विशेष सहायता नही मिलती। हम यह भी नही कह सकते कि सस्कृत के कवि अपने साहित्य तक सीमित रहे या उन्होने प्राकृत की उपेक्षा की। किन्तु वास्तविक यह है कि चाहे सस्कृत के नाटक

हो, ध्रुवा या गीतियाँ हो अथवा दोहे वा गाथाएं, उनकी प्राकृत इतनी सरल या संस्कृत मिश्रित रही है, जिसका अर्थ जानने के लिए किसी प्राकृत-शब्दकोश को लेकर बैठने की आवश्यकता नही थी। यही कारण है कि प्राकृत मे इने-गिने चार-पाँच शब्दकोशो की रचना का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन शब्दकोशो से महाधनपाल कृत कवि "पाइयलच्छीनाममाला" और आचार्य हेमचन्द्र विरचित "देशीनाममाला" ये दो कोश उपलब्ध है।

देशीनाममाला

'देशीनाममाला' भारतीय आर्यभाषाओ के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए एक विशिष्ट कोश है। आठ वर्गो मे विभक्त देशी शब्दो का यह एक अपूर्व सकलनात्मक ग्रन्थ है। मूल शब्दकोश प्राकृत मे है, जिसकी संस्कृत व्याख्या स्वय ग्रन्थकार की है। देशी शब्द के सम्बन्ध मे कोशकार यह प्रतिज्ञा कर चला है कि जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पादित हैं और न संस्कृत कोशो मे निबद्ध है तथा लक्षणा शक्ति से भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नही है, उन शब्दो का सकलन इस कोश मे किया जा रहा है।[६४] कहने का आशय यह है कि जो शब्द व्याकरण के अनुसार प्रकृति, प्रत्यय आदि विभाग से सिद्ध नही होते और संस्कृत के कोशो मे जिनकी प्रसिद्धि नही है तथा लक्षणा शक्ति से भी जिनका अर्थ वाच्य नही है, वे देशी शब्द कहे जाते है। ये देशी शब्द प्रादेशिक भाषाओ मे प्रसिद्ध रहे हे, जो सख्या मे अनन्त है, इसलिये उन सब का सकलन होना सम्भव नही है। ये अनादिकाल से प्रवृत्त तथा प्राकृत भाषा मे विशेष रूप से प्रचलित देशी शब्द है।[६५] वास्तव मे देशी शब्द प्रचलित मुद्रा के समान देशी सिक्के है जो समय-समय पर चलन से बाहर होते रहे है। किन्तु कुछ-न-कुछ शब्द बराबर प्रत्येक भाषा मे प्रचलन मे रहे हैं, जिन्हे आज हम देशी शब्द के रूप मे जानते हैं। इस कोश मे कुल शब्दो की सख्या ३९७८ है। सबसे अधिक शब्दो की सख्या ऐसी है जो प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न नही होते अथवा अव्युत्पादित प्राकृत शब्द है। तत्सम शब्दो की सख्या १०० है, गर्भित तद्भव १८५० है, सशय युक्त तद्भवो की सख्या ५२८ है और अव्युत्पादित प्राकृत शब्द १५०० है।[६६] वास्तव मे प्रो० बनर्जी ने अव्युत्पन्न शब्दो की सख्या कम बताई है, किन्तु हैं अधिक। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ और उनकी बोलियो मे पाये जाने वाले अनेक शब्दो का सीधा सम्बन्ध इन देशी शब्दो मे देखा जा सकता है। ऐसे कुछ शब्द निम्नलिखित हैं

(१) अक्का भगिनी (देशी० १, ६)। प्राकृत अपभ्रंश मे अक्क और अक्का शब्द मिलते हैं। इनका अर्थ माता और ज्येष्ठ भगिनी दोनो है। मोनियर विलियम्स ने 'पचतन्त्र' मे आगत 'अक्का' शब्द को कोकणी बताते हुए ज्येष्ठ भगिनी अर्थ किया है। टी० बरो ने इसे द्रविड वर्ग का शब्द माना है।[६७] अन्य

विद्वानों ने भी इसे द्रविड भाषाओं से आगत माना है। वास्तव में यह कन्नड आदि भाषाओं से उधार लिया हुआ शब्द है। कन्नड, तमिल, तेलुगु, और तेलु में यह शब्द ज्येष्ठ भगिनी का वाचक है। यह कन्नड में 'अक्क', तमिल में 'अक्का', तेलुगु में 'कोडगु' और तुलु में 'अक्के' है।[६८]

२ कडप्प—ढेर (देशी० २, १३)। प्राकृत-अपभ्रंश में यह 'कडप्प कलाप अर्थ में मिलता है। यह शब्द भी मूल रूप में द्रवि० भाषाओं का माना जाता है। दक्षिण की भाषाओं में यह समूह अर्थ वाचक है। यह कन्नड में 'कलपु', तेलुगु में 'कलपे', तमिल में 'कलप्पड' और तुलु में 'कलप्पु' है। कन्नड में समूह अर्थ का वाचक एक 'कडम्प' शब्द भी है।[६९] प्राकृत में यह 'कडप्प' है, जो मराठी में 'कडप' प्रचलित है।[७०]

३ कुरुल कुटिल केश (देशी० २, ६३)। प्राकृत-अपभ्रंश में यह देशी शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में यह प्रचलित रहा होगा। इसका मूल स्रोत द्रविड वर्ग की भाषाएँ माना जाता है। कन्नड में यह 'कुरुल' है, तमिल में कुरुल-कुरुल है, मलयालम में 'कुरुल' है और तेलुगु में 'कुरुलु' है। जूनी गुजराती में यह 'कुरुल' है और मराठी में 'कुरुल' है।[७१]

४ गोड, गोडी मंजरी, वीर (देशी० २,९५)। ये दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में प्राकृत-अपभ्रंश में प्रचलित रहे। यह कन्नड में 'गोण्डे', 'गुडि', तेलुगु, मलयालम में 'कोण्डे' है।[७२] यह द्रष्टव्य है कि प्राकृत में भी 'गोड' के स्थान पर 'कोड' शब्द प्रसिद्ध रहा। महाकवि पुष्पदन्त के अपभ्रंश महाकाव्य 'महापुराण' में (६९,४,३) भी 'गोड' शब्द मिलता है। अभिमानमेरु पुष्पदन्त मान्यखेड (हैदराबाद) के थे, इसलिये उनकी भाषा में इस शब्द का होना स्वाभाविक है।

५ चिक्क, चिक्का अल्प, स्तोक (देशी० ३,२१)। टी० बरो ने इसे द्रविड शब्द बताया है।[७३] कन्नड में यह 'चिक्क' है और अर्थ भी अल्प है। मराठी में 'चिके इसी अर्थ का वाचक है। खोवार (दर्दिक) भाषा में भी 'चिक्' का अर्थ अल्प कहा जाता है।[७४]

६ चिञ्चि अग्नि (देशी० ३, १०)। चिञ्चि या चिञ्ची द्रविड शब्द माना गया है। तेलुगु में यह 'चिच्चु' है और कन्नड में 'किच्चु' है। अपभ्रंश के 'महापुराण' में भी 'चिञ्चि' शब्द अग्नि अर्थ में लक्षित होता है।[७५]

७ छाण गोबर (देशी० ३,३४)। यह भी द्रविड शब्द माना गया है। तमिल में यह 'छाणि' है और गुजराती में 'छाण' है। छत्तीसगढी बोली में गोबर से बने हुए 'कंडे' को 'छेना' कहा जाता है जो 'छाण' से विकसित है। अपभ्रंश के 'महापुराण' (५७,१०,११) में भी 'छाण' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में ही परिलक्षित होता है।

८ तण्णाय गीला (देशी० ५,२)। यह प्राकृत-अपभ्रंश में भी मिलता है।

वैसे यह भी द्रविड शब्द माना जाता है। कन्नड मे 'तण्ण' शब्द का अर्थ ठडा है। तमिल मे 'तण्णि' का अर्थ आर्द्र है।

९ तलार कोतवाल (देशी० ५,३)। प्राकृत-अपभ्रश और द्रविड भाषाओ मे 'तलार' और 'तलवर' दोनो शब्द उपलब्ध होते है। कन्नड मे यह 'तलवार' शब्द है जिसका अर्थ है नगररक्षक। द्रविड शब्द 'तलेयारि' का भी उल्लेख मिलता है।[७६] अपभ्रश के महापुराण (३०,१७,१०) मे 'तलवर' शब्द का प्रयोग मिलता है।

१० पोट्ट पेट (देशी० ६,६०)। यह द्रविड शब्द है। प्राकृत-अपभ्रश मे यह शब्द बहुत प्रचलित रहा है। इसी शब्द से 'पोट्टल' बना। तेलुगु मे 'पोट्ट' ही है। प्राकृत मे इसके अतिरिक्त 'पिट्ट' शब्द भी पेट अर्थ का वाचक है। इसी शब्द से सस्कृत का पेटक, पेटा शब्द आदि निर्मित हुए प्रतीत होते है। पश्चिमी पहाडी और उसकी बोलियो भद्रवाही और भलेसी मे 'पैट', कुमायू, नेपाली और असमी मे 'पेट' है। बगला मे भी यह 'पेट' है। उडिया मे इसके लिए 'पेटा' है और प्राचीन मारवाडी मे भी यही है। अवधी और उसकी बोली लखीमपुरी मे, हिन्दी, भोजपुरी तथा गुजराती मे यह 'पेट' ही है। मैथिली मे इसे 'पेट' बोलते है।[७७] सिन्धी और उसकी बोलियो मे भी यह प्रचलित है। इस प्रकार नव्य भारतीय आर्य भाषाओ मे यह सर्वाधिक प्रचलित शब्द है।

इस प्रकार के अनेक शब्द जो केवल द्रविड भाषाओ मे ही नही, सिनो-तिब्बती कोल-मुण्डा या आस्ट्रिक वर्ग की भाषाओ के शब्द भी 'देशी' शब्द के रूप मे उपलब्ध होते हैं। भारोपीय भाषाओ से उक्त अन्य वर्गो की भाषाओ का निकट सबध होने से उनके शब्द प्रवेश पा गये। इन सभी वर्गों मे द्रविड वर्ग महत्त्व का है। विशेष कर उसके ही शब्द 'देशीनाममाला' मे मिलते है। अत देशी शब्दो का सम्बन्ध द्राविड भाषाओ की शब्द-सम्पदा से मानना चाहिए। कुछ अन्य शब्द हैं णेसर (देशी० ४,४४,) सूर्य। कन्नड 'नेसृ' (रवि), तमिल 'नेहर' (रवि-किरण), मलयालम 'नेर' (दिवसप्रकाश), पुल्ली (देशी० ६,७९) व्याघ्र। प्राकृत-अपभ्रश 'पुलि', कन्नड 'पुलि', तमिल, तेलुगु, मलयालम, तुलु, 'पिलि' (व्याघ्र), पावो (देशी० ६, ३८) सर्प। कन्नड 'पावु' तेलुगु 'पामु', तमिल 'पामवु' सर्प इत्यादि।[७८]

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ और उनकी बोलियो मे आज भी घर मे, खलिहान मे, वर्ग विशेष मे ऐसे देश्य शब्दो का चलन है, जिसका सीधा सम्बन्ध हमे देशीनाममाला मे सकलित शब्दो मे दिखलाई पडता है तथा जिनके अध्ययन से हम सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि इन देश्य शब्दो का विकास प्राकृत तथा इन देशी शब्दो से हुआ है। डॉ० गुप्त ने ऐसे सैकडो शब्दो का विवरण दिया है, जो कृषि जीवन मे प्रचलित है और जिनको देशी कहा गया है।[७९] इसी प्रकार से डॉ० वैद्य

ने अपने निबन्ध में अनेक मराठी शब्दों को देश्य बताते हुए कहा है कि इन शब्दों का मूल प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है।[८०] डॉ० चटर्जी ने निश्चित रूप से इन देशी शब्दों का मूल स्रोत द्रविड भाषाएँ मानी हैं और यह सम्भावना व्यक्त की है कि अवशिष्ट शब्द आर्येतर भाषाओं के हैं, सम्भवत वे द्राविड तथा आस्ट्रिक-पूर्व की भाषाओं में भी विद्यमान रहे हों।[८१] यथार्थ में ऐसे ही शब्द प्राकृत के मूल हैं जो वैदिक काल से बोलियों में प्रचलित चले आ रहे हैं। इनका मूल स्रोत संस्कृत न होकर प्राथमिक प्राकृत है। अमृत रो ने ऐसे ही कुछ शब्दों का साम्य द्रविड भाषाओं की शब्दावली से स्थापित कर देशी को द्रविड, पारसी आदि कई भाषाओं से आगत शब्द माने हैं।[८२] डॉ० उपाध्ये ने प्राकृत नाटक में तथा 'देशीनाममाला' में आगत देशी शब्दों का सम्बन्ध कन्नड, मराठी आदि दक्षिण की भाषाओं से माना है।[८३] यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' के देशी शब्दों के सम्बन्ध में कई शोध-निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण तथ्य व्यक्त किए जा चुके हैं। स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध के रूप में डॉ० श्रीमती रत्नाश्रियन् का शोधप्रबन्ध 'ए स्टडी ऑव देश्यवर्ड्स फ्रॉम द महापुराण ऑव पुष्पदन्त' इस दृष्टि से अध्ययन करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु मेरी दृष्टि में अभी भी नवीन शोध अनुसन्धानों के प्रकरण में देशीनाममाला' का अध्ययन आर्य तथा आर्येतर भाषाओं के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन कर प्रस्थापित किया जाना चाहिए। केवल इस एक अध्ययन से ही इन भाषाओं के विकास पर एक प्रामाणिक तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रकाश में आ सकेगी। इसी प्रकार तत्सम, तद्भव और देशज पर भी नये प्रकाश की आवश्यकता है। यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य होने पर भी विशिष्ट महत्त्व का है। इस प्रकार के अध्ययन से ही 'देशीनाममाला' की वास्तविक उपयोगिता प्रकट हो सकेगी।

उक्तिव्यक्तिप्रकरण

यद्यपि प्राकृत के प्राचीन शब्दकोशों में 'पाइयलच्छी नाममाला' तथा 'देशीनाममाला' इन दो का ही उल्लेख किया जाता है, किन्तु प० दामोदर कृत 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' को भी देश्यशब्दसंग्रह के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए। केवल इसे ही नहीं, 'उक्तिरत्नाकर' को भी देश्यभाषा के शब्द-संग्रह ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' बारहवीं शताब्दी की रचना मानी जाती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तत्कालीन लोकबोली का सम्यक् परिचय देता है। प० दामोदर बनारस के निवासी थे। उन्होंने विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए इस रचना का निर्माण किया था। डॉ० चटर्जी इस रचना की भाषा प्राचीन कौशल देश की बोली कौशली मानते हैं।[८४] जनपदीय भाषा का व्याकरण की दृष्टि से कैसा संबंध है और किस प्रकार देश्य शब्दों का संस्कार करने से संस्कृत का शुद्ध

रूप बनता है, यह बहुत अच्छी तरह से इस रचना मे समझाया गया है। इस ग्रन्थ मे केवल प्राचीन कौशली भाषा का नमूना ही हमें नही मिलता है, अपितु व्याकरण-शास्त्र विषयक कई अन्य महत्त्व की बातो का भी इसमे उल्लेख है।[८५]

उक्तिरत्नाकर

'उक्तिरत्नाकर' के रचयिता साधु सुन्दरगणि १७वी शताब्दी के जैन विद्वान् थे। इसमे देश्यभाषा के सभी प्रकार के उक्तिमूलक प्रयोगो का सग्रह मिलता है। जैसे 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' का दूसरा नाम 'प्रयोग प्रकाश' है, वैसे ही इसका दूसरा नाम 'औक्तिकपद' भी है। देश्य शब्दो के सस्कृत-रूप जानने के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ देश्य शब्द और उनके सस्कृत-रूप इस प्रकार है

असोई (उपश्रुति), चोज (चोद्यम्), छावडउ (शावक), रीसालू (ईर्ष्यालु), माखण (म्रक्षण), हिडकी (हिक्का), पान्ही (पार्ष्णि), हेरू (हैरिक) पडहू (प्रतिभू), कारू (कारु), खलहाण (खलधान), पासी (पाशिका), भाठ (भ्राष्ट्र), तूरी (तुवरी), नीमी (नीवी) आदि। इनमे से कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके सस्कृत रूप होने से अर्थ-निर्धारण मे सुगमता हो जाती है। जैसे ध्रोव (दूर्वा), खूणउ (कोणक), सीरख (शीतरक्षिका), ईडउ (अण्डक), धाहडी (धातकी) आदि। किन्तु कुछ शब्द ऐसे है कि उन से ठीक अर्थ समझ मे नही आता। जैसाकि तगोटी (तगपटी), खीचडी (क्षिप्रचटिका), राख (रक्षा), बूब (बुम्बा), गोफाटी (गोफणी) इत्यादि। इसमे सस्कृत के अनेक गढे हुए शब्द भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ गादी (गद्दिका), मिठाई (मृष्टादिका), मूखडी (सुखादिका), वडी (वटिका), कडुछउ (कटुच्छक), वानी, वानगी (वर्णिका), टार (टार), डर (दर), टसर (तसर) तथा लाच (लचा) आदि।

आधुनिक युग मे प्राच्य विद्याओ के अध्ययन के परिणामस्वरूप भारतीय भाषाओ तथा साहित्य के समानान्तर प्राकृत का भी अध्ययन होने लगा। किन्तु सस्कृत की अपेक्षा प्राकृत की ओर बहुत बाद मे विद्वानो की दृष्टि पहुच पायी। सस्कृत-नाटको के प्राकृत अशो को देख कर बहुत समय तक केवल यही अनुमान किया जाता रहा कि यह सस्कृत की कोई उपभाषा रही होगी। सर्वप्रथम प्राकृत भाषा और साहित्य की ओर जर्मन विद्वानो का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे ही जर्मनी मे प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। सर्वप्रथम प्राकृत भाषा पर होएफर ने 'डे प्राकृत डिअलेक्टो लिब्रिदुओ' (१८३६ ई०) निबन्ध मे अपने विचार प्रकट किए थे। लगभग इसी समय लॉस्सन और ऑल्सडोर्फ ने प्राकृत भाषा व बोलियो के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिख कर शोध व अनुसन्धान किया था।[८६] प्राकृत भाषा का परिचय मिलते ही उनका महत्त्व जान कर भाषाविदो का तुरन्त ध्यान प्राकृत के शब्दकोषो की ओर गया।

डॉ० ब्युह्लर ने इस दिशा मे अग्रसर हो दो निबन्ध लिखे, जिनमे आचार्य हेमचन्द्र कृत 'देशी नाममाला' और धनपाल कृत 'पाइयलच्छीनाममाला' पर प्रकाश डाला।[८७] इतना ही नही, सन् १८७९ मे उन्होने स्वय 'पाइयलच्छीनाममाला' का सम्पादन कर उसे गॉटिंगन से प्रकाशित कराया। इस प्रकार प्राकृत भाषा, व्याकरण और कोष आदि के प्रति पाश्चात्य जगत् विमुग्ध भाव से आकृष्ट हुआ। किन्तु प्राकृत साहित्य मे उपलब्ध शब्दो का अर्थ सस्कृतज्ञो के लिए दुरूह एव दुर्बोध था। अत यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि कोई अच्छा प्राकृत-शब्दकोश तैयार किया जाए जो साहित्य-जगत् के लिए उपयोगी हो। इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर इटली के विद्वान् डॉ० ल्युइजी स्वाली ने सन् १९१२ मे प्राकृतकोष निर्माण करने की अपनी अभिलाषा प्रकट की।[८८] किन्तु उसी समय विश्वयुद्ध की विभीषिका चल पडी, जिससे वह कार्य नही हो सका। भारत मे यह कार्य मुनि श्री विजयराजेन्द्र सूरीश्वर ने वि० स० १९४६ मे प्रारम्भ किया था। ६३ वर्ष की वृद्धावस्था मे इस महान् कार्य का आरम्भ कर लगभग चौदह वर्षो तक वे अनवरत जुटे रहे। सूरिप्रवर की महान् साधना से आठ हजार शब्दो का विशाल सग्रह 'अभिधान राजेन्द्र कोश' के रूप मे हुआ। प्राकृत का यह बृहत्कोश सात भागो मे निबद्ध है। इसका प्रथम भाग १९१३ ई० मे, द्वितीय भाग १९१० मे, तृतीय भाग १९१४ मे, चतुर्थ १९१३ मे, पचम १९२१ मे, षष्ठ १९३४ मे और सप्तम भाग १९३४ मे मध्यप्रदेश के रतलाम नगर से प्रकाशित हुए।

इसी बीच इन्दौर के श्री सरदारीमल भण्डारी के पिता श्री केसरीचन्द्र ने सन् १९१० ई० मे प्राकृत-कोश-निर्माण का कार्य आरम्भ किया। उन्होने निरन्तर श्रम कर लगभग चौदह हजार शब्द भी शीघ्र सकलित कर लिये थे। किन्तु दुर्दैव से यह कार्य आगे नही चल सका। अन्त मे मुनिश्री रत्नचन्द्र जी म० के अथक प्रयत्न से यह पवित्र कार्य "सचित्र अर्धमागधीकोश" के रूप मे सामने आया। इसका प्रथम भाग सन् १९२३ ई० मे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स की ओर से इन्दौर से प्रकाशित हुआ। इसके चार वर्षो के पश्चात् वि० स० १९८३ मे इस कोश का द्वितीय भाग, वि० स० १९८६ मे तृतीय भाग, १९८८ मे चतुर्थ भाग और वि० स० १९९५ मे पचम भाग प्रकाशित हुआ।

इसी अवधि मे कलकत्ता विश्वविद्यालय मे प्राकृत के प्राध्यापक पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकेमचद सेठ ने "पाइअ-सद्द-महण्णवो" नामक बृहत्कोश तैयार किया, जिसका प्रकाशन सन् १९२८ मे हुआ। इस कोश के निर्माण की प्रेरणा सन् १९१३ के लगभग लेखक को श्री विजयधर्मसूरीश्वर म० से प्राप्त हुई थी। यह एक सयोग की बात थी कि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होते ही देश-विदेशो मे प्राकृत-शब्दकोश की खलने वाली अभाव की पूर्ति हेतु निर्माण की दिशा मे कार्य प्रारम्भ हुआ था।

अभिधानराजेन्द्रकोश

आज तक प्राकृत के जो भी शब्दकोश लिखे गये, उन सब का भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहा है। 'पाइयलच्छीनाममाला' प्राकृत के प्राथमिक विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर लिखी गयी प्रतीत होती है। अतएव इसमें लगभग एक हजार शब्दों और उनके पर्यायवाची नामों का संकलन मिलता है। 'देशी नाममाला' में अधिकतर देशी शब्दों का संग्रह उपलब्ध होता है। इन दोनों ही कोशों में न तो जैनागमों में आगत शब्दों के दर्शन होते हैं और न जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों को समझने के लिए उस समय तक हमारे पास कोई कोश जैसा माध्यम था। 'अभिधान राजेन्द्रकोश' ने निस्सन्देह इस अभाव की पूर्ति बहुत कुछ अंशों में की। अतः इस विशाल कोष के प्रकाशन पर प्राच्यविद्या-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् सिल्वा लेवी ने उच्छ्वसित भाव से ये उद्‌गार प्रकट किए थे

"अभिधान-राजेन्द्र" के पाँच वर्षों तक सतत स्वाध्याय के अनन्तर मैं यह कह सकता हूँ कि प्राच्यविद्या का कोई जिज्ञासु इस आश्चर्यजनक ग्रन्थ की अनदेखी नहीं कर सकता। अपने विशेष क्षेत्र में इसने कोशविद्या के रत्न पीटर्सबर्ग कोश को भी अतिक्रांत कर दिया है। इस कोश में प्रमाण और उद्धरणों से पुष्ट न केवल सारे शब्द ही आकलित हैं, अपितु शब्दों से परे जो विचार, विश्वास अनुश्रुतियाँ हैं, उनका सर्वेक्षण भी इस में है।[८९] 'अभिधान-राजेन्द्र-कोश' का कई दृष्टियों से विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। इस कोश में अनेक ऐसे प्रचलित शब्दों की विस्तार से व्याख्या की गई है, जो केवल जैनों के सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। आज भी ये शब्द परम्परागत रूप से प्रचलित हैं। जैसेकि थुइ (स्तुति), समइ, सामाइय (सामायिक), पडिक्कमण (प्रतिक्रमण), समायारी (समाचारी), पडिलेहणा (प्रतिलेखना), थाणग, थानक (स्थानक), संघाड (सिंघाडा), किरिया (क्रिया, भाव) संथार (संथारा), इत्यादि।[९०]

एक-एक शब्द की व्याख्या इतने विस्तार से इस कोश में की गई है कि आश्चर्य-चकित हो जाना पडता है। उदाहरण के लिए, 'श्रमण' शब्द सातवें भाग में निबद्ध है। इसी खण्ड में "सम्मत" (सम्यक्त्व, पृष्ठ ४८२-५०३), सरीर (शरीर, पृष्ठ ५३४-५५८), सिद्ध (पृ० ८२१-८४५) सुय (श्रुत, पृष्ठ ९६९-९९८) व्याख्यायित है। इतना ही नहीं, कई शब्दों की व्याख्या में सन्दर्भ पुरस्सर कथाओं का भी वर्णन है। साथ ही शब्दों की सुन्दर निरुक्तियों से कोश भरपूर है।[९१] जैनागमों की भाषा का अध्ययन करने की दृष्टि से यह कोश नितान्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक शब्द के साथ ग्रन्थकार ने व्याकरणादि व्युत्पत्तियों तथा तद्विषयक सूत्रों का भी निर्देश किया है। ऐसा प्राकृत का शब्दकोश आज तक निर्मित नहीं हो सका। वास्तव में बीसवीं शताब्दी की यह महोपलब्धि है, जिससे जैन वाङ्‌मय कृतार्थ हुआ है। गत

दो दशको मे इस ओर जैन विद्वानो का बराबर लक्ष्य रहा है। अतएव श्री जिनेन्द्र वर्णीकृत—'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश' चार भागो मे भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ और "जैनलक्षणावली" कोश तीन भागो मे वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है। अपनी-अपनी दृष्टि से इन सभी कोशो का महत्त्व है। किन्तु सभी प्रकार के प्राकृत के विशाल वाङ्मय को प्रत्येक प्रकार के शब्दो के रूप मे सकलित व आकलित करने वाले 'विशालशब्द-सागर' की आज भी आवश्यकता बनी हुई है। सम्प्रति हमारी दृष्टि मे प्राकृत-शब्दकोश की दिशा मे दो प्रकार के प्रकाशनो का होना अत्यन्त अनिवार्य है। प्रथम 'अभिधान-राजेन्द्र-कोश' पुन सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो। द्वितीय एक ऐसे स्वतन्त्र कोश का निर्माण हो जो 'बृहत्‌हिन्दीकोश' की भाँति एक लाख से अधिक शब्दो का न अत्यन्त सक्षिप्त और न विस्तृत कोश हो। क्योकि भारी-भरकम कोश विद्यार्थियो, अध्येताओ तथा सामान्य शिक्षितो तक नही पहुँच पाते है। यह एक ऐसा बुनियादी कार्य है जिससे आगमो की सच्ची सेवा होगी।

पाइयसद्दबुहि

'पाइयसद्दबुहि' या 'प्राकृतशब्दाम्बुधि' के रचियता भी श्रीमद् विजय-राजेन्द्रसूरि थे। इस ग्रन्थ का रचना-काल १८९९ ई० है। १८९० ई० मे 'अभिधान-राजेन्द्र' का सम्पादन-सकलन का सूत्रपात हुआ था। उसके लगभग नौ वर्षो के उपरान्त 'पाइय सद्दबुहि' का निर्माण हुआ। वास्तव मे यह शब्दकोश बृहत् 'अभिधान-राजेन्द्र' का ही लघु सस्करण है। हमारी जानकारी मे यह अद्यावधि अप्रकाशित है। जैनशासन के धरोहरो को चाहिए कि वे अविलम्ब इसका सम्पादन करा कर प्रकाशन करायें, जिससे एक तपस्वी की प्राणवती आकाक्षा मूर्तिमान् हो सके। ग्रन्थ सम्मुख न होने से उसके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता।

अर्द्धमागधी-कोश

प०मुनि रत्नचन्द्र जी शतावधानी महाराज जैनागमो के अच्छे स्वाध्यायी प्रखर विद्वान् थे। उन्होने प्राकृत भाषा के हजारो शब्दो का सकलन कर 'अर्द्धमागधी-कोश' का निर्माण किया था। यह कोश विद्यार्थियो के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। किन्तु चार भागो मे विभक्त होने के कारण सामान्य अध्येताओ के लिए यह सुलभ नही था। अतएव इस दृष्टि से मुनिश्री ने एक सक्षिप्त कोश भी तैयार किया था जो सन् १९२६ मे "जैनागम शब्दकोश के नाम से प्रकाशित हुआ। जहाँ 'अभिधान-राजेन्द्र' मे व्याकरण, रूप-रचना आदि सभी विषयो का समावेश हुआ है, वही 'अर्द्धमागधी-कोश' केवल प्राकृत-सस्कृत

अभिधानो का ही परिचय मात्र दिया गया है। यथास्थान शब्दो के लिंग, वचन आदि का भी निर्देश किया गया है। कोशगत सभी सामग्री प्रामाणिकता की दृष्टि से यथोचित सचित की गयी है। यही इस कोश की विशेषता है।

पाइअ-सद्द-महण्णवो

"पाइअ-सद्द-महण्णवो" या "प्राकृत-शब्द-महार्णव" के कर्ता कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा के अध्यापक पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकमचद्र सेठ थे। अकेले ही पण्डित जी ने विना किसी की सहायता के लगभग चौदह वर्षो तक कठोर श्रम करके इस प्रामाणिक कोश का सम्पादन किया। इसमे कोई सन्देह नही है कि जैन एव जैनेतर प्राकृत ग्रन्थो से लेकर अपभ्रश तक के प्राकृत भाषाओ के विस्तीर्ण शब्दो के विशाल सग्रह का सकलन कर सस्कृत प्रतिशब्द, हिन्दी अर्थ तथा सभी आवश्यक उद्धरणो तथा प्रामाणिक सामग्री से भरपूर कर इस शब्दकोश को सम्पादित किया। एक अकेले व्यक्ति का यह महान् कार्य आश्चर्यकारी है। 'अभिधानराजेन्द्र' के सम्वन्ध मे उनका कथन है "अभिधानराजेन्द्र कोश का निर्माण केवल पचहत्तर से भी कम प्राकृत जैन पुस्तको के ही, जिनमे अर्धमागधी के दर्शन विषयक ग्रन्थो की वहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओ के तथा विभिन्न विषयो के अनेक जैन तथा जैनेतर ग्रन्थो मे से एक का उपयोग नही किया गया है। इससे यह कोश व्यापक न होकर प्राकृत भाषा का भी एकदेशीय कोश हुआ है। इसके सिवाय प्राकृत तथा सस्कृत ग्रन्थो के विस्तृत अशो को और कही-कही छोटे-वडे सम्पूर्ण ग्रन्थ को ही अवतरण के रूप मे उद्धृत करने के कारण पृष्ठ-सख्या मे वहुत वडा होने पर भी शब्द-सख्या मे ऊन ही नही, वल्कि आधारभूत ग्रन्थो मे आए हुए कई उपर्युक्त शब्दो को छोड देने से और विशेषार्थहीन अतिदीर्घ सामाजिक शब्दो की भरती से वास्तविक शब्द-सख्या मे यह कोश अतिन्यून भी है।[1] यथार्थ मे किसी भी शब्दकोश का महत्व व मूल्य शब्दो की सकलना मात्र से नही आका जा सकता। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अग है प्रमाणपूर्वक अर्थ का विनिश्चय कराना तथा सभी ज्ञातव्य तथ्यो का यथास्थान निर्देश करना। इस दृष्टि से "पाइअ-सद्द-महण्णव" प्राकृत का श्रेष्ठ कोष है। इसकी श्रेष्ठता को ध्यान मे रख कर ही सन् १९६३ मे इसका द्वितीय सस्करण 'प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। यह सभी दृष्टियो से प्राकृत भाषा का एक अच्छा कोश कहा जा सकता है। किन्तु जिस समय सन् १९२८ मे इसका प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय तक वहुत कम प्राकृत-साहित्य प्रकाश मे आ सका था। कई ग्रन्थो का विधिवत् सम्पादन तक नही हुआ था। अतएव प्राकृत की विशाल शब्द-सम्पदा अभी तक शब्दकोशो मे निवद्ध होने से वचित है। यद्यपि

"पाइअ-सद्द-महण्णव" के द्वितीय संस्करण मे अपभ्रंश भाषा के अनेक शब्दो को सम्मिलित कर दिया गया है, फिर भी "अपभ्रंश-कोश" की आवश्यकता विशेष रूप से कचोट रही है। लेखक स्वयं इस प्रकार के कोश-निर्माण की दिशा मे कार्यरत है, किन्तु कई प्रकार की कठिनाइयाँ सम्मुख है।

अपभ्रंश-कोश

यह अत्यन्त विचित्र बात है कि जिस भाषा मे पाँच सौ से अधिक काव्य ग्रन्थ मिलते हो और जिससे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का विकास हुआ हो तथा जो राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी हो उस भाषा का आज तक छोटा-बडा किसी भी प्रकार का शब्दकोश उपलब्ध नही होता। न तो मध्यकाल मे और न आधुनिक काल मे 'अपभ्रंश-कोश' लिखने का कोई प्रयत्न किया गया। अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन करते समय बार-बार यह विचार मेरे सामने आया कि इस भाषा का एक शब्दकोश अवश्य होना चाहिए। किन्तु मेरे अग्रज तथा गुरुजन यही समझाते रहे कि अलग से अपभ्रंश-कोश की आवश्यकता नही है, प्राकृत मे ही अपभ्रंश गर्भित हो जाती है। उनका यह तर्क सदा खटकता रहा है। किन्तु उत्साह भले ही मन्द हुआ हो, पर मैं हतोत्साह नही हुआ। क्योकि मेरी इस धारणा को सदा बल मिला है कि अपभ्रंश प्राकृत से एक भिन्न भाषा है, इसलिये उसका शब्दकोश भी भिन्न होना चाहिए। अपभ्रंश भाषा मे अधिकतर प्राकृत-शब्द-सम्पदा लक्षित होती है। किन्तु उनका कई स्थलो पर अर्थ-निर्धारण करते समय पता चला है कि एक ही शब्द का जो अर्थ प्राकृत मे है, वह अपभ्रंश मे नही है। ऐसे पाँच सौ से भी अधिक शब्द मिलते है, जिनका अर्थ प्राकृत मे कुछ है और अपभ्रंश मे कुछ और दूसरा है। उदाहरण के लिए, प्राकृत मे 'णाहल' शब्द का अर्थ म्लेच्छ की एक जाति है, किन्तु अपभ्रंश मे व्याघ्र या नाहर है। प्राकृत मे 'डमर' का अर्थ विप्लव तथा कलह है किन्तु अपभ्रंश मे भय है। इसी प्रकार प्राकृत मे "जत्त" का अर्थ जय या उद्योग है और अपभ्रंश मे यात्रा है।[२२] इस तरह के अनेक शब्द है, जिनके आधार पर एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त कुछ मात्रा-भेद से समानार्थी होने पर भी कोश मे उल्लेखनीय हैं, जैसेकि पसुलि-पसुली, णास-णासा, विहल-विहाल, णालि-णाली, मड्ड-मड्डा इत्यादि। मात्रा-भेद के कारण कही-कही बहुत अन्तर परिलक्षित होता है। 'पाइअ-सद्द-महण्णव' मे मड्ड शब्द मर्दन अर्थ मे एक सकर्मक क्रिया है, किन्तु देशी 'नाममाला' मे उसका अर्थ बलात्कार है। बलात्कार अर्थ मे "पाइअ-सद्द-महण्णव" मे "मड्डा" शब्द आया है। इस शब्द से साम्य रखने वाला' 'मड" शब्द का प्रयोग-'पउमचरिउ' तथा 'भविसयत्तकहा' मे मिलता है। किन्तु पुष्पदन्त के 'महापुराण' मे (१३, २, ३) मे "मड्ड" का अर्थ नारिकेलवन ('माड' मराठी)

है। "मड्ड" का अर्थ भी "महापुराण" (७०, १४, ११) में नारियल है। इसी प्रकार व्यंजन-भेद होने पर भी कहीं-कहीं अर्थसाम्य लक्षित होता है। जैसेकि फाडिम-फाडिय, वुक्कण-वुक्कण, खोह-खोभ, हडण-मडण, खोय-खोद, ठाम-ठाय-ठाव, ठिय-ठिउ, ढक-ढख, वोल-वोल, पार-पाल, दद्दुर-दद्दुरड, मुवक-मुवत्त, मूरविअ-मूरविउ इत्यादि।

अपभ्रंश भाषा के ठेठ शब्द प्राकृत-साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। अतएव प्राकृत-शब्दकोश में वे कहाँ से आ सकते हैं? सम्प्रति उनकी निश्चित संख्या बताना सम्भव नहीं है। अनुमानत चालीस प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जो प्राकृत के शब्दकोशों में नहीं हैं और लगभग दस प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के शब्दों से घिसकर विकसित हो अपभ्रंश में आ गये। ये शब्द अधिकतर प्राकृत-कोशों में नहीं मिलते अथवा भिन्न अर्थ में मिलते हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्न-लिखित हैं

विसुउ---	विश्रुत	खामोयरि	क्षामोदरी	सावया	सापदा
रण्ण	राज्ञा	केई	केकी	सेउ	श्रेय
छम	छद्म, छल	तण्णग	तन्वगी	णिरघ	निष्पाप
हिय	हृत	पउत्त	प्राप्त	विडोउ	विडौजा, इन्द्र
अलाउ	आलाप	पडिलाहिय	प्रतिलाहिता	वहूव	वभूव (हुआ था)
पहुत्त	प्रभुत्व	वेयलय	वेत्रलता	पजंपीरहि	कथय (कहो)
आसेसण	आश्लेषण	णाइणिलय	नाकलिय		(स्वर्ग निलय)
कोय	कोक (चक्रवाक)	अलीढ	अलिप्त	आहि	अह्नि, दिन
ललणिज्ज	ललनीय	वटुअ	वटुक (बालक)	वच्छायण	वात्स्यायन
वयोहर	वृत्तधर	वाअ---	वाक्	विउण	द्विगुण
विक्कार	विकार			वीसमण	विश्राम
वेसावाड	वेश्यावाट	व्वण	व्रण	सइत्त	सचित
सकंड	सक्रान्त	संट्ठविय	संस्थापित	सथउ	सार्थवाह
सभउ	सम्भव	सलद्ध	सलब्ध	सन्निह	सन्निभ
सालत्तय	सालक्तक	वग्गा	वल्गा (लगाम)	गुरुक्की	गुर्वी
हुलि	प्रहरण विशेष	सुअरिसण	सुदर्शन	सिरउड	शिरपुट
सवाह	ताम्बूल	अणिविण्ण	अनिर्विण्ण	अभेय	अभेद
कक्कर	पर्वत-शिखर	कजय	कज, कमल	कउ	कौन
काव	काव्य	कुहर	पर्वत	कोइ	कोई
तग्गय	तद्गत	तो वि	तो भी	क वि	कभी
भइय	भय	महराय	महाराज	मित्तइय	मैत्री
महाडइ	महाटवी	वइयागरण	वैयाकरण	खिज्जइ	दिया जाता

जेहो जैसी दद्दुरउ टीला घियऊरि घृतपूर
पइहिट्ठउ प्रहृष्ट पाहोह पाथोद(समुद्र) पहुल्ल प्रफुल्ल, फूल

इस प्रकार के शब्दो का अध्ययन बुद्धि का पूर्ण व्यायाम करा देता है। यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि ये शब्द सस्कृत के भ्रष्ट रूप है अथवा प्राकृत के शब्दो का सस्कृत के साहित्य मे सस्कृतीकरण किया गया। पीटर्सन के विचार मे प्राकृत और वैदिक सस्कृत समानान्तर रूप मे प्रवाहित रही है।[९३] डा० पुसालकर का यह कथन भी विचारणीय है कि भारतीय पुराणो की भाषा विषयक अनियमितताओ को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जन-बोलियो से प्रभावित ये सस्कृत के पुराण आधे के लगभग प्राकृतत्व को सहेजे हुए हैं। इनके अध्ययन से यह निश्चय किया जाता है कि मौलिक रूप मे पुराण प्राकृत मे लिखे गये थे, जिन्हे हठात् सस्कृत मे अनूदित किया गया। प्राकृत भाषा को अपनाने की प्रवृत्ति का प्रभाव वैदिक ग्रन्थो मे लक्षित होता है। परवर्ती काल मे प्राकृतो का यह प्रभाव धार्मिक ग्रन्थो, महाकाव्यो और पुराणो पर भी परिलक्षित होता है।[९४] यह पहले ही कहा जा चुका है कि वेदो के समय मे प्राकृत बोली रूप मे थी। बोलियो के प्रवाह से आगत अनेक शब्द वेदो मे दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद मे आगत कुछ प्राकृत शब्द इस प्रकार है

सच्चासच्च वचसी (सत्यासत्य वचन, म० ७, सू० १०४, म० १२), दूलभ (दुर्लभ, ४, ६, ८), चरु[९५] (काष्ठपात्र, ६, ५२, ३)- पत्तो (१०,२७,१३), अजगर (ऋक्प्रातिशाख्य, ५, ४, २२), मेह (नियुक्त, २, ६, ४), इत्यादि। श्री चोकसी की यह मान्यता है कि प्राकृत का विकास शास्त्रीय सस्कृत से न हो कर वैदिक सस्कृत से हुआ। भारतीय वैयाकरण इसी तथ्य को स्वीकार करते है।[९६] किन्तु भाषाविद् इस मान्यता से सहमत नही हैं। उनका कथन है कि द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति वैदिक या लौकिक सस्कृत से न होकर प्रथम स्तर की प्राकृतो से हुई है।[९७] इस कथन की सचाई अब नवीन शोध व अनुसन्धानो से प्रमाणित हो चुकी है। प्राकृतो मे "ऋ" के स्थान पर जो "रि" मिलती है, उसका मूल निश्चित रूप से वैदिकयुगीन लोक बोलियो मे रहा है। दक्षिण भारत के अनेक शिलालेखो मे "ऋ" के स्थान पर "रु" मिलता है।[९८] आज भी दक्षिण तथा महाराष्ट्र के विद्वान् "सस्कृत" का उच्चारण 'सस्करुत' रूप मे करते हैं। यह लोक-बोली के प्रवाह मे आज भी ज्यो का त्यो बना हुआ है। किन्तु प्रातिशाख्याकार ने इस उच्चारण को सदोष माना है।[९९] यही स्थिति 'रि' की है। किन्तु प्राचीन पाण्डुलिपियो तथा विदेशी भाषाओ मे लिखे गए सस्कृत-शब्दो के उच्चारण से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल मे भी 'ऋ' का उच्चारण अंशत 'रि' के समान होता था।[१००] उत्तरकालीन भारतीय भाषाओ मे सस्कृत 'ऋ' के स्थान पर इकार तथा उकार वाली ध्वनियो के विकास से प्रतीत होता है कि

अति प्राचीन काल से 'ऋ' के उच्चारण मे दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रही होगी, यथा-घृत-घी, शृगाल-सियार, ऋक्ष-रीछ, परन्तु वृक्ष-रूख, पृच्छा-पूछ वृद्ध-वूढा। कतिपय वैदिक शाखाओ मे 'ऋ' का उच्चारण गत 'रे' के सदृश भी किया जाता था।[101] वस्तुत उच्चारण भिन्नता का कोई कारण अवश्य होता है। यह भिन्नता वोलियो मे विशिष्ट रूप से लक्षित होती है। इसी प्रकार ऋग्वेद मे आगत 'लागल' शब्द को जॉ प्रजिलुस्की मुण्डा भाषा का शब्द मानते है।[102] सस्कृत का 'पिप्पल' तथा 'पिप्पलि' ग्रीक शब्द है। आज भी भारतीय ग्रामो मे 'पीपर' शब्द प्रचलित है जो कि ग्रीक 'पेपरी' से साम्य रखता है।[103]

इस प्रकार के शब्दो का समावेश विभिन्न सस्कृतियो के आदान-प्रदान तथा भारतीय श्रेष्ठियो के विदेश-व्यापार के कारण हुआ। ऋग्वेद का शाल्मलि (सेमल का वृक्ष, १०, ८५, २०) और शिम्वल (सेमल का फूल, ३, ५३, २२) मुण्डा भाषा के शब्द माने जाते है। पक्षियो मे 'कपोत' (ऋग्वेद १०, १६५, १) जो दुर्भाग्यदाता अर्थ मे प्रयुक्त है, मुण्डा भाषा का शब्द है। यही हाल 'मयूर' (ऋक्० १, १९१, १४) का है।[104] सम्भवत इसी ओर लक्ष्य कर शवर मुनि ने कहा था कि जिन शब्दो का आर्य लोग किसी अर्थ मे प्रयोग नही करते, किन्तु जिनका म्लेच्छ लोग प्रयोग करते है, जैसेकि---पिक, नेम, सत, तामरक आदि, उन शब्दो मे सन्देह है।[105] भौगोलिक दृष्टि से शिक्षा ग्रन्थो मे स्वरभक्ति का उच्चारण जिस क्षेत्र मे निर्दिष्ट किया गया है, यह अर्धमागधी और अपभ्रश का क्षेत्र है।[106] इस प्रकार के अन्य तथ्यो का भी निर्देश किया जा सकता है, जिन सब के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृत वोलियो का प्रवाह निश्चित ही भिन्न रहा है। वे किसी शास्त्रीय भाषा से कदापि विकसित नही हुई। डॉ० आल्सडोर्फ के अनुसार भारतीय आर्यभाषा की सवसे प्राचीनतम अवस्था वैदिक ऋचाओ मे परिलक्षित होती है। कई प्रकार की प्रवृत्तियो तथा भाषागत स्तरो के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि वोली ही विकसित होकर सस्कृत काव्यो की भाषा के रूप मे प्रयुक्त हुई। अतएव उसमे ध्वनि-प्रक्रिया तथा अन्य अनेक शब्द वोलियो के लक्षित होते है। शास्त्रीय सस्कृत का विकास-काल चौथी शताब्दी से लेकर आठवी शताब्दी तक रहा है, किन्तु उन पर प्राकृतो का प्रभाव नि सन्देह रूप से है।[107]

आ० आर्यभाषाओ को प्राकृत की देन

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के विकास मे प्राकृतो की भूमिका अत्यन्त गौरवपूर्ण रही है। प्राकृतो के भाषा सम्वन्धी सर्वेक्षण की सुविधा के लिए हम उनके तीन विभाग कर सकते है प्रथम आगमो की प्राकृत, द्वितीय साहित्यिक प्राकृत और तृतीय उत्तरकालिक प्राकृत या अपभ्रश भाषा। सर्वप्रथम हम जनागमो

की प्राकृत के कुछ शब्दों के आधार पर आधुनिक भाषाओं तथा बोलियों के शब्दों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। ये शब्द हैं

खुड्ड यह एक देशी शब्द है। ओछे, नीच के अर्थ में इसका प्रयोग उत्तराध्ययन सूत्र (१, ९) में मिलता है। देशीनाममाला (२, ७४) में यह लघु अर्थ में वर्णित है। तमिल भाषा में "कुट्टइ" शब्द इसी अर्थ का वाचक है। "खुड्ड" का विकास तमिल शब्द से माना जाता है।

कोड संस्कृत के "कीट" से विकसित कीडा अर्थ में प्रयुक्त है। यह शब्द प्राय सभी आगम ग्रन्थों में मिलता है। दशवैकालिकसूत्र में (४, १) भी यह शब्द है। इस शब्द का सीधा सम्बन्ध हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में प्रयुक्त कीड, कीडा शब्द से है।

बप्प यह शब्द दशवैकालिक (७,१८) में मिलता है, जिसका अर्थ बाप है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से इसका सीधा सम्बन्ध है।

छत्त यह शब्द भी दशवैकालिक (३, ४) में मिलता है। इसका अर्थ छत्ता है। यह कोई देशी शब्द प्रतीत होता है। इसी से हिन्दी में "छाता" तथा "छत्ता" शब्द प्रचलित हैं।

थिग्गल यह शब्द भी दशवैकालिक (५, १, १५) में मिलता है। इसका अर्थ थेगली है। 'थिग्गल' से ही थेगली का विकास हुआ।

खलुका यह शब्द उत्तराध्ययन सूत्र (२७, ८) में प्रयुक्त है। इसका अर्थ जुता हुआ अयोग्य बैल किया जाता है। इस शब्द के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं मिलता। सम्भवत कोई देशी शब्द रहा होगा।

पेडय यह शब्द उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका (पत्र ८४) में मिलता है। इसका अर्थ समूह है। प्राकृतकोश में भी यही अर्थ है। बिहारी, हिन्दी आदि भाषाओं में भी यह शब्द अपने विकसित रूप पेर, पेरा आज भी इसी अर्थ में में प्रचलित हैं।[१०८]

कुछ अन्य शब्द इस प्रकार हैं

छिंपाय (जंबूद्वीप० ३) छिपी, छीपा, दर्जी। बुन्देली में 'छिपी'।

मोरग (निशीथचूर्णि ११,३७००) कर्णभूषण, हिन्दी 'मुरकी'।

मुइंग (मुयिंग, निशीथभाष्य २६१) चींटी, मराठी 'मुगी'। देशी 'मुअंगी' (देशीनाममाला ६, १६४) कीटिका, कीडी (चींटी)।

रुंद बृहत्कल्पभाष्य २३७५)— विस्तीर्ण। मराठी 'रुंद'। देशी 'रुंदो' (देशीनाममाला ७, १४)—विपुल।

वरंडग (बृहत्कल्पभाष्य ४८२४) बरामदा। बुन्देली, हिन्दी 'बरंडा'।

ढिंकुण (बृहत्कल्पभाष्य ५३७६) खटमल। मराठी 'ढेंकूण'। देशी 'ढंकुण' ढेकुण' (देशीनाममाला ४, १४) खटमल।

भच्चय (वृहतकल्पभाष्य ४११५) भागिनेय। मराठी 'भाचा'।

सइज्झिय (वृहतकल्पभाष्य १५३६) पडौसी। मराठी 'शेजाटी'।

दद्दर (पिंडनिर्युक्ति ३६४)--जीना। गुजराती 'दादर'।

पोत्तुल्लय (आवश्यकचूर्णि पृष्ठ ५४०) गुडिया। हिन्दी 'पुतली,' बुन्देली 'पुतरिया', मराठी 'पुतला'।

थिल्ली (जवूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका २) घोडे का जीन या दो घोडो की बग्घी। यह कोई देशी शब्द है। पाइअसद्दमहण्णव 'मे' 'थिल्ल' शब्द है।

सेडिया (आचारांगसूत्र २, १, ६, ३) सफेद मिट्टी, खडिया। संस्कृत 'सेटिका'।

पेडण (वृहतकल्पभाष्य ४६३८) गोरपख। कोई देशी शब्द प्रतीत होता है।

पोआल (व्यवहारभाष्य २, ७१) साड। मराठी 'पोल'। यह एक देशी शब्द है। देशीनाममाला मे 'पोआल' (६, ६२) बैल अर्थ का वाचक है।

पोच्चड (निशीथभाष्य ३७०४) मैल। मराठी 'पोचड'। 'पाइअसद्द-महण्णव' मे यह देशी शब्द है, जिसका अर्थ मलिन किया गया है।

फल्ल (वृहत्कल्पभाष्य ५९६८) सूती वस्त्र। यह कोई देशी शब्द है।

फेल्ल (निशीथभाष्य ३७२६) दरिद्र। यह शब्द देशीनाममाला (६, ८५) मे इसी अर्थ मे आया है।

उच्चूल (औपपातिक सूत्र ३०) झूल। यह कोई देशी शब्द है।

गिल्लि (राजप्रश्नीय ३) अम्बारी। पाइअसद्दमहण्णव मे यह देशी कहा गया है। इसका अर्थ हाथी का हौदा है।

चिक्खल्ल (वृहत्कल्पभाष्य ११७३) चीखल, कीचड। मराठी 'चिखल'। कोकणी 'चिक्खोल'।

चोप्पाल (वृहत्कल्पभाष्य ४७७०) चौपाल। हिन्दी चौपाल,।

झंझडिया (निशीथ० ३७०४) झझट करने वाला। कलही व्यक्ति।

ढक्कण (वृहत्कल्पभाष्य २९४२)---ढक्कन। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ मे ढकनु, ढकना, ढक्कन आदि।

डिक्करूय (रिट्ठणेमि० १३, १०, ९) छोकरा। गुजराती दीकरो।

पलक्क (रिट्ठणेमि० ५, १०, ७) लम्पट।

मोट्टियार (रिट्ठणेमि० १४, १३, ५) नवयुवक। मारवाडी, गुजराती 'मोट्टयार'।

दाढिया (दाढी), पत्थर, मडु (छुरा), मोरड (तिल आदि के लड्डू), रोट्ट (चावल का आटा), चोप्पडय (चुपड कर), वियाया (प्रसूता, ब्याना) इत्यादि।[100] बुन्देलखण्डी भाषा मे सहस्रो ऐसे शब्द है जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से

प्राकृत से सम्बद्ध है और जिनका विकास निश्चित रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द इस प्रकार है

बुन्देली 'उसीसो' (तकिया) प्राकृत के 'ऊसय' (गुजराती ओसीसा) शब्द से विकसित हुआ है। इसी प्रकार प्राकृत के 'ओसरिआ' शब्द से बुन्देली 'उसारी' विकसित हुआ, जिसके लिए 'देशीनाममाला' (१,१४०) मे 'ऊसारो' शब्द मिलता है। इसी प्रकार बुन्देली कदुआ, खटीक, चुटैया, छुई, झुरैया, जड्ड, झख, टाक, निराट, ठट्ठ, दारी, रवसा, खड्ड, कची, खदरा, खतना, खिल्ली, गडबड, घाम, झामर, डुकरिया, तिड्डा, थई, पग्गल और बियार प्राकृत के क्रमश कदुइया, खट्टिक, चोट्टिया, छुरिया, झूर, जड्ड, झख, टका, निराय, थट्ट, दारिया, करीस, खड्ड, कची, खड्डा, खत्त, खेल्लिअ, गड्ड-बड्ड, घम्म, झामर, डोक्करी, तेड्ड, थइया, पग्गल और विआलिउ शब्दो से विकसित है।[११०] इनके अतिरिक्त बुन्देली मे छुहारा को 'खारक' कहते हैं जो प्राकृत के 'खारिक्क' शब्द से विकसित है। पशु के लिए 'ढोर' शब्द आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे प्रचलित है जो मूल मे प्राकृत है। हिन्दी के लूला, घुघरू, ढाक, समोसा, लूट, लुटेरा, गवार, छीक, फेनी, कचोला, कटोरा, गाडी, खोर खोल, खोल्ली, गवार, कचरा, कतवार, कछोटी, कटार, कड-कड, तवला, दाव, पाखर, असरार आदि शब्दो का निकास प्राकृत के लुल्ल, घुग्घुरु, ढख, समोसिय, लुट्ट, लुट्टार, गयार, चिक, फेणिय, कच्चोल, कट्टोरग, गड्ड, गड्डिय, खोर, खोल्ल, खोल्लिय, गयार, कच्चरा, कत्तर, कच्छोटी, कट्टार, कड-यड, दाय, पक्खर, असरालअ आदि का विकास स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।[१११] इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जो ठेठ प्राकृत तथा अपभ्रंश मे ही मिलते है, उन सबकी सूची देना सम्भव नही है। उदाहरण के लिए कुछ शब्दो का उल्लेख इस प्रकार है

वड्डा	बडा	झमाल	झमेला	छेडी	छेंडी, छिडिया, गली
चोक्ख	चोखा	गोव्वर	गोवर	कोइला	कोयला
उक्खल	ओखली	चोट्टियाउ	चोटी	वडिय	बडी मगोडी
गूडर	गूदड, गुदडी	खज्जा (मिष्ठान्न)	खाजा	टोप्प	टोपी
टोप्पर	टोप	टिविला (अरबी)	तवला	भज्जिय	भाजी
वइगण	बैंगन	हुड्ड	होड	उज्जड	उजाड
डल्ल	डाल	ठक्कुर	ठाकुर	चोज्ज	चोज (आश्चर्य)
भड	भाटा (बैंगन)	लाडुय	लाडू, लड्डू	पट्टोल	पटोल
विट्टी	वेटी	वेड	वेडा	वोक्कड	वकरा

छिल्लर—छील्लर (पोखर)	टोल—टोला (मुहल्ला)	गुमल—गोमी
सव्वल—सव्वल, कुशी	विसूरय—विसूरना	ठिअयक—ठीक
चिट्ठिआ—चिट्ठी	कहि—कहा	चुक्क—चूक, भूल
सेल्लग—सेला, भाला	चप्प—चापना, भींचना	गिल्ल—गीला
झप—झापना, ढाकना	सभालिउ—सम्हाला	खुट्ट—खूटना
खिसिय—खिसक गई	ऊसरु—ऊसर	चगउ—चगा
मच्छर—मच्छर	तीमण—तेमन (साग), तेउन	ढखर—ढाखर
मुग्गदालि—मूग की दाल	वक्कल—वकला, छिलका	पीट्ट—पीटना
पटवारी—पटवारी	गाली—गाली	खोज्ज—खोजना
ढढ—ढढ	मेर—मर्यादा	ऊछ—ऊछना,
उमेड—उमडना	उड—औडा, गहरा	रालि—राड, कलह

इस प्रकार अपभ्रंश मे भी अनेक देशी शब्द मिलते हैं जो वर्तमान जन-बोलियो मे परम्परा से अधिगृहीत हुए हैं।[११२] इनमे दक्षिण की भाषाओं तथा बोलियो मे ही नही, किन्तु उत्तर भारत की विभिन्न भाषाओ तथा बोलियो मे प्रयुक्त शब्द उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार की देशी-शब्दावली का एक स्वतन्त्र 'शब्दकोष' निर्मित होना चाहिए। अन्त मे हम प्राकृत के कुछ ऐसे शब्दो की बानगी दे रहे हैं जो भारतीय भाषाओ मे अत्यन्त प्रचलित हैं।

प्राकृत	हिन्दी	पजाबी	उर्दू	सिन्धी	मराठी	गुजराती	बगला	ओडिया	अन्य
गल्ल	गला	गला	गला	गल्ला	गला	गलु	गॉला	गाल	
पोट्ट	पेट	पेट्	×	पेटु	पोट्	पेट	पेट	पेट	
हड्डिय	हड्डी	हड्डी	हडी	हड्डो	हाड	हाडकु	हाड	हाड्	
दहि	दही	दहीँ	दहीँ	द्रही	दही	दही	दइ	दहि	
नासपेअ	नास०	नाश्पा०	नाश०	नीस०	नास०	नास्पा०	न्यास्पा०	नास्पा०	
बहेडय	बहेडा	बहेडा	बेहेडा	बहेरो	बेहडा	बहेडा	बयडा	बाहाडा	
चाउल	चावल	चावल	चावल	चाँवँर	भात	भात	भात	×	चोरुँ (मलयालम)
तक्कारि	तरकारी	तर०	तर०	×	×	×	तर०	×	तरकारि (कन्नड)

मक्खण मक्खन मक्खण मक्खन मक्खणु लोणी माखण माखन ×
माखन (असमिया)
चक्कलय चकला × चकला चकला चकुलो चकलो चाकी ×
चकलुँ (कश्मीरी)
कुंदीर कुदरू कुदरू कुदरू × × × × कुदुरि
वाइंगण वैंगन वेंगण बैंगन वाडणु वांगे रींगुणु वेगुन बाइगण
वागुन् (कश्मीरी), वेङेना (असमिया)
चोरु चोर चोर चोर चोरु चोर चोर चोर चोर
चूर (कश्मीरी), चोर (असमिया)
पाणिअ पानी पाणी पानी पाणी पाणी पाणी जल पाणि
पानी (असमिया)
वद्दल बादल बद्दल बादल ककरु ढगा बादलु मेघ मेघ
घोड़ घोडा घोडा घोडा घोडो घोडा घोडो घोडा घोडा
घोरा (असमिया), गुर्रमु (तेलुगु)

इसी प्रकार 'वलद्द' (बलद), 'वग्घार' (बघार), 'खट्टा' (खट्टा), 'गिल्ल' (गीला), 'पाहुण' (पाहुना) और 'विट्टल' (विटाल, अस्पृश्य) आदि शब्दो के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय भाषाओ के सम्यक् अध्ययन व अनुसन्धान के लिए प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओ का अध्ययन आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।

सदर्भ

1. ए०ए० हिल (स०) लिग्विस्टिक्स, १९६९ पृ० ४५।
2. कर्वे, सुमित्र मगेश लैक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० १२
3. मेरियो पेई इन्विटेशन टु लिग्विस्टिक्स, लन्दन, १९६५, पृ० ६९
4. लिओनार्ड ब्लूमफील्ड लैंग्वेज, लन्दन, १९५८, पृ० १६२
5. वही, पृ० २६४-६५
6. "साधुत्व ज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति ।"—वाक्यपदीय (भर्तृहरि)
7. भट्टाचार्य, रामशकर सस्कृत भाषा मे कोष प्रामाण्य, हिन्दी अनुशीलन, पौष-फाल्गुन, वि०स० २०१०, पृ० २१-२६
8. डा० हेमचन्द्र जोशी 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित लेख, अक्तूबर, १९६०, पृ० २३१
9. कर्वे, सुमित्र मगेश लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० ५
10. डा० नेमिचन्द्र जैन जैन कोश-साहित्य, आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, कलकत्ता १९६१, द्वितीय खण्ड, पृ० १८९
11. त णिसुणेवि वयणु जगसारउ सयल—कलउ दक्खवइ भडारउ ।
अण्णहु असि मसि किसि वाणिज्जउ अण्णहु विविह पयारउ विज्जउ ।।
—पउमचरिउ, २, ८-६

१२ महर्षि यास्क कृत निरुक्त टीका, १ अ० १३ खण्ड।
१३. विलसन, ग्रेहम (स०) ए लिंग्विस्टिक रीडर, न्यूयार्क, १९६७, पृ० ८७
१४ वही, पृ० ८७
१५ दसवेआलिय, वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी। सपादक और विवेचक मुनि नथमल। भूमिका पृ० २६-२७
१६ इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायन ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका ॥
१७ अमरकोश-टीका, १ १ ६६
१८ चौखम्बा से प्रकाशित 'अभिधानचिन्तामणि' की प्रस्तावना, पृ० ९
१९ गैरोला, वाचस्पति अक्षर अमर रहे वाराणसी, १९५९, पृ० ९३
२० Zachariae in Die Indischen wörterbücher in Bühler's Encyclopaedia, 1897
२१ आर्थर ए० मेक्डानल ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, दिल्ली, पाचवा सस्करण, १९५८, पृ० ४३३
२२ 'वाङमयार्णव' की भूमिका, पृ० २३, वाराणसी, १९६६
२३ पाणिन्यहीन्द्रगुरुभागुरिभोजमेड,
हेमामरादिसमुदीरितशास्त्रसारात् ।
नानार्थरत्नतिलक स च सिद्धशब्द,
रत्नाकर समतनोत्सुमतिर्महीप ॥ अनेकार्थतिलक, २१२
२४ महेन्द्रकुमार जैन नाममाला सभाष्य की प्रस्तावना, पृ० ११
२५ तत्पर्यायचरो मत्स्यस्तत्पर्यायप्रदो घन ।
तत्पर्यायोद्भव पद्म तत्पर्यायधिरम्बुधि ॥ नाममाला, १६
२६ प० परमानन्द शास्त्री जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० २१४
२७. द्रष्टव्य है—मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, चतुर्थ अध्याय, पृ० ८६०
२८ देवाधिदेवा प्रथमे काण्डे देवा द्वितीयके ।
नरास्तृतीये तिर्यंचस्तुर्ये एकेन्द्रियादय ॥
एकेन्द्रिया पृथिव्यम्बुतेजोवायुमहीरुह ।
कृमिपीलकलूताद्या, स्युर्द्वित्रिचतुरिन्द्रिया ॥
पचेन्द्रिया एव देवा, नरा नैरयिका अपि ॥
नारका पचमे साग षष्ठे साधारणा स्फुटम् ।
प्रस्तोप्यन्तेऽव्ययाश्याम, त्वन्तायादी न पूर्वगौ ॥ अभिधानचिन्तामणि, १,२०-२३
२९ उन्दुरुस्तुदुमो रन्ध्रबभ्रुर्दीना तु मूषिका ।
स्याच्चिको वेश्मनकुल पुवूपो गन्धमूषिक । त्रिकाण्डशेष, २,१०-११
३० मूषिको मूषको वज्रदशन खनकोन्दुरो ।
उन्दुरुर्वृष आखुश्च, सूच्यास्यो वृषलोचन ॥
छछुन्दरी गन्धमूष्या—अभिधानचिन्तामणि, १३००, १३०१
३१. 'जलोच्छ्वास' (नहर) शब्द के लिए द्रष्टव्य है
"परीवाहो जलोच्छ्वासे महीभृद्योग्यवस्तुनि ।" मेदिनी, ३४,३३
यही पक्ति 'विश्वप्रकाश' में भी है।
"परिवाहा जलोच्छ्वासा, कूपकास्तु विदारका ।" अभिधान०, १०८८

३२ "जङ्गलो निर्जलो नूपोऽम्बुमान्"—अभिधानचिन्तामणि, ९५३
"जङ्गल निर्जनस्थाने०"—मेदिनीकोश, २८,९३
३३ मत्स्यो मीन पृथुरोमा, झषो वैसारिणोऽण्डज ।
मङ्क्षचारी स्थिरजिह्व, आत्माशी स्वकुलक्षय ।
विसार शकली शल्की, शम्बरो निमिषस्तिमि ॥ अभि०, १३४३-४४
३४ अभिधानचिन्तामणि, तिर्यक्काण्ड १५९१ १६०३,
३५ वही, तिर्यक्काण्ड, १४४४-४५
३६ वही, तिर्यक्काण्ड, १४५०
३७ "लङ्ह रमणीय च" अभि० १८७९
"लट्टयलङहा कुसुम्मरम्मेसु ।"—देशीनाममाला, ७,१७
३८ खल्लो वस्त्रप्रभेदे स्याद् गर्ते चर्मणि चातके । मेदिनी, २८,१२
३९ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन, १९६६, पृ० १९८
४० वही, पृ० १७१
४१ वही, पृ० ५११
४२ वही, पृ० ४६८ तथा—टी० वरो ट्रान्सलेशन्स ऑव द फिलालॉजिकल सोसायटी, लन्दन, १९४५,१११
४३ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन १९६६, पृ० २२१
४४ वही, पृ० २६२
४५ वही, पृ० ६५५
४६ "कुट कोटे शिलाकुट्ट घटे गेहे" अनेकार्थसंग्रह, २,८५
४७ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, १९६६, लन्दन, पृ० १७५
४८ पण्डित, प्रबोध वे० 'हेमचन्द्र एण्ड द लिंग्विस्टिक ट्रेडिशन', श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्णमहोत्सव ग्रन्थ, भाग १,१९६८, पृ० २१२
४९ विहितैकार्थनानार्थदेश्यशब्दसमुच्चय ।
निघण्टुशेष वक्ष्येऽह, नत्वार्हत्पादपकजम् ॥१८९०
तथा
शास्त्राणि वीक्ष्य शतशो, धन्वन्तरिनिर्मित निघण्टु च ।
लिंगानुशासनानि च क्रियतेऽनेकार्थटीकेयम् ॥ टीका में
५० द्रष्टव्य है—पीटर्सन कृत ग्रन्थ-सूची, भाग ५, पृ० १६२
५१. 'जैन-सिद्धान्त भास्कर', भाग ४, किरण १, पृ० ९
तथा
डा० नेमिचन्द्र शास्त्री 'जैन कोश-साहित्य', आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० १९६
५२ शर्मा, प० नन्दलाल (स०) विश्वलोचनकोश की प्रस्तावना, पृ० ५
५३ वारागनाङ्घीचरणौ, मयूरे चित्रपिंगल ।
नृत्यप्रिय स्थिरमद, खिलखिल्लो गरव्रत ॥
मार्जारकण्ठो मरुको, मेघनादानुलासक ।
मयूको बहुलग्रीवो, नगावासश्म चन्द्रकी ॥ १७३०-३१

५४ वीतरागो जिन प्रोक्तो जिनो नारायण स्मृत ।
कन्दर्पहा जिनश्चैव जिन सामान्यकेवली ॥६२॥
५५ कासलीवाल, डा० कस्तूरचन्द (स०) राजस्थान के जैन शास्त्र-भाण्डारो की ग्रन्थ सूची, भाग २, पृ० २६७
५६ शास्त्री, डा० नेमिचन्द्र जैन 'जैन कोश-साहित्य', आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, पृ० १६६
५७ मुनि जिनविजय 'उक्तिरत्नाकर' की प्रस्तावना, पृ० ६
५८ आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, पृ० १६६
५९ वही, पृ० १६६
६० अफ्रेष्ट, थ्योडर (स०) केटालोगस केटेलोगोरम, भा० १, १९६२, जर्मनी, पृ० ६३३
६१ विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि ।
मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ॥
धारानयरीए परिट्ठिएण मग्गे ठिआए अणवज्जे ।
कज्जे कणिट्ठवहिणीए 'सुन्दरी' नामधिज्जाए ॥ अन्तिम प्रशस्ति
६२ कइओ अध जर्णकिवा कुसल त्ति पयाणमतिमा वण्णा ।
नामम्मि जस्स कम सो तेणेसा विरइया देसी ॥ वही
६३. 'पोओ वहण सवरा य किराया'—पाइयलच्छी० २७४
६४ जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ।
ण य गउणलक्खणासत्तिसभवा ते इह णिबद्धा ॥ देशी० १, ३
६५ देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुति ।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी ॥ वही, १, ४
६६ बनर्जी, मुरलीधर देशीनाममाला की भूमिका, पृ० ३३
६७ बरो, टी० बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन, जिल्द १२ पृ० ३६५
६८ श्रियन् रत्ना एन० 'सम फौरिन लोन वर्ड्स इन पुष्पदन्ताज अपभ्रंश', 'भारतीय विद्या', जिल्द २५, स० १-२, पृ० २७
६९ वही, पृ० २८
७० टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन, १९६६, पृ० १३२
७१ वही पृ० १७१
७२ द्रष्टव्य है 'भारतीय विद्या', जिल्द २५, स० १-२, पृ० २९
७३ बरो, टी० बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन, जिल्द १२, पृ० ३७९
७४ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन, १९६६, पृ० २५९
७५ महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण, ३, १४, ११ ।
७६ 'देशीनाममाला' के परिशिष्ट मे सलग्न शब्दकोष, पृ० ४७
७७ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन १९६६, पृ० ४७५
७८ श्रियन्, डा० रत्ना 'ए स्टडी ऑव देश्य वर्ड्स फ्रॉम द महापुराण ऑव पुष्पदन्त', द जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, जिल्द ३१, भाग २, सित०, १९६२, पृ० १०३

७९ गुप्त, डा० हरिहर प्रसाद 'देशीनाममाला में कृषि-शब्दावली', हिन्दुस्तानी, भाग १९, अंक ३, जुलाई-सितम्बर १९५८, पृ ८१-१०५
८० वैद्य, डा० पी०एल० 'आब्जर्वेशन्स ऑन हेमचन्द्राज देशीनाममाला', एनल्स ऑव द भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द ८, पृ० ६३-७१
८१ चटर्जी, डा० सुनीतिकुमार - प्रकाशित लेख 'तमिल कल्चर', जिल्द ८, स० ४, अक्तूबर-दिसम्बर, १९५९, पृ० ३०९
८२ रो, अमृत 'द द्राविडियन एलीमेन्ट इन प्राकृत' इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द ४६, १९१७, पृ० ३३-३६
८३ उपाध्ये, डा० आ० ने० 'कनारीज वर्ड्स इन देशी लेक्सिकन्स', एनल्स ऑव द भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द १२, भाग २ १९३१, पृ० १३२-१६३
तथा
'मराठी एलीमेन्ट्स इन ए प्राकृत ड्रामा', इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, भाग १६, १९५५, पृ० १४७-१५२
८४ चटर्जी, डा० सुनीतिकुमार 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की प्रस्तावना, पृ० ६
तथा
"ततो देशे देशे प्रतिविषय लोक पामरजनो यया यया गिरापभ्रष्टया यत् किंचित् अभिधेय वस्तु वक्ति व्यवहरति सापभ्रश भाषा।"—उक्तिव्यक्तिप्रकरण, श्लो० ७ की विवृति।
८५ मुनि जिनविजय 'उक्तिरत्नाकर' की प्रस्तावना, पृ० ७
८६ शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तिया, १९७२, पृ० ५५-५६
८७ ब्यूह्लर, डा० जे०एच० द देशी शब्दसग्रह ऑव हेमचन्द्र, इण्डियन एन्टिक्वेरी जिल्द २, १८७३, पृ० १७-२१
तथा—
'ऑन ए प्राकृत ग्लॉसरी इनटाइटिल्ड पाइयलच्छी, इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द २, भाग १८, जून १८७३
८८ Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, १९१२, पृ० ५४४
८९ द्रष्टव्य है—'तीर्थंकर' का श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर विशेषाक, १९७५, पृ० ५९
९० शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार 'जैन दर्शन पारिभाषिक शब्दो के माध्यम से', वही, श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर विशेषाक, पृ० १२६-१३१
९१ वही, पृ० १४७-१५१
९२ शास्त्री, देवेन्द्रकुमार 'अपभ्रंश कोश एक परिचय', हिन्दुस्तानी, भाग ३१, अक १-२, पृ० २१-२२
९३ पीटर्सन 'वैदिक सस्कृत एण्ड प्राकृत', जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, जिल्द ३२, १९१२, पृ० ४२३
९४ पुसालकर, ए०डी० 'वेयर द पुराणाज ओरिजनली इन प्राकृत', आचार्य ध्रुव स्मारक ग्रन्थ, भाग ३, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, पृ० १०३
९५ पुष्पदन्त कृत महापुराण, २९,२४,११
९६ चौकसी, वी०जे० कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रैमर, अहमदाबाद, १९३३, पृ० ८
९७ पाइअ-सद्द महण्णव का उपोद्घात, पृ० २२, द्वितीय सस्करण, १९६३

९८ इपिग्राफिका इण्डिका, ८,३५६, ५,३२
९९ ऋग्वेदप्रातिशाख्य, १४,३८
१०० जेकब, वाकरनागल आल्टइण्डिशे ग्रामातिक, भा० १,१८९६, पृ० ३१
१०१ डा० रामगोपाल वैदिक व्याकरण, प्रथम भाग, दिल्ली, १९६५, पृ० ५ से उद्धृत।
१०२ द्रष्टव्य है प्रि आर्यन एण्ड प्रि-द्रैवेडियन, पृ० ९
१०३ डा० मोतीचन्द्र सार्थवाह, पृ० ४४
१०४ मिश्र, डा० हरिमोहन 'ऋग्वेदीय भारत की भाषा-स्थिति', परिषद्-पत्रिका, वर्ष ८, अक ३ ४, भाषा-सर्वेक्षणाक, पृ० ५२ से उद्धृत
१०५ 'अथ यान्शब्दान् आर्या न कस्मिश्चिदर्थे आचरति
म्लेच्छास्तु कस्मिश्चित् प्रयुज्यन्ते, यथा—पिक-नेम-सत-तामरस आदि शब्दातेषु सन्देह ।'
शवरभाष्य, अ० १ पा० ३, सू० १०, अ०५
१०६ वर्मा, सिद्धेश्वर द फोनेटिक आब्जर्वेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स, दिल्ली, १९६१, पृ० ५०
१०७ आल्सडोर्फ, लुडविग 'द ओरिजन आव द न्यू-इण्डो-आर्यन स्पीचेज', अनु० एस०एन० घोपाल, जर्नल ऑव द ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, जिल्द १०, स० २, दि० १९६०, पृ० १३२-३३
१०८ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज, १९६६, पृ० ४७५
१०९ जैन, डा० जगदीशचन्द्र जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, परिशिष्ट ३
११० द्रष्टव्य है—प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार ऑव स्कालर्स इन प्राकृत एण्ड पालिस्टडीज, मगध युनिवर्सिटी, बोधगया, १९७१, पृ० ९१
१११ शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार 'भगवान् महावीर की मूल वाणी का भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व', द विक्रम जर्नल ऑव द विक्रम-युनिवर्सिटी, उज्जैन, जिल्द १८, स० २-४, मई-नव० १९७४, पृ० १५५-५६
११२ शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार 'कन्ट्रीब्युशन ऑव अपभ्रंश टू इण्डियन लैंग्वेजेज', कन्ट्रीब्युशन ऑव जैनिज्म टु इण्डियन कल्चर, १९७५, पृ० ७६

आधुनिक जैन कोश-ग्रन्थों का मूल्यांकन

डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन

किसी भाषा और उसमे रचित साहित्य का सम्यक्-अध्ययन करने के लिए तत्सम्बद्ध कोशो की नितान्त आवश्यकता होती है। वेदो और सहिताओ को समझने के लिए निघण्टु और निरुक्त जैसे कोशो की रचना इसीलिए की गई कि जन-साधारण उनमे सन्निहित विशिष्ट शब्दो का अर्थ समझ सके। उत्तरकाल मे इसी आधार पर सस्कृत पालि और प्राकृत के शब्दकोशो का निर्माण आचार्यों ने किया। अमरकोश विश्वलोचनकोश, नाममाला, अभिधानप्पदीपिका, पाइयलच्छीनाममाला आदि जैसे अनेक प्राचीनकोश उपलब्ध है। इनमे कुछ एकाक्षर कोश है और कुछ अनेकार्थक शब्दो को प्रस्तुत करते हैं। कुछ देशी नाममाला जैसे भी शब्दकोश है जो देशी शब्दो के अर्थ को प्रस्तुत करते है।

प्राचीन कोश-साहित्य के अध्ययन से हम कोशो को कुछ विशेष वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं। उदाहरणत व्युत्पत्ति कोश, पारिभाषिक कोश, पर्यायकोश, व्यक्तिकोश, स्थान-कोश, एकभाषा कोश, बहुभाषा कोश आदि। इन कोशो के माध्यम से साहित्य की विभिन्न विधाओ एव उनमे प्रयुक्त विशिष्टशब्दो के आधार पर भाषावैज्ञानिक तथा सास्कृतिक इतिहास की सरचना भी की जा सकती है।

आधुनिक कोशो का प्रारभ उन्नीसवी शताब्दी से माना जा सकता है। इन कोशो की रचना-शैली का आधार पाश्चात्य विद्वानो द्वारा लिखित शब्द कोश रहा है। उन्नीसवी-बीसवी शताब्दी मे प्राकृत और जैन साहित्य तथा दर्शन के विद्वानो ने भी कुछ कोशग्रन्थो का निर्माण किया है। अध्येताओ के लिए उनकी उपयोगिता निर्विवाद रूप से सिद्ध हुई है। ऐसे कोश ग्रन्थो मे हम विशेष रूप मे अभिधान राजेन्द्र कोश, पाइयसद्दमहण्णव, अर्धमागधी डिक्सनरी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

तथा जैन लक्षणावली का उल्लेख कर सकते है। यहा हम सक्षेप मे इन कोशग्रन्थो का मूल्याकन करने का प्रयत्न करेगे।

१ अभिधानराजेन्द्रकोश

इस कोश के निर्माता श्री विजय राजेन्द्र सूरि का जन्म स० १८८३, पौष शुक्ल सप्तमी, गुरुवार (सन् १८२६) को भरतपुर मे हुआ। आपका बाल्यावस्था का नाम रत्नराज था, पर स० १६०३ मे स्थानकवासी सप्रदाय मे दीक्षित होने पर रत्न विजय हो गया। बाद मे उन्होने व्याकरण दर्शन आदि का अध्ययन किया। सन् १९२३ मे वे मूर्ति पूजक सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए और विजय राजेन्द्र सूरि के नाम से आचार्य पदवी प्राप्त की। उन्होने अनेक मदिर बनवाये और उनकी प्रतिष्ठाये करायी। वे अच्छे प्रवक्ता और शास्त्रार्थ कर्ता थे। उपाध्याय बालचद जी से उनका शास्त्रार्थ हुआ और वे विजयी हुए। आपकी विद्वत्ता के प्रमाण स्वरूप आपके अनेक ग्रथ है जिनमे अभिधान राजेन्द्र कोश, उपदेश रत्न सार, सर्वसग्रह प्रकरण, प्राकृत-व्याकरण विवृत्ति, शब्द कौमुदी, उपदेश रत्न सार, राजेन्द्र सूर्योदय आदि प्रमुख है। उनके ग्रथो से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट रूप से झलकती है। श्री सूर्य का अत काल २१ दिसम्बर सन् १९०६ मे राजगढ मे हुआ।

अभिधान राजेन्द्र कोश के लेखक विजय राजेन्द्र सूरि ने जैन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के दौरान यह अनुभव किया कि एक ऐसा जैन-आगम कोश होना चाहिए जो समूचे जैन दर्शन को अकारादि क्रम से सयोजित कर सके। लेखक ने अपने कोशग्रथ की भूमिका मे लिखा है कि "इस कोश मे अकारादि क्रम से प्राकृत शब्द बाद मे उनका सस्कृत मे अनुवाद, फिर व्युत्पत्ति, लिंग निर्देश तथा जैन आगमो के अनुसार उनका अर्थ प्रस्तुत किया गया है। लेखक का दावा है कि जैन आगम का ऐसा कोई भी विषय नही रहा जो इस महाकोश मे न आया हो। केवल इस कोश के देखने से ही सम्पूर्ण जैन आगमो का बोध हो सकता है। इसकी श्लोक सख्या साढे चार लाख है और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दो का सग्रह है।"[१]

लेखक के ये शब्द स्पष्ट सकेत करते है कि उनका उद्देश्य इसे सही अर्थ मे महाकोश बनाने का था। इस महाकोश के मुख्य पृष्ठ पर लिखा है

श्री सर्वज्ञप्रणीत गणधर निर्वर्तिताऽद्य श्रीनोपलभ्यमानाऽशेष—सूत्रवृत्ति भाष्य निर्युक्ति चूर्ण्यादि निहित सकल दार्शनिक सिद्धान्तेतिहास शिल्प वेदान्त न्याय वैशेषिक मीमासादि प्रदर्शितपदार्थयुक्तायुक्तत्व निर्णायक। बृहद् भूमिको पोद्धात प्राकृतव्याकृति प्राकृत शब्द रूपा-वल्यादि परिशिष्ट सहित।

इससे पता चलता है कि कोशकार ने प्राकृत-जैन आगम, वृत्ति, भाष्य, निर्युक्ति

चूर्णि, आदि मे उल्लिखित सिद्धान्त, इतिहास, शिल्प, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमासा आदि का सग्रह किया गया है। इसका प्रकाशन जैन प्रभाकर प्रिन्टिग प्रेस रतलाम से सात भागो मे हुआ। इसकी भूमिका मे लिखा है कि "इस कोश मे मूलसूत्र प्राचीन टीका, व्याख्या तथा ग्रथान्तरो मे उसका उल्लेख बताया गया है। यदि किसी भी विषय पर कथा भी उपलब्ध है तो उसका भी उल्लेख है। तीर्थ और तीर्थंकरो के बारे मे भी लिखा गया है।"[२] यह महाकोश यद्यपि सात भागो मे समाप्त हुआ है परन्तु भूमिका मे चार भागो की ही विषय सामग्री का उल्लेख है। इसे हम सक्षेप मे इस प्रकार देख सकते हैं

१	**प्रथम भाग**	अ वर्ण	पृष्ठ ८९४	प्रकाशन काल सन् १९१०
२	**द्वितीय भाग**	आ से ऊ वर्ण तक	,, ११७८	सन् १९१३
३	**तृतीय भाग**	'ए' से 'क्ष' वर्ण तक	,, १३६४	सन् १९१४
४	**चतुर्थ भाग**	'ज' से 'न' वर्ण तक	,, २७७८	सन् १९१७
५	**पचम भाग**—	'प' से 'भ' वर्ण तक	,, १६३६	सन् १९२१
६	**षष्ठ भाग**	म से 'व' वर्ण तक	,, १४६६	सन् १९२३
७	**सप्तम भाग**	स से ह वर्ण तक	,, १२४४	सन् १९२५

इन सातो भागो के प्रकाशन मे लगभग पन्द्रह वर्ष लगे और कुल १०५६० पृष्ठो मे यह महाकोश समाप्त हुआ। इसमे अच्छेर, अहिसा, आगम, आधाकम्म, आयरिय, आलोयणा, ओगाहणा, काल, क्रिया, केवलिपण्णति, गच्छ, चारित्त, चेइय, जोग तित्थयर, पवज्जा, रजोहरण, वत्थ, वसहि, विहार, सावय, हेउ, विनय, सद्द पट्टावलि, पच्चक्खाण, पडिलेहणा, परिसह, वधण, भावणय, मरण मूलगुण, मोक्ख, लोग, वत्थ, वसहि, विणय, वीर, वेयावच्च, सखडि सच्च, सामाइय इत्यादि जैसे मुख्य शब्दो पर विशेष विचार किया गया हे। इसी तरह अचल, अज्जचन्दणा, अणुव्रेलधर, अभयदेव अरिट्ठनेमि, आराहणा, इलादत्त, इसिभद्दपुत्त, उदयण काकदिय, कासीराज चक्कदेव, दयदेत, धणसिरि, धणवइ, मूलदत्ता, मूलसिरी, मेहघोस रयनेमि, रोहिणी, समुद्दपाल, विजयसेन, सीह, सावत्थी, हरिभद्द आदि जैसी महत्त्वपूर्ण कथाओ का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

यह महाकोश अवश्य है परन्तु महाकोश के प्रयोजन को सिद्ध नही कर पाया। प्रथम तो इसे हम मोटे रूप मे अर्धमागधी महाकोश कह सकते है जिसमे अर्धमागधी प्राकृत जैन आगमो को छोडकर शेष प्राकृत साहित्य का उपयोग नही किया गया और दूसरी बात यह है कि यह मात्र उद्धरणकोश बन गया। ये उद्धरण इतने लम्बे रख दिये कि पाठक देखकर ही घबडा जाता है। कही-कही तो ग्रथो के समूचे भाग प्रस्तुत कर दिये है। फिर इसके बाद उनका सस्कृत रूपातर और भी बोझिल

बन गया। पाइयसद्दमहण्णव के लेखक पं० हरगोविन्द दास सेठ ने इसकी जो सटीक आलोचना की है वह इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है।

"परन्तु खेद के साथ कहना पडता है कि इसमें कर्ता को सफलता की अपेक्षा निष्फलता ही अधिक मिली है और प्रकाशक के धन का अपव्यय ही विशेष हुआ है। सफलता न मिलने का कारण भी स्पष्ट है इस ग्रंथ को थोडे गौर से देखने पर यह सहज ही मालूम होता है कि इसके कर्ता को न तो प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था और न प्राकृत शब्दकोश के निर्माण की उतनी प्रबल इच्छा, जितनी जैन दर्शन शास्त्र और तर्कशास्त्र के विषय में अपने पांडित्य प्रख्यापन की धुन। इसी धुन ने अपने परिश्रम को योग्य दिशा में ले जाने वाली विवेक बुद्धि का भी ह्रास कर दिया है। यही कारण है कि इस कोश का निर्माण केवल ७५ से भी कम प्राकृत जैन पुस्तकों के ही, जिनमें अर्धमागधी के दर्शन विषयक ग्रंथों की बहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओं के तथा विभिन्न विषयों के अनेक जैन तथा जैनेतर ग्रंथों में एक का भी उपयोग नही किया गया है। इससे यह कोश व्यापक न होकर प्राकृत भाषा का एकदेशीय कोश हुआ है। इसके सिवा प्राकृत तथा संस्कृत ग्रंथों के विस्तृत अंशो को और कहीं-कहीं तो छोटे बडे सम्पूर्ण ग्रंथ को ही अवतरण के रूप उद्धृत करने के कारण[1] पृष्ठ संख्या में बहुत बडा होने पर भी, शब्द संख्या में ऊन ही नही, बल्कि आधारभूत ग्रंथों में आये हुए कई उपयुक्त शब्दों को छोड देने से और विशेषार्थहीन अतिदीर्घ सामासिक शब्दों की भर्ती से वास्तविक शब्द संख्या में यह कोश अति न्यून भी है। इतना ही नही, इस कोश में आदर्श पुस्तकों की, असावधानी की, और प्रेस की तो असंख्य अशुद्धियाँ हैं ही, प्राकृत भाषा के अज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली भूलों की भी कमी नही है और सबसे बढकर दोष इस कोश में यह है कि वाचस्पत्य, अनेकान्त जय पताका, अष्टक, रत्नाकरावतारिका आदि केवल संस्कृत के और जैन इतिहास जैसे केवल आधुनिक गुजराती ग्रंथों के संस्कृत और गुजराती शब्दों पर से कोरी निजी कल्पना से ही बनाये हुए प्राकृत शब्दों की इसमें खूब मिलावट की गयी है, जिससे इस कोश की प्रामाणिकता ही एकदम नष्ट हो गयी है। ये और अन्य अक्षम्य दोषों के कारण साधारण अभ्यासी के लिए इस कोश का उपयोग जितना भ्रामक और भयकर है, विद्वानों के लिए भी उतना ही क्लेशकर है।"[6]

अभिधान राजेन्द्र कोश के कोशकार विजय राजेन्द्र सूरि तथा संशोधक दीपविजय और यतीन्द्र विजय हैं। उनके अभिधान राजेन्द्र कोश के सन्दर्भ में सेठ की यह आलोचना निःसन्देह अर्थपूर्ण प्रतीत होती है। कोश के निर्माण की सार्थकता यहाँ पूरी नही हो सकी इसके बावजूद इस विशालकाय कोश को बिल्कुल निरर्थक भी नही कह सकते। जिस समय इस कोश का निर्माण हुआ है उस समय अर्धमागधी आगमों का प्रकाशन अधिक नही हुआ था और जो हुआ भी था वह सभी सुसंपादित

नही था। अनुसधाता को एक ही स्थान पर सम्बद्ध विषय की जानकारी मिल जाती है। इस दृष्टि से उसका विशेष उपयोग कहा जा सकता है।

विजयराजेन्द्रसूरि ने एक और कोश लिखा था जिसका नाम उन्होने शब्दाबुधि कोश रखा था परन्तु इसका प्रकाशन नही हो सका। इसमे लेखक ने अकारादि क्रम से प्राकृत शब्दो का सग्रह किया था और साथ ही सस्कृत और हिन्दी अनुवाद दिया था किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दो पर व्याख्या नही की गई।[5] यह कोश कदाचित् अधिक उपयोगी हो सकता था परन्तु न जाने आज वह पाडुलिपि के रूप मे कहा पडा होगा।

२ अर्धमागधीकोश

इस कोश के रचयिता मुनि रत्नचन्द्र लीम्वडी-सम्प्रदाय के स्थानकवासी साधु थे। उन्होने जैन-जैनेतर ग्रथो का अध्ययन कर बहुश्रुत व्यक्तित्व प्राप्त किया था। उनके द्वारा कुछ और भी ग्रथो की रचना हुई है जिनमे अजरामरस्तोत्र (स० १९६९), श्रावकव्रतपत्रिका (स० १९७०), कर्त्तव्यकौमुदी (स० १९७०), भावनाशतक (स० १९७२), रत्नधर्मालकार (स० १९७३), प्राकृत पाठमाला (स० १९८०), प्रस्तर रत्नावली (स० १९८१), जैनदर्शन मीमासा (स० १९८३), रेवतीदान समालोचना (स० १९९१), जैनसिद्धान्त कौमुदी (स० १९९४) — अर्धमागधी का सटीक व्याकरण प्रमुख है।

यह अर्धमागधी कोश मूलत गुजराती मे लिखा गया और उसका हिन्दी तथा अग्रेजी रूपातर प्रीतमलाल कच्छी आदि अन्य विद्वानो से कराया गया। इस कोश के रचने मे लेखक को मुनि उत्तमचद जी, उपाध्याय आत्माराम जी, मुनि माधवजी तथा मुनि देवचन्द्रजी का भी सहयोग मिला है। डॉ० वनारसीदास जी एव डॉ० वेलवेलकर ने भी इसमे सहयोग दिया। इन सभी विद्वानो के सहयोग से प्रस्तुत कोश इस रूप मे प्रकाशित हो सका है। डॉ० वूलर की विस्तृत प्रस्तावना और सरदारमल भडारी की विस्तृत अग्रेजी भूमिका के साथ यह कोश चार भागो मे इस प्रकार प्रकाशित हुआ।

भाग १	'अ' वर्ण	पृ० ५१२	प्रकाशन काल सन् १९२३
भाग २	'अ' से 'ण' वर्ण तक	पृ० १००२	,, ,, सन् १९२७
भाग ३	'त' से 'व' वर्ण तक	लगभग पृ० १०००,,	,, सन् १९२९
भाग ४	'भ' से ह वर्ण तक	पृ० १०१५ (परिशिष्ट सहित)	,, ,, सन् १९३२

इस प्रकार लगभग ३६०० पृष्ठो मे यह कोश समाप्त हो जाता है। इसे हम पच भाषा कोश कह सकते हैं क्योकि यह प्राकृत के साथ ही सस्कृत गुजराती हिन्दी और अग्रेजी भाषाओ मे रूपातरित हुआ है। लगभग सभी शब्दो के साथ यथावश्यक

मूल उद्धरणों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है। ये उद्धरण संक्षिप्त और उपयोगी हैं। उनमें अभिधान राजेन्द्र कोश जैसी बोझिलता नहीं दिखती। अभिधान राजेन्द्र कोश की अन्य कमियों को भी परिमार्जित करने का प्रयत्न किया गया है। इस कोश में आगम साहित्य तथा आगम से निकटत संबंध रखने वाले विशेषावश्यक भाष्य, पिंड, निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति आदि ग्रंथों का उपयोग किया गया है साथ ही शब्द के साथ उसका व्याकरण भी प्रस्तुत किया गया है। अर्धमागधी से अतिरिक्त प्राकृत बोलियों के शब्दों को भी इसमें कुछ स्थान दिया गया है। इसके चारों भागों में कुछ परम्परागत चित्र भी संयोजित कर दिये गये हैं जिनमें आवलिकाबद्ध विमान, आसन्, ऊर्ध्वलोक, उपशमश्रेणी, कनकावली, कृष्णराजी, कालचक्र, क्षपकश्रेणी, घन रज्जु, घनोदधि, १४ रत्न, चन्द्रमंडल, जम्बूद्वीप नक्षत्रमंडल, भरत, मेरू, लवणसमुद्र, लोक, विमाण आदि प्रमुख हैं। इस कोश का संपूर्ण नाम An Illustrated Ardha-Magadhi Dictionary है और इसका प्रकाशन S S Jaina Conference इन्दौर द्वारा हुआ है।

इस कोश के परिशिष्ट के रूप में सन् १९३८ में पंचम भाग भी प्रकाशित हुआ। इसमें अर्धमागधी, देशी तथा महाराष्ट्री शब्दों का संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं के अनुवाद के साथ संग्रह हुआ है। परन्तु उनका यहां व्याकरण नहीं दिया जा सका। यह भाग भी लगभग ९०० पृष्ठों का है।

मुनि रत्नचंद्र जी का यह संपूर्ण कोश छात्रों और शोधकों के लिए उद्धरण ग्रंथ-सा बन गया है। मुनिजी का जन्म सं० १९३६ वैशाख शुक्ल १२ गुरुवार को कच्छ के भारोरा नामक ग्राम में हुआ। आपका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में हुआ और सं० १९५३ में पत्नी की मृत्यु के बाद मुनि दीक्षा ले ली। इसके बाद उन्होंने संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और जीवन के उत्तरकाल में ग्रंथ-निर्माण का कार्य हाथ में लिया। वे शतावधानी भी थे और तपस्वी भी।

३ पाइय-सद्द-महण्णव

इस कोश के लेखक पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ का जन्म वि० सं० १९४५ में राधनपुर (गुजरात) में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत कुछ यशोविजय जैन पाठशाला, वाराणसी में हुई। यहीं रहकर उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा का अध्ययन किया। पं० बेचरदास डोसी उनके सहाध्यायी रहे हैं। दोनों विद्वान् पालि का अध्ययन करके श्रीलंका भी गये और बाद में वे संस्कृत, प्राकृत और गुजराती के प्राध्यापक के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। न्याय-व्याकरणतीर्थ होने के कारण जैन-जैनेतर दार्शनिक ग्रंथों का गहन अध्ययन हो चुका था। यशोविजय जैन ग्रंथमाला से उन्होंने अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों का संपादन भी किया। लगभग ५२ वर्ष की अवस्था में ही सं० १९९७ में वे कालकवलित हो

गये। अपने इस अल्पकाल मे ही उन्होने अनेक ग्रथो का कुशल सपादन और लेखन किया।

सेठजी के ग्रथो मे पाइयसद्दमहण्णव का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी रचना उन्होने सभवत अभिधानराजेन्द्रकोश की कमियो को दूर करने के लिए की। जैसा हम पीछे लिख चुके है, सेठजी ने उपर्युक्त ग्रथ की मार्मिक समीक्षा की और उसकी कमियो को दूर कर नये प्राकृत कोश की रचना का सकल्प किया। उन्होने स्वय लिखा है "इस तरह प्राकृत के विविधभेदो और विषयो के जैन तथा जैनेतर साहित्य के यथेष्ट शब्दो से सकलित, आवश्यक अवतरणो से युक्त, शुद्ध एव प्रामाणिक कोश का नितान्त अभाव बना ही रहा है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने अपने उक्त विचार को कार्यरूप मे परिणत करने का दृढ सकल्प किया और तदनुसार शीघ्र ही प्रयत्न भी शुरू कर दिया गया। जिसका फल प्रस्तुत कोश के रूप मे चौदह वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् आज पाठको के सामने उपस्थित है।"[६]

लेखक के इस कथन से यह स्पष्ट है कि कोश के तैयार करने मे उन्होने पर्याप्त समय और शक्ति लगायी। प्रकाशित सस्करणो को शुद्ध रूप मे अकित करने का एक दुष्कर कार्य था, जिसे उन्होने पूरा किया। इतना ही नही बल्कि उन्होने इस वृहत्काय कोश का सारा प्रकाशन-व्यय भी स्वय उठाया। कोशकार ने आधुनिक ढग से लगभग ५० पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जिसमे प्राकृत भाषाओ का इतिहास तथा भारतीय भाषाओ के विकास मे उनके योगदान की विशेष चर्चा की। इस ग्रथ के निर्माण मे उन्होने लगभग ३०० ग्रथो का उपयोग किया जो प्राय श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। लगभग प्रत्येक शब्द के साथ किसी ग्रथ का प्रमाण भी दिया गया है। इस दृष्टि से यह कोश अधिक उपयोगी हो सका है। एक शब्द के जितने सभावित अर्थ हो सकते है उनका भी कोशकार ने उल्लेख किया है। सदिग्ध पाठ को कोष्ठक मे प्रश्नचिह्न के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह व्यवस्था उनकी विद्वत्ता और सावधानता को सूचित करती है।

४ पुरातन-जैन-वाक्य-सूचि

प्रस्तुत ग्रथ के सम्पादक श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार प्राचीन जैन विद्या के प्रसिद्ध अनुसन्धाता रहे है। उन्होने वीर सेवा मदिर जैसे शोध-सस्थान और उसके अनेकान्त जैसे शोध-पत्र की स्थापना और उसका सम्यक् सचालन कर जैन विद्या के अनुसधान क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। श्री मुख्तार स्वय भी एक वरिष्ठ अनुसधाता रहे है। उन्होने अपनी अवस्था के लगभग ५० वर्ष इसी कार्य मे व्यतीत किये है। उनके ग्रथो मे स्वयभूस्तोत्र, स्तुति-विद्या, युक्त्यनुशासन, समीचीन धर्मशास्त्र, अध्यात्म, रहस्य, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, देवागम

स्तोत्र आदि संपादित और अनुवादित ग्रंथ तथा शताधिक शोध-निबंध शोधकों के लिए मार्गदर्शक बने हुए हैं।

पुरातन-जैन, वाक्य-सूचि वस्तुतः एक ढंग का कोशग्रंथ है, जिसमें ६४ मूलग्रंथों के पद्य-वाक्यों की अकारादिक्रम से सूचि है। इसी में ४८ टीकादि ग्रंथों में उद्धृत प्राकृत-पद्य भी संगृहीत कर दिये गये हैं। कुल मिलाकर पच्चीस हजार तीन सौ बावन प्राकृत-पद्यों की अनुक्रमणिका के रूप में इस ग्रंथ को तैयार किया गया है। इसके आधारभूत ग्रंथ विशेषतः दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। जहाँ तहाँ आचार्य 'उक्तंच' लिखकर अपने पूर्वाचार्यों के पद्यों का उल्लेख करते रहे हैं जिनका खोजना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ शोधकों के लिए अत्यधिक उपयोगी बन जाता है। इसके संपादन में डॉ० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानंद शास्त्री ने विशेष सहयोग दिया है। इसका प्रकाशन वीरसेवा मंदिर से सन् १९५० में हुआ। इस ग्रंथ की प्रस्तावना १६८ पृष्ठ की है, जिसमें मुख्तार सा० ने सम्बद्ध ग्रंथों और आचार्यों के समय और उनके योगदान पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया है।

५ जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह

इसका दो भागों में वीर सेवा मंदिर से प्रकाशन हुआ है। प्रथम भाग का संपादन पं० परमानंदजी के सहयोग से श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने सन् १९५४ में किया। इसमें संस्कृत प्राकृत भाषाओं के १७१ ग्रंथों की प्रशस्तियों का संकलन किया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इन प्रशस्तियों में संघ, गण, गच्छ, वंश, गुरुपरम्परा, स्थान, समय आदि का संकेत मिलता है। इस भाग में कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं जिनमें प्रशस्तिगत भौगोलिक नामों, संघों, गणों, गच्छों, स्थानों, राजाओं, राजमंत्रियों, विद्वानों, आचार्यों, भट्टारकों तथा श्रावक-श्राविकाओं के नाम की सूची को अकारादिक्रम से दिया गया है। पं० परमानंदजी द्वारा लिखित ११३ पृष्ठों की प्रस्तावना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह के दूसरे भाग के सम्पादक हैं पं० परमानंद शास्त्री जो जैनशोध क्षेत्र में इतिहास और साहित्य के सर्वमान्य विद्वान् हैं। आपने वीरसेवा मंदिर के अनेकान्त पत्र का लगभग प्रारंभ से ही सम्पादन का भार उठाया और शताधिक शोध निबन्धों को स्वयं लिखकर प्रकाशित किया। विद्वद् जगत् परमानंद जी की सूक्ष्मेक्षिका से भलीभांति परिचित है। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों का काल-निर्धारण किया एवं उनके कृतित्व व व्यक्तित्व पर असाधारण रूप से शोध-खोजकर प्रथमतः प्रकाश डाला। उनका एक नवीनतम ग्रंथ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास अपने वृहदाकार में देहली से प्रकाशित हुआ है, जो उनकी विद्वत्ता का परिचायक है।

इस द्वितीय भाग मे विशेष रूप से अपभ्रंश ग्रंथो की १२२ प्रशस्तिया दी गयी है, जो साहित्य और इतिहास के साथ ही सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाज पर अच्छा प्रकाश डालती है। इन प्रशस्तियो को हस्तलिखित ग्रंथो पर से उद्धृत किया गया है और अधिकाश अप्रकाशित ग्रंथो को ही सम्मिलित किया गया है। इसमे कुछ उपयोगी परिशिष्ट भी जोड दिए गये है जिनमे भौगोलिक ग्राम, नगर, नाम, सघ, गण, गच्छ, राजा आदि को अकारादिक्रम से रखा गया है। लगभग १५० पृष्ठ की सपादक की प्रस्तावना शोध की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रकाशन वीरसेवा मदिर, देहली से सन् १९६३ मे हुआ। एक अन्य प्रशस्ति सग्रह श्री के० भुजबली शास्त्री के सपादन मे जैन सिद्धान्त भवन आरा से वि० स० १९०९ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे शास्त्री जी ने ३९ ग्रथकारो की प्रशस्तिया दी है और साथ ही हिन्दी मे उनका सक्षिप्त साराश भी दिया है।

६ लेश्या-कोश

इसके सपादक श्री मोहनलाल बाठिया और श्रीचन्द चोरडिया है और इसके प्रकाशन-कार्य का गुरुतर भार श्री बाठिया ने उठाया है, जो कलकत्ता से सन् १९६६ मे प्रकाशित हुआ। ये दोनो विद्वान् जैनदर्शन और साहित्य के सशोधक रहे है। सम्पादको ने सपूर्ण जैन वाड्मय को सारभौमिक दशमलव वर्गीकरण पद्धति के अनुसार १०० वर्गो मे विभक्त किया और आवश्यकता के अनुसार उसे यत्र-तत्र परिवर्तित भी किया। मूल विषयो मे से अनेक विषयो के उपविषयो की भी सूचि इसमे सन्निहित है। इसके सम्पादन मे तीन बातो को आधार माना गया है—(१) पाठो का मिलान (२) विषय के उपविषयो का वर्गीकरण तथा (३) हिन्दी अनुवाद। मूल पाठ को स्पष्ट करने के लिए सम्पादको ने टीकाकारो का भी आधार लिया है। इस सकलन का काम आगम-ग्रथो तक ही सीमित रखा गया है। फिर भी सपादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के कार्य मे निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति, भाष्य आदि टीकाओ का तथा सिद्धान्त ग्रथो का भी यथास्थान उपयोग हुआ है। दिगम्बर ग्रथो का इसमे उल्लेख नही किया जा सका। सम्पादक ने दिगम्बर लेश्या कोश को पृथक् रूप से प्रकाशित करने का सुझाव दिया है। कोश-निर्माण मे ४३ ग्रथो का उपयोग किया गया है।

७ क्रिया-कोश

इसके भी सपादक श्री मोहनलाल बाठिया और श्री श्रीचन्द चोरडिया है और प्रकाशन किया है जैनदर्शन सीमिति कलकत्ता ने सन् १९६९ मे। श्री बाठिया जैनदर्शन के सूक्ष्म विद्वान् है। उन्होने जैन विषय-कोश की एक लम्बी परिकल्पना बनाई थी और उसी के अन्तर्गत यह द्वितीय कोश क्रिया-कोश के नाम से प्रसिद्ध

हुआ। इस कोश का भी सकलन दशमलव वर्गीकरण के आधार पर किया गया है और उनके उपविषयो की एक लम्बी सूची है। क्रिया के साथ ही कर्म विषयक सूचनाओ को भी इसमे अकित किया गया है। लेश्या-कोश के समान ही इस कोश के सम्पादन मे भी पूर्वोक्त तीन बातो का आधार लिया गया है। इसमे लगभग ४५ ग्रथो का उपयोग किया गया है, जो प्राय श्वेताम्बर आगम ग्रथ है। कुछ दिगम्बर आगमो का भी उपयोग किया गया है।

सपादक ने उक्त दोनो कोशो के अतिरिक्त पुद्गल-कोश, दिगम्बर-लेश्या कोश और परिभाषा कोश का भी सकलन किया था परन्तु अभी तक उनका प्रकाशन नही हो सका है। इस प्रकार के कोश जैनदर्शन को समुचित रूप से समझने के लिए नि सदेह उपयोगी होते हैं।

८ जैन जेम डिक्शनरी

Jaina Gem Dictionary का सपादन जैनदर्शन के मान्य विद्वान् जे० एल० जैनी ने सन् १९१९ मे किया था, जो आरा से प्रकाशित हुआ है। श्री जैनी ने Heart of Jainism जैसे अनेक ग्रथो को स्वतन्त्र रूप से तैयार किया और तत्वार्थ सूत्र जैसे मान्य ग्रथो का अग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। जैनधर्म को अग्रेजी के माध्यम से प्रस्तुत करने मे सी० आर० जैन और जे० एल० जैनी का नाम अविस्मरणीय रहेगा।

श्री जैनी का यह कोश जैन-पारिभाषिक शब्दो को समझने के लिए एक प्रस्थान ग्रथ कहा जा सकता है। भूमिका मे उन्होने स्वय लिखा है—"यह मुझे अनुभव हुआ कि एक ही जैन शब्द के विभिन्न अनुवादो मे विभिन्न अग्रेजी पर्याय प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे एकरूपता समाप्त हो जाती है और ग्रथो के जैनेतर-पाठको के मन मे दुविधा का कारण बन जाता है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय सोचा गया कि अत्यत महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दो को साथ रखा जाय और जैनदर्शन के आलोक मे सही अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाय। निश्चय ही इस तरह के कार्य को अतिम कहना उपयुक्त न होगा। यह उत्तम प्रयास है कि जैन पारिभाषिक शब्दो को वर्ण-क्रमानुसार नियोजित किया जाय और उनका अनुवाद अग्रेजी मे दिया जाय।"

इस कोश का आधार प० गोपालदास बरैया द्वारा रचित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रतीत होता है। एक अन्य कोश श्री बी० एल० जैन और श्री शीतल-प्रसाद जैन ने 'वृहज्जैन-शब्दार्णव' नाम से सन् १९२४ और १९३४ मे दो भागो मे बाराबकी से प्रकाशित किया था। इसी प्रकार का आनद सागरसूरि द्वारा लिखित "अल्पपरिचित-सैद्धान्तिक शब्दकोश' भाग १, सूरत से सन् १९५४ मे प्रकाशित हुआ था जिसमे जैन सैद्धातिक शब्दो को सक्षेप मे समझाया गया है।

९ जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश

इसके रचयिता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी है, जिन्होने लगभग २० वर्ष के सतत अध्ययन के फलस्वरूप इसे तैयार किया है। इसमे उन्होने जैन तत्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजे तथा राजवश, आगम, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय आदि से सम्बद्ध लगभग ६००० शब्दो तथा २१०० विषयो का सागोपाग विवेचन किया है। सम्पूर्ण सामग्री सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश मे लिखित प्राचीन जैन साहित्य के १०० से अधिक महत्त्वपूर्ण एव प्रामाणिक ग्रथो से मूल सदर्भो, उद्धरणो तथा हिन्दी अनुवाद के साथ सकलित की गयी है। इसमे अनेक महत्त्वपूर्ण सारणिया और रेखाचित्र भी जोड दिये गये हैं, जिससे विषय अधिक स्पष्ट होता गया। हर विषय को मूल शब्द के अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह ध्यान रखा गया है कि शब्द और विषय की प्रकृति के अनुसार उसके अर्थ, लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय-विस्तार, शका-समाधान व समन्वय आदि मे जो-जो और जितना-जितना अपेक्षित हो वह सब दिया जाय। प्रस्तुत शब्द कोश भारतीय ज्ञानपीठ से चार भागो मे ८ और १० प्वाइट मे प्रकाशित हुआ है। मुद्रण की दृष्टि से भी इसमे अन्य कोषो की अपेक्षा वैशिष्ट्य है। टाइप की भिन्नता से विषय की भिन्नता को पहिचाना जा सकता है। मूल उद्धरणो को दे देने से इस ग्रथ की उपयोगिता और अधिक बढ गयी है। वस्तुत यह सही अर्थ मे सदर्भ ग्रथ बन गया है। इसमे अधिकाश दिगम्बर ग्रथो का उपयोग किया गया हैं। इसके चार भाग इस प्रकार हैं

भाग १	'अ' से 'औ' वर्ण तक	पृष्ठ ५०४	प्रकाशन काल	सन् १९७०
भाग २	'क' से 'न' वर्ण तक	,, ६३४	,,	,, १९७१
भाग ३	'प' से 'व' वर्ण तक	,, ६३८	,,	,, १९७२
भाग ४	'स' से 'ह' वर्ण तक	,, ५४४	,,	,, १९७३

इतने छोटे टाइप मे मुद्रित २३२० पृष्ठ का यह महाकोश निस्सदेह वर्णी जी की सतत साधना का प्रतीक है। उनका जन्म १९२१ मे पानीपत मे हुआ। आपके पिता जयभगवान एडवोकेट जाने-माने विचारक और विद्वान् थे। आपकी जिजीविषा ने ही सन् १९३८ मे आपको क्षयरोग से बचाया तथा इसी कारण एक ही फेंफडे से आज भी अपनी साधना मे लगे हुए हैं। एम० इ० एस० जैसी उच्च उपाधि प्राप्त करने के बावजूद प्रवृत्ति पथ मे उनका मन नही रम सका और फलत १९५७ मे घर से सन्यास ले लिया और १९६३ मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। प्रकृति से अध्यवसायी, मृदु और निस्पृही वर्णीजी के कुछ अन्य ग्रथ भी प्रकाशित हुए हैं और हो रहे है, जिनमे शातिपथ-प्रदर्शक, नये दर्पण, जैन-सिद्धान्त-

शिक्षण, कर्म-सिद्धान्त, श्रद्धा-विन्दु, द्रव्य-विज्ञान, कुन्दकुन्द-दर्शन आदि ग्रथ उल्लेखनीय है।

१० जैनलक्षणावली

प्रस्तुत ग्रथ के सपादक प० वालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री है, जिन्होने अनेक कठिनाइयो के वावजूद इस ग्रथ का सपादन किया। उनका जन्म सं० १६६२ मे सोरड (झासी) मे हुआ और शिक्षा का वहुतर भाग स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी मे पूरा हुआ। सन् १६४० से लगातार साहित्यिक कार्य मे जुटे हुए है। डॉ० हीरालाल जी के साथ उन्होने पट्खण्डागम (धवला) के छह से सोलह भाग तक का सपादन और अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त जीवराज जैनग्रथमाला से आत्मानुशासन, पुण्याश्रव, कथाकोश, तिलोयपण्णत्ति और पद्मनन्दिपचविशतिका हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुए। लक्षणावली के अतिरिक्त वीर सेवा मदिर से ध्यानशतक भी विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हुआ है। आप मौन साधक और कर्मठ अध्येता है।

लक्षणावली एक जैन पारिभाषिक शब्दकोश है। इसमे लगभग ४०० दिगम्बर और श्वेताम्वर ग्रथो से ऐसे शब्दो का सकलन किया गया है, जिनकी कुछ न कुछ परिभाषा उपलब्ध होती है। सभी सम्प्रदायो मे प्राय ऐसे पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उन-उन ग्रथो का आश्रय लेना पडता है। जैनदर्शन के सदर्भ मे इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दकोश की आवश्यकता थी जो एक ही स्थान पर विकास-क्रम की दृष्टि से दार्शनिक परिभाषाओ को प्रस्तुत कर सके। इस कमी की पूर्ति लक्षणावली ने भलीभाति कर दी। इसमे परिभाषाओ के साथ ही सक्षिप्त हिन्दी अनुवाद भी कुछ भिन्न काटे टाइप मे दिया गया है। अनुवादित ग्रथ भाग का क्रम भी साथ मे अकित किया गया है। अनेक वर्षो के परिश्रम के वाद इस ग्रथ का मुद्रण हो पाया है। लगभग १०० पृष्ठो की शास्त्री जी द्वारा लिखित प्रस्तावना ने इसे और भी अधिक सार्थक वना दिया। श्री जुगलकिशोर मुख्तार और वावू छोटेलाल की स्मृतिपूर्वक इस ग्रथ का प्रकाशन हुआ है। अभी इसके दो भाग क्रमश १६७२ और १६७५ई० मे प्रकाशित हुए है जिनमे लगभग ७५० पृष्ठ मुद्रित है। तृतीय भाग मुद्रणाधीन है।

११ ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रापर नेम्स

A Dictionary of Prakrit Proper names का सकलन और सम्पादन डॉ० मोहनलाल मेहता और डॉ० के० आर० चन्द्र ने सयुक्त रूप मे किया है और एल० डी० इन्स्टीट्यूट, अहमदावाद ने उसे सन् १६७२ मे दो भागो मे प्रकाशित

किया है। डॉ० मेहता और डॉ० चन्द्र प्राकृत और जैन क्षेत्र के लिए अज्ञात नही। दोनो विद्वानो के अनेक शोधग्रथ और निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० मेहता के द्वारा लिखित ग्रथो मे प्रमुख है Jaina Psycholgy, Jaina Culture, Jaina Philosophy जैन आचार, जैन साहित्य का बृहद इतिहास, जैन-धर्म-दर्शन आदि। डॉ० चन्द्र ने विमलसूरि के पउमचरिय का अग्रेजी मे अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रकाशित हो चुका है। इन दोनो विद्वानो ने उपर्युक्त कोश की रचना डॉ० मलाल शेखर के "A Dictionary of Pali-Proper names के अनुकरण पर की है। जैन साहित्य, विशेषत आगमो मे उल्लिखित व्यक्तिगत नामो के सदर्भ मे यह कोश अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है।

१२ Jaina Bibliography . (Universal Encyclopaedia of Jain-References)

लगभग २५ वर्ष पहले बाबू छोटेलालजी ने एक Jaina Bibliography प्रकाशित की थी जो आज उपलब्ध नही है। वीर सेवा मदिर दिल्ली की ओर से एक और Jaina Bibliography प्रकाशित हो रही है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये के सपादन मे इसके लगभग दो हजार पृष्ठ मुद्रित हो चुके है। शेष भाग का कार्य डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, नागपुर कर रहे है। इस वर्ष के अत तक उसके सम्पूर्ण प्रकाशित हो जाने की आशा है। प्रस्तुत Bibliography मे देश-विदेश मे प्रकाशित ग्रथो और पत्रिकाओ से ऐसे सदर्भो को विषयानुसार एकत्रित किया गया है जिनमे जैनधर्म और सस्कृति से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की सामग्री प्रकाशित हुई है। इसमे निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत विषय सामग्री सकलित की गई है। Encyclopaedias, Dictionaries Bibliographies, gazetteers, Census Reports and guides, Historical and Archaeological accounts, Archaeology (including Museum), Archaeological Survey, History, Geography, Biography, Religion, Philosophy and Logic, Sociology, Ethnology, Educational statistics, Languages, Literature, general works इन समस्त शीर्षको को आठ विभागो मे विभाजित किया गया है। लगभग २०० पृष्ठो के word Index का प्रकाशन होना बाकी है। इस बृहदाकार ग्रथ मे देशी-विदेशी विद्वानो द्वारा लिखित लगभग ३००० पुस्तको और निबन्धो आदि का उपयोग किया गया है फिर भी कुछ आवश्यक सामग्री सकलित होने से रह गयी है। इसके बावजूद यह ग्रथ निर्विवाद रूप से प्राचीन भारतीय सस्कृति, विशेषत जैन सस्कृति के सशोधन के लिए अत्यत उपयोगी सन्दर्भ ग्रथ कहा जा सकता है।

१३. अन्य कोश

उपर्युक्त कोशो के अतिरिक्त कुछ और भी छोटे मोटे कोश जैन विद्वानों ने तैयार किये है। उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है। श्री बनारसी छगनलाल का 'जैन कक्को' अहमदाबाद मे सन् १८१२ मे प्रकाशित हुआ था, जिसमे प्राकृत शब्दों का गुजराती मे अनुवाद दिया गया था। इसी तरह एच० आर० कापडिया का English-Prakrit Dictionary के नाम से एक कोश सूरत मे सन् १९४१ मे प्रकाशित हुआ था। यहा हम डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर द्वारा संकलित और सम्पादित 'विद्वद्विनोदिनी' का भी उल्लेख कर सकते है, जिसमे उन्होंने संस्कृत, पालि, प्राकृत हिन्दी और गुजराती साहित्य मे उपलब्ध प्रहेलिकाओं का संग्रह किया है। इसका प्रकाशन अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया की ओर से सन् १९६८ मे हुआ था। इसमे संस्कृत, प्राकृत साहित्य मे उपलब्ध कुछ और भी प्रहेलिकाओं का संग्रह कर आकार को कुछ और भी बढाकर दिया जाता तो कदाचित् वह अधिक उपयोगी हो जाता।

इस प्रकार आधुनिक युग मे अनेक जैन विद्वानो ने विविध प्रकार के कोश-ग्रथो को तैयार किया, जो अध्येताओ के लिए अनेक प्रकार मे उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। यहा हमने कतिपय कोशग्रथो का ही उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-मोटे अनेक कोश ग्रथो की रचना जैन विद्वानो ने की होगी पर उनकी जानकारी हमे नही हो सकी। यहा विशेष रूप से ऐसे कोश-ग्रथो का उल्लेख किया गया है जिनका सबध प्राकृत और जैन साहित्य मे रहा है। संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, अग्रेजी आदि भाषाओ के जैन विद्वानो द्वारा लिखित कोश इस सीमा से बाहर रहे है। जैनग्रथ सूचियो को भी हमने जानबूझकर छोड दिया है क्योकि आधुनिक दृष्टि से वे कोशो की परिधि मे नही आती। हाँ, यदि हम कोश का संकीर्ण अर्थ न कर उसका प्रयोग विस्तृत अर्थ मे करें तो निस्संदेह कोशकार एव कोशग्रथो की एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है।

संदर्भ

१ अभिधान राजेन्द्रकोश, भूमिका, पृ० १३
२ वही।
३ जैसे 'चेइय' शब्द की व्याख्या मे प्रतिमा-शतक नामक सटीक संस्कृत ग्रथ को आदि से अत तक उद्धृत किया गया है। इस ग्रथ की श्लोक सख्या करीब पाच हजार है।
४ पाइयसद्दमहण्णव, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ० १३-१४
५. अभिधानराजेन्द्रकोश, भूमिका पृ० १३-१४
६ पाइयसद्दमहण्णव, भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ० १४
७ जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश, भाग १, प्रास्ताविक।

१९वीं २०वीं शताब्दी के जैन कोशकार और उनके कोशों का मूल्यांकन

डा० नेमीचन्द जैन

१ शब्दज्ञान की परम्परा, वैदिक युग से अविच्छिन्न चली आ रही है। 'निघण्टु' और 'निरुक्त' इसके स्पष्ट साक्ष्य है। शब्द और अर्थ रूढ सम्बन्धी है। अर्थ-बोध, अर्थ-निर्णय और अर्थ-सप्रेषण की समस्याए लेखक-पाठक तथा वक्ता-श्रोता के मध्य सदैव जीवन्त रही है। कोश-रचना की पृष्ठभूमि पर सम्यक् अर्थ-सप्रेषण का लक्ष्य ही सर्वत्र सक्रिय रहा है। सही अर्थ और सही सदर्भ खोजने के यत्न मे ही कोश बने है और उन पर भारतीय मनीषा ने अटूट वस्तुनिष्ठा से कार्य किया है। जैन कोश आज जिस रूप मे उपलब्ध हैं, वह रूप, पद्धति और परम्परा बहुत प्राचीन नही है, उसने उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी के आरभ मे ही आकार ग्रहण किया है। भारत मे अगरेजो के आगमन[1] (१६०० ई०) से इस तरह के विशिष्ट अध्ययन को प्रेरणा मिला। यद्यपि अगरेजो का भारतीय भाषाओ के अध्ययन का लक्ष्य आरभ से पवित्र नही था, क्योकि वस्तुत वे यहा के निवासियो की भाषाए सीखकर उनपर अपना साम्राज्यवादी पजा और अधिक दृढ करना चाहते थे, तथापि उनकी इस प्रवृत्ति के भी अन्ततोगत्वा बडे सुखद परिणाम निकले। हिन्दुस्तानी को लेकर अगरेजो ने कई शब्दकोश और शब्दसग्रह (डिक्शनरिया और व्होकेब्युलरिया) सपादित किए, किन्तु ये सब अगरेजी मे ही थे। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वे मे इस तरह के कोशो और शब्दावलियो की एक व्यापक तालिका दी है।[2] इस सूची मे अगरेजी मे तैयार कोश ही अधिक हैं, कहना चाहिए कि उन्नीसवी शताब्दी के आरभ होते ही अगरेजो का ध्यान इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर गया और उन्होने अपने प्रशासनिक सुभीतो के लिए उक्त प्रकार की शब्दावलिया बनाई। इस तरह तैयार कुछ व्यक्तिगत टीपे उपयोगी दस्तावेजो के रूप मे भी प्रकाशित हुई है।[3] कैप्टेन जोसेफ टेलर और

विलियम हंटर के नाम इस दृष्टि मे उल्लेख्य है। हिन्दी मे हिन्दीभाषा-कोश १८६२ ई० मे छपा।[४] सभवत सबसे पहला हिन्दीभाषा-कोश —जिसमे रोमन लिपि मे हिन्दी-अगरेजी, अगरेजी-हिन्दी शब्दार्थ दिए है (फर्गुसनकृत) अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे लदन से प्रकाशित हुआ[५] और तदनन्तर यह परम्परा लगभग अटूट चलती रही है। सन् १८९४ ई० मे 'श्रीधरभाषाकोश' प्रकाशित हुआ।[६] इसके चार वर्ष पूर्व 'अभिधान-राजेन्द्र' का सियाणा नगर मे सूत्रपात हो चुका था।[७] वैसे यूरोप मे कोश-रचना एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के साथ आरभ हुई।[८] इसके बाद यह परम्परा अविच्छिन्न बनी रही, जिसने आगे चलकर भारतीय कोश-परम्परा को प्रभावित किया। इस परम्परा मे हिन्दी मे कई विशिष्ट कोश बने। थिसारस (पर्याय-कोश) की परम्परा भारत मे नई नही है, किन्तु इधर आधुनिक पद्धति पर पर्याय-कोशो के क्षेत्र मे प्रशस्त प्रयत्न हुए है।[९] विख्यात हिन्दी-कोशकार स्व० रामचन्द्र वर्मा ने वर्षों पर्यायकी विज्ञान पर काम किया है। अगरेजो ने तो शब्दकोशो के क्षेत्र मे अद्वितीय काम किया है, उन्होने भारतीय चोर और दलाल-भाषाओ (आर्गट्स) तक के कोश बनाए हैं। ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वे मे इनकी चर्चा की है।[१०]

२ जैन कोश-परम्परा का आविर्भाव १९वी शताब्दी के नवें दशकान्त से मानना चाहिए। इस दृष्टि से 'अभिधान-राजेन्द्र' प्रथम मानक पूर्वज ठहरता है। इसके बाद कई कोश आए, किन्तु इतना बृहत् कोश नही बनाया जा सका। प्राकृत-अर्द्धमागधी के इस प्रथम पारिभाषिक शब्दकोश के आरभिक पृष्ठ हिन्दी मे है किन्तु शब्द-विवृतिया संस्कृत मे हैं।[११] प्रश्न उठ सकता है कि आखिर इतने शब्दकोशो की आवश्यकता ही क्यो हुई ? बात यह है कि किसी भी शब्द के कई प्रयोगार्थ हो सकते है। एक ही शब्द विभिन्न प्रकरणो और सदर्भो मे भिन्न-भिन्न अर्थ रख सकता है, वस्तुत शब्द की इस तरह से विकसित आर्थी छवियो और भगिमाओ को भली-भाति समझना अतीव दुष्कर कार्य है। शब्द-व्यक्तित्व कई-कई काल-पर्तों मे दबा रहता है। उसकी इन आर्थी विवक्षाओ को कोश की अनुपस्थिति से जानना कठिन ही होता है। कोश जब भी प्रकाश मे आता है अपनी पूर्ववर्ती साहित्य-सपदा को स्वीकार करता है। उसकी सामग्री का प्रधान स्रोत यही होता है। इसके बिना वह एक कदम भी आगे नही बढ सकता। इस तरह वह अपने पूर्व कालीन और समकालीन प्रयोगार्थो पर ही अवलम्बित रहता है। किसी कोश को शब्दो का एक व्यापक सूचीकरण मात्र मान लेना बहुत बडी भूल है, क्योकि शब्दो की तालिका देना कोश नही है, वस्तुत एक कोशकार को शब्द की अन्तरात्मा मे गहरे पैठना होता है और उसके अन्तर्मुख व्यक्तित्व के जाने-अजाने सारे अशो, मुद्राओ और भगिमाओ को देना होता है।

३ शब्दकोशो की अनुपस्थिति मे अर्थसप्रेषण लगभग असभव ही होता है,

इसीलिए विशिष्ट ज्ञान-क्षेत्रो मे विशिष्ट अध्ययन के निमित्त विशिष्ट शब्दकोशो की जो विषय-कोष ही होते है आवश्यकता बनी रहती है। जो अर्थविज्ञान के अध्येता है, वे अर्थ की जटिलताओ को भली-भाति जानते है, और इस तथ्य से परिचित होते है कि किसी भी शब्द का अर्थ सुस्थिर नही रहता, उसमे कमोवेश अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया सक्रिय रहती ही है। जो शब्द कल शाम तक एक विस्तृत अर्थ मे प्रयुक्त था, सभव है किसी पारिभाषिकता के कारण वही दूसरी शाम अपने अर्थ मे सीमित हो उठे। अर्थ-सकोच, अर्थ-विस्तार और अर्थ-परिवर्तन की कुछ प्रमुख दिशाए हैं। अर्थविज्ञान का क्षेत्र विभिन्न परिवर्तनो पर विचार करना है, किन्तु जहा तक धर्म या दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का सवाल है, वह रूढ होती है और उस पर अर्थ की परिवर्तनशीलता का मदगामी प्रभाव पडता है। कई ऐसे शब्द है, जो लोकव्यवहार मे कुछ और, विशिष्ट ज्ञानक्षेत्र मे कुछ अन्य अर्थ रखते है, उदाहरणत 'सधि', 'गुण', 'रस', 'वृद्धि', 'वासना', 'प्रयोग', 'योग', 'ग्राम', 'आगम', ऐसे शब्द है जो व्याकरण, राजनीति, आयुर्वेद, काव्य, पाकशास्त्र, गणित, विज्ञान इत्यादि मे एक और लोक मे उससे जुदा अर्थ रखते है। वास्तव मे शब्द के सम्यग्ज्ञान के बिना कई गलतफहमिया होना सभव है।[२२] कई बार धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे यही हुआ है। इस दृष्टि से जैन दर्शन के शब्दो का अध्ययन हुआ है। उसके कई शब्द अन्य भारतीय दर्शनो मे प्रयुक्त शब्दार्थ से भिन्न है, यथा—'धर्म', 'आकाश', 'उपयोग', 'अणु', 'आरभ', 'उल्लेखना', 'सम्यक्', 'अनुप्रेक्षा', 'शिक्षा'। अत आवश्यक है कि ऐसे शब्दो की कालानुक्रमिक आर्थी मुद्राओ को स्पष्ट रूप मे व्याख्यापित किया जाए। एक कोशकार ही यह कार्य कर सकता है, वह वस्तुनिष्ठा से शब्दार्थ-अध्ययन करता है। वह शब्दार्थों का सकलयिता या सपादक होता है, अपनी ओर से न तो वह कोई अतिरजन करता है, और न ही अतिरिक्त प्रवेश। वह तो तथ्यो को ज्यो-का-त्यो प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति, विश्वसनीय और प्रामाणिक होता है, इसलिए शब्दकोशो और कोशकारो का समाज को जो बहुमूल्य प्रदेय है, उसके प्रति अपार कृतज्ञता व्यक्त किये बगैर कोई विकल्प हमारे पास नही है।

४ आधुनिक पद्धति पर जैन कोशो की रचना का कार्य उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशको मे शुरू हुआ, किंतु प्रकाशन बीसवी शताब्दी के पहले दशक मे ही सभव हो सका। 'अभिधान-राजेन्द्र' सकलित १८९० ई० से १९०३ ई० के मध्य हुआ, किन्तु उसका प्रकाशन-कार्य १९१० ई० से पहले शुरू नही हो सका। इस कोश के सपादन-सकलन से पूर्व ही अगरेज भारत मे पूरी तरह स्थापित हो चुके थे, स्वभावत इस पर अंग्रेजी कोश-पद्धति का प्रभाव है। यह कहना तो कठिन ही होगा कि राजेन्द्रसूरीश्वर और उनके सहयोगी कोशकार अगरेजी जानते थे, किन्तु यह सच है कि जो लोग कोश के प्रकाशन-सहयोग मे तत्पर थे, वे अगरेजी भाषा

और साहित्य के किसी-न-किसी रूप मे जुडे हुए थे। वैसे 'अभिधान-राजेन्द्र' स्वय मे परिपूर्ण कोश नही है, उसकी भी अपनी सीमाए और विवशताए है, किन्तु वह उस तक हुए प्रयत्नो मे सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। एक तो वह सस्कृत मे है, स्वभावत इस कारण उसकी व्याप्ति सीमित हो गई है, दूसरे वह उद्धरणो और साक्ष्यो मे भरा पडा है। श्री शाह ने जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ५ मे लिखा है कि कही-कही तो अवतरणो मे पूरे ग्रन्थ तक दे दिये है'।[२३] जो हो वह महाकोश अद्वितीय है और जैन तथा प्राच्य विद्या का एक बहुमूल्य सदर्भ है। इसमे प्रथम भाग के आरभ मे दिये गये ३ परिशिष्टो[२४] मे प्राकृत मे सबधित व्याकरणिक सामग्री सयोजित है। इसी तरह उपोद्घात[२५] मे भी कई तथ्यो को योजित किया गया है। "आवश्यक कतिपय सकेत" शीर्षक से सहयोगी कोशकार उपाध्याय श्रीमोहनविजयजी ने प्रस्तावना मे कई आवश्यक और उपयोगी विषयो पर प्रकाश डाला है[२६]। इस पर रोमनलिपि मे 'जैन एन्सायक्लोपीडिया' छापा गया है। वस्तुत 'डिक्शनरी' और 'एन्सायक्लोपीडिया' मे अन्तर है। एक विश्वकोश और शब्दकोश मे सबसे बडा अन्तर यह है कि विश्वकोश मे विविध शीर्षको के अन्तर्गत व्यापक जानकारियो का आकलन होता है, जबकि एक शब्दकोश मे शब्द-विवृतिया ही होती है[२७]। इस दृष्टि से हम 'अभिधान राजेन्द्र' या उससे मिलते-जुलते कोशो के लिए एक नया अभिधान 'विश्वकोशीय शब्दकोश (एन्सायक्लोपीडिक डिक्शनरी) चुन सकते हैं। इसमे शीर्षक और शब्द दोनो विवृत है।

५ वस्तुत आधुनिक पद्धति से जैन कोशो की सकलना का कार्य १८९० ई० से आरभ हुआ। 'अभिधान-राजेन्द्र' को इस क्षेत्र मे हुए प्रयत्नो मे मानक और सर्वप्रथम माना जा सकता है। इसके बाद जे० एल० जैनी की 'जैन जेम डिक्शनरी १९१८ ई० मे प्रकाश मे आयी। इसकी भी अपनी सीमाए है, स्वय श्री जैन ने इसे अन्तिम नही माना है। उसमे श्री जैनी ने पारिभाषिक शब्दो के अगरेजी-पर्याय-शब्दो मे एकरूपता रखने की बात कही है[२८] क्योकि उनका अनुभव है कि इन पारिभाषिक या लाक्षणिक शब्दो के अनेक अंग्रेजी पर्याय रखने से पाठक या अध्येता द्विविधा मे फस जाता है, अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक तो ऐसे पर्याय-शब्दो का उपयोग किया जाए जो बहुअर्थी न हो और दूसरे सर्वसम्मत हो। श्री जैनी के कोश के बाद १९२३ई०-१९३२ ई० की कालावधि मे श्रीरत्नचन्द्रजी शतावधानी द्वारा पाच भागो मे सपादित 'एन इलस्ट्रेटेड अर्धमागधी डिक्शनरी' नामक कोश प्रकाशित हुआ। इसकी भी अपनी सीमाए है, समीक्षक मानते है कि इसमे कई पर्याय शब्द और कई आर्थी विवक्षाए स्पष्ट नही है। वही अगरेजी-पर्याय-शब्दो की एकरूपता की समस्या यहा भी बनी हुई है। असल मे अगरेजी-पर्याय देनेवाली डिक्शनरियो की यह सीमा तब तक रहेगी जबतक हम एक सर्वसम्मत सस्कृत-प्राकृत अर्द्धमागधी-हिन्दी-अगरेजी पर्याय शब्दकोश का प्रकाशन नही कर लेते। इसके लिए

किसी विशिष्ट विद्वन्मडल को योजनाबद्ध कार्य करना चाहिये। इसके बाद १६२४ ई०-१६३४ ई० की समयावधि मे श्री बी० एल० जैन द्वारा आबद्ध और श्री शीतलप्रसादजी द्वारा समाप्त 'बृहज्जैन शब्दार्णव' (२ भाग) प्रकाशित हुआ।[२६] यह काफी उपयोगी कोश है। और यदि एक ही व्यक्ति की निष्ठा और लगन का परिणाम है तो सचमुच विस्मयजनक है। इसके बाद १६५४ ई० मे आनन्दसूरि का 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश, भाग १' प्रकाशित हुआ, जिसमे जैन सैद्धान्तिक शब्दो को हिन्दी मे दिया गया है। इस कोश की अपनी जुदा किस्म की उपयोगिता है।

६ इन कोशो के बाद —जो अपने लक्ष्य मे व्यापक और उदार थे— १६६६ ई० मे कलकत्ता से एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रयत्न हुआ। बाठिया और चोरडिया बन्धुओ ने विषय-कोशो की व्यापक परिकल्पना की। उन्होने जैन विषयो की एक बृहद् तालिका तैयार की और उसे दाशमिक पद्धति पर व्यवस्थित किया।[३०] जैन कोशो के क्षेत्र मे यह एक वैज्ञानिक आरभ था, किन्तु इस प्रयत्न के अन्तर्गत प्रकाशित 'क्रियाकोश, १६६६' के उपरान्त इसके सबन्ध मे कोई समाचार नही मिला। उक्त योजना को मात्र जैन-कोश-विज्ञान ही नही वरन् सपूर्ण कोश-विज्ञान के क्षेत्र की एक अपूर्व घटना कहा जाना चाहिये। यद्यपि 'लेश्या-कोश' के सामग्री स्रोत विशुद्ध श्वेताम्बर ग्रन्थ है तथापि पद्धति की दृष्टि से इस कोश का प्रकाशन एक ऐतिहासिक प्रसग है। इससे दिशा ग्रहण कर अधिक वैज्ञानिक कार्य किया जा सकता है। वस्तुत विषय-कोशो की रचना का कार्य एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे एक बडे पैमाने पर उठाया जाना चाहिए। इसके बाद १६७० ई० मे 'जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इस कोश का मेरुदण्ड प० गोपाल दास बरैया प्रणीत 'जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका (१६०० ई०) है।[३१] बरैयाजी की यह गुटकानुमा पुस्तक एक किस्म की 'जेबी एन्सायक्लोपीडिक डिक्शनरी' ही है, जिसमे जैन सिद्धान्तो को सक्षेप मे प्रस्तुत किया गया है। असल मे इस तरह की जेबी डिक्शनरियो का सकलन-सपादन भी युगापेक्षित है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' अपने नाम से ही एक पारिभाषिक शब्दकोश है, जिसमे सदर्भित विषयो को बडे विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। 'अभिधान-राजेन्द्र' के उपरान्त यह उसी शृखला का एक महत्त्वपूर्ण लाक्षणिक शब्दकोश है। इसके सकलयिता है क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी। इसके तीन और भाग क्रमश १६७१, १६७२ और १६७३ मे प्रकाशित हुए है। इसके बाद जैन सिद्धान्तो को कोश के रूप मे प्रस्तुत करने वाला एक कोश वीर सेवा मदिर, दिल्ली ने प्रकाशित किया है। इसका प्रथम भाग १६७२ और द्वितीय १६७३ मे प्रकाशित हुआ है। 'जैन लक्षणावली' अपने पूर्ववर्ती पारिभाषिक शब्द-कोशो से अधिक सार्थक, सफल और वैज्ञानिक है। यह इतनी समस्त है कि इसने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' की पगडडियो पर चलकर सक्षेप या सारणियो के रूप मे

विषयो की पुनरावृत्तिया नही की है। हिन्दी अनुवाद सटीक और चुने हुए हिस्सो के ही दिये गये है। लक्षणावली मे दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो के सामग्री-स्रोतो का यथासभव उपयोग और दोहन किया गया है। इसके परिशिष्ट[२२] पर्याप्त उपयोगी है, जिनके अन्तर्गत ग्रन्थ, ग्रन्थकार, और कालानुक्रम से अनुक्रमणिकाए दी गयी है। विद्वान् कोशकार हैं बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। एल० डी० इस्टीट्यूट ऑफ इडोलोजी द्वारा 'लक्षणावली' के समानान्तर वर्षो मे प्रकाशित 'प्राकृत व्यक्ति वाचक सज्ञा कोश'[२३] भी एक महत्त्वपूर्ण सदर्भ है। यह अग्रेजी मे है, और श्वेताम्बर सामग्री-स्रोतो पर आधृत है। इसकी सकलना मे प्रकाशित-अप्रकाशित सभी प्राकृत ग्रन्थो का उपयोग किया गया है। सकलनकर्त्ता हैं डा० मोहनलाल मेहता और ऋषभ के० चन्द्रा। 'श्रमण' मासिक वाराणसी ने जनवरी १९७६ के अक मे 'जैनागम-पदानुक्रम' कोश का प्रकाशन आरभ किया है। इसके सपादक है डॉ० मोहनलाल मेहता, जमनालाल जैन।[२४]

आगम-शोध-कार्य के वाचना-प्रमुख आचार्य श्री तुलसी तथा सपादक और विवेचक, आगममूर्ति मुनि श्री नथमलजी के निर्देशन मे जैन आगम कोश निर्माणाधीन है। इसमे शब्दो के साथ-साथ आगम-ग्रन्थो के सन्दर्भ भी रहेगे। छह आगमो का कार्य सपन्न हो चुका है। यह जैन विश्व भारती, लाडणू द्वारा प्रकाश्य है।

७ नीचे प्रकाशन-वर्ष-क्रम से कोशो तथा कोशकारो की सारणी प्रस्तुत है

वर्ष	कोश-नाम	भाग		कोशकार	प्रकाशक
+१९१३	अभिधानराजेन्द्र	१	७	राजेन्द्रसूरि	श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय, रतलाम
१९१८	जैन जैम डिक्शनरी			जे० एल० जैनी	आरा
१९२३	एन इलस्ट्रेटेड अर्द्धमागधी डिक्शनरी (१९२३-३२)	१	५	रतनचन्द्रजी शतावधानी	अजमेर-बबई
१९२४	वृहज्जैन शब्दार्णव (१९२४-३४)	१, २		बी० एल० जैन और शीतलप्रसाद	बाराबकी-सूरत
१९५४	अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश		१	आनन्दसागरसूरि	सूरत

+ इस कोश का सपादन १८९० ई० में आरम्भ हुआ और समापन १९०३ ई० मे। इसका प्रथम भाग १९१३ और द्वितीय १९१० मे प्रकाशित हुआ, सपूर्ण कोश १९१० से १९३४ ई० की समयावधि मे प्रकाशित हुआ। राजेन्द्रसूरिजी ने १८९९ ई० मे 'पाइयसद्दबुहि' का सपादन भी किया था, जो अप्रकाशित है।

१९६६	लेश्याकोश		मोहनलाल बाठिया श्रीचन्द चोरडिया	१६ सी डोवर लेन कलकत्ता-९
१९६९	क्रियाकोश		,, ,,	,, ,,
१९७०	जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (१९७०-७३)	१-४	क्षु० जिनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली-१
१९७०	ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रॉपर नेम्स (१९७०-७२)	१ २	मोहनलाल मेहता के० रिषभ चन्द्रा	एल० डी० इस्टीट्यूट आफ इडोलोजी, अहमदाबाद-९
*१९७२	जैन लक्षणावली (१९७२-७३)	१ २	बालचन्द सि०शा०	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली-६
+१९७५	जैनागम-पदानुक्रम		मोहनलाल मेहता जमना लाल जैन	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान वाराणसी-५

८ आगे अधोलिखित कोशों का सक्षिप्त परिचय एव मूल्याकन दिया जा रहा है

(क) **अभिधानराजेन्द्र**, ७ भाग राजेन्द्रसूरि अभिधान-राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम १९१०-१९३४।

(ख) **लेश्याकोश** मोहनलाल बाठिया, श्रीचन्द चोरडिया १६ सी डोवर लेन, कलकत्ता-९ १९६६।

(ग) **जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश**, ४ भाग क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४५/४७, कनाट प्लेस, नयी दिल्ली-१ १९७०-१९७३।

(घ) **ए डिक्शनरी ऑफ प्रॉपर नेम्स**, २ भाग मोहनलाल मेहता, के रिषभ चन्द्रा एल०डी० इस्टीट्यूट आफ इडोलॉजी, अहमदाबाद-९ १९७०-१९७२।

* इसके २ भाग प्रकाशित हो चुके हैं, एक प्रकाश्य है।

\+ यह पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के तत्त्वावधान मे प्रकाशित शोध मासिक 'श्रमण' के जनवरी १९७५ से प्रकाशित है। अक्तूबर १९७६ के अक तक ('अवाहिरिय' शब्द तक) इसका प्रकाशन हुआ है। 'धारावाहिक कोश-प्रकाशन' की दिशा में यह एक स्वस्थ प्रयोग है। नवम्बर, दिसम्बर १९७६ के अकों में इसका प्रकाशन नहीं हुआ है।

(घ) जैनलक्षणावली, २ भाग बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली-६ १९७२-१९७३।

९ **अभिधानराजेन्द्र** यह १९वी शताब्दी के अन्त मे सपादित प्राकृत-मागधी शब्दो का एक बृहद् मानक कोश है, जिसकी शब्द-विवृत्तिया सस्कृत मे है और प्राथमिक जानकारिया हिन्दी मे दी गई है। जब यह कोश अपने सकलन-सपादन के दौर मे गुजर रहा था तब हिन्दी शब्दकोशो की परम्परा का आरम्भ हुआ-हुआ ही था। हिन्दी मे भी उन्नीसवी शताब्दी मे कोश के लिए 'अभिधान' पर्याय प्रयुक्त था। श्रीधरभाषाकोष (१८९४ ई०) की भूमिका मे एक वाक्य आया है "एक भाषा का अभिधान लिखना समयानुसार उचित है'[२५]। प्रसन्नता की बात है कि 'अभिधान-राजेन्द्र' की प्रस्तावना हिन्दी भाषा मे लिखी गयी है।[२६] आभारप्रदर्शन, ग्रन्थकर्ता का परिचय, आवश्यक कतिपय सकेत इत्यादि भी हिन्दी मे ही दिये गये है। इसमे इस तथ्य की सूचना नही है कि प्रस्तावना कब लिखी गयी किन्तु लगभग तय ही है कि यह बीसवी शताब्दी के प्रथम दशकारम्भ मे कभी लिखी गयी है। इससे ऐसा लगता है कि तब तक हिन्दी मे कोश-रचना की परम्परा इतनी प्रशस्त नही हो पायी थी कि 'अभिधान-राजेन्द्र' जैसे महाकोश को वह झेल पाती, इसलिए सभवत इसकी रचना हिन्दी की अपेक्षा सस्कृत मे हुई है, सभव है और भी कारण रहे हो किन्तु प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है। लगता है मुद्रण-सबधी या सपादन सबधी किसी कारण से भी ऐसा हुआ हो। कोई धार्मिक कारण भी हो सकता है। प्रकाशन सबधी एक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि इसका द्वितीय भाग प्रथम की अपेक्षा ज्येष्ठ है प्रथम १९२३ ई० और द्वितीय १९१० मे प्रकाशित हुआ है। सभव है इस घटना की पृष्ठभूमि पर कोई सपादन या मुद्रण-सबधी कठिनाई रही हो। इस महाकोश का सम्पादन श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि द्वारा सियाणा (राजस्थान) मे आश्विन शुक्ल २, वि० स० १९४६ मे हुआ और १४ वर्षो के अविश्रान्त परिश्रम के बाद चैत्रशुक्ल १३, वि० स० १९६० को सूरत, गुजरात मे समापन सम्पन्न हुआ। यह ७ बृहद् जिल्दो मे प्रकाशित एक विशाल कोश है। महाकोश-काल की हिन्दी कैसी थी, इसका एक नमूना ग्रन्थकर्त्ता की जीवनी से प्रस्तुत है "श्रीविजयरत्नसूरिजी' महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी मे न बैठे, परन्तु 'लघुक्षमासूरिजी' वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओ की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति कायम रखी कि गाम मे आते समय पालखी से उतर जाते थे, तदन्तर 'दयासूरिजी' तो गाव नगर मे भी बैठने लगे।''[२७] इस हिन्दी-शैली की तुलना 'श्रीधरभाषाकोष' की भूमिका के अन्तिम अश से करे "प्रकट हो कि सिवाय मेरे उक्त कोष गोवर्द्धन उपनाम मान त्रिपाठि कान्यकुब्ज निवासी की दूकान नजीराबाद शहर लखनऊ मे भी ग्राहक जनो को मूल्य प्रेषित करने पर प्राप्त हो सकेगा।[२८]

'अभिधानराजेन्द्र' के संबंध मे अन्य उपयोगी तथ्य इस प्रकार है कोशकर्त्ता श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि (१८२७ ई० १९०६ ई०) है, जो श्वेताम्बर समाज के त्रिस्तुतिक वर्ग के एक क्रान्तिनिष्ठ साधु थे। ये सौधर्मबृहत्तपागच्छीय आचार्य-परम्परा मे ६७वे आचार्य थे जिन्होने उक्त कोश के अलावा सन् १८९९ मे 'पाइयसद्दंबुद्धि' की रचना भी की थी और तत्कालीन यतियो मे व्याप्त शिथिलाचार के विरुद्ध एक व्यापक सुधारवादी क्रान्ति की। प्रस्तुत कोश सुपर रायल १४ २५ सेंटीमीटर चौडे और ३५ सेंटीमीटर लम्बे आकार मे छपा हुआ है। इसके मुद्रण मे २६ पाइंट ग्रेट न० १ और १२ पॉ० पैका न० १ का उपयोग हुआ है। इसमे तीन प्राचीन भाषाए प्रयुक्त हैं प्राकृत, अर्द्धमागधी, सस्कृत। शब्द प्राकृत-अर्द्धमागधी के है और शब्दविवृत्तिया सस्कृत मे। इसकी रचना मे प्रयुक्त सदर्भ ग्रन्थो की सख्या ९७ है और विवृत शब्द ६० हजार हैं। इस महाकोश के सबध मे तत्कालीन भारतीय विद्वानो ने ही नही अपितु विदेशी विद्वानो ने भूरि-भूरि प्रशसा की है। जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है "यह विश्वकोश एक सदर्भ-ग्रन्थ की भाति तथा जैन प्राकृत के अध्ययन के निमित्त अतीव मूल्यवान है।" प्रो० सिल्वा लेवी, आर० एल० टर्नर जैसे भाषाशास्त्रियो ने भी इस कोश की उन्मुक्त प्रशसा की है। इस कोश का ऐसा कोई परवर्ती कोश नही है, जिसने इसका उपयोग न किया हो। यद्यपि इसकी सकलना मे श्वेताम्बर सामग्री-स्रोतो का ही उपयोग हुआ है तथापि कोशकार की दृष्टि व्यापक और उदार है। कोश के रूपाकार पर एक विहगम दृष्टि इस प्रकार सभव है

भाग	प्रकाशन-वर्ष	पृष्ठसख्या	विवृत शब्दक्रम
प्रथम	१९१३	१४४+८९३	अ अहोहिय
द्वितीय	१९१०	११८७	आ—ऊहापन्नत
तृतीय	१९१४	१६३३+१	ए— छोह
चतुर्थ	१९१३	१४०४	ज नोमालिया
पचम	१९२१	१६२७	प भोल
षष्ठम	१९३४	१४६८	म व्रासु
सप्तम	१९३४	१२५२	श ह्व
७	२४	९३३९	अ—ह्व ६०,०००

ग्रन्थ की कतिपय विशेषताए इस प्रकार हैं

१ यह १९वी शताब्दी का सर्वप्रथम मानक पारिभाषिक कोश है, जो जैन विद्या का एक समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। जैन प्राकृत-अर्द्धमागधी पारिभाषिक शब्दो के लिए तो यह एकमेव सदर्भ है।

२ इसका सपादन १९वी शताब्दी के अन्त तक विकसित कोशपद्धति के अनुसार तो हुआ ही है, भारतीय कोश-परम्परा का भी इसमे समावेश और निर्वाह हुआ है।

३ साधनो के कम होते हुए और जैन ग्रन्थो के मुद्रित रूप मे उपलब्ध न होते हुए भी इसकी सकलना जैन ग्रन्थागारो मे उपलब्ध पाडुलिपियो के माध्यम से हुई है। निश्चय ही इसकी सकलना मे अपार श्रम हुआ है, दुर्लभ सामग्री-स्रोतो के दोहन की दृष्टि से इस महाकोश ने एक अप्रतिम कीर्तिमान स्थापित किया है।

४ जैन साधु कितने अध्ययनशील होते है, श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि ने यतियो मे से शिथिलाचार समाप्त करने के लिए महाकोश की सकलना का किस तरह का उपयोग किया कि उनका समकालीन यति वर्ग उनके साथ इस काम मे प्राणपण से जुट गया, किस तरह यातायात और सचार-साधनो की कमी के वावजूद धर्मसाधना करते हुए जैन साधुओ ने इस महान् कार्य को सफलतापूर्वक सपन्न किया, प्रस्तुत कोश इस सबका एक सर्वोत्तम प्रामाणिक दस्तावेज है।

१० लेश्याकोश यह जैन वाङ्मय का श्वेतावर सामग्री-स्रोतो पर आधृत सर्वप्रथम विषय-कोश है। यद्यपि कोशकारो की योजना है कि वे दिगम्बर सामग्री-स्रोतो पर आधारित एक अन्य लेश्या-कोश सपादित करें, तथापि उनकी इस परिकल्पना ने अभी कोई आकार ग्रहण नही किया है। प्रस्तुत कोश जैन कोश-विज्ञान के क्षेत्र मे एक ऐतिहासिक आरभ है। समग्र कोश वैज्ञानिक विधि से सपादित है, इसीलिए इसे हम केवल लेश्या-सबधी शब्दो की विवरणिका नही कहेगे, वरन् एक ठोस कोश-रचना का अभिधान देगे। विद्वान् कोशकारो ने प्रस्तावना मे कोश-रचना पद्धति मेथाडोलोजी पर भी विशद प्रकाश डाला है। सपूर्ण योजना, जिसके अन्तर्गत कई महत्त्वाकाक्षी सकल्प घोषित है, भारतीय कोश-रचना के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण देन है। कोशकारो के शब्दो मे "लेश्या-कोश हमारी कोश-परिकल्पना का परीक्षण ट्रायल है, अत इसमे प्रथमानुभव की अनेक त्रुटिया हो तो कोई आश्चर्य की वात नही है।"[९]

प्रस्तुत कोश एक विशिष्ट कोश है। इन दिनो तीन प्रकार के कोश सामने आये है (१) विषय-कोश, (२) ग्रन्थ-कोश, (३) ग्रन्थकार-कोश। कोश-सपादको ने अनुसधित्सुओ और अध्येताओ की उन कठिनाइयो का भी ध्यान रखा है, जो किसी विषय के गहन अध्ययन अनुसधान मे व्यवधान उत्पन्न करती है। उन्होने इस तरह के दो-तीन सस्मरण भी प्रस्तावना मे दिये है।[१०] वैसे कोशकारो ने विशिष्ट पारिभाषिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक विषयो की एक व्यापक सूची वनायी थी और तदनुसार १००० विषय भी चुने थे, किन्तु वाद मे इस तालिका

को सीमित कर लिया गया और कुल १०० विषय ही निश्चित कर लिये गये। इन्हे विवृति के लिए दार्शनिक पद्धति से योजित किया गया है। सकलना मे तीन बातो का विशेष ध्यान रखा गया है—पाठो का मिलान, विषय के उपविषयो का वर्गीकरण हिन्दी-अनुवाद। इन सावधानियो से कोश अधिक उपयोगी बन गया है। प्रस्तावना केवल 'लेश्या-कोश' के अनुभवो और कोशकारो की प्रयोगधर्मिता का ही विवरण नही है, अपितु इसके द्वारा कोशकारो ने अपनी सपूर्ण योजना (प्रोजेक्ट) को भी प्रस्तुत कर दिया है। वस्तुत उक्त कोश के सपादन मे कोशकारो का दृष्टिकोण सुस्पष्ट, निर्भ्रान्त और वैज्ञानिक है। जैन विद्या के क्षेत्र मे यह पहला कोश है, जिसने दार्शनिक पद्धति से विषयो का वर्गीकरण प्रतिपादन किया है। कोश-रचना की प्रक्रिया वैज्ञानिक, प्रयोगधर्मी और समीचीन तो है ही, रोचक और सुविधाजनक भी है। कोश १९६६ ई० मे प्रकाशित हुआ है। सपादक परम्परावादी नही हैं, प्रयोगधर्मी है। कोश रायल आकार मे मुद्रित है, इसमे कुल ४० + २९६ = ३३६ पृष्ठ है। आरभ मे एक सार्थक प्रस्तावना है, जिसमे कोशकारो ने कोश की उपादेयता, पद्धति, प्रक्रिया और उपयोगिता पर प्रकाश डाला है, साथ ही उस परिकल्पना को भी स्पष्ट किया है जो कोश की जननशीलता जेनरेटिव्हनेस का द्योतक है। इस तरह यह कोश एक पडाव है, अन्तिम गन्तव्य नही है। मूलत कोशकारो की एक बृहत् योजना है, प्रस्तुत कोश जिसकी एक नगण्य किस्त है। प्रस्तावना से लगा हुआ श्री नथमल टाटिया का प्राक्कथन है, जिसमे उन्होने कोश की उपयोगिता और उसकी विशिष्टताओ का उल्लेख किया है। हीराकुमारी बोथरा ने आमुख लिखा है, जिसमे अनेक सभावनाओ, योजनाओ और परिकल्पनाओ को दिया गया है। आमुख का व्यक्तित्व समीक्षात्मक है। कुल मिलाकर 'लेश्या-कोश' एक ऐसा सदर्भग्रन्थ है, जिसने न केवल जैनविद्या अपितु प्राच्यविद्या को भी अलकृत समृद्ध किया है। इसी श्रृखला मे १९६९ ई० मे 'क्रियाकोश' प्रकाशित हुआ है, किन्तु इसके बाद क्या हुआ, वह अविदित है।

११ **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश** इसे भारतीय ज्ञानपीठ जैसी विख्यात प्रकाशन सस्था ने ४ भागो मे प्रकाशित किया है। १९७० ई० —१९७३ ई० की मध्यावधि मे प्रतिवर्ष इसका एक भाग प्रकाश मे आता रहा है। कोश मे जैन तत्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, इतिहास, पुराण, तत्सबधी व्यक्ति, राजे-राजवश, आगम, शास्त्र, शास्त्रकार, धर्म और दर्शन के विविध सप्रदाय इत्यादि से सबन्धित ६००० शब्दो और २१,००० विषयो का सागोपाग विवेचन किया गया है। विद्वान् सपादक क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी और उनकी सहयोगी ब्र० कु० कौशल ने इसकी सकलना मे अपरपार परिश्रम किया है। इसमे सकलित सामग्री १०० से अधिक ग्रन्थो से सदोहित है। आरभ मे सपादकीय है, फिर प्रास्ताविक और सकेत-सूची। प्रास्ताविक मे शब्दसकलन और विषय-विवेचन मे अनुसृत पद्धति पर प्रकाश डाला

गया है, इसी मे सारणियो, चित्रो और मुद्रणाक्षरो के सबन्ध मे भी विवरण दिये गये है। कोश मे सारणियो द्वारा विषय सक्षेप मे रूपरेखात्मक शैली मे प्रस्तुत किये है तथा हिन्दी-अनुवाद भी दिये गये हैं। प्रधान सपादकीय मे कोश की परिकल्पना की एक इतिहासिक झलक दी गयी है, कहा गया है कि इस ग्रन्थ का मूल आधार १९०९ ई० मे प्रकाशित स्व० प० गोपालदास वरैया कृत 'जैनसिद्धान्त प्रवेशिका' है। यह कोश द्रव्य, करण, चरण और प्रथमानुयोगो के अन्तर्गत परिगणित विषयो—व्यक्तियो की वर्णक्रमानुसार विवेचना करने वाला एक बहुमूल्य वृहत् कोश है। इसके रूपाकार पर एक विहगम दृष्टि इस प्रकार सभव है

भाग	प्रकाशन-वर्ष	शब्दक्रम	पृष्ठ
प्रथम	१९७०	अ औ	५०३
द्वितीय	१९७१	क न	६३४
तृतीय	१९७२	प—व	६३७
चतुर्थ	१९८३	श ह	५४४
४	४ वर्ष	अ ह	२३१८

१२ **ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रॉपर नेम्स** अगरेजी यह भी एक विशिष्ट कोश है, जिसे एल० डी० इस्टीट्यूट ऑफ इडोलोजी, अहमदाबाद जैसी यशस्विनी सस्था ने दो भागो मे प्रकाशित किया है। पहला भाग १९७० ई० और दूसरा १९७२ ई० मे प्रकाश मे आया है। यह भी प्राच्यविद्या के क्षेत्र का एक अप्रतिम सदर्भग्रन्थ है। दोनो भागो मे १०१४ पृष्ठ है और ८,००० व्यक्तिवाचक पदो को विवृत किया गया है। सस्था के निदेशक प० दलसुख मालवणिया ने अपने प्राक्कथन मे कहा है कि इसकी मूल प्रेरणा 'वैदिक इडेक्स' और "डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स" से मिली है। यद्यपि "वैदिक इडेक्स" और "पालि प्रापर नेम्स" को तैयार करना इसलिए सरल-सहज था कि इनके सारे सामग्री-स्रोत लगभग प्रकाश मे आ चुके थे किन्तु प्राकृत के लगभग अधिकाश ग्रन्थ अप्रकाशित ही है, अत सपादको को अनेक पाडुलिपियो से अपना न्यास जुटाना पडा है। इसमे केवल श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो से ही पदो का चयन किया गया है तथा आगममूलो के अलावा प्रकाशित टीकाओ निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो से भी सामग्री आकलित की गयी है। कोश-सपादन मे केवल एक दो व्यक्तियो ने नही वरन् एक पूरे विद्वन्मण्डल ने काम किया है। कार्ड-विवरण तैयार हो जाने के बाद डा० मेहता और डा० चन्द्रा ने कोश को अन्तिम रूप दिया है। प्राक्कथन यद्यपि बडा नही है, किन्तु उसमे प्राय सभी महत्वपूर्ण मुद्दो पर प्रकाश डाल दिया गया है। कोश के प्रथम भाग मे अडड से फेणमालिणी तथा द्वितीय मे बउस से होलिया तक पद सकलित है, दोनो मे कुल १०१४ पृष्ठ है और अन्त मे एक शब्दानुक्रमणिका

है। इस तरह इस्टीट्यूट का यह प्रदेय "लेश्या-कोश" की भॉति ही एक बहुमूल्य प्रदेय है।

१३. **जैनलक्षणावली :** अब तक इसके दो भाग प्रकाश मे आये हैं, तीसरा प्रस्तावित अथवा मुद्रणाधीन है। 'जैनलक्षणावली" एक पारिभाषिक शब्दकोश है। इसके प्रथम भाग मे अ औ और द्वितीय मे ककत्रशील पौष्णकाल तक सकलित और व्याख्यायित हैं। प्रथम भाग के आरम्भ मे प्राक्कथन अगरेजी, दो शब्द, प्रस्तावना, प्राकृत शब्दो की विकृति वा उनका रूपान्तर इत्यादि हैं, लक्षणावली मे कुल ७३० पृष्ठ है, जिनमे से प्रथम भाग मे १—३१२ और द्वितीय मे ३१६—३७० है। प्रस्तावना मे विद्वान् कोशकार ने "जैन लक्षणावली" की उपादेयता, उपयोगिता, उसमे स्वीकृत पद्धति, उपयुक्त ग्रन्थो के परिचय, लक्षण वैशिष्ट्य के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दो की बहुविध भगिमाओ पर विचार इत्यादि है। ग्रन्थान्त मे उपयुक्त ग्रन्थो की एक सागोपाग विवरणयुक्त अनुक्रमणिका है, जिसमे ३५१ ग्रन्थ विवृत हैं। इसके तुरन्त बाद ग्रन्यकारानुक्रमणिका है, जिसमे १३७ ग्रन्यकारो के विवरण है, तदनन्तर कालानुक्रम से ग्रन्थकारानुक्रमणिका दी गयी है। इस तरह इन तीनो अनुक्रमणिकाओ मे महत्त्व की सामग्री सयोजित है। सपादकीय मे "जैनलक्षणावली" की परिकल्पना पर प्रकाश डाला गया है। उक्त कोश मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर सप्रदायो के लगभग ४०० प्राकृत एव सस्कृत ग्रन्थो से पारिभाषिक शब्दो की प्रामाणिक सकलना की गयी है। "लक्षणावली", इस तरह, न केवल जैन विद्या वरन् सपूर्ण प्राच्य जगत् का एक महत्त्वपूर्ण सदर्भ ग्रन्थ बन पडा है। इसकी परिकल्पना १९३६ ई० मे की गई थी, किन्तु आकार १९७२ ई० मे दिया जा सका। कोशकार ने जिस अन्त प्रेरणा से कार्य किया है, वह है, कि "अब तक श्वेताम्बर ग्रन्थो के आधार अर्द्धमागधी और प्राकृत शब्दकोश थे, किन्तु ऐसा कोई कोश नही था, जिसमे दोनो सप्रदायो के प्रमुख सामग्री-स्रोतो का उपयोग करते हुए किसी कोश की रचना की गई हो, प्रस्तुत कोश मे दोनो साप्रदायिक स्रोतो का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत कोश की प्रमुख विशेषता यह है कि न तो यह विशालकाय है और न ही इसमे अधिक जटिलताए है, हिन्दी-अनुवाद भी किसी एक चुने हुए अश का, जो अधिक असदिग्ध और सार्थक दिखायी दिया है, किया गया है। कोशकार ने अपने पूर्ववर्ती कोशकारो के अनुभवो का अच्छा उपयोग किया हैं, यही कारण है कि यह कोश अन्य कोशो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, सुबोध और उपयोगी है।

१४ उक्त अध्ययन के बाद, जिसमे प्रमुख जैन कोश और कोशकार मूल्याकित हैं, हम नीचे उन सभावनाओ पर विचार कर रहे है, जिन्हे मूर्त्त रूप दिया जा सकता है। कोशो को हम मुख्यत ४ कोटियो मे विभाजित कर सकते है १—शब्दकोश, २ विषय-कोश, ३ ग्रन्थ-कोश, ४ ग्रन्थकार-कोश। अभी

जैन विद्या के क्षेत्र मे शब्द और विषय-कोश ही अधिक प्रकाश मे आये है, ग्रन्थकोश और ग्रन्थकार-कोश नही ही है। विषय-कोशो के अन्तर्गत लेश्या-कोश और क्रिया-कोश उल्लेखनीय है। इनके द्वारा एक वैज्ञानिक परम्परा का सूत्रपात हुआ है, जिसे किसी भी स्थिति मे अक्षुण्ण- अविच्छिन्न रखना चाहिए। अद्यतन जो भी कोश निर्मित हुए है, वे लाक्षणिक यानी पारिभाषिक ही है, किन्तु इस लीक से हटकर किसी अन्य परम्परा का विकास हम नही कर पाये है। अगरेजी, और अब हिन्दी मे भी, ग्रन्थ एव ग्रन्थकार-कोशो की निर्मिति की ओर कोशकारो का ध्यान गया है। अगरेजी मे शेक्सपीअर इत्यादि पर पृथक् कोश है, कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो पर भी अलग से कोश प्रकाशित हुए है। हिन्दी मे तुलसी, सूरदास इत्यादि पर अलग से स्वतन्त्र कोश सपादित हुए है। प्रसाद-कोश, सूरब्रज-कोश इसी तरह के कोश है। जैनवाड्मय के क्षेत्र मे भी अब इस तरह के ग्रन्थकोश और ग्रन्थकारकोश बनाये जाने चाहिये। ---कुन्दकुन्दाचार्य पर स्वतन्त्र कोश बनाया जा सकता है, इसी प्रकार विभिन्न आगमसूत्रो पर अलग-अलग कोश-सकलनाए सभव है। इससे अध्येताओ और अनुसधानकर्ताओ को अध्ययन की सुविधाए उपलब्ध हो सकेगी।

१५ इस दृष्टि से ऐसे ग्रन्थो की एक बृहत्तालिका बनायी जाए, जो बडे है, महत्त्व के है, और जिनका स्वतन्त्र अध्ययन आवश्यक है। इनमे धवला, महाधवला, समयसार, मोक्षशास्त्र, महापुराण इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनके आविर्भाव से ग्रन्थो के अन्तर्मुख अध्ययन के द्वार खुल जाएगे और कोश-रचना के क्षेत्र मे कुछ नये क्षितिज उद्घाटित हो सकेगे।

१६ ग्रन्थकार-कोशो की दृष्टि से कुछ ऐसे ग्रन्थकारो, जिनमे विभिन्न आचार्य तो होगे ही, को चुना जाए जिनका जैन विद्या के क्षेत्र मे विपुल प्रदेय है। प्राचीन मध्य और आधुनिक युगो मे चुने गये इन ग्रन्थकारो की शब्दसपदाओ के स्वतन्त्र सकलन, अध्ययन और सपादन होने चाहिये, जिनमे शब्द-विवृत्तियाँ तो हो ही सम्बन्धित पात्रो, स्थानो, प्रवृत्तियो, पारिभाषिक शब्दो इत्यादि की भी जानकारियाँ हो। जहाँ-जहाँ जैन चेयर स्थापित हुई हैं, वहाँ-वहाँ इस-इस तरह की योजनाओ को हाथ मे लिया जाना चाहिए, ग्रन्थकोशो और ग्रन्थकारकोशो के माध्यम से तुलनात्मक अध्ययन के नये क्षितिज उजागर होंगे और अनुसधान को प्रोत्साहन मिलेगा।

१७ इनके अलावा कुछ तुलनात्मक कोश भी बनाये जाने चाहिये। उदाहरणत श्वेताम्बर और दिगम्बर सप्रदायो के साम्य और अ-साम्य पर आधारित कुछ वस्तून्मुख और वैज्ञानिक कोश बनने चाहिये। इससे जहाँ एक ओर दोनो सप्रदायो के मध्य एक सेतु स्थापित हो सकेगा, वही दूसरी ओर विशिष्ट अध्ययनो के लिए नयी सभावनाए भी जन्म ले सकेगी। ऐसे कोश विशुद्ध वस्तुनिष्ठा के साथ तैयार होने चाहिये, जिनमे अतिरजन, अनुरजन, या तथ्यो को दावने की हीन

प्रवृत्ति को कोई महत्त्व न दिया गया हो। विशुद्ध तथ्यान्वेषणा की दृष्टि से ही ऐसी योजनाओ का सूत्रपात किया जाना चाहिये।

१८ जिस तरह १९०९ ई० मे प० गोपालदास वरैया की 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका" प्रकाशित हुई उससे कही अधिक वैज्ञानिक विधि से कुछ "जेबी विश्वकोशीय कोश" प्रकाशित होने चाहिये। ये कोश आकार मे लघु हो, किन्तु इनकी प्रामाणिकता और पूर्णता असदिग्ध हो। अग्रेजी मे 'एब्रिज्ड" कोशो की परम्परा है, हम भी इस तरह की परम्परा का श्रीगणेश कर सकते हैं। ये जेबी कोश सभी कोटि के हो सकते हैं शब्दकोश, विषय-कोश, ग्रन्थ-कोश, ग्रन्थकार-कोश, । इस तरह के लोकप्रिय कोशो के प्रकाशन की योजनाओ को मूर्तरूप देते समय बडे उत्तरदायित्व की भावना से काम करना चाहिये, वस्तुत एक बारह मासी कोश-विभाग ही किसी जैन शोध सस्थान मे स्थापित करना चाहिये, जिसमे कोश-सकलन, सपादन, सशोधन, परिवर्धन के अलावा कोई काम हो ही नही।

१९ भारत से बाहर कई देशो मे कोश-निर्माण को बडी गभीरता से लिया जाता है। कई ऐसे कोश हैं जिनके सपादन के लिए योग्य सपादक नियुक्त है, जो आगामी सस्करणो की तैयारी मे लगे रहते है। ये सपादक अधुनातन प्रकाशनो का अध्ययन करते है और जो भी शब्दसपदा उन्हे सकलनीय दिखाई देती है, उस पर उत्तरदायी भावना से विचार करते हैं और फिर उसे भावी सस्करणो मे स्थान देते हैं। ऐसे शब्दो को जो अप्रयुक्त होते है, नये सस्करणो मे से निकाल लिया जाता है। लेखक को विश्वास है कि किसी सस्था अथवा विश्वविद्यालय के जैन विद्या विभाग मे एक ऐसी शाखा स्थापित होगी, जो सतत कोश-रचना का अध्ययन करेगी और एक ऐसा सर्वसम्मत मानक कोश प्रकाशित करेगी, जिसके अभिनव सस्करणो की जैन विद्या जगत् को बराबर प्रतीक्षा बनी रहे। यदि हम कर सके तो यह एक अप्रतिम और अविस्मरणीय कार्य होगा।

सदर्भ

1 Linguistic Survey of India, vol ix, part i G A Grierson Summary of important dates, p 11
2 Ibid Section ii, pp 16-27
3 Ibid p 18
4 Ibid p 25 Baiju Das, Baba, Bibek Kosh (A Hindi Dictionary in Hindi) Bankipore, 1892
5 Ibid p 17, London 1773
६ श्रीधरभाषाकोष प० श्रीधर त्रिपाठी नजीराबाद, लखनऊ १८९४।
७ कोशकला रामचन्द्र वर्मा साहित्यरत्न-माला कार्यालय, २० धर्मकूप, वाराणसी १९४८।

८ पालिकोससंगहो डा० भागचन्द्र जैन भास्कर आलोक प्रकाशन, गांधीचौक, सदर, नागपुर १९७४
९ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५ प० अम्बालाल प्रे० शाह पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५ १९६९।
१० अभिधानराजेन्द्र राजेन्द्रसूरि श्री अभिधान-राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम १९१०-भाग १-७-१९३४।
११ लेश्याकोश मोहनलाल वाठिया, श्रीचन्द्र चोरडिया, १६-सी, डोवर लेन, कलकत्ता-९ १९६६।
१२ जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १-४ जिनेन्द्र वर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली १९७० १९७३।
१३ जैनलक्षणावली, भाग १-२ बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली १९७२ १९७३।
१४ वृहत् पर्यायवाची कोश भोलानाथ तिवारी किताब महल प्रा० लिमि०, ५६ ए जीरो रोड, इलाहाबाद प्र० १९५४, द्वि० १९६२।
१५ 'तीर्थंकर' मासिक, इन्दौर राजेन्द्रसूरीश्वर विशेषांक हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कालोनी, कनाडिया रोड, इन्दौर-१ जून-जुलाई १९७५।
१६ शब्दार्थ-दर्शन रामचन्द्र वर्मा रचना प्रकाशन, इलाहाबाद १९६८।
१७ Dictionaries Kenneth whittaker Asia Publishing House, Bombay 1966
१८ Linguistic Survey of India, vol ix part i G A Grierson Motilal Benarasidas, Delhi 1916, reprint 1963
१९ Prakrit Proper, Part i & ii , compiled by Mohan lal Mehta, K Rishbhachandra L D Institute of Indology, Ahmedabad-9 1970, 1972.

शब्दकोश की प्राचीन पद्धति

मुनि दुलहराज

जैन आगम साहित्य मे द्वादशागी का प्रथम स्थान है। आयारो, सूयगडो आदि अग हैं। बारहवा अग है दृष्टिवाद। चौदह पूर्व इसी के अन्तर्गत हैं। सत्यप्रवाद और विद्याप्रवाद ये दो पूर्व शब्दो के अनुशासन से सबधित हैं। जब तक पूर्वधर रहे, तब तक अन्य शब्दानुशासन की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। काल के प्रवाह मे दृष्टिवाद की परपरा लुप्त हो गई। केवल ग्यारह अग शेष रहे। वे लिपिबद्ध नही थे। वह प्रवचन-काल था। सारा ज्ञान प्रवचन के माध्यम से सुरक्षित रखा जाता था। गुरु-शिष्य की परपरा सुदृढ थी। काल बीतता गया। आगम-युग का अन्त हुआ। आगमो को समझना-समझाना दुरूह-सा होने लगा। अत व्याख्या-साहित्य लिखा जाने लगा। प्राकृत भाषा चल ही रही थी। लोग इसको समझते थे। आचार्यों ने प्राकृत भाषा मे निर्युक्तिया और भाष्य लिखे।

प्राकृत के युग का दीप टिमटिमा रहा था। आगम की प्राकृत-व्याख्याए समझना भी कष्टसाध्य हो गया। सस्कृत का युग प्रारम्भ हो रहा था। कतिपय आचार्यों ने प्राकृत और सस्कृत इन दो भाषाओ का मिश्रण कर चूर्णि-साहित्य रचा।

उस समय तक कोश की परपरा नही थी। आगमो के साथ ही साथ शब्द-ज्ञान भी करा दिया जाता था। किन्तु जब ऐसे आचार्यो की परपरा विलुप्त हो गई तब कोश या व्याकरण को अलग से सिखाने की आवश्यकता महसूस हुई।

जैन परपरा मे चूर्णिकाल तक कोश-ज्ञान के लिए अलग ग्रन्थो का निर्माण नही हुआ था। चूर्णिकार व्याख्या के साथ-साथ शिष्य को पर्यायवाची शब्दो का भी ज्ञान करा देते थे। शिष्य को पर्यायवाची शब्दो के लिए अन्यत्र भटकना नही पडता था। यह एक बात है।

दूसरी बात है कि जैन आगम अर्धमागधी प्राकृत मे लिखे गए हैं। इन सबका लिपिकाल है भगवान् महावीर के निर्वाण की दसवी शताब्दी का अन्त। अर्धमागधी प्राकृत मे अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण है—यह विद्वत्-सम्मत तथ्य है। जैन श्रमणो का विहार भारतवर्ष के विभिन्न अचलो मे होता रहा। विभिन्न प्रदेशो के मुमुक्षु जैन श्रमण बने। उनकी अपनी बोली थी। भगवान् महावीर के प्रवचनो की मूल भाषा मे उन बोलियो के शब्द मिश्रित होते गए। हजारों-हजारो शब्द आगम साहित्य मे आ गए। उन स्थलो की व्याख्या करते समय बहुश्रुत आचार्य शब्दो के पर्यायवाची शब्द देते गए। इसका तात्पर्य है कि वे विभिन्न पर्यायवाची शब्दो के माध्यम से विभिन्न बोलियो के शब्द प्रस्तुत कर तद्-तद्-देशीय श्रमणो की जिज्ञासाओं को समाहित करते गए। उन नानादेशीय शब्दों को एकार्थक कह कर सकलन कर दिया जाता था। इसे शब्दकोश के निर्माण का प्रारभिक रूप माना जा सकता है।

माना जाता है कि लगभग एक हजार शब्दकोश निर्मित हुए हैं। प्रकाश मे आनेवाला सबसे पहला संस्कृत शब्दकोश है अमर कोश। इससे पूर्व कोई शब्द-कोश प्रकाशित नही हुआ था। विभिन्न ग्रन्थो मे विभिन्न कोशो के उद्धरण प्राप्त होते हैं किन्तु उनका समग्र रूप आज अप्राप्त है। वे कभी प्रचलित रहे होगे, किन्तु आज वे लुप्तप्राय है।

जैन परपरा मे शब्दकोश का मूल आगम-साहित्य, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि मे उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र मे कोश की उत्पत्ति के विषय मे सुन्दर चर्चा प्रस्तुत है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा 'भते ! क्या ये नौ पद एकार्थक, नाना घोष और नाना व्यंजन वाले है अथवा अनेकार्थक, नानाघोष और नाना व्यजन वाले हैं?

भगवान् महावीर ने कहा 'गौतम ! इनमे से प्रथम चार पद एकार्थक, नानाघोष और नानाव्यजन वाले हैं और शेष पाच पद अनेकार्थक, नानाघोष और नानाव्यजन वाले है।'

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने इस विषय मे चार विकल्प प्रस्तुत किए है

१. एकार्थक, एक व्यजन वाले यथा क्षीर क्षीर, आदि।
२ एकार्थक, अनेक व्यजन वाले यथा क्षीर, पय आदि।
३ अनेकार्थक, अनेक व्यजन वाले—यथा अर्कक्षीर, गव्यक्षीर, महिषक्षीर आदि।
४ नानार्थक, नाना व्यजन वाले यथा घट, पट, लकुट आदि।

इनमे दूसरा और चौथा विकल्प कोश की उत्पत्ति का मूल है।

चलमान चलित, उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित और प्रहीयमाण

प्रहीण ये चार पद उत्पाद-पर्याय की अपेक्षा से एकार्थक, नानाघोष और नाना-व्यजन वाले हैं।

छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, म्रियमाण मृत और निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण ये पाच पद विनाश की अपेक्षा से नानार्थ, नानाघोष और नाना व्यजन वाले हैं। इनका नानार्थ इस प्रकार है

- छिद्यमान छिन्न यह कर्मों के स्थिति-बध की अपेक्षा से है। इसमे स्थिति का विनाश है।
- भिद्यमान भिन्न---यह कर्मों के अनुभाग-बध की अपेक्षा से है। इसमे अनुभाग का विनाश है।
- दह्यमान दग्ध यह कर्मों के प्रदेश-बध की अपेक्षा से है। इसमे प्रदेश का विनाश है।
- म्रियमाण मृत यह कर्मों के आयुष्य-बध की अपेक्षा से है। इसमे आयुष्य का विनाश है।
- निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण यह कर्मों के समग्र अभाव की अपेक्षा से है।

जीव के अभिवचन भगवती सूत्र मे 'जीव' शब्द के अनेक अभिवचन एकार्थ शब्द बतलाए है, जैसे

जीवे (जीव), पाणे (प्राण), भूए (भूत), सत्ते (सत्त्व), विण्णू (विज्ञ), जेया (जेता), आया (आत्मा), रगण (रगण), हिंडुए (हिंडुक), पोग्गले (पुद्गल), माणवे (मानव), कत्ता (कर्ता), विकत्ता (विकर्त्ता), जतू (जन्तु), जोणी (योनि), सयभू (स्वयभू), ससरीरी (सशरीरी), नायए (नायक), अतरप्पा (अन्तरात्मा) आदि।[1]

आकाश के अभिवचन आगासे (आकाश), गगणे (गगन), नभे (नभ), समे (सम), विसमे (विषम), खहे (ख), विहे (विह), वीथी (वीथि), विवरे (विवर), अबरे (अम्बर), छिड्डे (छिद्र), मग्गे (मार्ग), विमुहे (विमुख), आधारे (आधार), वोमे (व्योम), भायणे (भाजन), अतलिक्खे (अतरिक्ष), अगमे (अगम), फलिहे (स्फटिक, परिघ), अणते (अनन्त) आदि।[2]

क्रोध के एकार्थक शब्द कोहे (क्रोध), कोवे (कोप), रोसे (रोष), दोसे (दोष), अखमा (अक्षमा), सजलणे (सज्वलन), कलहे (कलह), चडिक्के (चाडिक्य), भडणे (भडन), विवादे (विवाद)।[3]

मान के एकार्थक शब्द माणे (मान), मदे (मद), दप्पे (दर्प), थभे (स्तम्भ), गव्वे (गर्व), अत्तुक्कोसे (अत्युत्कर्ष), परपरिवाए (परपरिवाद), उक्कोसे (उत्कर्ष), अवक्कोसे (अपकर्ष), उण्णते (उन्नत), उण्णामे (उन्नमन), दुण्णामे (दुर्नाम)।[4]

माया के एकार्थक शब्द---माया (माया), उवही (उपधि), नियडी (निकृति),

वलए (वलय), गहणे (गहन), णूमे (णूम), कक्के (कल्क), कुरुए (कुरुक), जिम्हे (जिम्ह), किव्विसे (किल्विष), आयरणया (आदरण), गूहणया (गूहन), वचणया (वचन), पलिउंचणया (परिकुंचन) सातिजोगे (साचियोग)।[1]

लोभ के एकार्थक शब्द— लोभे (लोभ), इच्छा (इच्छा), मुच्छा (मूर्च्छा), कंखा (कांक्षा), गेही (गृद्धि), तण्हा (तृष्णा), भिज्झा (भिध्या), अभिज्झा (अभिध्या), आसासणया (आश्वासन), पत्थणया (प्रार्थना), लालप्पणया, (लालपन) कामासा (कामाशा), भोगासा (भोगाशा), जीवियासा (जीविताशा), मरणासा (मरणाशा), नंदिरागे (नंदिराग)।[6]

प्रश्नव्याकरण दसवा अग है। इसमे भी एकार्थक शब्दो का अनेक स्थलो पर निर्देश हुआ है। वहा प्राणवध (हिंसा) के तीस पर्याय नाम बताए हैं। उनमे से कुछेक ये है

अवीसंभो (अविश्रंभ), अकिच्च (अकृत्य), घायणा (घातन), मारणा (मारण), वहणा (वध), उद्दवणा (उद्रवण), मच्चू (मृत्यु), असंजमो (असयम), दुग्गतिप्पवाओ (दुर्गतिप्रपात), पावकोवो (पापकोप), पावलोभो (पापलोभ), वज्जो (वर्ज्य), आदि।[7]

इसी सूत्र मे असत्य के तीस नाम गिनाए है। उनमे से कुछेक ये हैं

अलिय (अलीक), सठ (शठ), अणज्ज (अनार्य), कक्कणा (कल्कन), वचणा (वचना), साती (साचि), अट्ट (आर्त्त), अब्भक्खाण (अभ्याख्यान), किव्विस (किल्विष), अप्पच्चओ (अप्रत्यय), असमओ (असमय), नूम (नूम), आदि-आदि।[8]

अब्रह्मचर्य के तीस नामो मे से कुछेक ये है

अंबभ (अब्रह्म), मेहुण (मैथुन), संकप्पो (संकल्प), दप्पो (दर्प), मोहो (मोह), मणसंखोभो (मन संक्षोभ), अणिग्गहो (अनिग्रह), विब्भमो (विभ्रम), अधम्मो (अधर्म), वेर (वैर), रहस्स (रहस्य), कामगुणो (कामगुण)।[9]

परिग्रह के तीस नामो मे से कुछेक ये है

परिग्गहो (परिग्रह), संचयो (संचय), चयो (चय), उवचयो (उपचय), निहाण (निधान), दव्वसारो (द्रव्यसार), महिच्छा (महेच्छा), कलिकरडो (कलिकरंड), अणत्थो (अनर्थ), संथवो (संस्तव), अमुत्ती (अमुक्ति), तण्हा (तृष्णा), आसत्ती (आसक्ति), असंतोसो (असंतोष)।[10]

अहिंसा के साठ पर्यायवाची नामो मे से कुछेक ये हैं

अहिंसा (अहिंसा), दीवो (द्वीप), ताण (त्राण), सरण (शरण), निव्वाण (निर्वाण), रती (रति), विरती (विरति), विसुद्धी (विशुद्धि)।[11]

आगमो के व्याख्या-साहित्य मे निर्युक्तियो का प्रथम स्थान है। आचार्य भद्रबाहु द्वितीय ने अनेक आगमो पर निर्युक्तिया लिखी। वे पद्यमय है। उनकी

भाषा है प्राकृत। निर्युक्तियों में अनेक स्थलों पर एकार्थक शब्दों की चर्चा है।

- प्रवचन के एकार्थक शब्द सुयधम्म (श्रुतधर्म), तित्थ (तीर्थ), मग्ग (मार्ग), पावयण (प्रावचन), पवयण (प्रवचन)।
- सूत्र के एकार्थक शब्द सुत्त (सूत्र), तंत (तन्त्र), गंथ (ग्रन्थ), पाढो (पाठ), सत्थ (शास्त्र)।[१२]
- अनुयोग (अर्थ) के एकार्थक शब्द अणुयोग (अनुयोग), नियोगो (नियोग), भास (भाषा), विभासा (विभाषा), वत्तिय (वार्तिक)।[१३]
- सामायिक शब्द के पर्याय सामाइय (सामायिक), समइय (समयिक), सम्मावाओ (सम्यग्वाद), समास (समास), सखेवो (सक्षेप), अणवज्ज (अनवद्य), परिण्णा (परिज्ञा), पच्चक्खाणे (प्रत्याख्यान)।[१४]
  साम (साम), सम (सम), सम्म (सम्यक्), इग (इक)[१५]। समया (समता), समात्त (सम्यक्त्व), पसत्थ (प्रशस्त), सति (शान्ति), सुविहिअ (सुविहित), सुह (शुभ), अनिंद (अनिन्द्य), अदुगुछिअ (अजुगुप्सित), अगरिहिअ (अगर्हित), अणवज्ज (अनवद्य)।[१६]

जैन आगमो के व्याख्या-साहित्य मे चूर्णियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक आगामो पर चूर्णिया लिखी गई। ये सब सस्कृत+प्राकृत मे लिखी गई। इनका रचनाकाल विक्रम की पाचवी-सातवी शताब्दी है। जिनदास महत्तर चूर्णिकारो मे अग्रणी हैं। उनकी अनेक चूर्णिया आज उपलब्ध है। दशवैकालिक सूत्र पर एक प्राचीन चूर्णि जैसलमेर भडार मे मुनि पुण्यविजय जी को प्राप्त हुई थी। उन्होने उसके फोटो प्रिन्ट करवाए। वह अगस्त्यसिंह स्थविरकृत है और उसका काल विक्रम की तीसरी से पाचवी शताब्दी का अन्तराल माना जाता है। वह अभी-अभी प्रकाशित हुई हे। उसका सर्वप्रथम उपयोग हमने 'दसवेआलिय' के सपादन तथा विवेचन के समय किया है। इन चूर्णियो मे अनेक शब्दो के पर्याय-नाम उल्लिखित हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

- मग्गतोत्ति वा पिट्ठउत्ति वा।[१७]
- अप्पियववहारियति वा विसेसादिट्ठति वा एगट्ठा।[१८]
- माणत्ति वा परिच्छेदोत्ति वा गहणपगारोत्ति वा एगट्ठा।[१९]
- अभिप्पायोत्ति वा बुद्धित्ति वा एगट्ठ।[२०]
- उज्जोत करेतीति प्रकटन करोतीति प्रकाशयतीत्यर्थ।[२१]
- खमत्ति वा तितिक्खत्ति वा कोहनिरोहत्ति वा।[२२]

आचार शब्द के पर्यायवाची नाम—

- आयारो (आचार), आचाले (आचाल),
- आगालो (आगाल), आगारो (आगार),
- आसासो (आश्वास)।[२३]

- सातति वा सुहति वा अभयन्ति वा परिणिव्वाणति वा एगट्ठा।[२४]
- असातति वा अपरिणिव्वायति वा महब्भयति वा एगट्ठा।[२५]
- तसतित्ति वा उव्वियति वा सकुयति वा वीभिति वा एगट्ठा।[२६]
- वंधो वक्खोडो बधणति वा एगट्ठा।[२७]
- विजयो विचारणा मग्गणा एगट्ठा।[२८]
- मूल प्रतिष्ठा आधारो वा एगट्ठा।[२९]
- सुरेत्ति वा वीरेत्ति वा सत्तिएत्ति वा एगट्ठा।[३०]
- समणेत्ति वा माहणेत्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा।[३१]
- सगोत्ति वा विग्थोत्ति वा वक्खोडित्ति वा एगट्ठा।[३२]
- अज्झत्थित ऊहित गुणित चिंतितति एगट्ठा।[३३]
- फुसिते दुज्झोसएत्ति वा एगट्ठा।[३४]
- आणत्ति वा नाणत्ति वा पडिलेहित्ति वा एगट्ठा।[३५]
- कखति पत्थति गच्छति एगट्ठा।[३६]
- वसित्तु वा पालित्तु वा एगट्ठा।[३७]
- पज्जवोत्ति वा भेदोत्ति वा गुणोत्ति वा एगट्ठा।[३८]
- णाणति वा सवेदणति वा अधिगमोत्ति वा चेतणति वा भावत्ति वा एते सद्दा एगट्ठा।[३९]
- परिगिज्झति वा पत्थणति वा गिद्धित्ति वा अभिलासोत्ति वा लेप्पत्ति वा करवति वा एगट्ठा।[४०]
- विउस्सग्गोत्ति वा विवेगोत्ति वा अधिकिरणति वा छड्डुणति वा वोसिरणति वा एगट्ठा।[४१]
- चिक्कणति वा दारुणति वा एगट्ठा।[४२]
- गुणोत्ति वा पज्जतोत्ति वा एगट्ठा।[४३]
- णामतिवा ठाणति वा भेदोत्ति वा एगट्ठा।[४४]
- मलति वा पावति वा एगट्ठा।[४५]
- मुणित्ति वा नाणित्ति वा एगट्ठा।[४६]
- लगलति वा हलति वा एगट्ठा।[४७]
- कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठया एगट्ठा।[४८]

ये उदाहरण शब्दकोश के निर्माण का प्रारंभिक रूप प्रस्तुत करते हैं। मूल आगम और उनके व्याख्या-ग्रन्थ इन उदाहरणो से भरे पडे है। इस एकार्थक शब्द-सकलना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये अनेक भाषाओं मे व्यवहृत देशीय शब्द शिष्यो के लिए शब्दकोश का कार्य करते और विभिन्न प्रान्तो के शिष्यो के लिए भगवद् वाणी को समझने मे सहयोगी बनते।

२८ " " पृ० ४३ ।
२९ " " पृ० ४४ ।
३० " " पृ० ८३ ।
३१ " " पृ० ९३ ।
३२ " " पृ० १७० ।
३३ " " पृ० १७१ ॥
३४ " " पृ० १७३ ।
३५ " " पृ० १९८ ।
३६ " " पृ० २०५ ।
३७ " " पृ० २०९ ।
३८ दशवैकालिक चूर्णि (जिनदासकृत) पृ० ४ ।
३९ " " पृ० १० ।
४० " " पृ० ३० ।
४१ " " पृ० ३७ ।
४२ " " पृ० २३२ ।
४३ " " पृ० २६६ ।
४४ " " पृ० ३५३ ।
४५ " " पृ० २९४ ।
४६ " " पृ० ३२४ ।
४७ " " पृ० २५४ ।
४८ " " पृ० ३२८ ।

संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यों की शब्द-सम्पत्ति (पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदिपुराण तथा उत्तर-पुराण के सन्दर्भ में)

डा० रमाकान्त शुक्ल

संस्कृत के जैन पौराणिक-काव्यो की शब्द-सम्पत्ति पर विचार करते समय महाकवि माघ का यह वाक्य सहसा ध्यान मे आ जाता है "शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।" पौराणिक काव्यो की सर्जना करते समय जैन-कवि शब्दो के प्रयोग मे वडा जागरूक रहा है। अपने युग के सम्पूर्ण जीवन तथा चिन्तन को, शब्दो के माध्यम से, वह एक ही काव्य मे अन्तर्भुक्त करके प्रस्तुत करना चाहता है और अपने पाठक को 'कान्तासम्मिततयोपदेश' देने के साथ-साथ उसके सामान्य और विशिष्ट ज्ञान मे परिवर्द्धन भी करना चाहता है। वह अपने पाठक को केवल कल्पना-लोक-विचरण का ही अवसर देने मे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझ लेता अपितु उससे अपेक्षा रखता है कि वह अपने देश-काल से परिचित रहे एव लोक से अपने को कटा हुआ न अनुभव करे। वह अपने समय तक विद्यमान लोक तथा शास्त्र को अपने शब्दो के माध्यम से प्रस्तुत करता है। संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यो मे प्रयुक्त महान् अर्थवैभव के व्यजक शब्दो का अनुशीलन करने के लिए पाठक को भी लोक और शास्त्र की व्यापक और गम्भीर पैठ अपेक्षित है। जैनाचार्य रविषेणकृत 'पद्मपुराण' पुन्नाटसघी जिनसेनाचार्यकृत 'हरिवशपुराण' भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित 'आदिपुराण' तथा गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' ऐसे ही संस्कृत के जैन पौराणिक काव्य हैं जिनकी शब्द-सम्पत्ति पर हम, प्रस्तुत लेख मे स्थान-सापेक्ष विचार करना चाहते है।

इन चारो ग्रन्थो को हमने **'पुराण'** न मानकर **'पौराणिक काव्य'** माना है। हमारी इस धारणा को इन चारो ग्रन्थो की रचना-पद्धति पुष्ट करती है। 'पुराण' नाम रखने पर भी इनके कवि इन्हे काव्योचित गुणो से सम्पन्न रखना चाहते है। रविषेण बाणभट्ट तथा कालिदास की शैली मे 'पद्मपुराण' की रचना करते है।[1]

'हरिवंशपुराण' के कर्त्ता 'पर्वों' के स्थान पर सर्गों से अपनी कृति का विभाजन करते हैं तथा अपनी रचना को 'काव्य' स्वीकार करते हैं।[२] कहीं विपरीत लक्षणा से इसकी काव्यात्मकता व्यञ्जित होती है।[३] 'आदिपुराण' के कर्त्ता तो स्पष्ट कवि, कविता, काव्य तथा अलंकार आदि की चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ को 'महाकाव्य' स्वीकार करते हैं।[४] गुणभद्र भी 'अपहस्तितान्यकाव्य' और 'मिथ्या-कविदर्पदलन' आदि पदों से अपनी रचना को काव्य स्वीकार करते हैं।[५] गुणभद्र के शिष्य लोकसेन भी जिनसेन, गुणभद्र तथा स्वयं को 'कवि' कहते हैं।[६] इन सभी कवियों ने पौराणिक कथ्य को काव्य-शिल्प में मवलित करके अपने साम्प्रदायिक और धार्मिक दायित्व के साथ-साथ साहित्यिक और सांस्कृतिक दायित्व का निर्वाह किया है। 'पुराण' नामधारी होने से इन ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है और श्रद्धापूर्वक इनका पारायण करने पर पाठक इनमें एक ही स्थान पर इतना कुछ पा लेता है जितना और कई स्थानों पर मिलना असंभव है।[७] **न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥'** जैसी उक्तियाँ इन काव्यों के विषय में अन्वर्थ सिद्ध होती हैं। लगभग २०० वर्षों के अन्तराल (६८० ई० से ८९७ ई०) में आनुपूर्वी से रचित इन पौराणिक काव्यों का सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषावैज्ञानिक, शैलीशास्त्रीय, धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों से अभी तक उतना अध्ययन नहीं हो पाया जितना कि होना चाहिए। अध्ययन की अनेक तरंगों से इनके विषय में महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल सकते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में हम इन काव्यों की शब्द-सम्पत्ति का एक सर्वेक्षणात्मक परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। इन चारों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थ पूर्ववर्ती का पूरक है। साहित्य, समाज, जीवन, कला, दर्शन, धर्म, देश-काल आदि से सम्बद्ध जिस शब्द-सम्पत्ति का उपयोग पूर्ववर्ती कवि ने किया है उसमें उत्तरवर्ती कवि ने अपने काल तक वृद्धिगत शब्द-सम्पत्ति को और जोड़ दिया है। उदाहरणार्थ, रविषेण 'समवसरण' का वर्णन करते समय जिन पारिभाषिक शब्दों को छोड़ गये थे उनका 'हरिवंशपुराण' कार[८] तथा 'आदिपुराण' कार[९] ने उपयोग किया। रविषेण केकया की कलाओं की चर्चा करते हुए संगीत-शास्त्रपरक शब्दावली[१०] में जिन शब्दों को निविष्ट नहीं कर पाये उनका प्रयोग जिनसेन ने अपने 'हरिवंशपुराण'[११] में किया है। सामुद्रिक-शास्त्रपरक शब्दावली का प्रयोग रविषेण नहीं कर पाये थे, जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' में उसका प्रयोग किया।[१२] क्रियामन्त्र तथा कर्मकाण्ड परक जिस शब्दावली का प्रयोग 'पद्मपुराण' तथा 'हरिवंश पुराण' में नहीं हो सका उसका प्रयोग 'आदिपुराण' में दृष्टिगत होता है।[१३] क्षेत्र-काल-परक शब्दावली का जितना प्रयोग 'पद्मपुराण' में हुआ उससे कहीं अधिक 'हरिवंशपुराण' और 'आदिपुराण' में हुआ है। नामपरक

शब्दावली के प्रयोग मे भी यही स्थिति देखने को मिलती है। चौरासी गणधरो के नामो का निर्देश रविषेण नही कर पाये थे तो इस कार्य को जिनसेन ने 'हरिवशपुराण' मे पूरा कर दिखाया।[१४] जिनेन्द्र के एक सहस्त्र आठ नामो को पद्मपुराणकार और हरिवशपुराणकार नही गिना सके तो उन्हे आदिपुराणकार ने गिना दिया।[१५]

वर्णाश्रम-स्थिति, षट्कर्म तथा ग्रामनगरसनिवेशपरक शब्दावली का रविषेण पूर्ण प्रयोग नही कर पाये तो इसे जिनसेन ने आदिपुराण मे कर दिखाया।[१६] इस प्रकार हम देखते है कि शब्द-सम्पदा के प्रयोग मे चारो कवियो मे एक ताल-मेल है। प्रत्येक कवि ने पूर्व-परम्परा-प्राप्त शब्द-निधि को अपना योगदान देकर समृद्ध करने की चेष्टा की है।

इन चारो कवियो मे विभिन्न क्षेत्रो से सम्बद्ध शब्दो का चयन करके प्रसगानुसार एक साथ ही उनका प्रयोग करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। शब्द-प्रयोग के प्रति ये जागरूक है। अवसरानुसार अपने शब्द-वैभव का ये अपने काव्य मे नियोग करते है अथवा अपने शब्द-वैभव का उपयोग करने के लिए ये अवसर निकाल लेते है भले ही काव्य की सरसता कही-कही घबरा उठे ? उदाहरणार्थ स्थानवाची शब्दो का परिगणनात्मक शैली मे सभी कवियो ने एक स्थान पर उल्लेख किया है

१ रविषेण

(अ) सन्ध्याकार सुवेलश्च मनोह्लादो मनोहर ।
हसद्वीपो हरिर्योध समुद्र काञ्चनस्तथा ॥
अर्धस्वर्गोत्कटश्चापि निविशा स्वर्गसन्निभा ।
गीर्वाणरक्षस पुत्रैर्महाबुद्धिपराक्रमै ॥
आवर्तविघटाम्भोदा उत्कटस्फुटदुर्ग्रहा ।
तटतोयावलीरत्नद्वीपाश्चाभान्ति राक्षसै ॥[१७]

(आ) पुरखेटमटम्बेन्द्रा विषयादीश्वराश्च ये ।
वशत्वे स्थापितास्तस्य कांश्चित्तान् कीर्त्तयामि ते ॥
ऐते जनपदा केचिदार्या म्लेच्छास्तथा परे ।
विद्यमानद्वया केचिद् विविधाचारसम्मता ॥
भीरवो यवना कक्षाश्चारवस्त्रिजटा नटा ।
शककेरलनेपाला मालवारुलशर्वरा ॥
वृषाणवैद्यकाश्मीरा हिडिम्बावष्टवर्वरा ।
त्रिशिरा पारशैलाश्च गौशीलोसीनरात्मका ॥

सूर्यारिका सनर्ताश्च खशा विन्ध्या शिखापदा ।
मेखला शूरसेनाश्च वाह्लीकोलूककोसला ॥
दरीगान्धारसौवीरा पुरीकौवेरकोहरा ।८
अन्ध्रकालकलिंगाद्या नानाभाषा पृथग्गुणा ॥

२ हरिवंशपुराणकार जिनसेन

(अ) दशोत्तरशतं तेषां नगराणि खगामिनाम् ।
षष्टिरुत्तरभागे स्युः पंचाशद्दक्षिणे पुनः ॥
आदित्यनगरं रम्यं पुरं गगनवल्लभम् ।
पुरीचमरचम्पा च पुरं गगनमण्डलम् ॥
विजयं वैजयन्तं च शत्रुंजयमरिंजयम् ।
पद्मालं केतुमालं च रुद्राश्वं च धनंजयम् ॥
वस्वौकं सारनिवहं जयन्तमपराजितम् ।
वराहं हस्तिनं सिंहं सौकरं हस्तिनायकम् ॥
पाण्डुकं कौशिकं वीरं गौदिकं मानवं मनुः ।
चम्पा काञ्चनमैशानं मणिवज्रं जयावहम् ॥
नैमिषं हास्तिविजयं खण्डिका मणिकाञ्चनम् ।
अशोकं वेणुमानन्दं नन्दनं श्रीनिकेतनम् ॥
अग्निज्वालं महाज्वालं माल्यं तत्पुरनन्दिनी ।
विद्युत्प्रभं महेन्द्रं च विमलं गन्धमादनम् ॥
महापुरं पुष्पमालं मेघमालं शशिप्रभम् ।
चूडामणिं पुष्पचूडं हंसगर्भं वलाहकम् ॥
वंशालयं सौमनसं तथैव परिकीर्तितम् ।
विजयार्धोत्तरश्रेण्यां षष्टिरिष्टा इमाः पुरः ॥
रथनूपुरमानन्दं चक्रवालमरिञ्जयम् ।
मण्डितं वहुकेत्वाख्यं नगरं शकटामुखम् ॥
पुरं गन्धसमृद्धं च नगरं शिवमन्दिरम् ।
वैजयन्तं रथपुरं श्रीपुरं रत्नसंचयम् ॥
आषाढं मानवं सूर्यं स्वर्णनाभं शतह्रदम् ।
अंगावर्त्तं जलावर्त्तं तथावर्त्तं बृहद्गृहम् ॥
शंखवज्रं च नाभान्तं मेघकूटं मणिप्रभम् ।
कुञ्जरावर्त्तनगरं तथैवासितपर्वतम् ॥

सिन्धुकक्ष महाकक्ष सुकक्ष चन्द्रपर्वतम् ।
श्रीकूट गौरिकूट च लक्ष्मीकूट धराधरम् ॥
कालकेशपुर रम्य पार्वतेय हिमाह्वयम् ।
किन्नरोद्गीतनगर नभस्तिलकनामकम् ॥
मगधासारनलका पांशुमूल पर तथा ।
दिव्यौषध चार्कमूल तथैवोदयपर्वतम् ॥
विख्यातामृतधार च मातंगपुरमेव च ।
भूमिकुण्डलकूट च जम्बूशकुपुर परम् ॥
श्रेण्या तु दक्षिणस्या हि पुराण्येतानि पर्वते ।
शोभया स्वर्गतुल्यानि पञ्चाशच्चैव सख्यया ॥[१]

(आ) सुकुमारै कुमारैस्तैर्भव्यसिहै सदैव हि ।
ज्ञेयानि व्यक्तदेशाना नामानीमानि पण्डितै ॥
कुरुजागलपाचालसूरसेनपटच्चरा ।
तुलिगकाशिकौशल्यमद्रकारवृथार्थका ॥
सोल्वावृष्टत्रिगर्ताश्च कुशाग्रो मत्स्यनामक ।
कुणीयाम् कोशलो मोको देशास्ते मध्यदेशका ॥
वाह्लीकात्रेयकाम्बोजा यवनाभीरमद्रका ।
क्वाथितोयश्च शूरश्च वाटवानश्च कैकय ॥
गान्धार सिन्धुसौवीरभारद्वाजदशेरुका ।
प्रास्थालास्तीर्णकर्णाश्च देशा उत्तरत स्थिता ॥
खड्गाड्गारकपौण्ड्राश्च मल्लप्रवकमस्तका ।
प्राग्ज्योतिषश्च वगश्च मगधो मानवर्तिक ॥
मलदो भार्गवश्चामी प्राच्या जनपदा स्थिता ।
वाणमुक्तश्च वैदर्भा माणव सककापिरा ॥
मूलकाश्मकदाण्डीककलिड्गासिककुन्तला ।
नवराष्ट्रो माहिषक पुरुषो भोगवर्धन ॥
दाक्षिणात्या जनपदा निरुच्यन्ते स्वनामभि ।
माल्यकल्लीवनोपान्तदुर्गसूर्पारिकर्बुका ॥
काक्षिनासारिकागर्ता ससारस्वततापसा ।
माहेभो भरुकच्छश्च सुराष्ट्रो नर्मदस्तथा ॥
एते जनपदा सर्वे प्रतीच्या नामभि स्मृता ।
दशार्णकेति किष्किन्धस्त्रिपुरावर्तनैषधा ॥
नेपालोत्तमवर्णाश्च वैदिशान्तपकौशला ।
पत्तनो विनिहात्रश्च विन्ध्यापृष्ठनिवासिन ॥

भद्रवत्सविदेहाश्च कुशभगाश्च सैतवा ।
वज्रखण्डिक इत्येते मध्यदेशाश्रिता मता ॥[२०]

३ आदिपुराणकार जिनसेन

(अ) तेषां च नामनिर्देशो भवेदयमनुक्रमात् ।
पश्चिमां दिशमारभ्य यावत् पश्चिमं पुरम् ॥
अर्जुनी वारुणी चैव सकैलासा च वारुणी ।
विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणिशशिप्रभे ॥
वशालं पुष्पचूलं च हंसगर्भवलाहकौ ।
शिवंकरं च श्रीहर्म्यं चमरं शिवमन्दिरम् ।
वसुमत्कं वसुमती नाम्ना सिद्धार्थकं पुरम् ।
शत्रुंजयं ततः केतुमालाख्यं च भवेत्पुरम् ॥
सुरेन्द्रकान्तमन्यत् स्यात्ततो गगननन्दनम् ।
अशोकाख्या विशोका च वीतशोका च सत्पुरी ॥
अलका तिलकाख्या च तिलकान्तं तथाम्बरम् ।
मन्दिरं कुमुदं कुन्दमतो गगनवल्लभम् ॥
द्युभूमितिलके पुर्यौ पुरं गन्धर्वसाह्वयम् ।
मुक्ताहारं सनिमिषं चाग्निज्वालमतः परम् ॥
महाज्वालं च विज्ञेयं श्रीनिकेतो जयाह्वयम् ।
श्रीवासो मणिवज्राख्यं भद्राश्वं सधनंजयम् ।
गोक्षीरफेनमक्षोभ्यं गिर्यादिशिखराह्वयम् ।
धरणो धारणो दुर्गं दुर्धराख्यं सुदर्शनम् ॥
महेन्द्राख्यपुरं चैव पुरं विजयसाह्वयम् ।
सुगन्धिनी च वज्रार्धतरं रत्नाकराह्वयम् ॥
भवेद्ररत्नपुरं चान्त्यमुत्तरस्याः पुराणि वै ।
श्रेण्यां स्वर्गपुरश्रीणि भान्त्येतानि महान्त्यलम् ॥[२१]

(आ) कोसलादीन् महादेशान् साकेतादिपुराणि च ।
सारामसीमनिगमान् खेटादींश्च न्यवेशयत् ॥
देशाः सुकोसलावन्ती पुण्ड्रोण्ड्राश्मकरम्यकाः ।
कुरुकाशीकलिंगाङ्गवङ्गसुह्माः समुद्रकाः ॥
काश्मीरोशीनरानर्तवत्सपाञ्चालमालवाः ।
दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भाः कुरुजाङ्गलम् ॥
करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोकणाः ।
वनवासान्ध्रकर्णाटकोसलाश्चोलकेरलाः ॥

दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तका ।
विदेहसिन्धुगान्धारयवनाश्चेदिपल्लवा ॥
काम्बोजारट्टबाह्लीकतुरुष्कशककैकया ।
निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयास्तदा ॥[२२]

४ उत्तरपुराणकार गुणभद्र

अमी च विषया कच्छसुकच्छपरिभाषितौ ।
महाकच्छा तथा कच्छकावत्यावर्तलांगला ॥
पुष्कला पुष्कलावत्यौ वत्सा नाम्ना च कीर्तिता ।
सुवत्सा च महावत्सा विख्याता वत्सकावती ॥
रम्या च रम्यकाख्या रमणीया मंगलावती ।
पद्मा सुपद्मा महापद्मा पद्मावत्यभिख्यया ॥
शंखा च नलिनान्या च कुमुदा सरिता परा ।
वप्रा सुवप्रा च महावप्रया वप्रकावती ॥
गन्धा सुगन्धा गन्धावत् सुगन्धा गन्धमालिनी ।
एताश्च राजधान्योऽत्र कुमारालोकयस्फुटम् ॥
क्षेमा क्षेमपुरी चान्याऽरिष्टाऽरिष्टपुरी परा ।
खड्गाख्यया च मञ्जूषा चौषधी पुण्डरीकिणी ॥
सुसीमा कुण्डला सार्द्धमपराजितसञ्ज्ञया ।
प्रभंकराकवत्याख्या पद्मावत्यभिधोदिता ॥
शुभा शब्दाभिधाना च नगरी रत्नसंचया ।
अश्वसिंहमहापुर्यौ विजयादिपुरी परा ॥
अरजा विरजाश्चैवमशोका वीतशोकवाक् ।
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता ॥
अथ चक्रपुरी खड्गपुर्ययोध्या च वर्णिता ।
अवध्येत्यथ सीतोत्तराभाभागान्मेरुसन्निधे ॥[२३]

इसी प्रकार विद्या-सम्बन्धी शब्दावली के एकत्र सन्निवेश का उदाहरण लिया जा सकता है। रविषेण और जिनसेन ने अपने 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' मे विद्यापरक पारिभाषिक शब्दावली का अवसर निकालकर परिगणनात्मक शैली मे उल्लेख किया है

रविषेण

सक्षेपेण करिष्यामि विद्याना नामकीर्तनम् ।
अर्थसामर्थ्यतो लब्ध भवावहितमानस ॥

नभसंचारिणी कामदायिनी कामगामिनी।
दुर्निवारा जगत्कम्पा प्रज्ञप्तिर्भानुमालिनी ॥
अणिमा लघिमा क्षोभ्या मनःस्तम्भनकारिणी।
संवाहिनी सुरध्वंसी कौमारी वधकारिणी ॥
सुविधाना तपोरूपा दहनी विपुलोदरी।
शुभप्रदा रजोरूपा दिनरात्रिविधायिनी।
वज्रोदरी समाकृष्टिरदर्शन्यजरामरा।
अनलस्तम्भनी तोयस्तम्भनी गिरिदारिणी ॥
अवलोकन्यरिध्वंसी घोरा धीरा भुजंगिनी।
वारुणी भुवनावध्या दारुणा मदनाशिनी ॥
भास्करी भयसम्भूतिरैशानी विजया जया।
बन्धनी मोचनी चान्या वराही कुटिलाकृति ॥
चित्तोद्भवकरी शान्ति कौवेरी वशकारिणी।
योगेश्वरी बलोत्सादी चण्डा भीति प्रवर्षिणी ॥
एवमाद्या महाविद्या पुरासुकृतकर्मणा।
स्वल्पैरेव दिनैः प्राप दशग्रीव सुनिश्चल ॥[२४]

(हरिवंशपुराणकार) जिनसेन

षोडषाना निकायानामिमा विद्या प्रकीर्तिता।
सर्वविद्याप्रधानत्वं या प्रपद्य व्यवस्थिता ॥
प्रज्ञप्ती रोहिणी विद्या विद्या चाङ्कुरिणीरिता।
महागौरी च गौरी च सर्वविद्याप्रकर्षिणी ॥
महाश्वेताऽपि मायूरी हारी निर्वज्ञशाड्वला।
सातिरस्करिणी विद्या छायासंक्रामिणी परा ॥
कूष्माण्डगणमाता च सर्वविद्याविराजिता।
आर्यकूष्माण्डदेवी च देवदेवी नमस्कृता ॥
अच्युतार्यवती चापि गान्धारी निर्वृति परा।
दण्डाध्यक्षगणश्चापि दण्डभूतसहस्रकम् ॥
भद्रकाली महाकाली काली कालमुखी तथा।
एवमाद्या समाख्याता विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥
एकपर्वा द्विपर्वा च त्रिपर्वा दशपर्विका।
शतपर्वा सहस्राख्या लक्षपर्वाविलक्षिता ॥
उत्पातिन्यश्च ता सर्वास्त्रिपातिन्यस्तथापि च।
धारिण्यन्तर्विचारिण्यो जलाग्निगतिदक्षिणा ॥

निःशेषेषु निकायेषु नानाशक्तिसमन्विता ।
नानानगनिवासिन्यो नानौषधिविदस्तथा ॥
सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्था जयन्ती मंगला जया ।
सङ्क्रामिण्य प्रहाराणामशल्याराधनी तथा ॥
विशल्यकारिणी चैव व्रणसरोहिणी तथा ।
सवर्णकारिणी चैव मृतसंजीवनी परा ॥[२५]

इसी प्रकार अन्य अनेक विषयो से सम्बद्ध शब्दावली के एकत्र प्रयोग सभी कवियों की रचनाओं मे हुए हैं । नाम, आख्यात, उपसर्ग और नियत शब्दों के झुण्ड एक साथ देखने हो तो संस्कृत के इन जैन पौराणिक काव्यों का पारायण परम लाभकारी है । इन कवियो के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में बहुत से पूर्वपरम्परा प्राप्त है और बहुतों का निर्माण इन कवियो ने स्वय भी किया है ।

नामिक शब्दो की कल्पना मे इन कवियो का मेधा-विलास देखने के योग्य है । कही कही छन्द के अनुरोध से एक संज्ञापद कई खण्डो मे विभक्त हो जाता है यथा 'समवशरण', 'शरण समवादिकम्'[२६] तथा कही 'रूढ' पद भी 'योग'-पद हो जाते है । कही-कही व्यक्तिवाचक नाम भी पर्याय रूप मे अथवा परिवर्तित रूप मे प्रयुक्त हुए हैं । इनकी संगति के लिए आधारग्रन्थो का अवलोकन आवश्यक हो जाता है । उदाहरण के लिए रविषेण के द्वारा प्रयुक्त 'अर्ककीर्त्ति' शब्द लिया जा सकता है जो '**आदित्ययशा**' का पर्याय है ।[२७] जो व्यक्ति विमलसूरि के 'पउमचरिय' मे प्रयुक्त व्यक्तिवाची नाम 'आइच्चजस' से परिचित है यह तो अर्ककीर्ति' का अर्थ 'आदित्य (अर्क) यशा (कीर्ति)' लगा लेगा किन्तु जिसे इसका ज्ञान नही है वह यही निर्धारण करता रह जाएगा कि उस व्यक्ति का मूल नाम क्या है 'अर्ककीर्ति' या 'आदित्ययशा' ? ऐसे ही शब्दो की श्रेणी को बढाते हुए रविषेण 'भानुकर्ण' के लिए 'भास्करकर्ण'[२८] 'भास्करश्रवण'[२९] तथा 'आदित्यश्रवण'[३०], 'दशानन' के लिए 'विंशत्यर्धमुख'[३१], 'अशनिवेग' के लिए 'अशनिरंहा'[३२], 'विजयपर्वत' के लिए 'जयपर्वत'[३३], 'त्रिलोकमण्डल' के लिए 'त्रिजगद्भूषण'[३४] का प्रयोग करते हैं । विमलसूरी के द्वारा 'पउमचरिय' मे प्रयुक्त व्यक्तिवाचक नामावली और रविषेण के द्वारा 'पद्मपुराण' मे प्रयुक्त नामावली की तुलना करने पर कई स्थलो पर दोनो मे बडा अन्तर मिलता है । यदि मूल आधार ग्रन्थ को न पढा जाये तो व्यक्तिवाचक नामो का किसी और रूप मे ही प्रयोग होने लगे ।

नामिक शब्दो के निर्माण मे, इन कवियो के द्वारा अनेक प्रक्रियायो का अंगीकार किया गया है । कही एक ही शब्द से आरम्भ होने वाले नामो की रचना की गयी है तो कही एक ही शब्द से अन्त होने वाले नामो की । कही एक ही उपसर्ग से प्रारभ होने वाले अनेक नामो की उद्‌भावना की गयी है तो कही एक

ही परसर्ग से अन्त होने वाले नामों की। उदाहरणार्थ

(१) **एक ही शब्द से प्रारम्भ होने वाले नाम**

विश्वभू, विश्वात्मा, विश्वलोकेश, विश्वतश्चक्षु, विश्वविद्, विश्वविद्येश, विश्वयोनि, विश्वदृश्, विश्वेश, विश्वलोचन, विश्वव्यापी, विश्वतोमुख, विश्वकर्मा, विश्वमूर्त्ति, विश्वदृक, विश्वभून्तेश, विश्वज्योति, विश्वरीश, विश्वशीर्ष, विश्वभृद्, विश्वसृड्, विश्वेत्, विश्वभुक्, विश्वनायक, विश्वाशी, विश्वरूपात्मा, विश्वजित्।[३५]

महातपा, महातेजा, महोदके, महायशा, महाधामा, महासत्त्व, महाधृति, महाधैर्य, महावीर्य, महासम्पत्, महाबल, महाशक्ति, महाज्योति, महाभूति, महाद्युति, महामति, महानीति, महाक्षान्ति, महादय, महाप्राज्ञ, महामाग, महानन्द, महाकवि, महामहा, महाकीर्त्ति, महाकान्ति, महावपु, महादान, महाज्ञान, महायोग, महागुण, महामहपति, महाप्रभु, महाप्रातिहार्य, महेश्वर, महामुनि, महामौनी, महाध्यान, महादम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञ, महामख, महाव्रतपति, महाकान्तिधर, महामैत्रीमय, महोपाय, महोमय, महाकारुणिक, महामन्त्र, महायति, महानाद, महाघोष, महेज्य, महसा पति, महाध्वरधर, महौदार्य, महात्मा, महाक्लेशांकुश, महाभूतपति, महापराक्रम, महाक्रोधरिपु, महाभवाब्धिसन्तारी, महामोहाद्रिसूदन, महागुणाकर, महायोगीश्वर, महाध्यानपति, महाधर्मा, महाव्रत, महाकर्मा, महादेव, महेशिता आदि।[३६]

वज्रजंघ, वज्रसेन, वज्रदंष्ट्र, वज्रध्वज, वज्रायुध, वज्र, वज्रभृत्, वज्राभ, वज्रबाहु, वज्रसंज्ञ, वज्रास्य, वज्रपाणि, वज्रजातु, वज्रवान् आदि।[३७]

२ **एक ही शब्द से अन्त होने वाले नाम** चन्द्रमश्चूड, एकचूड, द्विचूड, त्रिचूड, वज्रचूड, भूरिचूड, अर्कचूड।[३८]

ऋक्षरजा सूर्यरजा।[३९]

३ **एक ही उपसर्ग से प्रारम्भ होने वाले नाम** विभय विभव, विशोक, विजर, विराग, विरत, विविक्त, वीतमत्सर वियोग।[४०]

सुगति, सुश्रुत, सुवाक् आदि।[४१]

४ **एक ही परसर्ग से अन्त होने वाले नाम** सहिष्णु, प्रभविष्णु, प्रभूविष्णु भ्राजिष्णु, असभूष्णु, स्वयम्भूष्णु आदि।[४२]

कही आदि का शब्द तो समान है किन्तु अन्त का शब्द समानार्थक है यथा महामख, महायज्ञ, महेज्य, महाध्वरधर आदि।[४३]

नामिक-शब्द विधान मे आदिपुराणकार जिनसेन ने कमाल कर दिखाया है। उन्होंने 'विष्णुसहस्रनाम' की कडी को आगे बढाते हुए 'जिनसहस्रनाम' की

रचना की है और एक स्थान पर ही एक हजार आठ नामों की उद्भावना की है। व्यक्तिवाची नामों के रूप में विशेषण कैसे परिवर्तित हो जाते हैं इस सहस्त्रनाम में यह देखते ही बनता है। इन नामों की व्याख्या के लिए पर्याप्त स्थान और समय अपेक्षित है।

व्यक्तिवाची नामों के अतिरिक्त भौगोलिक शब्दावली में भी इन कवियों का कल्पना-विलास तथा शब्द-निर्माण-कौशल देखने को मिलता है। शोधकों द्वारा भूगोलपरक स्थान-पर्वत-वन-नदियों का अस्तित्व सिद्ध होना न होना अलग बात है जिससे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा उद्देश्य तो कवियों के शब्द-निर्माण-कौशल का प्रत्यायन करना है जो अपने में एक रोचक विषय है।

संज्ञापदों के अतिरिक्त विशेषणपरक शब्दावली भी अत्यन्त समृद्ध है। विशेषणों के निर्माण में जिन प्रक्रियाओं का अवलम्बन इन कवियों ने किया है उनका अध्ययन भी रोचक हो सकता है। इन पौराणिक काव्यों की पद्यमयता को ध्यान में रखते हुए परिमित मात्राओं तथा अक्षरों में विशेष्य की विशेषताओं को प्रकट करने वाले विशेषण-पदों की रचना में ये जैन कवि अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। विशेषणमालाओं का प्रयोग करते हुए रविषेण ने 'रण' और 'विपिन' के साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिये हैं

रणपाक विशेषण

"कणदश्वसमुद्यूढस्यन्दनोन्मुक्तचीत्कृतम् ।
तुरगजवविक्षिप्तभटसीमन्तिताविलम् ॥
नि क्रामद्रुधिरोद्गारसहितोरुभटस्वनम् ।
वेगवच्छस्त्रसम्पातजातवह्निकणोत्करम् ॥
करिशूत्कृतसम्भूतसीकरासास्त्रालकम् ।
करिदारितवक्षस्कभटसकटभूतलम् ॥
पर्यस्तकरिसरुद्धरणमार्गाकुलायतम् ।
नागमेघपरिश्च्योतन्मुक्ताफलमहोपलम् ॥
मुक्तासारसमाघातविकट कर्मरंगकम् ।
नागोच्छालितपुन्नागकृतखेचरसगमम् ॥
शिर क्रीतयशोरत्न मूर्च्छाजनित विश्रमम् ।
मरणप्राप्तनिर्वाण बभूव रणमाकुलम् ॥"[४४]

(वनपरक विशेषण)

ततस्ते भूमहीध्राग्रग्रावव्रातमुकर्कशम् ।
महातरुसमारूढवल्लीतालसमाकुलम् ॥

क्षुदतिक्रुद्धशार्दूलनखविक्षतपादम् ।
सिंहाहतद्विपोद्गीर्णरक्तमौक्तिकपिच्छलम् ।,
उन्मत्तवारणस्कन्धतष्टस्कन्धमहातरुम् ।
केसरिध्वनिविवस्तसमुत्कीर्णकुरंगम् ।
सुप्ताजगरनिश्वासवायुपूरितगह्वरम् ।
वराहयूथपोताग्रविषमाकृतपल्वलम् ॥
महामहिषशृंगाग्रभग्नवल्मीकसानुकम् ।
ऊर्ध्वीकृतमहाभोगसचरद्भोगिभीषणम् ॥
तरक्षुक्षतसारंगरुधिरभ्रान्तमक्षिकम् ।
कण्टकासक्तपुच्छाग्रप्रताम्यच्चमरीगणम् ॥
दर्पसम्पूरितश्वाविन्मुक्तसूचीविचित्रितम् ।
विषपुष्पस्तोघ्राणघूर्णितानेकजन्तुकम् ॥
खड्गिखड्गसमुल्लीढतरुस्कन्धच्युतद्रवम् ।
उद्भ्रान्तगवयव्रातभग्नपल्लवजालकम् ॥
नानापक्षिकुलक्रूरकूजित प्रतिनादितम् ।
शाखामृगकुलाक्रान्तचलत्प्राग्भारपादपम् ॥
तीव्रवेग गिरिस्रोत शतनिर्दारितक्षमम् ।
वृक्षाग्रविस्फुरत्स्फीतदिवाकरकरोत्करम् ॥
नानापुष्पफलाकीर्णं विचित्रामोदवासितम् ।
विविधौषधिसम्पूर्णं वनसस्यसमाकुलम् ॥
क्वचिन्नील क्वचित्पीत क्वचिद्रक्त हरित्क्वचित् ।
पिंजरच्छायमन्यत्र विविशुर्विपिन महत् ॥[४५]

अनेक मूल शब्दो से निर्मित इन विशेषणपदो मे सयोजनजन्य सामूहिक अर्थ-व्यञ्जकता निहित है। इनका अर्थस्फोट शैलीशास्त्री और साहित्यशास्त्री विद्वानो के लिए रोचक विषय हो सकता है। छोटे-वडे मझोले विशेषणो की महती निधि इन पौराणिक काव्यो मे निहित है, जिसके अन्वेषण की आज भी आवश्यकता वनी हुई है। कौन से विम्व को उभारने के लिए किस स्वर और व्यञ्जन से सवलित किस शब्द का एव किस समासपद्धति का **विशेषण-निर्माण** मे अवलम्वन किया गया है यह परखना अभी भी वाकी है।

सर्वनामो के प्रयोग मे कम प्रचलित किन्तु सटीक **'त्वयका'** 'तके' आदि के प्रयोग यथावसार इन कवियो ने किये हैं। पद्मपुराण मे **रविषेण**, वरुण के नगर की स्त्रियो को वन्दी वनाने वाले भानुकर्ण को फटकारते हुए रावण के मुख से, 'त्वयका' (कुत्सितेन त्वया) का प्रयोग कराते है—

"खलीकारमिमा येन त्वयका प्रापिता मुधा।"[४६]

इसी प्रकार आदिपुराण मे जिनसेन ने 'कुत्सिता ते' के अर्थ मे 'तके' का प्रयोग किया है

"अकरां भोक्तुमिच्छन्ति गुरुदत्तामिमा तके।"[४७]

आख्यात-पदो के समस्त सभावित रूपो की छटा इन काव्यो मे देखने को मिलती है। कुछ अनुरागात्मक क्रियाओ का निर्माण भी इन कवियो ने किया है जिस पर प्राकृत का प्रभाव है। जिस प्रकार विमलसूरि ने अपने 'पउमचरिय' मे 'कडकडकढेन्ति,'[४८] 'कढकढकढेन्ति',[४९] 'कणकणकणन्ति',[५०] 'किलिकिलिकिलत',[५१] 'खणखणखणति',[५२] 'गुमगुमायर',[५३] 'गुमुगुमुगुमत',[५४] 'गुमुगुमुगुमेन्त',[५५] 'गुलगुलगुलन्त',[५६] 'गुलगुलायन्त',[५७] 'गुलगुलगुलेन्त',[५८] घुघुघुघुघुघेन्त',[५९] 'घुलहुलवहन्त,'[६०] 'चडचडचडन्त',[६१] 'छिमिछिमिछिमन्त,,[६२] 'तडतडतडत्ति,'[६३] भुगुभुगेन्त'[६४] आदि अनुरणनात्मक शब्दो का प्रयोग किया है। उसी प्रकार रविषेण ने अपने पद्मपुराण मे किया है। उदाहरणार्थ

(अ) "त्रपत्रपायतेऽन्यत्र तथा दमदमायते।
छमाछमायतेऽन्यत्र तथा पटपटायते॥
छलछलायतेऽन्यत्र टद्दटद्दायते तथा।
तटत्तटायतेऽन्यत्र तथा चटचटायते॥
घग्घग्घग्घायतेऽन्यत्र रण शस्त्रोदितैः स्वरै॥"[६५]

(आ) भवन्मृदगनिस्वानात् क्वचिद् गुलुगुलायते।
भुभुद्भुम्भायतेऽन्यत्र क्वचित्पटपटायते॥[६६]

इन कवियो की यह बलवती इच्छा रही है कि इनके पाठको को एक ही स्थान पर एक श्रेणी के शब्दो का सघात मिल जाये। रविषेण ने एक ही स्थान पर लट्लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन की क्रियाओ का भव्य सयोजन किया है। आख्यातपदो का यह प्रयोग यह देखने योग्य है

"चक्रवत्परिवर्तन्ते व्यसनानि महोत्सवै।
शनैर्मर्यादयो दोपा प्रयान्ति परिवर्द्धनम्॥
क्लिश्यन्ते द्रव्यनिर्मुक्ता म्रियन्ते बालतासु च।
पूर्तोपात्तायुपि क्षीणे हेतुना चोपसहृते॥
नाना भवन्ति तिष्ठन्ति निघ्नते शोचयन्ति च।
रुदन्त्यदन्ति बाधन्ते विवदन्ति पठन्ति च॥
ध्यायन्ति यान्ति वल्गन्ति प्रभवन्ति वहन्ति च।
गायन्त्युपासतेऽश्नन्ति दरिद्रति नदन्ति च॥
जयन्ति रान्ति मुञ्चन्ति राजन्ते विलसन्ति च।
तुष्यन्ति शासति क्षान्ति स्पृहयन्ति हरन्ति च॥

त्रयन्ते द्रान्ति मज्जन्ति दूयन्ते कूटयन्ति च।
मार्गयन्तेऽभिधावन्ते कुहयन्ते मृजन्ति च॥
क्रीडन्ति स्यन्ति यच्छन्ति शीलयन्ति वमन्ति च।
लुच्यन्ति मान्ति सीदन्ति क्रुध्यन्ति विलयन्ति च॥
तुष्यन्त्यर्चन्ति वञ्चन्ति सान्त्वयन्ति विदन्ति च।
मुह्यन्त्यर्वन्ति नृत्यन्ति स्निह्यन्ति विनयन्ति च॥
नुदन्त्युञ्छन्ति कर्पन्ति भृज्जन्ति विनयन्ति च।
दीव्यन्ति दान्ति शृण्वन्ति जुह्वत्यगन्ति जाग्रति॥
स्वपन्ति विभ्यतीङ्गन्ति श्यन्ति दन्तितुदवि च।
प्रान्ति सुन्वन्ति सिन्वन्ति रुन्धन्ति विरुवन्ति च॥
सीव्यन्त्यटन्ति जीर्यन्ति पिब्रन्ति रचयन्ति च।
वृणते परिमृद्नन्ति विस्तृणन्ति पृणन्ति च॥
मीमांसन्ते जुगुप्सन्ते कामयन्ते तरन्ति च।
चिकित्स्यन्त्यनुमन्यन्ते वारयन्ति गृणन्ति च॥
एवमादिक्रियाजालमततव्याप्तमानस।
शुभाशुभसमासक्ता व्यतिक्रामन्ति मानवा॥"[८७]

इसी प्रकार क्रियाविशेषणो, उपसर्गो, निपातो, अव्ययो के एकत्र सन्निधि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'सहार्थक' अव्ययो की एक-साथ प्रस्तुति का एक उदाहरण प्रस्तुत है

"रथिनो रथिभि सार्द्धं तुरगास्तुरगैरमा।[८८]
साकं गजैर्गजा सत्रा पादातत्त पदातिभि॥"

कही-कही शब्दो का लयात्मक और सगीतात्मक दृष्टि से भी योजन और निर्माण किया गया है। एक ही लय की पदशय्या के लिए 'वृत्तगन्धि गद्य' की शैली का आश्रय लिया गया है।[८९]

सक्षेपत, सवेदना, युगवोध तथा शिल्प की दृष्टि से इन जैन पौराणिक काव्यो मे महत्त्वपूर्ण शब्दयोजना की गयी है। इनके शब्दो मे अपने समय का देशकाल और शब्दप्रयोग का इतिहास समाया हुआ है जिसके साक्षात्कार के लिए अन्तर्दृष्टि और अध्यवसाय अपेक्षित है।

वस्तुत **संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यो की शब्द सम्पत्ति**' योजना पर सर्वांगीण कार्य कर लेना एक व्यक्ति के बूते की बात नही है। एक-एक शब्द से परम्परा, प्रयोग, इतिहास, समाज, सस्कृति, धर्म, दर्शन, व्याकरण, व्याकरण भाषा-विज्ञान, बिम्बयोजना, अप्रस्तुत-विधान, शिल्प तथा सवेदना के विविध आयाम जुडे हुए हैं जिनका उद्घाटन अनेक विषयो के विद्वान् एक साथ बैठकर कर सकते हैं। इस कार्य के लिए शान्त मन स्थिति, लगन, समय तथा साधन अपेक्षित है।

प्रकान्त चारो पौराणिक काव्यो की शब्द-सम्पत्ति पर अभी तक थोडा ही कार्य हो पाया है। 'हरिवशपुराण'[70] आदिपुराण'[71] एव 'उत्तरपुराण'[72] के परिशिष्ट रूप मे सुधी सम्पादक प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने पारिभाषिक, भौगोलिक, विशिष्ट तथा व्यक्तिवाचक सज्ञापदो की सूचियाँ दी है तथा उनके स्थानानुरोधी अर्थ भी दिये हैं किन्तु रविषेणकृत 'पद्मपुराण'[73] के परिशिष्ट के रूप मे ये सूचिया नही दी गयी हैं। रविषेणक 'पद्मपुराण' की शब्दावली पर स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य हमारे देखने मे नही आया है। इस दिशा मे इस लेख का लेखक **'रविषेणकृत पद्मपुराण की शब्दावली का परिशीलन'**[74] शीर्षक से कुछ विचार कर रहा है।

प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के कार्य ने, नि सदेह, आगामी शोधार्थियो के लिए एक मसृण मार्ग तैयार कर दिया है। अकारादिक्रम से सूची बनाकर सज्ञा शब्दो का अर्थ दे देना अपने मे एक श्रमसाध्य कार्य है। किन्तु इस कार्य की अपनी कुछ सीमाएँ हैं।

उदाहरण के लिए 'आदिपुराण' के दो स्थलो को हम लेते हैं। पहला स्थल बाईसवे पर्व से और दूसरा सोलहवे पर्व से उद्धृत है। बाईसवे पर्व मे 'समवसरण' रचना से सम्बद्ध ये सज्ञा तथा विशेषण शब्द, प्रमुखत, प्रयुक्त हुए है —आस्थान-मण्डल (२२।७५), शिलि (२२७६), आरब्धपरार्घ्यरचनाशत (२२।८६) (२२।७६), द्विषड्योजनविस्तार (२२।७७), हरिनीलमहारत्नघटित विलसत्तल (२२।७७), समवृत्त (२२।७८), मगलादर्श (२२।७८), पर्यन्तभूभाग (२२।८१), धूलीसाल (२२।८१), वलयाकृति (२२।८२), कटिसूत्र (२२।८३), जिनास्थान भूमि (२२।८३), अजनपुञ्जाभ (२२।८४), चामीकरच्छवि (२२।८४), विद्रुमसच्छाय (२२।८४), रत्नपासु (२२।८४), चन्द्रकान्तशिलाचूर्ण (२२।८६), मरकत (२२।८७), अम्भोजराग (पद्मराग) (२२।८७), कलम्बित (२२।८७), हेमस्तम्भाग्रलम्बिततोरण (२२।९१), मकरास्योढरत्नमाला (२२।९१), हाटकनिर्मितमानस्तम्भ (२२।९२), चतुर्गोपुरसवद्धसालत्रितयवेष्टित जगतीनाथ-स्नपनाम्बुपवित्रित जगती (२२।९३), हैमषोडशसोपानस्वमध्यार्पितपीठिका (२२।९४), न्यस्तपुष्पोपहारार्चा (२२।९४), नृसुरदानव (२२।९४), घण्टा (२२।९६), चामर (२२।९६), ध्वज (२२।९६), दिक्चतुष्टय (२२।९७), स्तम्भचतुष्टय (२२।९७), जिनानन्तचतुष्टय (२२।९७), हिरण्मयी जिनेन्द्रार्च्या (२२।९८), क्षीरोदाम्भोभिषेचन (२२।९८), नित्यातोद्य-महावाद्य (२२।९९) नित्यमगीतमगल (२२।९९), नित्यप्रवृत्तनृत्य (२२ ९९), पीठिका (२२।१००), त्रिमेखल (२२।१००), पीठ (२२।१००), छत्रत्रय (२२।१०१), इन्द्रध्वज (२२।१०१), प्रसन्नसलिला वापी (२२।१०३), स्तम्भपर्यन्तभूभाग (२२।१०३), मणिसोपान (२२।१०७), स्फटिकोच्चतटी (२२।१०७), जैनेशजय (२२।१०८), जिनस्तोत्र (२२।१०९), नन्दोत्तरादिनाम

(२२।११०), पादप्रक्षालनाकुण्ड (२२।११०), वीथी (२२।१११), जलखातिका (२२।१११), जिनजयोत्सव (२२।११५), प्रथम प्राकार (२२।१२८), हिरण्मय निषध (२२।१२८), साल (२२।१२९), चक्रवालाद्रि (२२।१२९), उपरितल (२२।१३१), मौक्तिकावली (२२।१३१), विद्रुममधात (२२।१३२), पद्मरागांशु (२२।१३२), द्विपहरिव्याघ्ररूपमिथुन (२२।१३५), विचित्ररत्ननिर्माण-मनुष्य-मिथुन (२२।१३६), उपसर्पत्प्रतिध्वनि (२२।१३७), गोपुर (२२।१३९), भृंगारकलशादि अष्टोत्तरशतमंगलद्रव्यसम्पत् (२२।१४३), रत्नाभरणभाभारपरिपिंजरिताम्बर तोरण (२२।१४४), अनुतोरण उद्वद्धाभरण (२२।१४५), शंखादिनवनिधि (२२।१४६), महावीथी (२२।१४८), उभयभाग (२२।१४८), नाट्यशालाद्वय (२२।१४८), नाट्यमण्डपरंग (२२।१५१), सुरयोजित (२२।१५४), किन्नर (२२।१५५), धूपघट (२२।१६२), वीथ्यन्तर (२२।१६२), चतस्रो वनवीथय (२२।१६२), त्रिकोण चतुरस्त्रिका वापी (२२।१७४), स्तनकुंकुम (२२।१७४), पुष्करिणी (२२।१७५), कृतकाद्रि (२२।१७५), हर्म्य (२२।१७५), आक्रीडमण्डप (२२।१७५), प्रेक्षागृह (२२।१७५), चित्रशाला (२२।१७६), एकशाला (२२।१७६), द्विशाला (२२।१७६), महाप्रासादपंक्ति (२२।१७६), वनचतुष्टय (२२।१७८), जम्बूद्वीप (२२।१८६), रणदालम्बिघण्टा (२२।१९२), भूर्भुवस्वर्जय (२२।१९२), ध्वजांशुक (२२।१९३), मुक्तालम्बन-भूषित छत्रत्रय (२२।१९४), बुध्नभाग (२२।१९५) जिनेश्वरप्रतिमा (२२।१९५), गंधस्रग्धूपदीपार्घा (२२।१९६) नित्यार्चन (२२।१९६), क्षीरोदोदकधौतांगी हिरण्मयी अर्हतामर्चा (२२।१९७), वनवेदिका (२२।२०५), घण्टाजाल (२२।२०९), अष्टमंगल (२२।२१०), ध्वजपंक्ति (२२।२११), संगीतातोद्यनृत्य (२२।२१०), रत्नाभरण तोरण (२२।२१०), ध्वजस्तम्भ (२२।२१२), मणिपीठ (२२।२१२), अष्टाशीत्यंगल-रुन्द्रत्व (२२।२१३), पञ्चविंशतिकोदण्डअन्तर (२२।२१३), सिद्धार्थ चैत्यवृक्ष (२२।२१४), प्राकारवनवेदिका (२२।२१४), स्तूप (२२।२१४), कैतव (२२।२१४) तीर्थकृद्गुत्सेध (२२।२१५), दशभेदक ध्वज (२२।२१९), अष्टोत्तरशत केतन (२२।२२०), स्रग्ध्वज (२२।२२२), श्लक्ष्णांशुकध्वज (२२।२२३), बर्हिध्वज (२२।२२४), पद्मध्वज (२२।२२५), हंसध्वज (२२।२२८), गरुत्मध्वज (२२।२२९), विनायक (२२।२२९), मृगेन्द्रकेतन (२२।२३१), वृषभ (उक्षा) ध्वज (२२।२३३), इभ (गजाधिप) ध्वज (२२।२३४), चक्रध्वज (२२।२३५), अशीतियुक् सहस्रध्वजा (२२।२३८), शून्यद्वित्रिकसागर ध्वज (२२।२३८), अर्जुननिर्माण द्वितीय साल (२२।२३९), कल्पभरुहवन (२२।२४६), दशप्रभेद कल्पतरु (२२।२४६), उदक्कुरु (२२।२४६), ज्योतिष्क (२२।२४९), ज्योतिरङ्ग

(२२।२४६), दीपाग (२२।२४६), कल्पज (२२।२४६), स्त्रगग (२२।२४६), भावनेन्द्र (२२।२४६), सिद्धार्थपादप (२२।२५१), कल्पद्रुम (२२।२५२), सभागृह (२२।२५३), प्रतोली (२२।२५६), परिवीथी (२२।२५६), सुरशिल्पिनिर्मित प्रासादतक्ति (२२।२५६) अधिष्ठानवन्धन (२२।२५७), कान्तभित्ति (२२।२५७), रत्नचित्रित (२२।२५७), सहर्म्य (२२।२५८), द्वितल (२२।२५८), त्रिचतुस्तल (२२।२५८), चन्द्रशाला (२२।२५८), वलभिच्छन्दशोभी (२२।२५८), कूटागार (२२।२५९), गन्धर्व (२२।२६१), सिद्ध (२२।२६१), विद्याधर (२२।२६१), पन्नग (२२।२६१), किन्नर (२२।२६१), गान (२२।२६२), वादित्रवादन (२२।२६२), सगीतन्टत्यगोष्ठी (२२ २६२), नवस्तूप (२२।२६३), सिद्धार्हत्प्रतिविम्बौघचित्रमूर्ति (२२।२६४), नवकेवललब्धि (२२।२६६), भव्य २२।२६९), नभ स्फटिकसाल (२२।२७०), सद्वृत्त (२२।२७०), खगेन्द्र (२२।२७१), द्वारोपान्त (२२।२७४), सताल (२२।२७५), सुप्रतिष्ठक (२२।२७५) गदादिपाणि-भौमभावनकल्पज (२२।२७६), महावीथ्यन्तरा षोडप भित्ति (२२।२७७)' श्रीमण्डप (२२।२८०), गुह्यक (२२।२८३), योजनप्रमित (श्रीमण्डप) (२२।२८६), देव (२२।२८९), देव (२२।२८९), दानव (२२।२८९), वैदूर्य रत्ननिर्माण प्रथमा पीठिका (२२।२९०), षोडशसोपान मार्ग (२२।२९१), षोडशान्तर (२२।२९१), सभाकोष्ठप्रवेश (२२।२९१), धर्मचक्र (२२।२९२), यक्षमूर्धा (२२।२९२), सहस्रार (२२।२९३), हिरण्मय द्वितीय पीठ (२२।२९४), सिद्धाष्टगुणनिर्मलध्वज (२२।२९६), सर्वरत्नमय तृतीय पीठ (२२।२९८), त्रिमेदवल पीठ (२२।२९९), सिद्धपरमेष्ठी (२२।३०४), विभाग (२२।३१२), जिनास्थायिका (२२।३१२), कैवल्यपूजा (२२।३१५), अमर-निकाय (२२।३१५), समवसरण भूमि (२२।३१५), आस्थानभूमि (२२।३१६)।

प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के द्वारा दी गयी सूचियो मे इन सभी शब्दो का समावेश नही हो पाया है। **आस्थानमण्डल, मगलादर्श, कटिसूत्र, जिनास्थानभूमि,** मरकत, **हेमस्तम्भाप्रलम्बित तोरण, स्तम्भचतुष्टय, पीठिका, त्रिमेखल पीठ, छत्रत्रय, जलखातिका, प्रथम प्राकार, द्विपहरिण्याद्यरूप मिथुन, गोपुर, अनुतोरण उद्बद्धाभरण, नवनिधि, महावीथी, कैतवा , चतस्त्रोवनवीथ्य , आक्रीडमण्डप, वनचतुष्टय, स्त्रग्ध्वज, अर्जुननिर्माण, द्वितीय साल, अधिष्ठानवन्धन, नवस्तूप, त्रिमेखल पीठ तथा समवसरणभूमि** आदि अनेक शब्द इन सूचियो मे स्थान नही पा सके है जबकि ये विशिष्ट, पारिभाषिक एव महत्त्वपूर्ण है और अपने सास्कृतिक और प्रासगिक आशय का स्पष्टीकरण चाहते है। इन शब्दो के इन सूचियो मे समावेश न होने के कारणो मे सम्पादक महोदय के लिए इन शब्दो का साधारणत्व अथवा अनुवाद के समय इनका अर्थ-विधान कर देने पर यहा पुनरुक्ति

की व्यर्थता अथवा सूचीदर्शिका आदि हो सकते हैं जो सर्वथा मनोवैज्ञानिक हैं। वस्तुतः साहित्यशास्त्रियों के लिए **रस, भाव, छन्द,** अलंकार, **रीति, गुण** आदि शब्द जैसे रोजमर्रा के शब्द हो जाते हैं और उनके पदे-पदे अर्थ-स्फोट की, उनके लिए कोई समस्या नहीं होती वैसे ही जैन वाङ्मय और जैन धर्म-दर्शन से परिचित व्यक्ति के लिए उपर्युक्त शब्द नये नहीं लगते। किन्तु उस परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए ये साधारण से शब्द भी विशिष्ट, पारिभाषिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन शब्दों का इस प्रसंग में अपना इतिहास है जिसमें लोकरीति, विश्वास, शिल्प, धर्म, दर्शन तथा संस्कृति छिपी हुई है। कवि ने बड़े कौशल से इस वैभव को शब्दों में छिपाकर पाठकों को समर्पित कर दिया है जिसकी पहचान उसे करनी है और अपने अतीत और अनागत से वर्तमान को जोड़कर उसका तुलनात्मक आस्वाद लेने का अवसर प्राप्त करना है।

दूसरा उदाहरण आदिपुराण के सोलहवें पर्व से लिया जा सकता है। १४४वें श्लोक से २६३वें श्लोक तथा षट्कर्म, वर्णाश्रमस्थिति तथा ग्रामगृहादिसंस्त्याय से सम्बद्ध शब्दावली प्रयुक्त हुई है जिसके अनेक शब्दों का इन सूचियों में समावेश नहीं हो पाया है। **वर्णाश्रमस्थिति** (१६।१४४),[७६] **स्वोच्चस्थग्रह** (१६।१४६), **वप्र** (१६।१६२), **प्राकार** (१६।१६२), **परिखा** (१६।१६२), **गोपुर** (१६।१६२), **अट्टालक** (१६।१६२), **साराम** (१६।१६४), **तत्कर्तृभोक्तृनियम** (१६।१६८), **योगक्षेमानुचिन्तन** (१६।१६८), **असि** (१।१७६), **मसि** (१६।१७६), **कृषि** (१६।१७६), **विद्या** (१६।१७६), **वाणिज्य** (१६।१७६), **शिल्प** (१६।१७६), **क्षत्रिय** (१६।१८३), **वणिज** ((१६।१८३), **शूद्र** (१६।१८३), **प्रजानाह्य** (१६।१८६), **वर्णसंकीर्णि** (१६।२४८) तथा **मात्स्यन्याय** (१६।२५२) आदि अनेक पारिभाजिक शब्द ऐसे हैं जो साधारण पाठक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्याख्यासापेक्ष हैं। जैन मान्यता के सन्दर्भ में 'वर्णाश्रम' की कुछ और संकल्पना है। 'वप्र', '**प्राकार**', '**परिखा**', '**गोपुर**' तथा '**अट्टालक**' आदि शब्द वास्तुशास्त्र से सम्बद्ध हैं। '**क्षत्रिय**', '**वणिक**' तथा '**शूद्र**' शब्द की आदिपुराणकार ने विशेष व्युत्पत्ति दी है। '**असि**' का अर्थ, इस प्रसंग में, केवल तलवार न होकर शस्त्रकर्म है। '**मसि**' का अर्थ केवल स्याही न होकर लेखन-कर्म है। किस व्यक्ति को कौनसा शस्त्र दिया जाता था और किससे कौनसा लेख अपेक्षित था इसको भी कुछ विचार अवश्य होता होगा। '**शिल्प**' का क्या अर्थ है और इसके कितने प्रकार हैं आदि प्रश्नों का उत्तर भी शिल्प' शब्द की प्रसंग विशेष में व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक व्याख्या करने से ही मिल सकता है। '**वर्णसंकीर्णि**' की संकल्पना के पीछे कवि की क्या मनःस्थिति और धारणा रही है तथा '**मात्स्यन्याय**' शब्द का प्रचलन इस अर्थ में कब से हो रहा है आदि प्रश्नों के उत्तर पाठक को चाहिए। वस्तुतः ये शब्द अपनी यात्रा के दौरान **पारिभाषिक**

तथा **विशिष्ट** बन गये है जिनका उल्लेख इन सूचियो मे रहता तो और अच्छा रहता।

ऐसे अनेक शब्द है जो इन सूचियो मे स्थान प्राप्त करने से वञ्चित रह गये है, जिनका समावेश करके एक वृहत् सज्ञा शब्द सूची तैयार करने की आवश्यकता बनी हुई है। सज्ञा शब्दो के अतिरिक्त, भाषाशास्त्रीय और शैलीशास्त्रीय दृष्टि से, आख्यातपदो, निपातो, उपसर्गों तथा पदबन्धादिको की सूची की भी आवश्यकता है जिसके आधार पर शब्दावली का व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक अध्ययन किया जा सके।

किन्तु इतने पर भी इन पौराणिक काव्यो की शब्दावली के सम्बन्ध मे प० पन्नालाल जैन के कार्य का अपना महत्त्व है। जिज्ञासुओ के लिए ये परिशिष्ट अवलोकनीय और सहायक है। पुनरुक्ति से बचने के लिए हम, हरिवशपुराण, आदिपुराण और उत्तरपुराण की शब्दावली को न देकर, केवल 'पद्मपुराण' की विविध-विषय-परक शब्दावली को ही प्रस्तुत कर रहे है। इस शब्द-सम्पत्ति को देखकर शब्द-मर्मज्ञो को रविषेण के विशाल 'लोक-शास्त्रकाव्याद्यवेक्षण' का आभास मिल सकेगा। हरिवशपुराण तथा उत्तरपुराण के परिशिष्टो मे सकलित शब्द पद्मपुराण के उत्तरवर्त्ती है। हम अकारादिक्रम की उपेक्षा करते हुए विषयानुसार शब्दो की सूची उसी आनपूर्वी से दे रहे है जिससे रविषेण ने उनका प्रयोग किया है। चूकि समस्त शब्दो का समावेश प्रस्तुत लेख मे नही हो सकता था अत अकारादिक्रम से शब्द-सूची अधिक उपयोगी नही प्रतीत हुई। नाही परिमित स्थान मे सभी विषयो से सम्बद्ध शब्दो का उल्लेख किया जा सकता है, अत मुख्यविषयानुसारी शब्दसूची ही यहा दी जा रही है। उसमे भी प्रधानत सज्ञापदो एव कुछ विशेषणपदो को ही लिया गया है। इस लेख मे इन शब्दो की निर्माण-प्रक्रिया तथा अर्थवैभव का भी सकेत नही किया जा सकता, उसके लिए स्थानाधिक्य अपेक्षित है। वस्तुत यह लेख, उत्तरवर्त्ती पौराणिककाव्यत्रयी की शब्द के विद्यमान रहते, पूर्ववर्त्ती पौराणिक काव्य-पद्मपुराण की शब्द-सूची निर्माण की पूर्वपीठिका है। चारो ग्रन्थो की शब्दसूची बन जाने पर इनकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन करने मे कुछ सुविधा सभव होगी।

'पद्मपुराण' की शब्द-सम्पत्ति की चर्चा करते समय हमे ज्ञात होता है कि रविषेण ने समाज और जीवन के विशाल क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दो का चयन किया है। रविषेण ने 'पद्मपुराण' मे राम (पद्म) की कथा कहने के बहाने समयानुसार समवसरण जिनेन्द्रमन्दिर, जिनपूजा, शास्त्रार्थ, जैनमुनि, धर्मकथन, पर्व, क्षेत्र-काल, अनेक नगर-नगरियो प्रकृति, नारी-सौन्दर्य-व्यापार-आलापो, पुरुष-सौन्दर्य-वैभव-व्यापारो, सम्भोग-क्रीडा, उत्सव-आमोद, युद्ध, सेना, यात्रा, उपद्रव, शस्त्र, वाद्य, वेषभूषा, विरह-विलाप, पशु-पक्षी, शकुनापशकुन, यन्त्र, वाहन, नगरसमृद्धि,

साहित्य, विविध शास्त्र तथा विविध कलाओ का वर्णन करते हुए तत्सम्बद्ध शब्दावली का भरपूर उपयोग किया है। यहा कुछ शब्द प्रस्तुत है[७७]

१ **समवसरण-सम्बन्धी शब्द** समवस्थान (१।४६), प्राकार (२।१३५), गोपुर (२।१३६), अष्टमगल (२।१३७), स्फटिकभित्ति (२।१३८), द्वादश विभाग (२।१३८), प्रादक्षिण्य पथ (२।१३८), निर्ग्रन्थ (२।१३९), गणनाथ (२।१३९), इन्द्रपत्नी (२।१३९), कल्पवासिसुराङ्गना (२।१३९), आर्यिकासघ (२।१४०), गणपाली (२।१४०), ज्योतिपा योषित (२।१४०), वैयन्तरी (२।१४०), भावनस्त्री (२।१४१), ज्योतिषा गण (२।१४१), व्यन्तर (२।१४१), भावनसघ (२।१४१), कल्पवासी (२।१४२), मानुष (२।१४२), तिर्यञ्च (२।१४२), अशोकपादप (२।१५१), यक्षराज (२।१५२), चामर (२।१५२), गतित्रय (२।१५३) तथा समवसरण (१२२।७२) आदि।

२ **जिनेन्द्रमन्दिर-सम्बन्धी शब्द** रत्नवातायन (२८।८९), मुक्ताजालक (२८।८९), शातकौम्भमहास्तम्भसहस्र (२८।८९), नानारूपसमाकीर्ण (२८।९०), मेरुशृगसमप्रभ (२८।९०), वज्रवज्रमहापीठ (२८।९०), जिनाधिप (२८।९४), नित्यालकृतपूजित (३१।२२४), चन्द्रनाम्भोऽनुलिप्तक्ष्म (३१।२२४), त्रिद्वार (३१।२२४), तुगतोरण (३१।२२४), दर्पणादिविभूष (३१।२२५), मणिपीठ (३१।२२८), जिनविम्व (३१।२३०), चैत्य (४०।२७), महावष्टम्भ-सुस्तम्भ (४०।२८), युक्तविस्तारतुगता (४०।२८), गवाक्ष (४०।२८), हर्म्य (४०।२८), वलभी (४०।२८), तोरण (४०।२९, ११२।४६), महाद्वार (४०।२९); शाला (४०।२९), परिखा (४०।२९), सितचारुपताका (४०।२९), वृहद्घण्टा (४०।२९), सगीत (४०।३०), महोत्सव (४०।३१), जिनप्रासाद-पक्ति (४०।३१), जिनेन्द्राणा पचवर्णा प्रतिमा (४०।३२), शासनदैवत (६७।१२), कृताभिपवपूजन (६७।१३), त्रिसन्ध्यवन्दना (६७।१७), विविधा-श्चर्य (६७।१७), चित्रपुष्पोपशोभित (६७।१७), महाध्वजविराजित (६७।१८), हेमरूप्यादिमूर्त्ति (६७।१९) जाम्बूनदमय (११२।४४), भानुकूटप्रतिम (११२-४४), अशेषोत्तमरत्नौघभूपित (११२।४५), मुक्तादामसहस्राढ्य (११२।४५), वुद्वुदादर्शशोभित (११२।४५), किंकिणीपट्टलम्बूषप्रकीर्णकविराजित (११२।४६), उत्तुगगोपुर (११२।४६), प्राकार (११२।४६), नानावर्ण-चलत्केतु (११२।४७), काञ्चनस्तम्भ (११२।४७) तया प्रासादालीसमावृत (६९।२) आदि।

३ **जिनपूजा-सम्बन्धी शब्द** अभिषेक (६९।४), वादित्र (६९।४), माल्य (६९।४), धूप (६९।४, १०।८९), वलि (६९।४), उपहार (६९।४), सद्वर्ण अनुलेपन (६९।४), पूजा (६९।५), विविध प्रणाम (६९।७), पर्यंकार्धनियुक्ताग

(६६१८), अक्षमाला (६६१६), आलेपन (१०८६), पुष्प (१०८६), भक्ति (१०८६) तथा स्तुति (१०१६०) आदि।

४ **जैन मुनि-सम्बन्धी शब्द :** पञ्चोदारव्रतोत्तुंगमातंगस्कन्धवर्ती (६।२६०), त्रिगुप्तिदृढनीरन्ध्रकंकटच्छन्नविग्रह (६।२६०), पंचभेद समिति (६।२६१, १४।१६६), नानातपोमहातीक्ष्णशस्त्रयुक्तमनस्कर (६।२६१), कषाय ६।२६२), मोह (६।२६२), भवाराति (६।२६२), निरम्बरमहानृप (६।२६२), सर्वारम्भ-परित्याग (६।२६३), सम्यग्दर्शनसंगत (६।२६३), अनगार (६।२६३), नासिकाग्रनिविष्टातिसौम्यनिश्चलचक्षु (२१।६४), मुमुक्षा (२१।६५), विमुक्ति (२१।६६), कल्याणाभिनिविष्टधी (२१।६६), सम (२१।६७), मानमत्सर-निर्मुक्त (२१।६७), वशीकृतहृषीकात्मा (२१।६८), निष्प्रकम्प (२१।६८), नीराग (२१।६८), श्रेय (२१।६८), मलकंचुकसवीत (२२।१), घोरतपोधारी २२।१), वीतमान (२२।१), महामना (२२।१), तप शोषितसर्वांग (२२।२), धीर (२२।२), लुञ्चविभूषण (२२।२). प्रलम्बितमहाबाहु (२२।२), युगाध्व-न्यस्तलोचन (२२।२), निर्विकार (२२।३), समाधानी (२२।३), विनीत (२२।३), लोभवर्जित (२२।३), अनुकूल समाचार (२२।४) दयाविमलमानस (२२।४), स्नेहपंकविनिर्मुक्त (२२।४), श्रमणश्रीसमन्वित (२२।४), नग्न (२२।६), श्रमण (२२।७), लिङ्गी (२२।१३), योगी (२२।१२), मुनि (२२।१४), गगनाम्बर (२६।३३), रोपतोपविनिर्मुक्त (३८।१६), प्रशान्तकरण (३८।१६), शुभध्यानगतात्मा (३८।१७), श्रमणश्री (३८।१७), सद्ध्यानारूढ (३६।३३), प्रतिमा (३६।३३), शरीरचेतनान्यत्ववेदी (३६।३४), मोहवर्जित (३६।३४), संयत (३६।३५), महायोगेश्वर (३६।४६), सुचेष्टित (३६।४६), अर्हद्दक्षर (३६।५०) धर्मानुष्ठान (३६।५१), महाभाग (३६।१०६), वनरेणु-समुक्षित (३६।१०६), मुक्तियोग्यक्रियायुक्त (३६।१०६) प्रशान्तहृदय (३६।१०६), प्रलम्बितभुजद्वय (३६।१०७), षष्ठाष्टमादिभिस्तीव्रैरुपवासैर्विशोषितान् (३६।१०७), स्वाध्यायनिरत (३६।१०८), पाणिपादसमाहित (३६।१०८), ज्ञान-त्रितपसम्पन्न (४१।१४), महाव्रतपरिग्रह (४१।१४), दुस्पृहामुक्तमानस (४१।१४), मासोपवासी (४१।१५), यथोक्ताचारसम्पन्न (४१।१६), गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्न (१०५।६०), वरासनकृतस्थिति (१०५।६०), परमर्द्धिक (१०५।६१),केवलज्ञान (१०५।६२), विसृष्टसर्वसंग (१४।१६५), महात्मा (१४।१६५), सुव्रतनायस्य मते लीना (१४।१६६), निखिलवेदिन् (१४।१६६), मृत्यु-जन्म-समुद्भूत-महात्राससमन्वित (१४।१६६), संगेन रहिता (१४।१६७), पञ्चमहाव्रत (१४।१६८), तत्त्वावगमनतत्पर (१४।१६८), गुप्ति (१४।१६६), अहिंसा (१४।१७०), सत्य (१४।१७०), अस्तेय (१४।१७०), ब्रह्मचर्य (१४।१७०), परिग्रह (१४।१७०), राग (१४।१७१), ग्रन्थ (१४।१७२), समस्तप्रतिबन्धेन

समीरणवदुज्झिता (१४।१७३), मलसम्बन्धरहित (१४।१७४), श्लाघ्यचेष्टित (१४।१७४) सौम्य (१४।१७४), दीप्त (१४।१७४), गम्भीर (१४।१७५), भीतकूर्मवदत्यन्तगुप्तेन्द्रियकदम्बक (१४।१७५), कषायोद्रेकवर्जित (१४।१७६), अशीत्या गुणलक्षाणां चतुःसहितयान्विता (१४।१७६), अष्टादशजिनोद्दिष्टशील-लक्षसमन्विता (१४।१७७), सिद्ध्याकांक्षतत्पर (११।१७७), जिनोदितार्थसंसक्त (१४।१७८), विदितापरशासन (१४।१७८), श्रुतसागरपारस्थ (१४।१७८), यमधारी (१४।१७७), नियमानां विधातार (१४।१७९), समुन्नद्धतयोज्झिता (१४।१७९), नानालब्धिकृतासंग (१४।१७९), महामंगलमूर्त्ति (१४।१७९), तनुकर्मा (१४।१८०), प्रासुकस्थान (२२।६४), चातुर्मासीव्रत (२२।६४), दिग्विरामव्रत (२२।६५) तथा शुक्लध्यान (३९।६८) आदि।

५ **जैन-गृहस्थ-सम्बन्धी शब्द** . गृहाश्रमनिवासी (१४।१८२), द्वादशधा स्थित धर्म (१४।१८२), पञ्च अणुव्रत (१४।१८३), चतुर्विधा शिक्षा (१४।१८३), त्रयो गुणा (१४।१८३), यथाशक्ति सहस्रश नियम (१४।१८३), स्थूल-प्राणाति-पात-विरति (१४।१८४), परवित्तग्रहण (१४।१८४), परदारसमागम (१४।१८४), अनन्तगर्द्धा (१४।१८५), भावना (१४।१८५), दया (१४।१८६) अनर्थदण्ड-विगम (१४।१९८), दिग्विदिक्परिवर्जन (१४।१९८), भोगोपभोग-संख्यान (१४।१९८), गुणव्रत (१४।१९८), सामायिक (१४।१९९), प्रोप-धानशन (१४।१९९), अतिथि-संविभाग (१४।१९९), सल्लेख (१४।१९९), भिक्षोपकरण (१४।२०१) मधु (विरति) (१४।२०२), मांस (विरति) (१४।२०२), मद्य (विरति) (१४।२०२), रात्रिभोजन (विरति) (१४।२०२) वेश्यासंगम (विरति) (१४।२०२) गृहधर्म (१४।२०३), रत्नत्रय (१४।२०४), आसन्नशिवालय (१४।२०५), सम्यग्दर्शनलाभ (१४।२०६), जिनेन्द्रनमस्कार (१४।२०७), जिनबिम्ब (१४।२१३), जिनाकार (१४।२१३), जिनपूजा (१४।२१३), जिनस्तुति (१४।२१३), कृत्याकृत्यविचलक्षण (१४।२१५), शील (१४।२२९), त्याग (१४।२२९), सम्यक्त्व (१४।२२९), दिनभोजन (१४।२९०), मुनिवेलाव्रत (१४।३२८), एकभक्त (१४।३३४), चतुर्दशी-अष्टमी-उपवास (१४।३३९), जिनशासन (१४।३४३), विरति (१४।३४७) तथा चतुःशरण (१४।३७२) आदि।

६ **पर्व तथा उत्सव-सम्बन्धी शब्द :** आषाढधवलाष्टमी (२९।१) पञ्चवर्ण-चूर्ण (२९।३), माल्य (२९।३), उदक (२९।४), बहुविधच्छवि (२९।४), द्वारशोभा (२९।५), नानाधातुरस (२९।५), भित्तिमण्डन (२९।५), जिनस्नपन (२९।७), अष्टोहोपोषित (२९।८), शान्तिगन्धोदक (२९।१०), शान्त्युदक (२९।११), जिनवरोदक (२९।१२), नन्दीश्वरभट्ट (६८।१), धवलाष्टमी (६८-१), पौर्णमासी (६८।१), पलाशादिपुट (६८।७), सभा (६८।११), प्रपा (६८।११, मञ्च

(६८।११), पट्टशाला (६८।११), नाट्यशाला (६८।११), वापी (६८।११), सर (६८।१२), सोपानक (६८।१२), चैत्यकूट (६८।१२), रम्भादि विभूषितसद्द्वार (६८।१३), कनकादिरजश्चित्रमण्डलादि (६८।१३), घृत-क्षीरादिपूर्ण कलश (६८।१४), मुक्तादामादिसत्कप० (६७।१८), जातरूपमय रजतादिमय मणिरत्न-शरीर पद्म (६८।१८) पटह (६८।१९), तूर्य (६८।१९) काहल (६८।१९) तथा शख (६८।१९) आदि।

७ **जैनदर्शन-सम्बन्धी शब्द** सत्ता (२।१५५), तत्त्व (२।१५५), जीव (२।१५५), अजीव (२।१५५), सिद्ध (२।१५५,१०५,१४६),ससारवान् (२।१५५), भव्य (२।१५६), अभव्य (२।१५६), जिनदेशित तत्त्व (२।१५८), एकेन्द्रियादि (२।१५८), गति (२।१५९), काय (२।१५९), ज्ञान (२।१५९), योग (२।१५९), वेद (२।१५९), लेश्या (२।१५९), कषाय (२।१५९), ज्ञान (२।१५९), दर्शन (२।१५९), चारित्र्य (२।१५९), गुणश्रेण्यधिरोहण (२।१५९), निसर्गशास्त्रसम्यक्त्व (२।१६०), नामादिन्यासभेद (२।१६०), सदाधष्टानुयोग (२।१६०), चेतन (२।१६०), ससारिजीव (२।१६१), नारक (२।१६२), तिरश्चा (२।१६३), मानुप (२।१६४), देव (२।१६५) चतुर्गति (२।१६६), कर्मभूमि (२।१६६), धर्मोपार्जन (२।१६६) मिथ्यादृष्टि (२।१८६), मिथ्यादर्शन (२।१८७), समाधि (२।१८९), निदानकृत दोष (२।१८९), वासुदेव (२।१८९), वलदेव (२।१९१), षोडश जिनकर्म (२।१९२), तीर्थकृत (२।१९२), कर्माष्टकलक (२।१९३), घातिकर्मविनाशन (१२।७१), पृथिवी (१०५।१४१), आप (१०५।१४१), तेज (१०५।१४१), मातरिश्वा (१०५।१४१), वनस्पति (१०५।१४१), त्रस (१०५।१४१), जीव (१०५।१४१), निकाय (१०५।१४१), धर्म (१०५।१४२, २।१५७), अधर्म (१०५।१४२, २।१५७), वियत् (१०५।१४२), काल (१०५।१४२), जीव (१०५।१४२), पुद्गल (१०५।१४२), द्रव्य (१०५।१४२), सप्तभगीवचोमार्ग (१०५।१४३), प्रमाण (१०५।१४३), नय (१०५।१४३), एकद्वित्रिचतुपञ्च-हृषीकेषु सत्त्वम् (१०५।१४४), सूक्ष्मसत्वादरभेद (१०५।१४५), भव्याभव्यादिभेद (१०५।१४६), जीवद्रव्य (१०५।१४६) उपयोग (१०५।१४७), अष्टविध ज्ञान (१०६।१४८), चतुर्धा दर्शन (१०५।१४८), ससारी (१०५।१४८), विमुक्त (१०५।१४८), सचित्त (१०५।१४८) विचेतस् (१०५।१४८), स्थावर (१०५।१४९), शेषक (१०५।१४९), पञ्चेन्द्रिय (१०५।१४९), गर्भसम्भव (१०५।१५०), उपपाद (१०५।१५०) नारक (१०५।१५१), सम्मूर्च्छन (१०५।१५१), औदारिक (१०५।१५२), वैक्रिय (१०५।१५२), आहारक (१०५।१५२), तेजस् (१०५।१५२), कार्मण (१०५।१५२) सूक्ष्म (१०५।१५२), चारणपि (१२।७१), केवल (१२।७३) केवलज्ञान (३९।७५) आदि।

८ **ब्रह्माण्डकल्पना-सम्बन्धी शब्द** अनन्तालोक (१०५।१०९) लोक

(१०५।१०६), सप्तभूमि (१०५।११०), रत्नाभा (१०५।१११), शर्करा-वालुका-पंकध्वान्तमोनिभा (१०५।११२), नरक (१०५।११७), देवारण्य (१०५।१४०), अर्णव (१०५।१४०), द्वीप (१०५।१४०), योग्यभूमि (१०५।१४०), जम्बूद्वीप प्रमुख-द्वीप (१०५।१५४, १५५), लवणादिसागर (१०५।१५४), मेरु (१०५।१५६) कुलपर्वत (१०५।१५७), हिमवान् (१०५।१५७), निषध (१०५।१५७), नील (१०५।१५७), रुक्मी (१०५।१५८), शिखरी (१०५।१५८), भरतक्षेत्र (१०५।१५६)

६ विद्या-सम्बन्धी शब्द २४ संख्यक टिप्पणी से दर्शित स्थल मे विद्या-सम्बन्धी शब्दो की सूची दी गई है। उन शब्दो के अतिरिक्त कुछ ये है सर्वाहा (७।३३२), रतिसंवृद्धि (७।३३३), कृम्भिणी (७।३३३), व्योमगामिनी (७।३३३), निद्राणी (७।३३३), सिद्धार्था (७।३३४), शत्रुदमनी (७।३३४), निर्व्याघाता (७।३३४), खगामिनी (७।३३४), भ्रामरी (८।३०८), योधिनी (९।६१), प्रतिवोधिनी (६०।६२), सिंहयान (६०।१३५), गारुड (६०।१३५), अमोघविजया (६५।४२) तथा प्रज्ञप्ति (६५।४२) आदि।

१० शास्त्रार्थ सम्बन्धी शब्द ग्यारहवे पर्व मे शास्त्रार्थ का वर्णन है जिसमे वैदिक मतानुयायी तथा जैन मतानुयायी विचार पद्धतियो पर वाद प्रतिवाद हुआ है। इस प्रसग मे पर्याप्त पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हुए है, यथा यज्ञदीक्षाख्यपातक (११।६), अजैर्यष्टव्यम् (११।४१), आलम्भन (११।४३), पशु (११।४३, ८४, २४४), प्राश्निक (११।४५)। यौनसम्बन्ध (११।५५), शास्त्रीय सवध (११।५५), दक्षिणा (११।५७), ऋषि (११।५८), चतुर्विधि जनपद (११।६५), नाना प्रकृति (११।६५), सामन्त (११।६५), मन्त्री (११।६५), जलमण्डल (११।६५), विवाद (११।६६), तत्त्व (११।६७), वितथसामर्थ्य (११।७०), परमार्थनिवेदन (११।७०), हिंसाधर्मप्रवर्तन (११।७२), वामस्कन्धस्थसूत्रक (११।७६), कमण्डलत्वक्षमालादिनानोपकरणावृत (११।७६), हिंसाकर्मपर शास्त्र (११।८०), तापस (११।८१), सूत्रकण्ठ (११।८१, १०८, २३८), हिंसाधर्म (११।८१), पक्ष (११।८२), यज्ञ (११।८३), ब्रह्मा (११।८३), वध (११।८४), सौत्रामणि (११।८५), सुरापान (११।८५), अगम्यागमन (११।८५), गोसव (११।८५), मातृमेध (११।८६), पितृमेध (११।८६), अन्तर्वेदि वध (११।८६), आशुशुक्षणि (११।८७), जुह्वक (११।८७), स्वाहा (११।८७), शुद्धद्विजन्मा (११।८८) खलति (११।८८), आस्यदघ्न (११।८६), ज्वलन (११।८६), आहुति (११।८६) पुरुष (११।६०), ईशान (११।६०), अमृत्व (११।६०), अन्न (११।६०), प्राणिनिपातन (११।६१), मास-भक्षण (११।६२), यायजूक (११।६२), देवोद्देश्य (११।६२) हिंसायज्ञस्वनी (११।६४), दीक्षित (११।६४, १२८), कुग्रन्थ (११।१०३), यज्ञवाट (११।१०६), ऋत्विक् (११।१०७, १६२),

यथाविधि उपदेश (११।१०७), निमन्त्रित (११।१०८), यज्ञमही (११।१०९), वेदमंगलनिस्वन (११।१०९), अब्रह्म (११।१०९), आर्त्विजीन (११।१६३), माणवक (११।१६३), हेतुवर्जित असम्बद्ध भाषण (११।१६४), उपपत्ति (११।१६५, १६६), अकर्तृक वेद (११।१६७), प्रमाण (११।१६७), अतीन्द्रिय (११।१६७), वर्णत्रय (११।१६७), कर्म (११।१६७), अपूर्व धर्म (११।१६८), याग (११।१६८), फल (११।१६८), स्वर्ग (११।१६८), प्रत्यवाय (११।१६९), शास्त्रचोदित (११।१६९), वितान (११।१७०), दुर्ग्रन्थभावनादूषितात्मा (११।१७१), सर्वज्ञ (११।१७२, १७७), शब्दार्थबुद्धिभेद (११।१७२), असत् अर्थ (११।१७४), वाग्व्यतिक्रम (११।१०४) अनुमान (११।१७६), प्रतिज्ञा (११।१७६), अभाव (११।१७६), आगम (११।१७८), विरोध (११।१७८), अनेकान्त (११।१७८), साध्य अर्थ (११।१७८), सिद्धप्रसाधक (११।१७८), सर्वथा अयुक्तवक्तृत्व (११।१७९), असिद्ध (११।१७९), स्याद्वाद् (११।१७९), सिद्ध (११।१८०), विरुद्ध (११।१८०), साधन (११।१८०, १८६), दोषवान् आगम (११।१८१), साध्यविहीन दृष्टान्त (११।१८२), एकान्तयुक्तोक्ति दृष्टान्त (११।१८३), साध्यसाधनवैकल्य (११।१८३), सधर्मा (११।१८३), अदृष्टवस्तु (११।१८४), वेद (११।१८४) दूषण (११।१८४), हेतु-समाश्रयण (११।१८४), सर्वज्ञतायोग (११।१८५), व्यतिरेक (११।१८६), अविनाभाव (११।१८६), स्वपक्ष (११।१८७), अपेक्षितविपर्यय (११।१८८), वेदस्य कर्त्तृभाव (११।१८९), युक्त्यमात्र (११।१८९) ससाध्य (११।१८९), दृश्य (११।१८९), हेतुसभव (११।१८९), पदवाक्यादिरूप (११।१९०), विज्ञेयप्रतिषेध्यार्थ (११।१९०)। प्रजापति (११।१९१), श्रुति (११।१९२), रागद्वेष (११।१९२) ग्रन्थदेशन (११।१९३), जात्या चातुर्विध्यम् (११।१९४), श्लोकाग्नि (११।१९४), जातिभेद (११।१९५), वर्णव्यवस्थिति (११।१९८), ब्रह्मण मुखादिसम्भव (११।१९९), निर्हेतु (११।१९९), भाषमाणक (११।१९९), गुणयोग (११।२००), ब्राह्मण (११।२०१), क्षत्रिय (११।२०२), वैश्य (११।२०२), शूद्र (११।२०२), जाति (११।२०३), गुण (११।२०३), चातुर्वर्ण्य (११।२०५), अपूर्वाख्य धर्म (११।२०६), नित्य (११।२०६), अनित्य (११।२०६) प्रायश्चित्त (११।२१०), सोम (११।२११), प्रतर्पण (११।२१२), द्वादशीदक्षिणा (११।२१३), मायु (११।२१४), व्यभिचार (११।२१५), स्वयम्भू (११।२१७), लोक (११।२१७), सर्ग (११।२१७), पुराणतृणदुर्बल (११।२१७), कृतार्थ (११।२१८), सम्यक्त्व (११।२२३), एकान्तवादी (११।२२३), निश्चय (११।२२६), अनवस्था (११।२२७), प्रश्न (११।२३१), बीज पादप (११।२३१), ब्रह्मलोक (११।२३७) वसु (११।२३८), स्वपक्षानुमतिप्रीति (११।२३९), वह्नि (११।१३९, २४४),

पिष्ट (११।२४०), यज्ञकल्पना (११।२४१), यजमान (११।२४२), वितर्दिका (११।२४२), पुरोडाश (११।२४२), हवि (११।२४२), दर्भ (११।२४३), दक्षिणा (११।२४३), प्राणायाम (११।२४३), सितध्यान (११।२४३), सिद्धपद (११।२४३), फल (११।२४३), यूप (११।२४४), समित् (११।२४४), धर्मयज्ञ (११।२४४), देवतृप्ति (११।२४५), स्पर्श (११।२४६), रस (११।२४६), रूप (११।२४६), गन्ध (११।२४६), त्रयोऽग्नय (११।२४८), दक्षिणाग्नि (११।२४८), अनेकान्तदिवाकर (११।२५२), शास्त्रार्थ (११।२५२), वेदार्थाभ्यसन (११।२५३) आदि।

११ **कामशास्त्रीय शब्द :** ताम्बूलराग (१६।८५), माल्य (१३।१४८), अनुलेपन (१६।१४८) योग (१६।१४९), सखी (१६।१५३), स्तम्भ (१६।१६९), वेपथु (१६।१६९, १८९), सम्भ्रम (१६।१७०), स्वेद (१६।१७२), पुलक (१६।१७२), स्पर्श (१६।१७२), अकुर (१६।१७२), त्रपमाण (१६।१७४), विलक्ष, (१६।१७५), आद्यसम्भापण (१६।१७६), चिवुकेऽङ्गुलिनिधानम् (१६।१७९), मुखोन्नमन (१६।१७९), अपराध (१६।१८०), प्रणाम (१६।१८०), प्रसाद (१६।१८०), समाश्लेप (१६।१८३), सुखामीलितलोचन (१६।१८३), वियोग (१६। १८४,), आलिंगन (१६।१८५), पाद (चुम्बन) (१६।१८६), कर (चुम्बन) (१६।१८६), नाभि (चुम्बन) (१६।१८६), स्तन (चुम्बन) (१६।१८६), अलिक (चुम्बन) (१६।१८६), गण्ड (चुम्बन) (१६।१८६), मदनातुर (१६।१८६), वक्त्र चुम्बन (१६।१८७), अधरपान (१६।१८८), नीवीविमोचन (१६।१८९), नितम्बफलक (१६।१९०), वेग (१६।१९१), गाढग्रहण (१३।१९१), वैदग्ध्य (१६।१९२), स्मर (१६।१९२)। अनुराग (१६।१९२), रति (१६।१९३), दम्पती (१६।१९३), स्तन (१६।१९४), जघन (१६।१९४-१९८), रत (१६।१९५), रतिश्रम (१६।१९५), अधरग्रहण (१६।१९६), सीत्कार (१६।१९६), नखाक (१६।१९७), सेचनकत्व (१६।१९८), वलयरणत्कार (१६।१९९), कलालाप (१६।१९९), प्रस्वेदविन्दु (१६।२०१), रतान्त (६।१०१), रदग्रहारुणीभूत अधर (१६।२०२), सुरतोत्सव (१६।२०४), निद्रा (१६।२०४, २०९), खिन्नदेह (१६।२०४), अन्योन्यभुजाश्लेप (१६।२०६), सौरभ, नि श्वास (१६।२०७), परिष्वगचक्रितस्तनमण्डल (१६।२०७), यथेष्टदेश, विन्यस्तनानाकारोपधानक (१६।२०८), स्पर्शसुख १६।२०९), शयनीय (१६।२१०), परिमल (१६।२११), प्रमद (१६।२११), त्रपा (१६।२११), लब्धमनोरथा १६।२११), कृतध्वनि (१६।२१५), विजृम्भण (१६।२१७), निद्राशेपारुणनिरीक्षण (१६ २१७), वामतर्जन्या श्रवणकण्डूयन (१६।२१९), दक्षिणवाहुसकोच (१६।२१८), स्मित (१६।२२०), सुखरात्रि (१६।२२०),

निवेदन (१६।२२०), लज्जन (१६।२२३), ऊरुकाण्डदर्शन (३९।१८९), मार (३०।१८९), लावण्यरस (६९।१८९), वक्षसिजद्वय (३९।१९०), सत्रस्त, नीरिवरतेर्ग्रहम् (३९।१९१)- उत्तेजनाभिमण्डल (३९।१९१), कक्षोद्देश्य (३९।१९१), स्मरवाण (३९।१९३), स्त्र समानाशुक (१२२।५७), वाहुमूलदर्शन (१२२।५७)- नितम्बफलक (१२२।५९) आदि।

१२ **युद्ध, सेनायात्रा उपद्रवादि से सम्बद्ध शब्द** चतुरग सैन्य (४।६८), दृष्टियुद्ध (४।७१), बाहुरण (४।७३), चक्ररत्न (४।७२), चमू (६।४३६, ५।१४)), वाहिनी (६।४४६), गज (६।४४७), रथ (६।४४७), पदाति (६।४४७), तुमुल (६।४५१), नगर-रोध (६।४५८), ध्वज (६।४५८), रणसज्ञा-विधान (७।६७), सन्नाहमण्डनोपेत (७।६८), ककटच्छन्नविग्रह (७।७१), सप्ति (७।७३), वाजि (७।७३), शस्त्रवर्ष (७।८१), स्वकनामाङ्कितशर (७।८५), पलायन (७।९०), अनुमार्ग (७।९१), महारथ (८।१९७), विमान (८।१९८), स्यन्दन (८।१९९), सेना-सम्पात (८।२०१), शस्त्रसम्पात (८।२०१, १०।११२), रणमस्तक (८।२०८), वीर-शय्या (८।२४१), कलकल (८।२४०), प्रतिक्रिया (८।२४३), चिकित्सक (८।२४३), लुण्टन (८।४४२), प्रयाणक (१०।४३), घनव्यूह (१०।१०७) भर्तृवाक्य (१०।११४), धानुष्क (१०।१२१, १२७) रयस्थ (१०।१२१), मत्तवारण (१०।१२२, १२।१९०), ककट (१०।१२५), धनुर्वेद (१०।१२८), व्रणभग-विधान (१०।१३६), गवेषण (१०।१३६), प्रभातहततूर्य (१०।१३७), सन्नाहमण्डप (१२।१८१), सन्नाहमज्ञार्थ तूर्यवादन (१२।१८१), आधोरण (१२।१९०), चमूमुख (१२।१९३), मुखभग (१२ १९४), सेवामुखावसाद (१२।१९५), पृतनावक्त (१२।१९५), सुमनद्ध (१२।१९७), सुशस्त्र (१२।१९७), सुयान (१२।१९७), सैन्यवक्त्र (१२।१९९), समरविधि (७५।११), न्याय्य सग्राम (१२।२९०), युद्ध-ग्रहण (१९।८९), जीवग्राह (१९।६१), लुण्टित (१९।७०) उपद्रव (१९।९१), पत्ति (५६।४), सेनामुख (५६।४), गुल्म (५१।४), पृतना (५६।४), अनीक (५६।५), अक्षौहिणी (५६।४, १०।१९) आदि।

१३ **सैनिक वेषभूषा-शस्त्रास्त्र सम्बन्धी शब्द** हेति (७।६८), सन्नाह (१२।१८१), मण्डलाग्र (१२।१८२), ककट (१०।१२५, १२।१८२), धनु (१२।१८३), शिरस्त्राण (१२।१८३), अर्द्धबाहुट्टिका (१२।१८३), सायकपुत्रिका (१२।१८३), असि (१०।११२, १२।१८८, २११, २५७, ६२।७), तोमर (१२।१८८), पाश (१२।१८८, २५८), ध्वज (१२।१८८), छत्र (१२।१८८), शरासन (१२।१८८), करवाल (१२।२१५, ७३।१७९), कनक (१२।२११, २३४, २५७, २७।६१, ७४।४९), गदा (१०।११२, १२।२११, २५७,

५०।३२), शक्ति (७।८६, १२।२११, २५८, ५२।३९, २७।६१), चाप (१२।२११, २५७, ५२।३७), मुद्गर (१२।२११, २५८, ५०।३२, ६२।७), कोदण्ड (१२।२३२), भिण्डिमाल (१२।२३६, ८।२३९), प्रास (१०।११२, २४।४२१), बाण (१०।११२, १२५, ५०।३२, ५२।३८), सायक (१०।१३०, ८।२३५), कुन्त (१२।२५७, ५२।४०), मुसल (१२।२५७, ५२।४०, ६०।१४०), शर (१२।२५७, ५२।३९, परिघ (८।२०६, ६२।७, १२।२५७), चक्र (१२।२५७, ५२।४०, ५२।७, ३४।५९, २७।६१), करवाली (१२।२५७), अङ्घ्रिप (१२।२५७), शूल (१२।२५८, २६।६१, ६२।७४), पाश (१२।२५८), भुशुण्डि (१२।२५८, ५०।३२), कुठार (१२।२५८), घन (१२।२५८, ६२।७), ग्रावा (१२।२५८), लागल (१२।२५८), दण्ड (१२।२५८), कोण (१२।२५८), सायकवेणु (१२।२५८), परशु (५०।३२, ५२।४०), शतघ्नी (५०।३२, ५२।४०), शैलशिखर (५०।३२) उल्का (५०।३७, ७५।५७, १९।५५), लागूल (५९।३७, ७५।५७), शिला (५२।४०), वज्रदण्ड (८।२३८, ५२।४०), क्रकच (६२।७, २७।६), यष्टि (६२।७), अर्ष्टि (६२।७ ७४।४२), कृपाण (६।४५२, ८।२२९), विशिख (७।८२), शशाकार्धेपु (०।२३६) वज्रसूची (८।३११), चन्द्रार्धसायक (२२।२१९), लागूलपाश (१९।५४) असिधेनु (२७।६७), हल (६०।१४०), प्राकृतास्त्र (१२।३१२), आग्नेय (१२।३२२), वरुण (लक्षित) अस्त्र (१२।३२५), तामसास्त्र (१२।३२८ ६०।१००), प्रभास्त्र (१२।३३०), नागास्त्र (१२।३३२), गरुडास्त्र (१२।३३६), नागसायक (६०।१०२) आदि।

१४ **वाद्य-सम्बन्धी-शब्द** शख (१२।३५५, ५८।२६ ७८।६२-६३, ८८।२६) तूर्य (७।३६५, ५८।२६, ६८।१९, ८८।२७), भभा (५८।२७), भेरी (५८।२७, ७८।६२-६३, ८८।२६) मृदग (५८।२७, ६८।१९, ७८।६२-६३, ११०।६७), लम्पाक (५८।२७), धुन्धु (५८।२७) मण्डुक (५८।२७), झल्ला (५८।२७), अम्लातक (५८।२७), हक्का (५८।२२) हुकार (५८।२२), डुन्द्रकाणक (५८।२७), झर्झर (५८।२८), हेकगुञ्जा (५८।२८), काहल (५८।२८, ६८।१९), दर्दुर (५८।२८), पटह (६८।१९, ७८।६२-६३), सुमुन्द (६८।६२-६३), झर्झरीक (७८।६२-६३), दुन्दुभि (७८।६२-६३, ८८।२७), झल्लरी (८८।२७), प्रवर (८८।२७), वश (८८।२७, १२२।५१), घण्टा (१२।१८९) पटल (१२।३५५), वीणा (३।१०५ ११४, ४०।१३०, ७८।६२-६३, ११०।६७, १२२।५१), तन्त्री (३।१०५) वेणु (११०।६७) आदि।

१५ **वास्तुकला (भवन-निर्माण कला) सम्बन्धी** शब्द . कुछ शब्द सख्या (२)

मे जिनेन्द्र-मन्दिरो से सम्बद्ध सूची मे दिये गये है, प्रासादो से सम्बद्ध कुछ शब्द यहा दिये जा रहे हैं प्रासाद (११०।६३), कनकस्तम्भसहस्रपरिशोभित (११०।६३) कुट्टिम (१४।१२६, ११०।६४), सर्वोपकरणान्वित (११०।६४), स्नानादिविधिसम्पत्तियोग्य निर्मलभूमि (११०।६५), वलभीशोभि (४६।२), रत्ननिर्मितशेखर (४६।२), हेमद्रवन्यस्त लेप्यतेज समुज्ज्वल (४६।२), मुक्तादामसमाकीर्ण (४६।३), वातायनविराजित (४६।३), उद्यानाकीर्णपर्यन्त (४४।३) हेमस्फटिकवैडूर्यस्तम्भनिर्माण-निर्मित (१४।१२८), वहुभूमिक प्रासाद (१४।१२८), भित्ति (१४।१२८), विचित्रमणिकुट्टिम (१४।१२६), ९९ चमर—सिंह—गजादि—रूप—निचित—पार्श्व वेदिकालङ्कृत (१४।१३०), चन्द्रशालादियुक्त (१४।१३१), ध्वजमालाविभूपित (१४।१३१), सोपाश्रय-मनोहारिशयनासनसगत (१४।१३१), आतोद्यवरसम्पूर्ण (१४।१३१), शृगकोटि (८।२०) तथा शखशुभ्रमहागृह (८।२५) आदि।

१६ **स्त्रियो के लिए ज्ञातव्य कलाओ से सम्बद्ध शब्द :** केकया की कलाओ के वर्णन मे तथा कुछ अन्य प्रसगो मे इन कलाओ से सम्बद्ध शब्दावली का प्रयोग हुआ है, यथा

(अ) **नाट्यकला-परक शब्दावली** नृत्त (२४।६), गीत (२४।१६), वाद्य (२४।२१), नाट्य (२४।२२), अगहाराश्रय (२४।६), अभिनयाश्रय (२४।६), व्यायामिक (२४।६), तेवालेवाध्वनि (३७।१००), रेचक (३७।१०३), ललितागविवर्तन (३७।१०३), सस्मितालोकित (३७।१०४), विगलद्भ्रूसमुद्गम (३७।१०४), गमकानुगतस्तनकम्प (३७।१०४), जघनसचार (३७।१०५), वाहुलताहार (३७।१०५), सुलीलकरपल्लव (३७।१०५), पादन्यास (३७।१०६), लघुस्पृष्टविमुक्तधरणीतल (३७।१०६), आशुसम्पादितस्थान (३७।१०६), केशपाशविवर्तन (३७।१०६), त्रिकवलग्न (३७।१०७), गात्रसन्दर्शन (३७।१०७), मूर्च्छना (३७।१०८), परिलीनसखीस्वर (३७।१०८), आतोद्यानुगतनृत्य (३७।११२), कण्ठ (२४।७), शिरस् (२४।७), उरस् (२४।७), षड्ज (२४।८), ऋषभ (२४।८) गान्धार (२४।८) मध्यम (२४।८), पञ्चम (२४।८), धैवत (२४।८), निषाद, (२४।८), द्रुत (२४।६), मध्य (२४।६), विलम्बित (२४।६), लय (२४।६) अस्र (२४।६), चतुरस्त्र (२४।६), तालयोनि (२४।६), वर्ण (२४।१०), पद (२४।१०) स्थायी (२४।१०), सचारी (२४।१०), आरोही (२४।१०), अवरोही (२४।१०), नाम (२४।११), आख्यात (२४।११), उपसर्ग (२४।११), निपात (२४।११), सस्कृता, (२४।११), प्राकृती (२४।११), शौरसेनी (२४।११), भाषा (२४।११), धैवती (२४।१२), आर्षभी (२४।१२), षड्जषड्जा (२४।१२), उदीच्या (२४।१२), निषादिनी (२४।१२), गान्धारी (२४।१२),

षड्जकैकशी ((२४।१२), षड्जमध्यमा (२४।१२), गान्धारीदीच्या (२४।१३) मध्यमपञ्चमी (२४।१३), गान्धारपञ्चमी (२४।१३), रक्तगान्धारी (२४।१३), मध्यमा (२४।१३), आन्ध्री (२४।१४), मध्यमोदीच्या (२४।१४), कर्मारवी (२४।१४), नन्दनी (२४।१४), कौशकी (२४।१४), अष्टजाति (२४।१५), दशजाति (२४।१५), त्रयोदश अलकार (२४।१५), प्रसन्नादि (२४।१६, १८), प्रसन्नान्त (२४।१६, १८), मध्यप्रसादवान् (२४।१६) प्रसन्नाद्यवसान (२४।१६), चतुर्धा स्थायिभूपण (२४।१६), निवृत्त (२४।१७), प्रस्थित (२४।१७), विन्दु (२४।१७), प्रेखोलित (२४।१७), तार (२४।१७), मन्द्र (२४।१७), प्रसन्न (२४।१७), षोढासचारिभूषण (२४।१७), आरोहण एकमेवविभूपणम् (२४।१८), कुहर (२४।१८), अलकार योजन **साधुगीत** (२४।१९) । तत (२४।२०), तन्त्रीसमुत्थान (२४।२०), अवनद्ध (२४।२०), मृदगज (२४।२०), शुषिर (२४।२०), वशसम्भूत (२४।२०), घन (२४।२०), तालसमुत्थित (२४।२०), **चतुर्विद्यावाद्य** (२४।२१), नानाभेद (२४।२१), शृगार (२४।२२), हास्य (२४।२२), करुण (२४।२२), वीर (२४।२२), अद्भुत (२४।२२), भयानक (२४।२२), रौद्र (२४।२३), वीभत्स (२४।२३), शान्त (२४।२३), नव रस (२४।१३)।

(आ) **लिपि-विज्ञान-सम्बन्धी शब्द** अनुवृत्त (२४।२४), विकृत (२४।२४) कल्पित (२४।२४), सामयिक (२४।२५), नैमित्तिक (२४।२५), प्राच्य (२४।२६), मध्यम (२४।२६), यौधेय (२४।२६), समन्द्र (२४।२६), लिपिज्ञान (२४।२४, २६)

(इ) **उक्तिकौशल-सम्बन्धी शब्द** उक्तिकौशल (२४।२७), स्थान (२४।२७), स्वर (२४।२७), सस्कार (२४।२७), विन्यास (२४।२७), काकु (२४।२७), समुदाय (२४।२८), विराम (२७।२८), सामान्याभिहित (२४।२८), समानर्थत्व (२४।२८), भाषा (२४।२८), जाति (२४।२८), लक्षणा (२४।३०), उद्देश्य (२४।३०), पदविन्यास (२४-३०), वाक्यविन्यास (२४।३०), सापेक्षा काकु (२४।३१), निरपेक्षा काकु (२४।३१), गद्य (२४।३१), पद्य (२४।३१), मिश्र (२४।३१), सक्षिप्तता (२४।३२), तुल्यार्थता (२४।३३) एकशब्देन वह्वर्थप्रतिपादनम् (२४।३३), आर्यभाषा (२४।३३), लक्षणभाषा (२४।३३), म्लेच्छभाषा (२४।३३), पद्यव्यवहृति (२४।३४), लेख (२४।३४), व्यक्तवाक् (२४।३४), लोकवाक् (२४।३४), मार्गव्यवहार (२४।३४), मातृका (२४।३४)।

(ई) **चित्रकला-सम्बन्धी** शब्द : शुष्कचित्र (२४।३६), नानाशुष्क (२४।३६), वर्जित (२४।३६), आर्द्रचित्र (२४।३६), चन्दनादिद्रवोद्भव (२४।३६), कृत्रिमरग (२४।३७), अकृत्रिमरग (२४।३७), भूजलाम्बरगोचर (२४।३७), वर्णश्लेप (२४।३७)।

(उ) **पुस्तकर्म-सम्बन्धी शब्द :** पुस्तकर्म (२४।३८), क्षय (२४।५८), उपचय (२४।३८), सङ्क्रम (२४।३८), तक्षण (२४।३८), काष्ठादि (२४।३८), उपचिति (२४।३९), मृदादि (२४।३९), उपचेय (२४।३९), सङ्क्रान्त (२४।३९), प्रतिबिम्बाधान (२४।५९) यन्त्र (२४।४०), निर्यन्त्र (२४।४०), सच्छिद्र (२४।४०) निश्छिद्र (२४।४०)।

(ऊ) **पत्रच्छेद्य-सम्बन्धी शब्द :** पत्रच्छेद्य (२४।४१), बुष्किम (२४।४१), छिन्न (२४।४१), अच्छिन्न (२४।४१), सूची (२४।४१), दन्त (२४।४१), कर्तरी (२४।४२), सम्बन्धसयुत (२४।४२), सम्बन्धपरिवर्जित (२४।४२), पत्रवस्त्रसुवर्णादिसम्भव (२४।४३), स्थिर (२४।४३), चचल (२४।४३), सवृतासवृतादिज (२४।४३)।

(ऋ) **माल्यनिर्माण-सम्बन्धी शब्द** आर्द्र (२४।४४), शुष्क (२४।४४), तदुन्मुक्त (२४।४४), सिक्थकादि समुद्भूत (२४।४५), रणप्रबोधन (२४।४६), व्यूह सयोग (२४।४६)।

(ॠ) **सुगन्धित पदार्थ-निर्माण-सम्बन्धी शब्द :** योनि (२४।४७), द्रव्य (२४।४७), अधिष्ठान (२४।४७), रस (२४।४७), वीर्य (२४।४७), कल्पना (२४।४७), परिकर्म (२४।४७), गुण (२४।४७), दोष (२४।४८), तगर (२४।४८), वर्ण (२४।४८), वर्तिका (२४।४८), कषाय (२४।४९), मधुर (२४।४९), तिक्त (२४।४९), कटुक (२४।४९), अम्ल (२४।४९), शीतवीर्य (२४।५०), उष्णवीर्य (२४।५०), विवादानुवादसवादयोजन (२४-५०), स्नेह (२४।५१), शोधन (२४।५१), क्षालन (२४।५१), स्वतन्त्र (२४।५२), अनुगत (२४।५२), गन्धयुक्ति (२४।५२),।

(ऌ) **आस्वाद्यविज्ञान-सम्बन्धी :** भक्ष्य (२४।५३), भोज्य (२४।५३), पेय (२४।५३), लेह्य (२४।५३,५५), चूष्य (२४।५३), कृत्रिम (२४।५३,५५) अकृत्रिम (२४।५३,५५), यवागू (२४।५४), ओदन (२४।५४), शीतयोग (२४।५४), जल (२४।५४), मद्य (२४।५४), राग (२४।५५), खाण्डव (२४।५५), पाचना (२४।५६), छेदन (२४।५६), उष्णत्वकरण (२४।५६), शीतत्वकरण (२४।५६), आस्वाद्यविज्ञान (२४।५६)।

(ॡ) **रत्न-परीक्षा सम्बन्धी शब्द** वज्र (२४।५७), मौक्तिक (२४।५७), वैडूर्य (२४।५७), सुवर्ण (२४।५७), रजतायुध (२४।५७), वस्त्र (२४।५७), सख (२४।५७), रत्न (२४।५७), लक्षण (२४।५७)।

(ए) **सिलाई-कढाई-सम्बन्धी शब्द** तन्तुसन्तानयोग (२४।५८) वहुवर्णक रागाधान (२४।५८)।

(ऐ) **उपकरण-निर्माण-सम्बन्धी शब्द** लोह (२४।५९), दन्त (२२।५९),

जतु (२४।५६), क्षार (२४।५६), शिला (२४।५६), सूत्र (२४।५६), उपकरण (२४।५६)।

(ओ) **मानज्ञान-सम्बन्धी शब्द** मेय (२४।६०), देश (२४।६०), तुला (२४।६०), काल (२४।६०), प्रस्थ (२४।६०), वितस्ति (२४।६१), पल (२४।६१), समय (२४।६१), आरोह (२४।६२), परीणाह (२४।६२), तिर्यक् (२४।६२), गौरव (२४।६२), क्रियामुत्पन्न (२४।६२), मान (२४।६२)।

(औ) **क्रीडा-सम्बन्धी शब्द** चेष्टा (२४।६७), उपकरण (२४।६७), वाणी (२४।६७), कलाव्यत्यसन (२४।६७), शरीरजा (२४।६७), कन्दुकादि (२४।६८), वाक्क्रीडन (२४।६८), सुभाषित (२४।६८), दुरोदरन्यास (२४।६९), बहुभेद (२४।६९), क्रीडा (२४।६९)।

(अं) **लोकज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान** आश्रितलोक (२४।७०), आश्रयलोक (२४।७०), जीव (२४।७०), निर्जीव (२४।७०), पृथिव्यादि (२४।७०), नानाभवोत्पत्ति (२४।७१), स्थिति (२४।७१), नश्वरता (२४।७१), पौर्वापर्य (२४।७२), घर (२४।७२), भू (२४।७२), द्वीप (२४।७२), देश (२४।७२), स्वभावावस्थित लोक (२४।७२), लोकज्ञत्व (२४।७१)।

(अ) **सवाहनकला-सम्बन्धी ज्ञान** कर्मसंश्रया (२४।७३), शय्योपचारिका (२४।७३), त्वङ्मासास्थिमन -सौख्य (२४।७४), सस्पृष्ट (२४।७४), गृहीत (२४।७४), मुक्तित (२४।७४), चलित (२४।७४), आहत (२४।७५), भगित (२४।७५), विद्ध (२४।७५), पीडित (२४।७५), भिन्नपाटित (२४।७५), मृदु (२४।७५), मध्य (२४।७५), प्रकृष्ट (२४।७५), सुकुमार (२४।७६), मध्यम (२४।७६), उत्कृष्ट (२४।७६), मृदुगीति (२४।७६), दोप (२४।७७), प्रतीप (२४।७७), लोम (२४।७७), उद्वर्तन (२४।७७), निर्मांसपीडित (२४।७७), केपाकर्षण (२४।७७), अद्भुत (२४।७७), भ्रष्टप्राप्त (२४।७८), अमार्गप्रयात (२४।७८), अतिमुग्नक (२४।७८), अदेशाहत (२४।७८), अत्यर्थ (२४।७८), अवमुप्तप्रतीपक (२४।७८), योग्यदेशप्रयुक्त (२४।७९), सुकुमार (२४।७९), ज्ञाताकूत (२४।७९), शोभन (२४।७९), करण (२४।८०), शय्योपचरणात्मिका (२४।८०), सवाहनकला (२४।८१)।

(क) **शरीरवेष-सस्कारकौशल सम्बन्धी शब्द** शरीरवेपसस्कारकौशल (२४।८२)। स्नान (२४।८२), मूर्धजवास (२४।८२) स्नान-पादपीठ (७।३६१), वक्र (७।३६२), राजत कुम्भ (७।३६२), पल्लवमच्छन्न (२१।३६०), हारविराजित (२४।३६२), आमोद-वासिताशेपदिक्चक्रजल-पूरित (७।३६३,७१।१६), एकानेकमुख (७।३६४), गन्ध (७।३६५) उद्वर्तन (३।१८६,७।३६५), कान्तिविधान (७।३६५), अभिषेक (७।३६५), दिव्यवस्त्रविभूषण (७।३६६), मगल (७।६६), राजत कलश (७२।१२),

हाटक-कलश (७२।१३), गरुत्ममणिनिर्माण-कुम्भ (७२।१४), नानामणि-स्फीतप्रभाभाक् वरासन (७२।१४), पद्मच्छन्नमनोहर कुम्भ (३।१८३), सद्गन्ध (३।१८६), अनुलेपन (३।१८६)। स्नानपीठ (८०।७३) शृंगार-**प्रसाधन** विभूषण (३।१८७) कुण्डल (३।१८७,७८।३१), वज्रसूचीविभिन्नकर्ण (३।१८८), पद्मरागमणि (३।१८६), चूडा (३।१७६), अर्द्धचन्द्राकृति ललाटिका (३।१६०), जात्यहेमकेयूर (३।१६०), केयूर (८८।३१), नक्षत्रस्थूलमुक्ता (३।१६१), हार (३।१६१), पीनकेयूर (६६।६), श्रीवत्स (३।१६१), हरिन्मणि (३।१६२) सरोजश्रीरत्न (३।१६२,८८।३१), प्रालम्ब (३।१६२), कटक (३।१६३), पट्टांशुक (३।१६४), (३।१६८) कटिसूत्र (३।१६४), दाम (३।१६४) मुद्रिकाभूषण (३।१६५), चन्दन (३।१६७), रोचना (३।१६७), स्थासक (३।१६७), उत्तरीय (३।१६८), अंशुक कृतपुष्पक (३।१६८), शेखर (३।१६६), तिलक (३।२००), अम्बर (५।२१३), रक्तांशुक (१४।१३७), शुल्कांशुक (६६।६), धौतवाससी (१०।८५), शुल्ककर्पट (१०।८५), अलकार (३।२१३), आमोद (३।२१३), वरालेपन (८८।३१), सीमन्तमणि (८।७०), मुक्तापरीतपद्माभिमणिसीमन्त-भूषण (१४।१४३), अवगुण्ठन (८।७०), वालिका (८।७१), काञ्ची (८।७२, १४।१३८), तुलाकोटिक (१४।१३७), रत्नावली (१४।१४०), महार्घमणिवाचालवलय (१४।१४१), केशकलाप (१४।१४४), असितोत्पल-दाम (३।१००), तमालदल (३।१०१), रत्नकनककुण्डल (३।१०२), रत्नप्रभा-प्रदीप (३।१०३), पटवास (३।१०४), कर्पूरपांशु (३।१०४), अगराग (३।१०६), कौंकुम पक (३।१०६), मृणालशकल (३।१०७), हारभार (३।१०८), ऐन्द्रनीलनूपुर (३।११०), वपु कषण (८०।७४), पानीयविसर्जन (८०।७४), गन्धोदक (८०।७५) आदि।

(ख) विविधकलाविषयक शब्द : भूतिकर्म (२४।६३), निधिज्ञान (२४।६३), रूपज्ञान (२४।६३), वणिग्विधि (२४।६३), जीवविज्ञान (२४।६३), मानुषद्विपगोवाजिप्रभृतीना चिकित्सितम् (२४।६२)- निदान (२४।६४), मायाकृत (२४।६५), पीडा (२४।६५), शक्रजाल (२४।६५), विमोहन (२४।६५), मन्त्र (२४।६५), औषधि (२४।६५) आदि।

१७ **रोग-सम्बन्धी** शब्द : महारोग (६४।३४), उरोघात (६४।३५), महादाहज्वर (६४।३५), लालापरिस्राव (६४।३५), सर्वशूल (६४।३५), अरुचि (६४।३५), छर्द (६४।३५), श्वयथु (६४।३५), स्फोटक (६४।३५) आदि।

१८ **शकुनापशकुन-मगल सम्बन्धी** शब्द : मूर्ध्नि चुम्बित (१६।८०), दक्षिणेनाङ्घ्रिणा पूर्व कृतोऽपाल (१६।८२), दक्षिणबाहुस्फुरण (१६।८२),

सपल्लवमुखपूर्ण कुम्भ (१६।८३), शकुन (५४।६६), दक्षिणावर्तनिर्धूमज्वाला (५४।५०)- रम्यस्वनशिखी (५४।३०)-परमालकृत नारी (५४।५०), सुरभि-प्रेरक अनल (५२।५०), निर्ग्रन्थसयत (५४।५१), छत्र (५४।५१), गम्भीर-वाजिहेषित (५४।५१), घण्टानिस्वनित (५४।५१), दधिपूरित्त कलश (५४।५१), निर्मुक्तमधुरस्वर विस्फुरत्पक्ष वामतो गोमयोत्किरणकारी वायस (५४।५२), भेरीशखरव (५४।५३), मगलशब्द (५४।५३)।

अनिमित्त (७।४२), शुष्कद्रुम (७।४३), शुष्ककाष्ठ (७।४४), ध्वाक्ष (७।४४)- ज्वालारौद्रमुखी शिवा (७।४५), पतगविम्वपरिवेश (७।४६), कवन्ध (७।४६), वृष्टकीलाललवजालक (७।४६), निर्घात (७।४६), पर्वत, कम्पन्न (७।४७), मुक्तकेशी वनिता (७।४७), खरस्वर (७।४८), दक्षिणतो भयानकमहास्वन प्रयाणवारणोद्युक्त वद्धमण्डल भल्लूक (५७।६६), विकृत-निस्वन-गृद्ध-भ्रमण (५७।७०), पृष्ठतं क्षुत (७३।१७), अग्रे महाहिच्छिन्न मार्ग (७३।१८), हा-ही-धिक्‌त्वाक्वयासीति वचासि (७३।१८), छत्रभग (७३।१६), उत्तरीयपात (७३।१६), दक्षिणवलिभुग्रटन (७३।१६), नानाशकुनविज्ञान-प्रवीणधिषण (७३।२१), गेहोत्पात (७३।२१), शुष्कद्रुमसमारूढवायसकुलरटन (६७।७५)- परिदेवनकुमारीरोदन (६७।७६), दुर्निमित्त (६७।७७)- (स्त्री) दक्षिणचक्षु सस्पन्द (४६।८) आदि।

उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयो से सम्वद्ध पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दो का रविषेण के पद्मपुराण मे उल्लेख हुआ है। **भौगोलिक शब्दावली** मे, नदी, समुद्र, पर्वत, वन, ग्राम, नगर, जनपद- राष्ट्र, देश, राज्य तथा द्वीप परक शब्दो का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार **व्यक्तिवाचक वृहत् नामावली** का प्रयोग रविषेण ने किया है। ये दोनो सूचियाँ पर्याप्त स्थान की अपेक्षा रखती है। यहाँ उनका उल्लेख सम्भव नही है। हमने इन दोनो सूचियो को अपने ग्रन्थ **'जैनाचार्य रविषेणकृत 'पद्मपुराण और तुलसीकृत 'रामचरित मानस'** मे दिया है। कृपालु विद्वान् इन्हे वही देखने की कृपा करे।[७८]

सदर्भ

१ द्रष्टव्य (१) जैनाचार्यरविषेणकृत पद्मपुराण और तुलसीकृत रामचरितमानस (डा० रमाकान्त शुक्ल)। प्रका० वाणी-परिषद्, दिल्ली। सस्क १९७४। पृ० १८-३१।

(२) 'Influence of Bāna's 'Harsh-charita on Ravisna's Padmapurana' (Dr Rama Kant Shukla) The Journal of the Ganganath Jha Research Institute,

Allahabad, Vol XXIII, Pt 1 4, Jan 1967 Dec 1967, Issued in March 1969 pp 91 105

(३) 'रविषेणाचार्य कालिदासस्य प्रभाव' (डा० रमाकान्त शुक्ल) "A I O C XXVIII Session 1976 Summaries of Papers Editors Dr K Krishnamoorthy & Dr Shrinivas Rittii Karnatak university, Dharwar pp III 29

२. साधुस्स्यति काव्यस्य दोषवत्तामयाचित ।
पावक शोधयत्येव कलधौतस्य कालिकाम् ॥
काव्यस्यान्तर्गत लेप कुतश्चिदपि सत्प्रभा ।
(हरिवंशपुराण १।४३-४४)

हरिवंशपुराण सम्पादक—प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६२।

३ न काव्यबन्धव्यसमानुबन्धतो
न कीर्तिसन्तानमहामनीषया ।
न काव्यवर्गेण न चान्यवीक्षया
जिनस्य भक्त्यै कृता कृतिर्यया ॥
(हरिवंश ६६।३६)

४ कवीना कृतिनिर्वाहे सतो मत्वावलम्बनम् ।
कवितांभोधिमुद्वेल लिलङ्घयिषुरस्म्यहम् ॥
कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्य तज्ज्ञैर्निरुच्यते ।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्य सालंकारमनाकुलम् ॥
केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम् ।
वाचामलंक्रिया प्राहुस्तद्द्वय नो मत मतम् ॥
सालकारमुपारूढरसमुद्भूतसौष्ठवम् ।
अनुच्छिष्ट सता काव्य सरस्वत्या मुखायते ॥
अस्पृष्टबन्धलालित्यमपेत रसवत्तया ।
न तत्काव्यमिति ग्राम्य केवल कटु कर्णयो ॥
सुश्लिष्टपदविन्यास प्रबन्ध रचयन्ति ये ।
श्राव्यबन्ध प्रसन्नार्थं ते महाकवयो मता ॥
महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम् ।
त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्य तदिष्यते ॥
निस्तनन् कतिचिच्छ्लोकान् सर्वोऽपि कुरुते कवि ।
पूर्वापरार्थघटनै प्रबन्धो दुष्करो मत ॥
शब्दराशिरपर्यन्त स्वाधीनोऽर्थं स्फुटा रसा ।
सुलभाश्च प्रतिच्छन्दा कवित्वेका दरिद्रता ॥
प्रयान्महति वाङ्मार्गे खिन्नोऽर्थगहनाटनै ।
महाकवितरुच्छाया विश्रमायाश्रयेत् कवि ॥
प्रज्ञामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वल ।
महाकवितरुर्धत्ते यश कुसुममञ्जरीम् ॥

प्रज्ञावेल प्रमादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रह ।
महाध्वान पृथुस्रोता कविरम्भोनिधीयते ॥
ययोक्तमुपयञ्जीव्य वुधा काव्यरसायनम् ।
येन कल्पान्तरस्थायि वपुर्व स्याद्यशोमयम् ॥
यशोधन चिचीर्षूणा पुण्यपण्यपणायिनाम् ।
पर मूल्यमिहाम्नात काव्य धर्मकथामयम् ॥
(आदिपुराण (प्रथम भाग) सम्पादक—प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३।१।९३-१०६)

५ व्यावर्णनानुसार साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम् ।
अपह्नुतितान्यकाव्य श्रव्य व्युत्पन्नमतिभिरादेयम् ॥
जिनसेनभगवतोक्त मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम् ।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा विनेयानाम् ॥
(उत्तरपुराण सम्पादक प० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य । भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन । द्वितीय सस्क० १९६८ । प्रशस्ति १८-१९ । पृ० ५७५)

६ (अ) विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीश
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्य ॥
(वही, प्रशस्ति, २८)

(आ) महापुराणस्य पुराणपुस पुरा पुराणे तदकारि किंचित् ।
कवीशिनानेन यथा न काव्यचर्चासु चेतोविकला कवीन्द्रा ॥
सजयति जिनसेनाचार्यवर्य कवीड्य
विमलमुनिगणेड्यो भव्यमालासमीड्य ।
सकलगुणसमाढ्यो दुष्टवादीभसिंहो
विदितसकलशास्त्र सर्वराजेन्द्रवन्द्य ॥
यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचार
श्रवणसरसचेतास्तत्त्वमेव सखे ! स्या ।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्द
प्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णौ ॥
स जयति गुणभद्र सर्वयोगीन्द्रवन्द्य
सकलकविवराणामग्रिम सूरिवन्द्य ।
जितमदनविलासो दिक्चलत्कीर्तिकेतु
र्दुरिततरुकुठार सर्वभूपालवन्द्य ॥
धर्म कश्चिदिहास्ति नैतदुचित वक्तु पुराण महत्
श्रव्या किन्तु कथास्त्रिषष्टिपुरुषाख्यान चरित्रार्णव ।
कोऽप्यस्मिन्कवितागुणोऽस्ति कवयोऽप्येतद्वचोऽञ्जालय
कोऽसावत्रकवि कवीन्द्रगुणभद्राचार्यवर्य स्वयम् ॥
(वही, प्रशस्ति ४०-४३)

७ (अ) व्यञ्जनान्त स्वरान्त वा किञ्चिन्नामेह कीर्त्तितम् ।
अर्थस्य वाचक शब्द शब्दो वाक्यमिति स्थितम् ॥
लक्षणालङ्कृती वाच्य प्रमाण छन्द आगम ।
सर्वं चामलचित्तेन ज्ञेयमत्र मुखागतम् ॥

(पद्मपुराण (रविषेण) १२३।१८५-१८६।
सम्पादक पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य।
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। १९५८-५९)

(आ) प्रकाममाकाङ्क्षितकामसिद्धय
प्रसिद्धधर्मार्थविमोक्षलब्धय।
भवन्ति तेषां स्फुटमल्पयत्नत
पठन्ति भक्त्या हरिवंशमत्र ये॥
(हरिवंश० ६६।४६)

(इ) धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र
तीर्थेशिना चरितमत्र महापुराणे।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्द-
निर्यद्वचांसि न मनांसि हरन्ति केषाम्?
(उत्तरपुराण, प्रशस्ति।३८)

८ द्र० हरिवंश पुराण ५७।१-१८३
९ द्र० आदिपुराण २२ ७६-३१६
१०. द्र० पद्मपुराण २४।७-२१
११ द्र० हरिवंशपुराण १९।१४१-२६१
१२ द्र० हरिवंशपुराण २३।५९-१०७
१३ द्र० आदिपुराण ३८, ३९ तथा ४० वाँ पर्व।
१४ द्र० हरिवंशपुराण १२।५५-७०
१५ द्र० आदिपुराण २५।१००-२१७
१६ द्र० आदिपुराण १६।१४३-२७५
१७ पद्मपुराण ५।३७१-३७३
१८ वही १०१।७९-८४
१९ हरिवंशपुराण २२।८४-२२।८४-१०१
२० वही ११।६३-७५
२१ आदिपुराण १९।७७-८७
२२ वही १६।१५१-१५६
२३ उत्तरपुराण ६३।२०८।२१७
२४ पद्मपुराण ७।३२४-३३२
२५ हरिवंशपुराण २२।६१-७३
२६ वही ५७।३
२७ पद्मपुराण ५।४ तथा ९।७५
२८ वही १९।७७
२९ वही ८।१४३, १९।४८
३० वही ६०।५५
३१ वही १९।४५, ६२।७७
३२ वही ६।४६२
३३ वही ३९।१०९, १८४ (विमलसूरि 'विजयपव्वअ' पउमचरिय ३९।३८)
३४ वही १०।१२२

३५ आदिपुराण २५।१००-१०३, १२०, १२४
३६ वही २५।१५१-१६२
३७ पद्मपुराण ५।१७-१६
३८ वही ५।५२-५३
३६ वही ७।७७
४० आदिपुराण २५।१२४
४१ वही २५।१२०
४२ वही २५।१०६-११०
४३ वही २५।१५६, १५८, १५६
४४ पद्मपुराण १०२।१६५-२००
४५ वही ३३।२२-३३
४६ वही १६।८५
४७ आदिपुराण ३४।६३
४८ पउमचरिय (विमलसूरि) प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी वाराणसी ५, अहमदाबाद-६, १६६२, १६६८ (दो भाग) २६।६६
४६ वही २६।५०
५० वही २६।५३, ५३।८६
५१ वही ३३।८
५२ वही १२।११२
५३ वही ६।६८
५४ वही २।४०
५५ वही ६।२०६
५६ वही २२।३२
५७ वही ८।२६२
५८ वही १०२।२०
५६ वही १०५।५६
६० वही ३।८१
६१ वही २६।५१
६२ वही २६।४८
६३ वही १२ ११२
६४ वही १०५।५६
६५ पद्मपुराण १२।२६१-२६३
६६ वही १०५।३३
६७ वही २१।५६-७१
६८ वही १०।११३
६६ वही ७८।६२ श्लोक के अनन्तर गद्य
७० हरिवंशपुराण, परिशिष्टानि, पृ० ८०-१५६
७१ आदिपुराण (प्रथम भाग) पृ० ६८८-७४६, (द्वितीय भाग) ५५८-५८८
७२ उत्तरपुराण पृ० ६४५-७०७
७३ द्र० पद्मपुराण (तीनों भाग)

७४. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा स्वीकृत योजना जिसे दो वर्ष के अन्तराल मे पूरा कर लेने की आशा है। १४ अध्यायो मे यह योजना विभाजित है जिसमे सज्ञा तथा विशेषणपरक शब्दावली का अध्ययन होगा।

७५. कोष्ठको मे आदिपुराण के पर्वो तथा श्लोकों की सख्या दी हुई है।

७६ कोष्ठको मे आदिपुराण के पर्वों तथा श्लोको की सख्या दी हुई है।

७७ कोष्ठको मे पद्मपुराण के पर्वों तथा श्लोको की सख्या दी हुई है।

७८ द्र० "जैनाचार्य रविषेणकृत 'पद्मपुराण' और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' " (डा० रमाकान्त शुक्ल), भौगोलिक शब्दावली के लिए पृ० २९८ ३०२ तथा व्यक्तिवाचक सज्ञा शब्दावली के लिए पृ० १३४-१४५)

●●●

ASPECTS OF JAIN SANSKRIT

AS EXEMPLIFIED BY MUNI SUMATIVIJAYA'S *VṚTTI ON THE MEGHADŪTA*

by *Dr W H MAURER*

A LARGE portion of Jaina literature is written in a peculiar kind of Sanskrit (Skt) to which scholars have devoted relatively little attention [1] In fact, the greater part of the extra-canonical literature of the Jaina-s is composed in it Much of this literature consists of independent works, but much is exegetical in character and hence of considerable importance to text-critics and literary historians The characteristic features of this Skt are numerous and rather far-reaching and concern every department of the language its phonological laws, morphology, syntax and vocabulary The differences from standard or classical Sanskrit (cl Skt) within each of these spheres are often only slight and of sporadic occurrence, they may even pass unnoticed, except with a careful reading, or be imputed to these imperfect transcription Undoubtedly, certain of these phenomena might easily be explained away by scribal blundering, but their continual recurrence inevitably suggests that, if indeed they are 'errors', they must have been committed with method and plan A somewhat analogous situation prevails with Buddhist Hybrid Sanskrit (BHS) in which most northern Buddhist texts are written a casual reading of a few pages gives the impression that either one is confronted with a badly transcribed MS or the author did not know how to write the language correctly But a careful reading reveals the same forms and usages again and again, the deviations from the standard language fall into well-defined patterns so that scribal carelessness or imperfect acquaintance with Skt on the part of the author are quite insufficient to explain the fact, and it has long since been clearly demonstrated that the language of these texts is really not Skt at all, but a

Middle Indic Prakrit (Pkt) which was subjected to partial, haphazard Sanskritization There is, then, no question about its being 'bad' Skt in any sense because it is another language which obeys different laws[2] But it must not be supposed that in a similar fashion this peculiar Skt of the Jaina-s is basically not Skt at all, but only some Pkt dialect imperfectly disguised as Skt, or, to put it more directly, simply the Jaina version of BHS In point of fact, Jaina Sanskrit (JS) is quite the reverse of this it is essentially nothing else than Skt which has been Prakritized and vernacularized, but this process has been carried out to a lesser degree than that of Sanskritization in the case of BHS In its basis JS is always Skt, whereas BHS is an unidentified Pkt, JS is Prakritized Skt, BHS is Sanskritized Pkt.

The origin of JS certainly lies in the intense desire of the Jaina-s to popularize and disseminate their faith, this could only be achieved by adopting a means of communication meaningful to the majority of people Skt was the language of the few, Pkt of the many, yet the Jaina *muni-s* were versed in Skt as the medium of the *śiṣṭa-s* Their contact with the laity, however, caused them to introduce into their discourses, doubtless unconsciously, many localisms and popular words which were more readily understood by their listeners In the course of time these words became part and parcel of the language they used also in their writings There was probably not a great deal of difference between the two levels, at least between the language of certain types of exegetical and narrative writing on the one hand and that of the discourses on Jaina *dharma* on the other Not only was there a tendency towards popular words, but there was a general liberalization of the vocabulary which readily permitted many Skt words to enlarge their periphery of meaning under the influence of local vernacular usage There was also a fairly general relaxation of the rigid laws of Skt grammar and free rein was given to analogy All these tendencies and impulses gradually produced a freer, less fettered language than ordinary Skt but different enough from it, not always to be readily intelligible to one unacquainted with its peculiarities and more especially its strange and diverse vocabulary In the light of present research, however, no accurate description of these peculiarities for JS as a whole is possible, to do this would require the

critical examination of a considerable number of texts. Even then it is doubtful whether any systematic account could be presented, for by nature it is a language of infinite variety and fluctuation differing with time, place, and author So indeterminate a thing cannot be described if taken in its whole extent, except in the most general terms The most that can be done is to describe this language as exhibited in a single work Here too, there is an element of uncertainty in the absence of an accurate tradition thus, peculiarities are liable to be attributed to JS which are due only to imperfect transcription What is said, then, even of a particular text must be regarded as tentative and to some extent hypothetical Of course, when certain features recur independently in other Jaina works, it may be accepted that they belong to JS as a whole Clearly, therefore, it is only by means of a comparison of the characteristics of many texts that the minimal features of JS can be stated

In this article it is proposed to set forth the peculiar properties of JS as exemplified in a *vṛtti* on Kālidāsā, *Meghadūta* by Muni Sumativijaya (Su) of the Kharataragaccha who flourished in Bikaner in the first half of the 17th century.[3] These matters are arranged under the following broad topical headings 1 Phonology , 2 Morphology, 3 Derivation, 4 Composition, Syntax and Idiom, 5 Vocabulary, 6 Orthography These categories are by no means mutually exclusive, and often an item discussed under one subject might well have been included elsewhere in the arrangement, ex *pūrāyamānāh* is treated under 'Derivation', but could, with equal justification, have been put under 'Vocabulary', since the word does not occur in cl Skt

I. *Phonology*

The rules governing *sandhi* between words in a sentence (sentence-*sandhi*) are in general haphazardly and sporadically applied,[4] exx *valmīkah mṛttikāsamcayah tasyāgram* (15), *mayūrasya meghena saha samtosah atah megharūpabāndhavam drsṭvā mayūrāh nṛtyantīti bhāvah* (36), *kathambhūtaih garjitaih* (48), *kimnarībhih tripuravijayah mahādevo gīyate* (60), *yatra alakāyām bhavanaśikhinah gṛhamayūrāh nityabhāsvatkalāpāh vartante* (77), *yatra puri tvādṛsāh jalamuco meghāḥ yantrajālaih gavāksaih kṛtvā*

jarjarāḥ jarjarībhūtāḥ santaḥ nihpatanti nihsaranti (79), etc It does not seem possible to discover any principle or pattern in this usage in the very same paragraph a recurrent phrase may appear both with *sandhi* and without *sandhi* as, for example, in the comment on stanza 1 where we read *kathambhūtah yaksah* and a few lines farther on *punah kathambhūto yaksah* At word-junctures within compounds also *sandhi* is oftentimes omitted, exx *varsā-ṛtau* (9, 25, 83), *vegavat-vṛṣṭyā* (18), but cf *vegavad-varsanaih* (47), *vanastha āmravṛksaih* (18), *prasiddhadik-laksanām* (26), *vidyut-mālādedīypamānā* (29), *paścāt-bhāge* (40), *bahutara-īrsyāluh* (43), *kusumavṛṣṭikṛt-megharūpatām* (47), *bhavat-śyāma-kāntyā* (55), *prāpitaadharoṣṭhau* (91), *rāmagiri-āśrame* (107); *ati-ucchvāsasahitena* (108)

II. *Morphology*

The present participle feminine of $\sqrt{kṛ}$ in cl Skt is supposed to be formed without the nasal infix, thus, *kurvatī* not *kurvantī* [5] But In late MSS the nasalized form is frequent, and in Su this is the predominant form by far , in only one of many occurrences does the testimony of the MSS favour *kurvatī* (31). The nasalized version occurs also in the *Bṛhat Kathākośa* of Ācārya Harisena [6] Conversely, from *abhi-*$\sqrt{las}$ (*bhū*-class) is found *abhi-lasatīm* (97) for *°lasantīm.*[7]

Infinitives from causatives (*cur*-class) in cl Skt are required to retain the causative affix *prāpayitum*, *kārayitum*, *dhārayitum*, etc There are, however, sporadic examples where this affix is dropped and the *-tum* is added to the strengthened root with or without the '*Bindevokal*' *-i-*.[8] Su has *bheditum* (41), the causative sense is wanting in this case, and perhaps this influenced the omission, but this is extremely doubtful, as so very many cl Skt roots of the *cur*-class are non-causative and, nevertheless, retain the affix *-aya-* in the infinitive, furthermore, *bhedayati* is also used in cl Skt without causative meaning The full form occurs in *vidhyāpayitum* (57), *atikramayitum* (58), etc

According to rule, the gerund in cl Skt ends in *-tvā* when the root is uncompounded, otherwise in *-ya*, but this distinction is not always observed, and usage is reversed.[9] In Su too, there

is frequent reversal of this prescription, exx *sthāpya* (11), *ārādhayitvā* (49), *prasārayitvā* (50, but also the 'correct' form *prasārya* nearby!), *uttaritvā* (51), *ullanghayitvā* (61), *utpādayitvā* (79) [40]

The addition of the secondary derivative suffix *-vant* to participles of intransitive verbs, though found in cl Skt, is generally a later phenomenon [11] Su has *sthitavantam* (81) and *sthitavati* (123)

From √*grath* Su has two past participles, namely *grahita* in *agrathitavenīdandā* (31) and *granthita* in *agranthita*° (also 31) The former is the usual classical form, but the latter occurs sporadically and is frequent in late MSS [12] The nasalized variety is probably due to association with *grantha*

Anomalous from the point of view of the standard language is *uddharita* ('taken out' hence 'remaining' in 32 and 42, 'remainder' in 33) It may be a past participle of either *ud*-√*dhṛ* or *ud*-√*hṛ*, since the combination of *ud-* and *h-or dh* yield *uddh-*, thus rendering many of the formations from these two roots indistinguishable The anomaly here lies in the short penultimate vowel, the causative of both verbs in cl Skt is *uddhārayati* of which the participle is *uddhārita* Perhaps therefore, Su knew a causative with the *guna*-vowel instead of the *vrddhi*

Another anomaly involving vowel-quantity is seen in *lambāyamānam* (91), cl Skt has only *lambayate*.

A transfer of a root from the *bhū*-class to the *div*-class is exemplified by *avagāhyamānah* (52) which according to the context must be taken as a middle participle, though the form is not separable from the passive

In explanation of *nayanasalilam* *śāntim neyam* (43) 'the tears should be soothed' Su gives *vastrena kareṇa vā natrāmbu pramṛṣṭavyam* 'the tears are to be wiped away' Now, *pramṛṣṭavyam* might be derived from *pra-* in combination with √*mṛj*, or √*mṛś*, cerebral *-ṣ-* results from *-j-* or *-ś* when in contact with dental *-t-* which is then, of course, assimilated, and therefore, many forms form these roots coalesce The sense of the passage suggests that it is form *pra*-√*mṛj* 'wipe away', but

√*mṛś* means primarily 'stroke, rub' (cf Latin *mulceō*) and with *pra-* might be nearly synonymous with *pra-√mṛj*, though the attested occurrences mean rather 'lay hold of, handle' and figuratively 'lay hold of mentally, reflect upon, consider'. The meanings under √*mṛs* as well as *pra-√mṛs* seem to exclude this root from consideration here But whether *pramṛstavyam* is based on *pra-√mṛj* or *pra√mṛś*, it is certainly not classical the gerundive should have the same stem as the infinitive.[13] Thus, if from √*mṛj* the gerundive is *mārṣṭavya* or *mārjitavya*, since the infinitive is either *mārṣṭum* or *mārjitum*,[14] Monier-Williams (MW) also lists *marṣṭum* (with the *guṇa*-increment) which theoretically would allow **marṣṭavya*.[15] If, on the other hand, it is from √*mṛś*, the infinitive of which is only *marṣṭum*, the gerundive ought to be **marṣṭavya*, in practice, however, only *marśanīya* is used [16] In any case then, Su's *pramṛṣṭavyam* is not a standard form [17] It is of some interest to note that in two MSS *pramarśanīyam* is subjoned to *pramṛṣṭavyam*, a clear indication that the author of that gloss derived °*mṛṣṭavyam* from *pra-√mṛś* instead of the more plausible *pra-√mṛj*

The genitive singular of *strī* is *striyaḥ* in the classical language, but Su uses *striyah* with short final syllable in at least five instances (45, 72, 85, 102, 104), there is also a doubtful example in 106 This usage seems to be based on the analogy of the monosyllabic stems like *dhī* which allow either the brief or fuller form in the genitive i e *dhiyah* or *dhiyāh*

Polysyllabic feminines in long *-ī* form their locative in *-ām* in cl Skt, thus, from *valabhī* is made *valabhyām* But in the *vigraha* of the compound *bhavanavalabhau* (42) Su uses *valabhau* which would be allowable only from a feminine in short *-i* *bhavanasya valabhī gṛhoparī kuṭṭih varandīti vā tasyām bhavanavalabhau* Only, therefore, if *valabhī* here were a transcriptional error for *valabhih* would *valabhau* be the 'correct' locative, in this case, of course, *valabhyām* would be equally 'correct', since faminines in short *-i* have either option

In the analysis of *varsāgrabindūn* (39) *agre* is employed as the nominative masculine plural of *agra* 'first' *varsāyāh ye agre bindavah prathamajalakanāh varsāgrabinūavah tān varsāgra-*

bindūn Cl Skt prescribes pronominal terminations in certain cases of numerals and words of numerical character,[18] ex *prathama* the nominative masculine plural of which is *prathame*, *agre*, which is here synonymous with *prathame*, may, therefore, be an analogical creation

A considerable number of words in Su have a gender different from that of cl Skt,, exx *mandatvagunam* and *śaityagunam* for °*gunah* (46), *tam puram tyaktvā* for *tat puram* (29), *vṛkṣāni foi vṛksāh* (28), *rasam* for *rusah* (53), *śuc* is masculine in 83 instead of feminine as indicated by the agreement of the adjectives *vyapagatah gamitah śuk śoko yais te vyapagataśucah* A few words are used in a gender that is very rare in cl. Skt *randhra* (46) is masculine, but in the standard language almost always neuter, so also *aśru* (100) and *vana* (80) Contrarily, *avaśeṣa* is neuter in 33, but usually masculine in cl Skt , also *apānga* in 29, but in the 48 it is masculine and *maccha*, i e *matsya* (44) In 120 is found *āśvāsanā* for cl Skt *āśvāsana*.

III *Derivation*

-*apamarsana* which is given in explanation of -*apanayana-* in *gandasvedāpanayanarujā* (28) 'from the abrasion of wiping away the perspiration from their cheeks', is not recorded in the lexicons, from its form it appears to be derived from *apa*-√*mṛṣ*, but the sense required here, namely 'removal, wiping away', precluded this, and furthermore √*mṛs* is not found in composition with *apa-* On the other hand, *apamarasana* may stand for °*marśana* (<√*apa*-√*mṛś*), but cl Skt has only *apamarśa* (a word of doubtful authenticity),[19] *marśa* (a medical term) and *marśana* which, being the verbal noun from √*mṛś*, exhibits both lines of meaning found in the verb, namely touching and examining The explanation of Su's *apamarsana* seems to lie in a conflation of √*mṛś* and √*mṛs* MSS regularly confuse these two roots, doubtless because many conjugational forms of √*mṛs* have the cerebral sibilant -*ṣ*-, exx *marksyati*, *amārksīt*, *marsṭum*, *mṛsta*, morever, the derivative substantives of the two roots parallel each other and contribute to the confusion Thus from √*mṛs* comes the verbal noun *marṣana* 'enduring' with which the same derivate from √*mṛś* may have been conflated,

leaving one *marsana*, whose diverse lines of meaning can only be explained by resorting to both √*mṛṣ* and √*mṛś* The cerebral -*s*- got the upper hand probably because on the whole it is commoner than -*ś*- in the inflectional forms of √*mṛś*

-*tyajati*- 'abandonment' occurs in *nadīvirahāvas-thātyajatitvam* (31), but the passage may be corrupt, and the genuineness of this word is, therefore, subject to some doubt. It is a *nomen actionis* formed from the present stem of √*tyaj* in the same way as *vasati, ramati, viratati* in cl Skt[20] Ordinarily, of course, nouns in -*ti* are formed on a weakened or abbreviated base which is usually indentical with that of the past passive participle. thus, *ukti* (<√*vac*, cf, *uk-ta*), *supti* (<√*svap*, cf *sup-ta*), *śānti* (<√*śam*, cf *śān-ta*), etc

Similar to -*tyajati* is *muñcanam* (64) which is derived from the base of the present stem of √*muc*, i e *muñc*+*ana*, cf. cl Skt *siñcana* In cl. Skt *mocana* is used.

Mūrvī- (81), a synonym for *jyā* 'bowstring', appears to be a cross between Skt *mūrvā* (the grass from which bowstrings were made) and *maurvī* ('bowstring', literally '[the string] made from *mūrvā* grass')

Of similar cross-mintage appears to be *rauksam* (27) 'rough', but cl Skt has only an adjective *rūksa* and derivative noun *rauksya*

Vārdhikyam (71) 'old age' corresponds to cl. Skt *vārdhakya*; the different penultimate vowel may be due to analogy with words like *ādhikya*

Daurbalyam (92) is used adjectivally, but in cl Skt it can only function as a noun However, secondary derivatives in -*ya* or -*a* with initial *vṛddhi* strengthening ordinarily may be either adjectives or nouns, in fact, they are primarily adjectives of appurtenance[21] In the compound *virahadaurbalyakhedāt*, 'from distress due to weakness from separation' which expands *khedāt* (99), -*daurbalya* is employed as a noun

Pūrāyamānāh (60) is apparently formed on analogy with *śabdāya-* or the like, *pūra* 'filling' (adjective or noun) could yield *pūrāyā-* with lengthening of the final syllable according to Whitney (§1059 b) But *pūra* is active in sense, and in the context a passive is wanted. 'caused to be filled' (not 'filling').

IV *Composition, Syntax and Idiom*

(*a*) Composition

In cl Skt. in the forepart of a *karmadhāraya* compound the masculine stem-form is used even when the final element is a feminine noun; so Wackernagel, *Altindische Grammatic*, Band II, Teil 1, p 50 (21 b), and cf. Pānini VI 3 42· *pumvat karmadhārayajātīyadeśīyesu* 'In a *karmadhāraya* compound and before the suffixes *-jātīya-* and *deśīya* the feminine takes the masculine form' But in about a dozen instances Su uses the feminine instead of the masculine stem-form *narmadānāmnīnadyāh* (21) '(water) of the river named Narmadā', *nirvindhyānāmnīnadyāh* (30) '(in the path) of the river named Nirvindhyā', *sindhunāmnīnadīrūpā* (31) '(a sweetheart) in the form of the river named Sindhu', *siprānāmnīnadīsambandhī* (35) '(wind) connected with the river named Śiprā', *indrasaṃbhadhinīsenānām* (47) '(for the protection) of the armies connected with Indra In the first two examples it is possible to argue that °*nāmnī* is scribal for °*nāmno* (i e. *sandhi* for °*nāmnah*) which would then be an uncompounded *bahuvrīhi* with genitive ending agreeing with *nadyāh* as a separate word, the similarity of postconsonantal *ikāra* and *okāra* could have facilitated this kind of mistake But the other examples cannot be explained away on palaeographic grounds, and this fact, combined with the complete unanimity of the MSS. in these two cases, indicates that it is a regular construction in JS Exceptions to the general rule are occasionally met with in ordinary Skt [22]

An extremely anomalous type of compound is seen in the explanation of *darśitāvartanābheh* (30) where the two components are separated from each other by the emphatic *eva*, thus *avalokitajalabhramanarūpa eva-nābhipradeśāyāh* Unfortunately, however, this solitary example is insufficient to establish whe-

ther the phenomenon really belongs to the grammer of JS or is due to defective transmission of the text

The so-called *cvi*-compounds of cl Skt, which consist of a substantive (with modified final vowel) and √*kṛ* or √*bhū* and denote a conversion to the state indicated by the substantive, are extended in JS to √*jan* and *sam*-√*jan* when used as synonyms of √*bhū*, e\x *śyāmījātāni* (25) 'become black', *namrījāte* (50) 'become bent', *pustījātam* (36)' become well-nourished' and *ekatrījātah* (62) 'become in one place' The classical construction is also found, sometimes alongside this extension, as in 36 where *sthūlībhūtam* is used with *pusṭījātam* to explain the textual *upācita*-, also in explanation of *rāśībhūtah* (62) are given both *puñjībhūtah* and *ekatrījātah* The transition to this construction with √*jan* is provided by equivalences like *jātam* for *abhūt* (34), the synonymity of √*jan* and √*bhū* in cl Skt and their mutual substitution are common enough, but no example of the use of √*jan* in *cvi*- compounds is available An isolated instance with √*gam* occurs in *sanmukhīgatam* (18) [i e *sammukhī*°][23] 'gone opposite' for the textual *pratimukhagatam*.

When there is a distinction between strong and weak stems, cl Skt requires the latter in the forepart of a compound, but in one example all the MSS attest a final lengthened vowel *kāmījanāh* (80) for *kāmī*° Again want of additional instances renders it a questionable JS formation

In two undoubted instances the adverbial suffix -*vat* is added to inflected forms ' *vastrānivat* for *amśukānīva* (66) 'like clothes' and *mamavat* for *evam* (122) 'just as [there is a separation] of me'

In a single instance the the laudatory prefix *su*- is replaced by *sad*, i e *sat* 'good', neuter participle of √*as*, used adverbially *sadabhyastabhrūlatāvilāsānām* (51) '(eyes) whose conquettish movements of the brow are well practised' Cl Skt. has apparently no example of *sat* used adverbially either as a separate word or in composition

(*b*) SYNTAX

When an instrumental expresses pure instrumentality or means in contrast to accompaniment or association, the gerund of √*kṛ* is often subjoined, thus, *vidyutā kṛtvā* (41) 'by means of lightning', *garjāravaiḥ kṛtvā* (48) 'by means of thunderous roars', *prāsādaiḥ kṛtva* (67) 'by means of the palaces', *aśrubhiḥ kṛrvā* (112), by means of tears' In cl Skt a number of gerunds are used postpositionally in a similar way, exx *muktvā* 'except, save', *ādāya* 'with', etc But this use of *kṛtvā* seems to be confined to JS In one instance *pārśvataḥ* replaces *krtvā* in this sense *meghena pārsvataḥ* (4) 'by means of the could'

By another curious construction *prati* is appended to an accusative to mark a direct object, obviously this has grown out of the primary sense of 'with reference to', and its use thus binds the object more closely to the action of the verb, *kim adreḥ parvatasya śṛngam śikharam parti pavanaḥ vāto harati* (14) 'Is the wind carrying off the peak of a mountain?' *kāntim śobhām prati [śyāmam vapur āpatsyate]* (15) '[your swarthy body will obtain] beauty ,' *ātmabimbam svakīyabimbam prati pātrikurvan sthānīkurvan* (51) 'making your reflection an object (of the eyes)'

Placed after a noun in the ablative case *pārśvāt* emphasizes the concept of separation *tābhyaḥ suastrībhyaḥ pārśvāt* (64) 'from the wives of the gods' It is probably a kind of afterthought or parenthesis, at least in origin, otherwise the genitive would be expected in °*strībhyaḥ.*

In cl Skt *paścāt* is construed with the genitive or ablative, but Su has an instance with the accusative *tīrtham paścāt* in explanation of *anukanakhalam* (54) But the meaning here is 'near' beside', not 'behind, after' and thus, it seems to be used as though it were the Skt original of Hindī *pās* 'near', of course, this is etymologically wrong, since *pās* comes from *pārśve* via Middle Indic *pāsa*

Words denoting proximity in cl Skt. require the genitive, but Su has an instance of the ablative *bhūmiśayanāt samīpaga-*

vāksah san 'situated at the window near the ground which serves as her bed' for *avanisyanāsannavātāyanasthah* (95) This is perhaps, an example of analogy just as word of opposite meaning like similarity and dissimilarity are construed with the same case (whether instrumental, genitive or locative), so words of nearness and distance may be both associated with the ablative, though logically only with the notion of separation.

In a single instance the ablative without a post-position means 'after' *mukhāvalokanāt* (53) 'after seeing her face' This usage is very rare in cl Skt,[21] except in the technical literature of the grammarians, thus, cf Pānini III 1. 73 *svādibhyah śnuh* 'After √*su*, etc [let there be] *śnu* (i e. the infix *-nu-*)'

Ādhikyam is employed adverbially with *śabdayan* to explain *dūghīkurvan* (35), but in cl Skt the adverbial accusative is fairly restricted to certain substantives such as those listed by Whitney in §1111 b and Monier-Williams §713 b The adverbial locution *anekavārān* (113) 'many times' is apparently modelled on formation like *bhūrivārān* or *vārāms trīn* 'thrice' where an accusative plural replaces the commoner singular In Rajvaidya J K Shastri's commentary on the same stanza of the *Meghadūta* (114 in his sequence) *anekavāram* occurs[25] Obviously the plural is a logical usage based on the meaning

According to Whitney 'genitives of apposition or equivalence (city of Rome) and of characteristic (man of honour)' do not occur[26] Su has an instance where there are the two elements of apposition and characteristic in an expression in ablative *himavato nāmnah paravatāt* (54) 'from the mountain of the name Himavat'

A curious usage which is repeated with considerable frequency juxtaposes two locatives of which the first is in apposition to the second *viśālāyām nagaryām* (33) in the city of Visālā,' *ujjayinyām puri* (twice in 34) 'in the city of Ujjayinī', *alakāyām puri* (76) 'in the city of Alakā', etc, but cf *alakānagaryām* (68)

There are more than a dozen instances in Su of the locative

of the relative (or the relative adverb *yatra*, which is equivalent to it) where the genitive only is appropriate *nityabhāsvatkalāpā [h]* (77) '(peacocks) whose tail-feathers are always shiny' is thus analyzed *nityam bhāsvanti dedīpyamānāni kalāpāni barhapicchāni yeṣu te nitya°*.

In cl Skt the disjunctive particle *vā* is always placed after the second of two alternative terms, unless, of course, two *vā-s* are used, in which case the particle is adjoined to each member Su, however, very frequently subjoins it to the first term instead of the second, exx *gahvarāni vā latācchāditasthānāni* (20) 'thickets or places coverd over with creepers', *utkaṇṭhāyuktāni va utsāhayuktāni* (23) 'provided with longing or provided with intense feeling (?)' *Devaviśesānām vā kinnarānām* (49) 'of god-like beings or Kinnara-s' In one of the MSS a second *vā* is appended The classical placement also occurs *vastrena karena vā* (43) 'with the garment or with the hand'

In a single instance a prohibition is expressed by *mā* with the optative, this construction is rare in cl Skt[27] *mā gaccheh* (29) 'do not go', but note the imperative in 116 *mā gaccha*

A remarkable and frequency recurrent phenomenon is the omission of the relative pronoun in the analysis of *bahuvrīhi* compounds That the omission is deliberate on the part of the *vṛttikāra* and not the work of scribes is proved by the unanimity of the MSS and the frequency with which the omission occurs That Su did not misconstrue these particular *bahuvrīhi s* as *tatpursa-s* or *karmadhāraya s* is clear from his use of the interrogative adjective *kathambhūta*? 'What sort of?' to elicit the *bahuvrīhi* in reply,[28] ex the *bahuvrīhi sphaṭikaphalīka* (86), given in answer to *kathambhūtā kāñcanī vāsayasṭih*?, omits the relative in the *vigraha sphaṭikasya phalikā pāṭikā sphaṭikaphalikā* '(a golden perching-stick) having a pedestal of crystal' There is an instance in the comment on 25 where, in answer to the question *kathambhūtāh deśāh*? What sort of regions?', the answer, which consists of the epithet *pāṇducchāyopavanavṛtayah* is followed by synonyms of the two principal part of the compound separated syntactically (*dhavalaprabhāh upavanavātikāh*) but unaccompained by the relative pronoun *yesām* (or its equi-

valent *yatra*) essential to show that the factors involved belong to the noun *deśāh* in the question Farther on, however, where the same compound is analyzed, *yatra* is included *pānducchāy-āh dhavalaprabhāh upavanavṛtīnām yatra te* 'the Daṣārna country) where the enclosures around the groves are pale coloured '[29] Of course, this strange process of abbreviation may be a peculiarity of analysis belonging only to Su, and perhaps it ought to be so regarded until examples are forthcoming from other JS texts

A characteristic features is the use of causative stems with the value of the primitive [30] This phenomenon is well enough known from cl Skt where many verbs belonging to the *cur*-class do not have, or only occasionally have, causal meaning [31] But the verbs in Su which are causative in form but not in sense are nearly always causative in cl Skt , furthermore, in most instances these 'causatives' are given as synonyms of the simplex of the same root, that is to say, they are used interchangeably and with no prceptible difference in meaning Thus, *bhramitah* for *udbhrāntah* 'having wandered off, (34), *uttaritvā* for *uttrīya* 'having crosssed' (51), *uttaritām* for *-avatīrnām* 'having descended' (54),[32] *atikramayitum* 'to surpass, overcome' (58), but the cl. Skt causative of *ati-√ kram* means 'allow to pass' (of time, *prāpita-* (91) 'arrived at', *sparśitam* for *spṛṣṭam* 'touched' (114), *harsita-* for *pramudita-* (123) and *hṛsta-* (124) 'joyful', *siñcitām* for *-sikta-* 'sprinkled' (111) *Uttaritvā* is remarkable not only because it is without causative value, but because the causative affix *-aya-* is omitted[33] (*cf bheditum* above) and the vowel of the root has the *guna* instead of the *vṛddhi* vowel-change, *uttaritām* too, has the same vowel-gradation Furthermore, cl Skt requires that *-ya* be added to the compounded root, not *-tva* (*vide supra*) There is a single example of a stem which is causative in form as well as in meaning but never has causative value in cl Skt when inflected in the *cur* class *avalokaya* for *darśaya* 'make to see, show' (41).

(*c*) IDIOM

Past passive participles are used as nouns with much greater frequency than in Skt This phenomenon is especially remarkable in composition with *-anantaram* 'after . '; thus, *skanda-*

pūjitānantaram (48) 'after worshipping Skanda', *laṅghitānantaram* (54) 'after traversing', *sambhogakṛtānantaram* (103) 'after taking pleasure' In *puṣparasāsvāditakvanitaśabdāḥ* (77) '(trees) having the sound of humming of bees which have tasted of the nectar of the flowers' *-kvanita-*, literally 'sounded, humming, hence, the humming one, i e a bee', has acquired a specialized meaning Other examples of participles used normally are *uddharitam* for *avaśeṣam* (33) 'remainder', *niṣiddham* for *niṣiddhiḥ* (38) 'prohibition', *paricita* for *paricaya* (51) 'practice'. In 51 *-anuga-*, a verbal adjective in *kundakṣepānugamadhukaraśrīmuṣām* '(eyes) which steal the beauty of bees going after the movement of the *kunda*-flower', is analyzed by Su as a noun which is in turn explained in the *vigraha* by the past participle of *ā-√gam* used as a noun *kundakṣepānugena mucukundapuṣpavāsanāpreranāgatena kundakusumopari sthitānām īdṛśānām madhukarāṇām śriyām śobhām vā sādṛśyatām muṣnantīti* . . Though not all of this is crystal-clear, nevertheless, the noun-value to be attached to *-anuga-* and *-āgata* is sufficiently certain.

A curious instance of specialization in this use of past participles is seen in *svakīyāṅgagupta-*, a synonym for *nīḍa-* 'nest' in *nīḍārambhair* (25) Clearly, *-gupta-*does not here function as a past participle 'protected by ', a noun to which *svakīyāṅga-* is in the genitival relation is wanted Now, there is some precedent in Skt for *gupta* in the role of a noun, thus, the locative singular (*gupte*) may mean 'in a hidden or secret place' (so MW, p. 359, col 1) [34] Once the use of *gupta* as a noun became established, the meanings of the abstract *gupti* would naturally have been transferred to it 'a place of concealment, a hole in the ground, a place where refuse is thrown, a leak in a boat, a prison' (MW, p 359 under *gupti*) The compound, then, is presumably a genitival *tatpuruṣa* and means 'a secluded place for their limbs or bodies, viz. a nest'

Nouns are very frequently combined with *√kṛ* to form clusters quite identical with those which belong to the idiomatic structure of the modern Indo-Aryan languages The germs of it are found in cl Skt , but at no period is this usage so pervasive and so intimate a part of the language as in this vernacularized

Skt of the Jaina-s; exx. *vrṣṭim kṛtvā* (20) 'having rained', *nṛtyam kārayeh* (48) 'you should cause to dance', *krīḍām kurvanti* (78) 'they play', etc

V *Vocabulary*

(*a*) WORDS WHICH ARE UNKNOWN OR RARELY USED IN CL. SKT.

Adhīryatvam for *kātaratvam* (116) 'faint-hearted-ness', a rare word, or more accurately, based on a rare word, since only the positive *dhīrya* is recorded, the usual word is *dhīra* MW (p 517, col. 1, under *dhīrya*) refere to 2. *dhīra* 'steady, constant, resolute', etc, and records an occurrence in the *Śāṅkhāyana-brāhmana* XIX. 3, Böhtlingk, *Sanskrit-Worterbuch in Kurzerer Fassung*, (1879-83) (BR) gives '2 *dhīra*' as the equivalent of *dhīrya* but defines it thus 'verstandig, klug, weise, geschickt, kunstfertig, sich verstehend auf', but these meanings are inappropriate to the context in which Su's *adhīrya*° is used, furthermore, since this equivalence is not adopted by MW, probably '2 *dhīra*' is a typographical error for '1 *dhīra*'.

Kalācike for *-prakoṣṭha-* (2) 'forearm' in *kanakavalayarikta-prakoṣṭhah* is rare in cl Skt, and it is doubtless in this circumstance that the explanation of the interpolation *bāhū* in two MSS is to be sought

Kheṭanam for *-utkasana-* (16) 'ploughing' in *sadyahsīrotkasanasurabhi* is not listed in MW or BR, under √*khiṭ* 'be terrified, terrify' MW gives a participial from *kheṭita* 'ploughed' but only on the authority of the lexicons, i e the indigenous *kośa-s* of the Indian lexicographers The meaning required in the context ('ploughing') is the noun-counterpart of this *khetita* Unquestionably there is some relationship between *khetita*, *kheṭana* and *kheṭa* 'village, residence of farmers' as well as *kheṭaka*, apparently the diminutive of *kheṭa*

√*caṭ* which is used participially (*caṭitam*) in explanation of *ārūḍham* (8) 'having arisen' and in the primary derivative *catana* in *caṭanāya* to explain *-ārohanāya* (65) 'for climbing' is a vague word in cl Skt (like √*kal*) with many very diverse meanings

('reach, fall to the share of, hang down from, rain; cover, break, kill' in MW) It is frequent in the *Pārśvanāthacaritra* and occurs once in the *Pañcadandacchattraprabandha*, but in both works always in connection with *kare* or *haste* in the sense of 'getting into one's hand' [35]

Cūca in *cūcapradeśe* (19) 'in the region of the nipple' is quite obviously related to *cūcuka*, *cucuka* and *cucuka* 'nipple (of the breast)' which appear to be diminutive formations of it A variant *cūñca-* occurs in two MSS.

Jyotirangana- for *khadyota-* (88) 'fire-fly is °*ingana* in cl Skt, literally 'moving light' <$\sqrt{}$*ing* 'move'. This spelling is probably due to false connection with *angana* 'walking' (cf. also *angana* 'court, yard') or *anganā* 'woman' In any case, the differing vowel cannot be due to bad transcription, as Sthiradeva too, uses a clearly related word *jyotiranginah sphuritānukāriṇīm* (your eye) imitating the flashing of a fire-fly'.

Parisamantād (*-t*) 'round about' for *pari-* in *parīyāh* (59) is very rare in cl Skt, it is marked with an asterisk in BR and called 'lexical' by MW, Macdonell and Bhide do not list it at all None mention the adverbial ablative seen in the context here, but only its basic sense. '*umkreis* circumference, circuit'.

-paksmasampuṭa in *prasphuṭatpaksmasampuṭam sat* (102) 'whose eyelids (?) are quivering' in explanation of the textual *uparispandi* The lexicons do not list a compound *paksmasampuṭa* 'eyelid', but *sampuṭa* means 'a hemispherical bowl or anything so shaped' (MW) and in combination with *paksma-* can plausibly be referred to the similarly shaped eyelid A very close parallel is found in Hindī *papoṭā* which derives from *paksma-puṭaka* and is, therefore, practically a synonym of °*sampuṭa* [36]

Papīhah is a synonym for *cātakah* (9), the mythological bird that is alleged to subsist on drops of rainwater This is found in Hindī with long final vowel (*papihā*) and also with both penultimate and final vowels lengthened (*papīhā*), Platts also gives *pappīhā* with geminated *-p-* and derives it from Skt.

pappīha (or *vāpīha*) 'cātaka-bird' with *-kah* subjoined[37] The suffix *-kah* must be supposed to account for the long terminal vowel in Hindī *Vappīha* seemes to be the older and original Skt. word, and *vāpīha* a new formation based on a fanciful etymology deriving it from *vāpī* 'lake' and the verbal extracted from √*hā* 'abandon', thus, literally 'abandoning lakes'[38] The initial *p-* in the Hindī *papīha* (etc) and JS *papīha* is probably due to regressive assimilation rather than any isolated phonological law involving a change of *v-* to *p-*

-phalikā occurs in *sphaṭikaphalikā* 'a perching-stick having a base of crystal' in *pāda* a of 78, but only *phalaka* (*phalakā* in the feminine at the end of a compound) is found in cl Skt That Su did not regard the penultimate *-i-* as a particular form of *phalaka* in composition is clear from his *vigraha* of °*phalikā* where he gives this form independently Perhaps it is an analogical form based on JS *pāṭīkā* (*vide infra*)

Pratyañcā for *jyā* (81) 'bowstring' is also found in Hindi, but not in cl Skt, it is probably to be derived from *pratyañc* literally 'turned towards, coming from behind' and, when applied to the bowstring, may refer to the fact that the string (*jyā*) is drawn towards the archer or to its position behind the bow, thus, cf Platts, 'that which comes behind' (the bow)[39] But it need not originally have been connected with *pratyañc*, but could have been derived from Middle Indic **paṭijjā* (<**prati-jyā* 'near the bowstring') wrongly assumed to be the Pkt equivalent of *pratyañcā*[40] MW records a curious *patañcikā* as a word given by the *kośa-s* for bowstring,[41] but it looks suspiciously like an error for **pratyañcikā*, if so, this would be an extension of Su's *pratyañcā*

Rātrimukhāh (masc or fem ?) for *pradosāh* (77) 'evenings', literally 'faces of the night' or perhaps rather 'openings of the night' or 'foreparts ' is not given in the lexicons as a compound of *rātri-*, cf *Abhidhānacintāmani* (cited by Su here) where the precise equivalent *yāminīmukham* occurs *pradoso yāminīmukham iti*

-vipathagā- in *śrībhagīrathapathapraslutavipathagāpayaḥpū-*

raplāvitāh (54) '(the sons of Sagara) washed by a flood of water from the heavenly stream (i e the Gangā) gone forth as a result of the course [of penance] of Bhagīratha' This word is not attested, though the elements of which it is compounded are perfectly clear. their application to a 'stream' and more particularly the Ganges is somewhat obscure If *vipathagā* is only a general word for 'river', the etymological meaning would be 'going by diverse (*vi-*) paths', if it is an *ad hoc* compound and hence, applicable only to the Ganges, it probably means literally 'going by different paths, i e by a celestial as well as a terrestrial course'. Which of these semantic explanations is correct can only be determined by further uses of the word in other contexts [12]

√*sphiṭ* is listed in the *Dhātupāṭha* X. 91 with the meaning *hiṃsāyām* 'hurt', but asterisked by BR, it is given by MW but without example Su uses this root three times, always in the sense of 'doing away with, removing' It first occurs in the past participle *spheṭita* (17) as a synonym for *-praśamita-* in *āsāra-praśamitavanopaplavam* where the specific sense 'extinguished' is required In 35 *spheṭayati* explains *harati* 'removes', and in 73 the same tense in the plural explains *vyālumpanti* 'destroy', in both these instances it is used in an identical setting, namely with reference to dispelling the languor induced by amorous pleasures (*surataglānim* and *angaglānim* respectively). In the latter two occurrences there are variant readings from √*sphuṭ*, which may occasionally be used in the causative in the meaning 'destroy, kill', etc. These *variae lectiones*, however, are probably just transcriptions of an earlier copyist's error where the superscript vowel '*e*' was converted to '*o*' by the addition of a vertical staff or *daṇḍa*

(*b*) WORDS WHICH DIFFER IN MEANING FROM CL SKT.

-ākāra is a synonym for *-viśeṣa* 'kind of' in *ayojālākārah* (73) 'a kind of iron network'.

-udbheda 'source, origin' in *puṣpodbhedam* (72) which Su makes an adjective to *madhu* 'honey which has its origin in flowers', is taken by the other *vṛttikāra-s* in the sense of 'sprout,

shoot' There are no recorded examples with the meaning assigned by Su

Kāvya is frequently used by Su as a synonym for *śloka*, exx *asmin kāvye* (39) 'in this stanza,' *pūrvakāvyād grāhyah* (40) '([The word] *tatra* is) to be understood from the foregoing stanza, *ced hi kāvya* (46) 'for if in the stanza ,' *kāvyayugmasya vyākhyā* (89-90) 'commentary on the two stanzas', *kāvyatrayasya vyākhyā* (92-4) 'commentary on the three stanzas'.

Without parallel in cl Skt is Su's use of the interrogative *kva* in the sense of 'when?' Since his commentary is of the *kathambhūtinī ṭīkā* type, it occurs with considerable frequency in asking questions on temporal locutions, exx *kva? nṛtyārambhe* (40) 'When? At the time of beginning the (*tāndava*) dance', *kva? savituh udaye* (75) 'When? At the rising of the sun' This usage is perhaps only an extension of meaning from the spatial to the temporal sphere, as seen, for example, in the case of the pronominal adverb *tatra*, which may mean 'there' as well as 'then', but *kva* is not employed in this dual capacity in cl Skt *Kva* is also commonly combined with *sati* (present participle locative singular of √*as*) to phrase questions concerning locative absolute or other locative phrases of attendant circumstances, exx: *kva sati? nabhasi śrāvane māse pratyāsanne samīpasthe sati* (4) 'Under what conditions? While the month of Śrāvana was near', *kva sati? viprayoge sati bhartuh virahe sati* (10) 'Under what circumstances? When there is a separation, i e when one's husband is away'. The plural of this curious phrase is *keṣu satsu*, exx · *kesu satsu ? śanakaih nirantaram puskaresu mṛdangesu āhatesu vādyamānesu satsu* 'Under what conditions? While drums are beaten gently ' This suggests that *kva* in the singular phrase is just a substitute for *kasmin* in a rather vague and general way without reference to any particular noun.

-gamanikā- (or °*ka-*?) occurs in a compound *divasagamanikopāyāh* (94) 'means of passing the days' in explanation of *vinodāh* 'amusements, pastimes' Obviously it is a synonym of *yāpana* 'passing (of time)' and like this is formed on a causative base, phrases with √*gam* referring to time are in fact common

in cl Skt., cf. *kāle gacchati* 'with the passage of time', *kālam gamayati* 'he passes the time' *Gamanikā* is listed in MW only in the meaning 'explanatory paraphrase'.

-parimala- (75) which occurs in *pāda* c in the long compound *muktālagnastanaparimalacchinnasūtraih* '(by necklaces) whose threads are broken due to rubbing against the breast . ' is defined by *-sammarda* 'rubbing together, friction,' a meaning wholly unknown to cl Skt *parimala* Perhaps *-parimala-* was taken as another form of *parimarda*, substantially a synonym of *sammarda*, indeed, *parimala* may be originally a Pkt word from *pari-√mṛd* applied to perfume produced by the trituration (*parimarda*) of fragrant substances. Yet in explaining the textual *sphuṭitakamalāmodamaitrīkasāyah* (35) '(the wind from the Śiprā River) which is fragrant through contact with the perfume of full blown lotuses' Su uses *parimala* for *-āmoda-*, the ordinary meaning in cl Skt

Bhujamadhya used as a synonym for *-prakoṣṭha-* 'forearm' in *kanakavalayabhraṁśariktaprakosthah* (2) means in cl. Skt. 'breast', literally 'interval between the arms' But here it means 'the middle of the arm', probably with reference to the forearm (*prakoṣṭha*), though the elbow or upper arm may equally well be meant by so vague a word (at least when viewed only from its etymological constituents)

-roga in *gallasthalotpannaprasvedadūrīkaranenotpannarogena* 'on account of the affliction which has arisen from removing the perspiration appearing on the cheeks' is a synonym for *-rujā* in *gandasvedāpanayanarujā* (28) In cl Skt , however, *roga* refers only to 'bodily affliction, disease', whereas *ruj* (instrumental *rujā*) has the same senses as the parent *√ruj* 'afflict, hurt, harm', if, then, the sense of *roga* in this passage is typical of JS, it may be that it has preserved an older range of meaning no longer attested for *roga* in cl Skt where only a specialization of the original concept has been retained

vi-√lok which in the gerundive *vilokanīyaih* explains *anveṣṭavyaih* (78) 'to be sought after' preserves its literal sense 'look for in different places (*vi-*)', whereas cl Skt *vi-√lok* means

'look upon, examine, study, inspect' and appears, therefore, to be only an intensification of √*lok*.

√*śabdaya*- in cl Skt. only means 'give forth sounds, cry, call' but in 35 Su employs the present active participle *śabdayan* in a transitive sense as an explanation of *dūghīkurvan* Ordinarily denominatives with causative value are derived from adjectives, exx *kalusayati* 'makes turbid', *śithilayati* 'makes loose' [43]

Śala- (with variant *śarala*- in two MSS) for *nīda*- ('nest') in *nīdāi ambhaih* (25) is unrecorded in the lexicons in this or any related sense As used here it can be plausibly referred to √*śal* in the *Dhātupāṭha* (I 519) which is defined *calanasamvaranayoh* 'to move and to cover' With √*śal* are to be connected *śarman*, *śarana*, and *śarīra*,[44] in all of which the concept of 'cover' is involved in one way or another The simple √*śal* is not found in cl Skt, only forms compounded with *ut*, *sam-ut*, etc, though none of these compounds of √*śal* has the meaning 'cover', there cannot be any doubt that Indo-Aryan possessed √**śṛ*, √**śḷ* in this sense This is proved not only by the inclusion of √*śal* in the *Dhātupāṭha* and the obvious derivates of its variant √**śar*, but also by its well-attested status in other Indo-European languages where the meaning 'cover' is preserved, thus, cf Latin *cēl-āre* 'hide' (with lengthened grade of ablaut), *cl-am* (with total loss of vowel), and < I E **kolmos*, *kolmos* cf Anglo-Saxon *helm* 'protector, protection' (normal grade), Gothic *hilms* and Lithuanian *šálmas*, all three of which precisely correspond to Skt *śarman* except for a difference in declensional scheme As a derivative of √**sṛ*, √**śl* JS *śala* might mean either 'that which covers' (*nomen agentis*) or 'a covering' (*nomen actionis*), precisely as the Anglo-Saxon *helm* These meanings of *śala*, then, are clearly older than those given by MW for cl Skt *śala*, or perhaps the two words are not even related, and the meaning 'nest' subsumed under JS *śala* ought to be included under a new entry

(*c*) PRAKRITISMS

Kudyām in the phrase *gṛhopari kudyām* (42) 'in a little hut

on top of the house' in explanation of *bhavanavalabhau* is a Prakritism for *kuṭyām*[45] MW records *kuḍī*, but regards it as a wrong reading for *kuṭī* Actually both *kuṭī* and *kuḍī* are found in Skt MSS (apart from JS texts), nor is this phenomenon surprising, as the vocabulary of standard Skt has many Pkt words

Kumpalām which occurs in a discussion of the compound *viśakisalayacchedapātheyavantaḥ* (12) as a synonym for *-kisalaya-* 'sprout' is a Pkt word with Skt termination. It derives from *kuṭmala*,[46] but Pischel states that since there is also a form *kuñcala*, which cannot be derived from *kuṭmala* or *kudmala*, a dialectical form in addition to the latter is to be postulated in order to explain *kumpala* (or *kuñcala*)[47]

Jāsū in *jāsūkusumam*, as a synonym of *-japā-* 'China rose' in *vikasitajapāpuṣparaktam* (40) '(glow) red as the China rose in full bloom', is undoubtedly identical with Pkt *jāsumana jāsumina* and *jāsuyana* which according to Sheth[48] derive from *japāsumanas* probably through the stages **javāsumana* > **jaāsumana* > *jāsumana* > *jāsuyana* > **jāsūna* This last form is in fact one of the variants afforded by two MSS and may well have appeared in Su's autograph, especially since *jāsūn* (with dental-*n*) occurs in Urdu (see Platts, p 371)

Pāṭikā in explanation of *-phalikā* 'plank, board', 'pedestal' in *sphaṭikaphalikā* (86) 'having a pedestal of crystal' is Pkt *pāṭa* (< earlier *patta* < *pattra* 'leaf') with the suffix *-ikā*, cf also Pañjābī *paṭṭ* 'sandy place' and Hindī *pāt* 'board'[49]

-macchāny (-*i*), for *-śaphara-* in *catulaśapharodvartanaprekṣitāni* (44) is an obvious Prakritism for *matsya*[50] Note also the neuter gender, whereas Skt *matsya* is always masculine

Melāpo (*-ah*) occurs in the analysis of *asthānopagatayamunāsamgamā* (55), cf Skt has only *melāpaka*, an extension of a supposed **melāpa*, but probably **melāpa* here is simply vernacular *milāpa* (cf Hindī *milāp* 'meeting', with change of *-i-* to *-e-* due to the gunated derivatives of √*mil*, especially the causative *melāpayati*

Laṣṭikā, a synonym for *-yaṣṭi* 'stick' in *kāñcanī vāsayaṣṭiḥ* (86), is a Sanskritization of the common Pkt word *laṭṭhi* or *laṭṭhī* (in Ardhamāgadhī, Māhārāṣtrī, etc. and also in the modern Indo-Aryan vernaculars generally in the form *lāṭhi*, but Pañjābī has *laṭṭh* 'axle of a water-wheel')[51] Since Pkt. *-ṭṭh-* corresponds to Skt *-ṣṭ-*, *laṭṭhi* (or *laṭṭhī*) could theoretically represent Skt **laṣṭi* (or *laṣṭī*), to this, as in the case of *pāṭikā* above, was added the secondary derivative suffix *-kā*, which here seems to have diminutive value as seen in Skt *putraka*, *rājaka*, *aśvaka*, *pādaka*, etc The use of *-ka* or *-kā* in the formation of such diminutives is determined by the gender of the primitive, and hence, since *laṭṭhi* (or *laṭṭhī*) is feminine, the Sanskritized form is provided with *-kā* Ultimately, of course, Pkt *laṭṭhi* and *laṭṭhī* are probably derived from *yaṣṭi* with change of *y-* to *l-*

Vādati, locative singular masculine, present participle, in explanation of *vahati* (57) 'while (the wind) blows' seems to be based on a Pkt **vāddaī*, though the form of the participle is patterned after Skt , this is, of course, an artificial creation from *vāta* 'wind' with verbal termination and softening of medial *-t-* to *-d-* Or is *vādati* an error in transcription for *vāti* ?

Vādyanti (39) is a passive with *parasmaipada* ending formed from the causative of √*vad* 'speak', thus, 'are caused to speak, i e. sound' (said of the tinkling of the *kaṭimekhalā*) According to the general rule Pkt uses active endings for passives[52]

Vinasisyati (49) is a curious, partial Sanskritization, apparently modelled on cl Skt *vinaśisyati* 'will be ruined, go to ruin' (< *vi*-√*naś*), but the cerebral *-n-* and dental *-s-* seem explainable only on the assumption of influence from a Pkt **vinasissadi* The use of this word is peculiar too it occurs in a sentence which explains why the *siddha-s* fear the drops of water released by the cloud (*jalakanabhayād*) due in Su's view to the *vinā* being ruined when it gets wet (*jale lagne vīnā vinasisyati*); *vi*-√*naś* in its classical cannotations seems a very strong word to describe a *vīnā* whose strings have been wet

Vidhyāpayitum, synonym of *praśamayitum* (57) 'to extin-

guish' (a forest-fire), is a false Sanskritization of the Pkt stem *vijjhāve-*, forms of *vidhyāpaya-* are common in Jaina works[53] *Vijjhāve* is presumably from **viksāpaya-*, causative of *vi* √*ksai* In cl Skt, however, √*ksai* is not found in composition with *vi-*, so that both the combination and the reversive meaning attaching to *vi-*√*ksai* are in the hypothetical sphere, and Turner too, expresses doubt about the semantics involved[54] Pkt *-jjh-* can represent an original *-ks-* or *-dhy-* (ex *majjha* > *madhya*), and since the *-jjh-* in *vijjhāve-* was wrongly supposed to have stemmed from *-dhy-*, the spurious stem *vidhyāpaya-* was created With *vijjhāve-* cf Hindī *bujhānā*, Gujarātī *bujhāvvum*, Marāthī *vijhavinem*, and Nepālī *bujhāunu* 'extinguish' Pāli has *vijjhāpeti* 'extinguish' and *vijjhāyati* 'be extinguished'

(*d*) Foreign Words

Tīra- 'arrow' given as a synonym for *-śara-* in *śitaśaraśatair* (52) is a late Persian loan-word The feminine *tīrī* is one of the four varieties of arrows listed by Hemacandra in the *Abhidhānacintāmani*[55] Both *tīra* and *tīrikā* (a diminutive?) occur in the *Pañcadandacchattraprabandha* in a long aggregative compound containing the names of weapons[56] Persian *tīr* is to be compared with Avestan *tigri-* 'arrow', in which is seen the cognate of Skt. √*tij* 'be sharp', and Pahlavī *tīr* 'arrow'[57]

Varandi (or °*ī*) for *valabhi* (42) 'a turret or separate building on the roof of a house' Hindī has *varandā* 'portico' which Platts derives from Skt *varanda* with suffix *-ka* (to explain the long final vowel),[58] but Skt *varanda* is an umbrella-word with many diverse meanings ('string of a fishhook, multitude, eruption on the face, heap of grass, package, rampart separating two combatant elephants', etc) MW lists *varandaka* immediately after *varanda*, the meanings of these two words are very nearly the same, though *varandaka* has also some standing as an adjective ('round, large, miserable, fearful') Thus, Skt *varanda*+*ka* (according to Platts) and MW's *varandaka* would practically coalesce the meanings of one being communicated to the other *Varanda* appears in a variety of forms in almost all the vernaculars,[59] and Skeat,[60] following a suggestion by Yule and Burnell, was of the opinion that the Skt word was

borrowed from Portuguese *varanda* 'balcony', and from Skt into the vernaculars But if the vernacular words were borrowed from Skt *varanda* (in turn < Portuguese *varanda*), it is difficult to explain the widely different forms this word has assumed Skt loan-words would normally be less subject to change in the vernaculars Furthermore, it is *a priori* implausible for a Portuguese word of this import to enter Skt directly: some intermediary language seems necessary Since the Portuguese had early contact with Konkanī- and Marāthī- speaking Indians, either of these two languages might have served as the bridge There are variant readings in two MSS of Su's *vṛtti*, viz *varamki* (or °*ī*) and *paramdi* (or °*ī*), but they seem valueless in tracing out the affiliations of this difficult word.[61]

(*c*) VERNACULARIZATION

Uttārayantīm for *sārayantīm* (98) 'removing, pushing aside' (a braid of hair) has probably fallen under the semantic influence of New Indo-Aryan the causative of *ut*-√*tṛ* in Skt sometimes means 'remove' with reference to clothing or ornaments, but in the vernaculars this is perhaps its commonest meaning, though the etymological value of the root still persists in its modern forms, thus, cf Hindī *utārnā*,[62] Pañjābī *utārnā*, Gujarātī *utārvum*, Marāthī *utarnem* and Nepālī *utārnu*,[63] all with more or less the sense of 'set down'

-*utsāha* 'joy' in *nirutsāhām*, a synonym for *nirvinodām* (95) 'without pleasures or amusements' has almost certainly been infected by Hindī *utsāh* 'joy', since Skt *utsāha* regularly means 'effort' (mental or physical) MW records the meaning 'joy, happiness' from the *Vetālapañcavimśatikā*, but it is doubtful whether *nir*° which he defines 'without energy or courage, indolent, indifferent', would ever mean 'joyless' in Skt But since the concept of 'joy' is, on the contrary, uppermost in the Hindī word, it can be reasonably assumed that this predominant value was imparted to the word as used in JS

Choṭanīyām in explanation of *udvestanīyām* (98) 'to be loosed or undone' (said of the *venī* 'braid of hair') is <√*chuṭ* 'cut, split, cut off' (*Dhātupāṭha*, VI 84 and X 72. √*cuṭ* and *chuṭ* '*chedane*'),

but this root is apparently never used in Skt. In other JS texts it generally has the sense of 'escape' from some sort of dangerous situation, so, in the *Pārśvanāthacaritra* I 175 *tava bāṇa-praharataḥ katham chuṭ ye* 'How shall I escape from the blow of your arrow?[64] As used by Su, the range of meaning appears to have been extended by influence from the semantic development of this root in the vernaculars, thus, cf Hindī *chuṭnā* (< Pkt passive stem *chuṭṭ* < *chuttaī*, present passive with *parasmaipada* ending <*chutyate*) 'be set free, be let go, get loose, be loose'.[65] Developments of this root are widespread in the modern Indo-Aryan languages . Bengālī *chuṭā*, Oriyā *chuṭibā*, Pañjābī *cuṭṭnā*, Gujarātī *chuṭvum*, Marāthī *suṭnem*, Nepālī *chuṭnu*[66]

-*moṭana*- in *kaṭākṣamoṭanakriyāyām* (16) 'with regard to making coquettish movements of the eye', in cl Skt this word generally has a very violent connotation, ex *gajamoṭana* 'destroyer of elephants' (i e a lion), but less so in *angulimoṭana* 'snapping of the fingers'[67] Nowhere, however, is it applied to the sidelong glances of the eye (*kaṭākṣa*) or the coy movements of the brow (*bhrūvilāsa*) But in some of the modern Indo-Aryan languages words related to the root on which *moṭana* is based (√*muṭ*) have a range of meaning much closer to that required in Su's usage of the word ; thus, cf Nepālī *mornu* 'bend, twist , fold' and similarly Hindī *moṛnā* (or *mornā*) and Gujarātī *modvum*, but Marāthī *modnem* exhibits the same general meanings as cl Skt √*muṭ* Hindī *moṛnā* is also used for 'plaiting, gathering'[68] which practically brings us to Su's *moṭana* It seems, then, that Skt *moṭana* has fallen under the influence of local vernacular usage and its meaning become attenuated and somewhat particularized The germs of this process were probably in cl Skt phrases like *anguli°* given above

VI *Orthography*

In the matter of orthography it is very difficult to be certain how far to attribute any feature to JS, since in this area so much rests with the transcribers who tend to introduce their own local peculiarities into the text either purposely or perhaps quite unconsciously. In any case, under this heading essentially the same points may be mentioned as given by Weber[69] the

interchange of *kh* and *s*, *-hph-* instead of *-sph-* after *-i-* and *-u-*, the confusion of *ś* and *s*, and of *b* and *v*, the use of *anusvāra* before all occlusives instead of the *parasavarna* nasal (but this is hardly peculiar to JS!) the frequent spelling *svarna* for *suvarna* 'gold' [70] There is a marked tendency to double a constant after *r* in most of the MSS Occasional vulgarisms like *parśurāma* for *paraśurāma* (61) and *ujainī* for *ujjayinī* (34) are also found

References

1 See Albrecht Weber's introd to his ed of the late Jaina text (*c* 17th century) entitled *Pañcadandacchattraprabandha*, in *Abhandlungen der Koniglichen Akademie der Wissenschaften zu Berlin Philosophische und Historische Klasse* (1877), pp 1-103

Also Maurice Bloomfield's digest of Bhāvadevasūri's *Pārśvanāthacaritra* entitled *The Life and Stories of the Jaina Saviour Pārcvanātha*, Baltimore, The Johns Hopkins Press, 1919 (Appendix II 'The Language of the *Pārcvanātha*', pp 220-39), and 'Some Aspects of Jaina Sanskrit', *Festschrift Jacob Wackernagel zur Vollendung des 70 Lebensjahres am 11 Dezember 1923, gewidmet von Schülern, Freunden und Kollegen* (Gottingen, Vandenhoeck & Ruprecht, 1923)' pp 220-30 Unfortunately, a copy of this *Festschrift* was not available to me during the preparation of this article

See Also A N Upadhye in the *Bṛhat Kathākośa of Ācārya Hariṣenā* (Singhi Jain Series, No 17, Bombay, Bharatiya Vidya Bhavan, 1943), pp 94-110 of the Introd (He includes a list of the peculiar words on pp 102 ff), B J Sandesara and J P Thaker, Lexicographical Studies in "Jaina Sanskrit', I Prabandhacintāmani of Merutñugasūri (A D 1305),' *Journal of the Oriental Institute* vol 8, No 2 (Dec 1958), pp 1-40 (Supplement M S University Series, No 5) cf Mohanlāla Dalicamda Desāi in *Jaina Gūrjara Kavio*, Bombay Śrī Jaina Śvetāmbara Conference Office, (1926-44) part I, pp 228-30, (In Gajarātī)

2 For particulars regarding BHS, *vide* Franklin Edgerton, *Buddhist Hybird Sanskrit Grammar and Dictionary* (New Haven Yale University Press, 1953), vol I Grammar, Introduction, pp 1 ff

3 Su's commentary, called *Sugamānvayā Vṛtti*, has not so far been published *in toto*, but excerpts *in extenso* were made by Gopal Raghunath Nandargikar in *The Meghadūta of Kālidasa with the Commentary of Mallināthа* (Bombay Gopal Narayen and Co , 1894) Variant readings for the text of the *Meghadūta* were extracted from Su's *vṛtti* (probably from Nandargikar's edition above) by Kashinath Bapu Pathak in *Kālidas's Meghadūta, or The Cloud-Messenger* (*as Embodied in the Pārśvābhyudaya*) *with the Commentary of Mallinātha* (2nd ed, Poona, Oriental Books-Supplying Agency, 1916) Similar *variae lectiones*, though far

fewer in number, are given by Sushil Kumar De in *The Megha-dūta of Kālidāsa*, New Delhi, Sahitya Akademi, 1957

In the preparation of the present investigation five MSS cf Su's *vṛtti* have been used Nos 510 and 511 in Volume 13, pt 2 of the Descriptive Catalogue of the Bhandarkar Oriental Reasearch Institute, pp 155-7 No 510 was copied in the year 1851 Vikrama Samvat, and No 511 in 1803 V S The author is indebted to the B O R I for its kindness in allowing these two MSS to be examined A third MS emanates from the personal library of Muni Śrī Punyavijayajī and bears the number 369 It is undated The other two are in London in the Wellcome Historical Medical Library collection, listed for the first time by Dr V Raghavan They were provided with the tentative identification numbers P 87 and R 122, of these the formers bears the date 1916 V S, but the latter, being an incomplete MS, is without date The writer is obliged to Mr F N L Poynter, Librarian of the Wellcome Historical Medical Library, for his courtesy in putting these MSS at his disposal

Another MS is listed in the Catalogue of the Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, 1959, pt I p 318, MS No1231, pt. II, pp 267-8, gives extract from the MS This MS is complete and bears the date *dasāṣṭasatam* of the V S (i e [1] 810 V S ? but the Catalogue entry gives 800)

4 cf Weber's comments on *sandhi* in the *Pañcadaṇḍa*, p 7, also Upadhye *Bṛhat Kathākośa*, p 97
5 William Dwight Whitney, *Sanskrit Grammar* (2nd ed Harvard University Press 1955), 449 and h, i, j
6 Upadhye, *Bṛhat Kathākośa*, p 99
7 Whitney, *Grammar*,§449 c
8 ibid ,§1051 and a, c
9 ibid,, §989 and a
10 This usage is seen also in the *Bṛhat Kathākośa*, exx *vyāpayitvā* (XII 128), *snāpya* (LVI 260 and 263) and *sthāpya* (XCIII 286)and it is frequent in the *Pañcadanda vide* Weber's notes 14 and 15, pp 13 and 223, p 25, also his remark, p 3, *sthāpya* occurs on p 37, 1 13
11 Whitney, *Grammar* §§ 959 and 960 end
12 Whitney, *The Roots, Verb-forms, and Primary Derivatives of the Sanskrit Language* (Leipzig, 1885, lithoprinted in 1945 as vol 30 in the American Oriental Series), does not list *granthita*
13 Whitney, *Grammar*, § 964 b
14 Whitney, *Roots*, has *mārṣṭavya*, Monier-William *A practical Grammar of the Sanskrit Language* (4th ed, Oxford, 1877 § 651 lists *mārṣṭavya* and *mārjitavya*
15 Monier-Williams, *A Sanskrit-English Dictionary*, p 829 under √*mṛj*
16 So according to Whitney, *Roots*, under√*mṛś* where the form in *-tavya* is not recorded
17 In the *Pārśvanāthacaritra* III 653 occurs *vimṛṣtar* (noun of agency) 'reflecting conservative, *vide* Blomfield, *Pārcvanātha*, p 232
18 Whitney, *Grammar*, §§ 522 ff, esp § 526

19 According to MW, p 50, *apamarsa* is a *varia lectio* for *abhimarśana* in the *Śākuntala*
20 Whitney, *Grammar*, §1157 3 g
21 ibid , §§ 1208 and 1211
22 Monier-William, *Grammor*, § 755 b
23 For *-n-* before *-m-* instead of *-m-* or *anusvāra*, *vide* Weber, *Pañcadnda* , p 6
24 Whitney, *Grammar*, § 219 b affords one example *agacchan ahorātrāt tīrtham* (*Mbh*) *'They went to the shrine after a whole day'*
25 *Meghadūtan of Mahākavi Kalidās with the Katyayani Sanskrit Commentary, Gujarāti Samashlokī and Gujārati Translation* by Kt C Rajvaidya J K Shastri (Gondal, Kathiawad, 1953), p 109
26 Whitney, *Grammar*, §295
27 ibid, §579 b
28 Su's *vṛtti* is of the so-called *kathambhūtinī ṭīkā* variety in which a series of questions is asked by the commentator in order to set forth the epithets of the *mūla* in reply and show what nouns they modify
29 In this *vigraha*, *pānducchāya-* appears to be taken as a *karmadhārya* instead of a *bahuvrīhi* and *-upavanavṛti* as a possessive genitive 'where there are pale colours belonging to the enclosures ' This is, of course, at variance with the relationship of the parts of the compound implied in *dhavalaprabhāh upavanavāṭikāh* where *dhavala°* is a *bahuvrīhi* adjective limiting *upa°*
30 *vide* Upadhye, Introduction, p 110, e g in the *Bṛhat Kathākosa* Weher also notes occasional non-causative uses of causative stems, exx p 35, I 21 *ākarsitam* (' erwartet man hier statt des Causatives das einfache ākṛṣṭam') and p 36, 1 9 *mocayisyāmi* ('das Causativ hat heir keine rechte Stelle, moksyāmi wäre passender')
31 Whitney, *Grammar*, §1041 b, c
32 For *ut-√tṛ* in the sense of the *aya-√tṛ*, *vide* Bloomfield, *Pārcvanātha, p* 221
33 Whitney, *Grammar*, §1051, a
34 cf *Kathāsaritsāgara* LXXV 92
dattāmbuyavasau vāhau gupte ' vasthāpya cātra sah |
rājaputre sthite vṛddām mantriputro jagāda tām ||
35 In connection with *√caṭ* cf Bloomfield' *Pārcvanātha*, pp 221-2 and Weber, *Pañcadanda* , p 37, 1 16 *yady esāsmatkare caṭati* , Whitney, *Roots*, under *√caṭ* gives the meaning 'go'
36 John T Platts, *A Dictonary of Classical Urdu, Hindī and English* (London, Oxford University Press, 1930) wrongly gives *pakṣa* for *pakṣma* under *pototā*, p 223
37 ibid, under *pāpīhā*, p 223
38 cf MW under *vāpīha*, p 941, col 1
39 Platts, *Dictionary*, p 244
40 *vide* Ralph Lilly Turner, *A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepāli Language* (London, Kegan Paul, Trench, Trubner, 1931), p 365 under *parijo*
41 MW, p 582, col, 1

42 cf *tripathagā* for the Ganges (ed)

43 Whitney, *Grammar*, § 1058 c

44 The change from *-l-* to *-r-* is common in Skt which is predominantly an 'r' -language, cf Skt *śruta* <I E **kluto* 'heard', as shown by the Greek Latin and Germanic cognates, but *-l-* is preserved in Skt *śloka*

45 Hargovind Das T Sheth, *Pāia-sadda-mahaṇṇavo, A Comprehensive Prakrit Hindi Dictionary* (Calcutta, 1923-28), p 318, lists *kuḍī* and derives it from *kuṭi*

46 cf *Hemacandra* II 52 *smakmoh* 'In place of [the consonantal clusters] -*ṭma*- and -*kma* [*pa* is substituted[''

47 Richard Pischel, *Grammatik der Prakrit-Sprachen*, Strassbrug, 1900, §277

48 Sheth, op cit , p 444

49 Turner, *Dictionary*, traces Nepālī *pāṭi* 'tablet' (q v p 373) to Skt *paṭṭa* of which there is a feminine pandant *paṭṭikā*, but his is undoubtedly a Prakritism in Skt *Pāṭikā* occurs in the *Pañcadaṇḍa* , p 11 in the pharse *rājāpāṭikām kṛtvā* the meaning of which puzzled Weber, *vide* his note (ibid),

50 *maccha* is found in the *Pañcadaṇḍa* , p 24, *vide* Weber's note 110 and also his general comments on Pkt forms, p 5

51 cf Turner, *Dictionary*, p 553 under Nepāli *laṭho*

52 Pischel, *Grammatik der Prakrit Sprachen*, §535 end

53 Both the primitive as well as the causative of JS *vi-√dhyai* 'be extinguished' are found, for example, in the *Pārśvanāthacaritra*, *vide* Bloomfield's translation, pp 220-1, where many instances are given, and cf references in his footnotes, p 221

54 Turner, *Dictionary*, p 452, remarks under Nepālī *bhuyau* (1).

55 *Abhidhānacintāmaṇi*, 780 *kṣarapratadbalārddhendutīrīmukhyās tu tadbhidah*

56 Weber, *Pancadanda* , p 29

57 cf Paul Horn, *Grundriss der neupersischen Etymologie* (Strassburg, K J Trübner, 1893), §406, p 91, and note Greek quotation there from Eusthathius' commentary on the geographical epic of Dionysius Periegetes (994) in which the identical Medean word is given· *tigrin kaloûsi to toxeuma hoi medoi* 'The Medes call the arrow "tigri-".'

58 Platts, *Dictionary*, p 1189

59 The many vernacular forms are listed and discussed in detail in *Portuguese Vocables in Asiatic Languages*, from the Portuguese original of Monsignor Sebastião Rodolfo Dalgado, trans into English by Anthony Xavier Soares (Gaekwad's Oriental Series 74, Baroda, 1936), pp 358 62 and 402

60 Walter William Skeat, *Concise Etymological Dictionary of the English Language*, (Oxford, 1911), p 590 under *veranda* In the earlier edition entitled *An Etymological Dictionary of the English Language* (Oxford, 1888), p 683, Skeat traced the Portuguese *varanda* to Persian *barāmadah* 'balcony' (past participle of *barāmadan* 'ascend, climb out, emerge, appear', thus, literally 'that which has emerged, is prominent'), but in the *Concise Dictionary* he derives the Portuguese word from Old Spanish

varanda 'a stair-railing' given by Pedro de Alcalã This is likely to be correct, since Persian *barāmadah* appears to be a modern artificial creation —a *Volksetymologie* probably based on one of the vernacular Indic words[1]

61 Turner, *Dictionary*, concludes his entry under Nepālī *barandā* (p 422) on a note of uncertainty, but feels all the vernacular words may have a common origin

62 Platts, *Dictionary*, p 14 under *utārnā*

63 Turner, *Dictionary*, p 47 under Nepālī *utārnu*

64 cf Bloomfield's note on √*chuṭ* in the *Pārcvanātha*, pp 232-3

65 cf Platts, *Dictionary*, p 460 under *c huṭnā*

66 cf Turner, *Dictionary*, p 199, under Nepālī *chuṭnu*, also in Addenda p 647 where the assumption is made that √*chuṭ* is a *ṭ*- extension of √**chu*

67 cf *anguṣṭhamoṭana* in the *Pañcadaṇḍa*, pp 15 and 20, where it is used in the sense of walking someone with a snapping of the fingers

68 Platts, *Dictionary*, p 1090

69 Weber, *Pañcadaṇḍa*,, p 6

70 ibid, p 18, note 60 '*svarna* [sic] *ist hier die reguläre Form des Wortes, nur einmal* (s Note 148a) *findet sich die vollere Form*' In Su 2 and 78 the fuller form is found

DIALECT AND SUB-DIALECTS OF PRAKRIT

Dr. SATYA RANJAN BANERJEE

Prākrta, europeanised as Prakrit, or linguistically Middle Indo-Aryan (=MIA), belongs to the middle period of the Indic group of the Indo-Iranian sub-branch of the Indo-European family of languages It is, therefore, intimately connected with the Old Indo-Aryan (=OIA), i e, with the Vedic and classical Sanskrit on the one hand, and remotely with the Iranian, and still more remotely with the Indo-European on the other.

The world Prākrta is used to include a number of languages or dialets, traces of which are found in the religious, literary and dramatic literature of the Jains and non-Jains, beginning from about the 6th or 5th century B C down to the 10th or 11th century A.D , covering a period of over fifteen centuries It is very difficult to say whether the term Prākṛta as employed by the Indian grammarians and rhetoricians in their respective treatises included Pāli and Inscriptional languages It is normally considered that the Indian authorities, perhaps, excluded them from their considerations As a result, the linguists have employed the term Middle Indo-Aryan as opposed to Indian term Prakrit, by maintaining a parity with the Old and New stages of Indo-Aryan languages Hence the Middle Indo-Aryan does not only include Prakrit as described by the grammarians and rhetoricians, but also Pāli and other Inscriptional languages, such as, the edicts of Aśoka, the pillar edicts of Kāluvākī and Heliodora, the copper plate Inscription of Kalawan and the Hathigumpha Inscription of Khāravela, the Kharosthī documents from Niya region and the Khotan Dhammapada from Chinese Turkestan, etc The Middle Indo-Aryan also

includes the Buddhist literature in the gāthā dialects and in the hybrid Sanskrit, the Apabhramśa and the Avahattha In a nutshell, it covers all the languages and dialects which lie between the Vedic and classical Sanskrit (=OIA) and the New Indo-Aryan (=NIA) languages So linguistically the term Middle Indo-Aryan is wider and appropriate

The etymological meaning of the word *Prākṛta* is 'natural', 'common' ('*Prakrtā svabhāvena siddham*) as opposed so 'artificial' which stands for *Samskṛta* The Prakrit dialects in India have a parallel with the Vulgar Latin in Italy This parallelism is described by Max Muller in the following lines

"Dante ascribed the first attempts at using the vulgar tongue in Italy for literary compositions to the silent influence of ladies who did not understand the Latin language Now this vulgar Italian, before it became the literary language of Italy, held very much the same position there as the so-called Prakrit dialects in India, and these Prakrit dialects first assumed a literary position in the Sanskrit plays where female characters, both high and low, are introduced as speaking Prakrit, instead of the Sanskrit employed by kings, noble men, and priests Here, then, we have the language of women, or, if not of women exclusively, at all, events of women and domestic servants, gradually entering into the literary idiom, and in later times even supplanting it altogether, for it is from the Prakrit, and not from the literary Sanskrit, that the modern vernaculars of India, branched off in course of time Nor is the simultaneous existence of two such representatives of one and the same language as Sanskrit and Prakrit confined to India On the contrary, it has been remarked that several languages divide themselves from the first into two great branches one showing a more manly, the other a more feminine character; one richer in consonants, the other richer in vowels, one more tenacious of the original grammatical terminations, the other more inclined to slur over these terminations, and to simplify grammar by the use of circumlocutions. Thus we have Greek in its two dialects the Aeolic and the Ionic, with their sub-divisions, the Doric and Attic. In German we find the

High and the Low German, in Celtic, the Gadhelic and Cymric, as in India the Sanskrit and Prakrit, and it is by no means an unlikely explanation, that, as Grimm suggested in the case of High and Low German, so likewise in the other Aryan Languages, the stern and strict dialects, the Sanskrit, the Aeolic, the Gadhelic, represent the idiom of the fathers and brothers, used at public assemblies, while the soft and simpler dialects, the Prakrit, the Ionic, and the Cymric, sprang originally from the domestic idiom of mothers, sisters and servants at home "

Although compared with some dialects of Europe the position of Prakrit dialects in India is different from Europe. A comprehensive history of Prakrīt dialects can easily be reconstucted on the basis of documents written in different Prakrit dialects Thus the early or first MIA (600 BC 200 BC) and the first two stages of the second MIA (200 BC 200 AD and 200 A D 400 A-D) are replenished with Inscriptions, Pāli, Jaina-Writings, Aśvaghosa's Prakrits, etc Some of the very important and noteworthy Inscriptional Prakrit are given below

B C 3rd Century	1 The Aśokan Inscriptions (with Brahmī and Kharoṣthi scripts)
	2 Jogimara Cave Inscriptions of Devadinna, Ramgar hill
	3 Mahāsthan Stone Plaque Inscriptions, Bogra, North Central Bengal
	4 Sohgaura Copper-plate Inscriptions, Gorakhpur, U P
	5 Piprahwa Vase Inscriptions, Piprahwa Basti Distt U P
B C 2nd Century	6 Heliodora's Besnagar Pillar Inscriptions, M P
B C 1st ,,	7 Hathi gumpha Inscriptions of Kharavela
	8 Tiṣya Abhaya's Ritigala Cave Inscription, Ritigala, Ceylon.
A D 1st ,,	9. Kharosṭhī or Khoṭaṇ Ḍhammapada.

	10. Patika's Taxila Copper Plate Inscription.
	11. Mathura Stone Inscription
	12 Kalawan Copper-Plate Inscription, near Taxila.
A D. 2nd Century	13. Vakanapati's Mathura Stone Inscription
	14. Gautamīputra Sātakarni's Mother's Nasik Cave Inscription
A D. 3rd ,,	15. Nāgārjunī Koṇda Stūpa Inscription, Guntur, Andhra,
	16. Niya Documents from Chinese Turkestan.
A D 4th ,,	17 Sivaskandavarman's Hirahaḍagalli Copper-plate Inscription.

Then come the literary documents in Pāli and Ardhamāgadhī and the Digambara canonical texts in Śaurasenī The dramas of Aśvaghosa fall within this stage The thrid stage of the second MIA (400 A D—600/700 A D) is represented by the *literary Prakrits* whose characteristic features have been described by the Prakrit grammarians, like Vararuci, Hemacandra, Purusottama, Kramadīśvara Rāmatarka vāgīsa, Mārkandeya and others These Literary Prakrits have got numerous dialects and sub-dialects of which the Mahārāstrī, Śaurasenī, Māgadhī, Paisācī and Apabhramśa are important for their literary documents Apabhramsa in fait, belongs to the third stage of MIA (600 A.D—1000· A D) which is ended with Avahattha (1000 A-D 1500 A D)

Leaving aside the Inscriptional Prakrits, I am concerned in this dissertation only with the dialects and sub-dialects of Prakrit which have been described by the Prakrit grammarians and rhetoricians.

The Prakrit grammarians are again divided into two Schools—an Eastern and a Western The names of the Prakrit grammarians belonging to these two schools are given below in a tabulated form.

The Eastern School

	Authors	*Works*
1.	Śākalya .	? Ref in Pu RT. MK.
	Māndavya	? Ref. in RT MK
	Kohala :	? Ref in MK.
	Kapila :	? Ref in RT MK
2.	Bharata	? Ref in MK. cf NS Ch XVII.
3	Vararuci	Prākṛta-prakāśa
4	Commentators on Vararuci	
	(i) Kātyāyana :	Prākṛta-mañjari
	(ii) Bhāmaha :	Manoramā-Vrtti
	(iii) Vasantaṛāja .	Prākrta-Sañjivam
	(iv) Sadānanda	Subodhinī
	(v) Nārāyana Vidyāvinoda	Prākrta pāda-Tīkā
	(vi) Rāmapām vāda	Prākṛta-Tīkā
	(vii) Raghunātha	Prākrtananda
5	Kramadīśvara :	Prākrtādhyāya
6.	Puruṣottama :	Prākrtānuśāsana
7	Rāma Śarmā ·	Prākrta-Kalpataru
8.	Mārkandeya :	Prākrta-Sarvasva
9.	Jīva Gosvāmī :	Prākrtapāda
10	Rāvana Lankeśvara	Prākrta kāma-dhenu.

The Western School

	Authors	*Works*
1.	[Vālmīki ?]	[Some Sūtras]
2	Namisādhu	Ref Commentary on Rudrata's Kāvyālankāra II 2.
3	Hemacandra :	Prākrtavyākarana
	Commentators :	
	(i) Udaya Saubhāgya-gani	Vyutpattidīpikā
	(ii) Nara (Narendra) Candra Sūri :	Prākrta-prabodha

Followers	
(iii) Simhadevagani	Ref Commentary on Vāg bhatalankāra II.
4 Trivikrama	Prākrta-vyākarana Selection from him by
(i) Narasimha	Prākrta-(Śabda) Pradīpika
5 Simharāja	Prākrta-rūpāvatāra
6 Laksmīdhara	Śadbhāsā-candrikā
7 Appayyadīksita	Prākrta-manidipa
8 Bālasarasvati	Sadbhāsā-Vivarana
9. Śubhacandra	Śabda-Cintamani
10 Śruta Sāgara	Audārya-Cintamani

These two schools differ quite a lot in their accounts of Prakrit dialects The Easterners describe a number of dialects and sub-dialects which, are altogether omitted from the consideration of the westerns As for example, Vararuci (following the edition of cowell) mentions only the Mahārāstrī, Paiśācī, Māgadhī, and Śaurasenī dialects and to these Hemacandra adds Cūlikapaiśācī and Apabhramśa Hemacandra also incidentally mentions Ārsa and Ardhamāgadhī Trivikrama, Simharāja, Lakşmīdhara, and Appayyadīksita follow the classification of Hemacandra, but they have excluded Ārşa or Ardhamāgadhi from their considerations of the eastern Prakrit grammarians Bharata is the first one, so far as it is known so us, who mentions several Prakrit dialects in his Nātyaśāstra He divides the Prakrit dialects mainly into bhāsā, and vibhāsā, and bhāşā includes not only Māgadhī, Saurasenī and Ardha māgadhī, but also Āvantī, Prācyā, Bāhlīkī and Dāksinātya, and vibhāsā includes Śākārī, Ābhīrī, Cāndālī, Śābarī, Drāvidī, Audrī, and the languages of foresters But he has not given the characteristic features of these dialects Bharata describes various forms of Prakrit and its dialects and sub-dialects as employed in dramatic performance together with the fundamental classification of languages in the following manner

Four types of Language
Atibhāsā
Āryabhāṣā
Jātibhāṣā
Yonyantarībhāsā
Samskrta
Prākrta
Samānaśabda
Vibhraṣta
Deśī
Bhāṣā
Māgadhī
Āvantī
Prācyā
Śauraseni
Ardha Mg
Bālhīkī
Dākṣinātyā
Vibhāsā
Śākārī
Ābhirī
Cāndālī
Śābarī
Drāvida
Odra
Vanecara
bhāsā
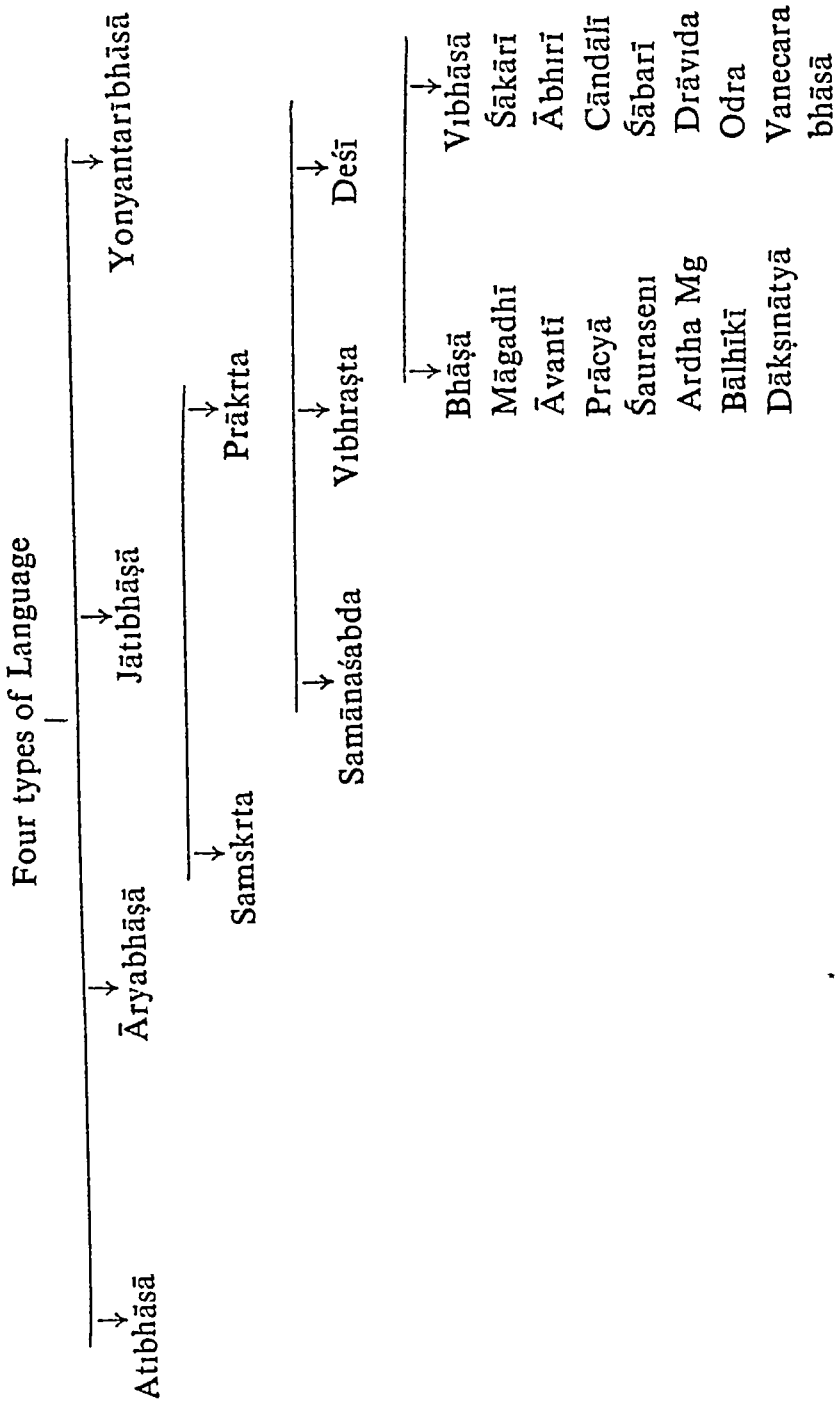
Kramadīśvara also mentions several other sub-dialects, such as, Vrācata, Nāgara, Upanāgara, Srāvantī, etc , besides the four principal Prakrits mentioned by Vararuci He too has not dealt with the Characteristics of those dialects It is only when we come down to Purusottama that we find sundry Prakrit languages or dialects as opposed to the above six of Hemacandra He divides Prakrit into four categories Bhāṣā, Vibhāsā, Apabhramśa, and Piśāca Among the bhāsās he includes Mahārāstrī, Śaurasenī, Prācyā, Āvantī and Māgadhī. To these Rāma Śarmā and Mārkandeya, add three more dialects, such as, Bāhlīkī, Dāksinātyā, and Ardhamāgadhī, but they have not given any characteristic features of them, because they are the same with the other dialects Bāhlīkī with Āvantī, Ardha-māgadhī with Māgdhī, and Daksinātyā is called when it is used in a poem 'sweeter in its essence than even nectar intermingled with words from the south, influenced by sanskrit and other languages' Rāmaśarmā says

Dāksinātya-pada-sambalitam yat
Samskṛtā dibhirabhicchuritam ca |
Svadusaram amṛtāt api Kāvyam
Daksinātyām iti tat Kathayanti || (*II 2.32*)

Mārkaṇḍeya (XII. 38 Vṛtti) also defines the Dākṣinātya as follows ·

Dāksinātyā-padāvalambi Samskṛtāngam Vijṛmbhitam |
Kāvyam pījūsanihṣyandī Daksinātyam itīritam ||

Under the vibhāsās he mentions Śākārī, Cāndālī, Śābarī and Ṭakki He treats of the three principal Apabhramśas besides several others, such as, Pāñcāla, Vaidarbhī, Lātī, etc., of the many Paiśācī dialects he enumerates the three · Kaikeya, Śaurasena and Pāñcāla It is to be noted that Rāmaśarmā and Mārkandeya truly follow the classification of Purusottama with the exception that the former two enumerate many more sub-dialects than the latter A few characteristic features of some of them are mentioned below with their authorities

1 *Māgadhī*

The characteristics of Māgadhī as collected from the texts of the eastern grammarians along with Hemacandra are given below

I *ś* is substituted for *s* and *s* (Vr XI 3, Kr. V. 85, Pu XII 2-3, RT II 2 13, Mk XII. 2; Hc. IV 288), e g, *esoh eśe,*

II The change of *n* to *n* (Simha Vagbha 2 2)

III *ś* is substituted for the first letter in the combinations *tt*, *tth*, *ṭt*, *ṭṭh* and *cch* (RT II 2 16, Mk 12 7)

IV *t* becomes *dha* in the word vasati (Mk 12 6)

V *kkh* (>*kṣ*) becomes *śka* except in the word *kkhu* (Pu. XII 6-7, RT. II, 2. 15, Mk XII 4-5)

VI *r* becomes *l* (Kr V 86, Pu XII 4, RT II. 2 14, Mk XII 3, Hc IV 288 and Simha-Vagbha)

VII *y* is substituted for *j* (Vr XI 4, Kr V 89, RT II 2 14, Hc IV 293) But Puruṣottama says that *j* and *jh* are respectively substituted by *y* and *yh* (Pu XII 5)

VIII *ccha*, except when initial, becomes *śca* (Pu XIII 11, RT II 2 18, Hc IV 295)

IX The palatal letters are pronounced with but a very slight contact of the tongue with the roof of the mouth (Vr XI. 5, Kr V. 87, Pu. XII 13-14, RT II 2 18 and Mk. XII 21 (*y* is prefixed to *c* and *j*)

X *h* is substituted for *dh* The commentary adds "when not initial" and says that *tha* is sometimes changed to *h* (Pu XII 12, Mk XII 9)

XI Before the suffix *ka* the vowel is optionally lengthened (Pu XII 17, RT II 2 2, Mk XII 22)

XII *sk* is substituted for *ks* (Vr XI 8, Pu XII 8, Hc IV. 29)

XIII. *s* and *s* in consonant groups become *s*, except in the word grīsma (Hc. IV 289)

XIV. *ksa*, when not initial, becomes Jihvāmūliaya plus *k* (Hc IV 296).

XV *stha* and *ṛtha* become *sta* (Hc IV. 291)
XVI *ṭṭa* and *ṣṭha* become sta (Hc IV. 290)
XVII *nya*, *ṇya*, *jña* and *ñja* become *ñña* (Hc IV 293)
XVIII *yy* is substituted for *ry* and *rj* (Vr XI 7)
XIX Śauraseni *tt* and *ṭṭ* are changed to *śt* and *ṣṭ* respectively (Pu XII. 10)
XX The śauraseni conjuncts *tth* and *ṭṭh* are changed to *śt(h)* and *st* respectively (Pu XII 9)
XXI The nominative singular of nouns in a stems ends in *i*, *e*, or *a* (Vr XI 10, Pu XII. 25-26, RT II 2 27, Mk XII 26, Hc. IV. 287, Simha-Vagbhata. II 2)
XXII The nominative singular of nouns in *ta* ends in *u*, *i*, *e*, or *a* (Vr XI 11)
XXIII The nominative plural ends in *āhu* or *ā* (Lassen, p 393)
XXIV *ha* may optionally be substituted for the ending of the genitive singular, and before it the vowel is lengthened (Vr. XI. 12, Kr V 93, Pu XII 27-28, Mk XII 29, Hc IV 299-300)
XXV The vocative singular of nouns in *a* ends in *ā* (Vr XI 13, Kr V 92, Pu XII 29-30, Mk XII 27-28)
XXVI Case-endings are often dropped or interchanged (Pu XII 26, Mk XII 35)
XXVII. *hake*, *hage* and *ahake* are substituted for *aham* (Vr XI 9, Kr V 96, Pu XII 31, RT II 2 12, 28, Mk XII 30, Hc IV 301, Simgha-Vagbha. II 2)
XXVIII The nominatve plural of the second personal pronoun is *tupphe* or *tumhe* (RT II 2. 28)
XXIX *tumham* or *tumhe* are used for *yusmān* (Pu XII 32, Mk XII 31)
XXX *bhaviadi* or *bhuviadi* are used for *bhaviṣyati* (Pu XII 35, Mk XII 33)
XXXI *ścinṭa* is used for *ciṭṭha* (Mk XII 32), and *ycinṭa* by RT (II 2 28).
XXXII *ciṣṭha* is substituted for *cittha* (Vr XI 14, Kr. V 94, Pu XII 33, Hc IV 298, Simha-Vagbha. II 2)

XXXIII. The root *krt* is changed into *kappa* (Pu XII 36, RT II 2 30)

XXXIV *da* is substituted for *ta* in the past passive participles of *kr*, *mr* and *gam* (Vr XI 15, Kr V 92, Pu XII 37-38, Mk XII 34-35)

XXXV *dāni* is substituted for the gerund ending in tvā (Vr. XI 16, Kr V 91, Pu XII 15-16, RT II 2 20, Mk. XII 23)

XXXVI The personal endings of verbs sometimes have the final vowel lengthened The commentary gives *osaladhā* as an example (Mk XII 37)

XXXVII *vaññadi* is substituted for *vrajati* (Hc IV 294)

XXXVIII *u* takes the place of *ava* and *apa* (Pu XII 18, RT. II 2 22, Mk XII 25)

XXXXI *kva cid it* The commentary says *ktvāsthāne syāt* and quotes from the sixth act of the Śakuntalā *paśumāli kaledi* These seems to be some confusion here (Mk XII 24),

XL *ladana* is used for *ratna* (RT II 2 23, Mk XII 20)

XLI *hadakka* is substituted for *hrdaya* (Vr XI 6, Kr V 89 Mk XII 14), and also hiḍakka (RT II 2 22)

XLII. *śiāla*, *śiāle* or *śiālake* are substitutes for *śrgāla* (Vr XI 17, Mk XII 12)

XLIII *vaśca* is used for *vrksa* (Pu XII 34, Mk XII 19)

XLIV *pivvava* is used for *piśācaka* (Mk XII 18), also piśallaa (RT II 2 23)

XLV *gannā* is used for *gananā* (Mk XII 17), and also likkhā (RT II 2 23)

XLVI *vaṭau va (du)vvaah* (RT II 2 23, Mk XII 16)

XLVII *macchikā* is used for mātr (Mk XII 15)

XLVIII *kośna* etc are use for *kosna* and other compounds of *usna* (RT II 2 24, Mk XII 13)

XLIX. *vaamśā* is used for *vayasya* (RT II 2.23, Mk XII. 11)

L. *gomika* is used for *gauravita* (RT II 2 24, Mk XII 10)

LI *bu* of *bubhuksā* is dropped (RT II 2 23, Mk XII 8).

LII *lele* and *ale* are used to indicate *āksepa* (reproach) and sambhāsana (address) (Pu XI, 24, RT II 2 28)

LIII *hi* is used to indicate *vismaya* (surprise), *upahāsa* (ridicule) and *kuśala* (happiness) (Pu. XII 23)

LIV The words *kosana* etc become *kośina* etc. (Pu. XII. 22)

LV purusa becomes puliśa (Pu XII. 21, RT II 2 22).

LVI The word vasati becomes vasadhi (Pu. XII 20).

LVII *ahuni* is used in the sense of adhunā (Pu. XII 19; RT II 2 13).

LVIII. The word *tattha* (<*tatra*) becomes *taśca* (RT. II 2.16)

2 *Śākārī*

The Vibhāṣā known as Śākārī is a particular variety of Māgadhī But when there is no special rule for this it is to be considered as Māgadhī (Pu. XIII 1, RT. II. 3 2; Mk XIII 1) The Śākārī is the language of Śākāra who is described by Mārkaṇḍeya thus :

rājño' nūdho bhrātā śyālastvaiśvarya-sampannah|
mada-mūrkhatā' bhimānī śakāra iti duskulīnah syāt||

(Comm. under XII.1).

"Possessed of pride, folly and vanity one of low family, raised (by the connexion) to power, the brother of the unmarried (concubine), and (in so far) the brother-in-law of a king, is called Śākāra" (JRAS, 1918, p 499). The dialect of Śakāra (known as Śākārī) is devoid of good sense, disorderly, contradictory, full of repetitions and false similies, and opposed to propriety and good conduct (Pu XIII 13, RT II. 3 9). It is described thus "containing words with wrong meanings or with no meanings, tautological, with mangled similies or with similies that are no similies at all, contradictory occular evidence, convention etc , and in other respects unidiomatic is the speech of the Śakāra" (JRAS, 1918, p 503) The following characteristics are noted here

I The vowel before a conjunct consonant is optionally regarded as long for metre's sake (Pu XIII 12, RT. II 3 8; Mk. XIII 9)

II. Sometimes there are elision, augmentation and substitution of letters (Pu XIII 9, RT II 3.2, 5-6, Mk XIII 6)

III. In the Śākārī dialect *y* is to be prefixed to the letters of ca-varga (Pu. XIII 14)

IV The pleonastic suffix *k* is often added to a word (Pu XIII 7, RT. II. 3 5, Mk III 5) e.g. eśake dāśikāe puttake

V. The conjunct *tth* is not changed, it may remain as it is (Pu XIII 4; RT II 3 4, Mk XII 4) e g. yciṃthāmi atthānagade kkhu hakke.

VI. The conjunct *kkha* is not changed (Mk. XIII. 4). But in Māgadhī sth>śk (Mk XII 7 4)

VII *kṣ* is optionally substituted by *kkh* in the words like *duspreksa* and *sadṛksā* (Pu XIII 2) But Rāmaśarmā says that *śc* is optionally substituted for *kṣ* in the words *duspeksa* and *sadṛksa* (RT II 3 2) e g duppeśca ycāṇḍāla-śaliśca ycinta. On the other hand the regular form will be *śaliccha, duppeccha* (Mk XIII 2)

VIII *śṭa* is used in place of *śṭa* in the word *visṭara*. (Pu. XIII 3)

IX *śiāla* is used for *śyāla* (Pu XIII 5, RT. III. 3 5)

X *hitaka* is optionally used for *hṛdaay* (Pu XIII. 6). But *hadakka* is optionally used for the same according to Rāmaśarmā (RT II. 3 5)

XI. Sometimes *yatra* becomes *yanṭha* and *tatra* becomes *tanṭha* (RT. II 3 4) e g vaam śilam miśśaśi tantha dāva.

XII. *iva* is optionally substituted by *vva* (Pu. XIII 7) and also by *va* (RT. II 3 5)

VIII Sometimes the declensional terminations (like su etc) are elided (Pu XIII II, RT II 3 7, MK. XIII 8, cf Mg XII. 36)

XIV Often there is also confusion of the vowels of declensional and conjugational terminations (Pu XIII. 10, RT II 3.7, MK XIII 7)

(*a*) Confusion of declensional terminations —
Mk XIII 7 for e g *tumam* etc (Acc for locative)
hakke etc (Inst for Acc. or Loc)

(*b*) Confusion of conjugational terminations —
Mk XIII 7 for e g *se* etc. (3/pl for 3/sg)
tum etc (1/sg for 2/sg).
hakka etc (2/sg for 1/sg.)

(*c*) Confusion of gender.
savve etc Masc pl for fem. pl.
ku Neut sg for fem pl

(*d*) Pulling apart of vowels (i e diphthongs are separated into their component) —
śailinī Mg śelinī, Skt svairinī
miaindo Skt mrgendrah
aschauhini Skt aksauhini

XV The nominative plural termination of a femine pronoun is optionally *e* (RT II 3.7)

XVI The Māgadhī *ścintadi* (Skt *tisthati*) should be *jciśadi* in Śākārī (Mk XIII 3).

3. *Cāṇḍālī*

Cāṇḍālī is a corrupt form of the Māgadhī dialect (Pu XIV I) Truly speaking Cāṇḍālī, a variety of Vibhāsā, is based on an admixture of Śaurasenī and Māgadhī (RT II. 3 10, Mk XIV.1) In Cāṇḍālī sub-dialect many rustic or vulgar expressions are used (Pu XIV 9, RT II 3.13, Mk XIV.9). The following are the characteristics of Cāṇḍālī

I The intervocalic *t* is elided like Mahārāṣṭrī, bearing its vowels behind (RT. II 3 15)

II. *va* is sometimes elided (Pu XIV 6)

III The conjunct *ṭṭā* is not changed, it remains in its original form (Pu XIV 5)

IV. The conjunct *ṭṭha* is not changed, e g rama haṭṭha-tutttha (RT. II 3 12; Mk XIV 7)

V. Nominative singular (*su*) of a-bases is substituted by *o* and *e* (Pu XIV. 2, Mk XIV. 3) According to Rāmaśarmā it should be in *u* (RT II 3.12) e g. *peśka utthie ycandu mahañganammi*

VI The termination of the nominative and accusative plural of feminine nouns is *e* , (RT II 3 11, Mk XIV 2) e g *ye itthike tattha yeilam vasanti majjham*

pi tānam harinā lamantīm le lāhike peśka kudangaammi

VII Genitive singular (*nas*) is substituted by *śśa* (Pu. XIV 3, RT II 3.12, Mk XIV 5) e g. *puliśaśśa atthe.*

VIII Locative singular (*ni*) is substituted by *mmi* (Pu XIV 4, RT. II 3 13) e g *peśka gharammi kanham.* Sometimes it ends in *e*, (Mk XIV 6) e g *peśka vane vī edam*

IX The termination of Vocative is *o* and *ā*, but they are used in two different senses

(a) When used respectfully it always ends in o (Mk XIV 2) e g *bhasṭako tum mahāālaveśī*

(b) But when it is not used respectfully, it ends in *ā*, (RT II 3 14) e g *kaha ettha ycedā āneśi me ayyja vi na kkhu vedham*

X The nominative plural of pronouns, irrespective of Masculine and feminine, ends in *e* (Mk. XIV 4)

XI Some pronominals substitutions (RT II 3 15) e g.
tvadīya>tuhakelia,
madīya>mahakelia,
ātmīya>appānaakelia

XII. The gerundial suffix *ktvā* is substituted by *ia*, (Pu, XIV 8, Mk, XIV 8)

XIII *va* is optionally used in place of iva (Pu. XIV 7, RT II 3 13)

XIV. The interjection *arū* is used in place of *are* (RT. II 3 15)

4. *Śābarī*

The Śābarī vibhāsā is another variety of Māgadhī (Pu, XV 1, RT II. 3 16) But Mārkandeya (Mk XV 1-2) derives it from Gānḍālī as well as from Śaurasenī and Māgadhī (cf NŚ XVII 53-64) It is said that this dialect is spoken by the charcoal-burners, by hunters and by those who make their livlihood by boats and by woodcutting (RT II 3 16) In this dialect the want of agreement between the former and the later sentences is noticed The peculiarities of this dialect are to be gathered from the usages of the poets (RT II 3 21 cf Mk XV 8) Deśī vocables

are often used in Śābarī (Pu XV 8, RT. II 3 20) The characteristics of Śābarī are noted below

I In Śābarī *c* (or *i*) remains unchanged (Pu. XV.2).
II *kkh* (<Skt *ks*) is changed to *śc* (and not to *śk* like, māgadhī). (Pu XV 3, RT II 3 17) e g *śāmī maham peścadi* angam *angam* But in other Māgdhī words this change does not take place (RT II 3 17) e.g maha daśkine śe
III The nominative singular (*su*) of a-bases, whether Masculine or Neuter, ends in *e* or *i* and also in *o* optionally (Pu XV 6, MK XV 3)
IV The nominative singular termination *su* is optionally elided (Pu XV 6, RT II 3 20)
V The genitive suffix is *keaka* as well as *kelaka* (MK XV 7) e g. *amha-keakam*, (or, *amha-kelakam*) dhanam
VI *him* (also *i*, MK XV 6) may optionally to be used in the locative singular (RT II 3 18), e g
VII In order to indicate disrespect the particle *kā* (or *ā*) is used in the vocative (Pu XV 7) But Rāmaśarmā (II 3 20) recognises only *ā* and Mārkandeya (XV 4) admits only *le* in the vocative and in the same sense
VIII In Śābarī *aham* is replaced by *hake* (Pu.XV 4, Mk XV 5) and *ham* (Pu XV 4) and *hagā* (RT II.3 17) and also by *aham* (RT II 3 17)
IX. The word for come *ehi*, *eehi* and *ehahi* (RT.II.3 21.)

5 *Tākkī*

The Takkī vibhāsā is the language of Ṭakka deśa It is based on an admixture of Sanskrit and Śaurasenī (Pu XVI 1, RT II 3 28, Mk XVI 1) Ṭākkī is spoken by gamblers (gamesters), merchants and other knaves It is thus said—

prayujyate nāṭakādau dyūtādi-vyāvahāribhih |
vanigbhir hīnadehaiśca tad āhus Takka-bhāsitam ||

i e "The speach of Takka is that which is employed in plays and the like by professional gamblers and by merchants of lowly position", (JRAS, 1918, p 510) It is to be noted that Ṭākkī

infected by Drāvida has no special characteristics (RT II.3 27). It is said

Takkadeśīya-bhāṣāyām dṛśyate Drāvidī tathā |
tatra cāyam viśeṣo'sti Drāvidair ādṛtāparam ||

i e Drāvidī is found in the language of the Takka country Its peculiarity as a language is this it is honoured by Drāvidas The grammarian Hariścandra intends to say that this Takka-dialect is an Apabhramśa, because Apabhramśa is used by the poets (lit. skilled) in dramatic compositions (Mk XVI 2) It is, therefore, not an ordinary Prakrit says Puruṣottam (Pu XVI 10) These are the characteristics of Takkī

I The suffix *u* is profusedly used in Ṭakkī (Pu XVI 2), but not always (Mk HVI.3)
II The instrumental singular termination of a-base is *em* optionally (Pu XVI.3) but Mārkaṇḍeya (XVI 4) admits only *e*
III The (dative)—ablative and genitive plural termination is *ham* and *hum* (Pu XVI 4-5, MK XVI 5-6)
IV. Even the pronominal terminations of ablative and genitive plural are also *ham* and *hum* optionally In this case the penultimate is lengthened (Pu.XVI 6, Mk XVI 7) e g. kaham (kesam), jaham (yesam), taham (tesam), edaham (eteṣām), imāham (eṣām)
V The following pronominal substitutes are found tvam> tuhum (Pu XVI 7 and Mk XVI 8 reads tunga) aham> hamam and hamum (Pu XVI 7, hammi, hum (Mk XVI 9)
mama>mahum (Mk XVI.10)
VI. The substitute of—
yathā> jidha (Pu XVI 8) and jahā (Mk XVI 11-12)
tathā>tidha (Pu XVI 8) and tahā (Mk XVI. 11-12)
VII. The rest depends on usage (Pu XVI 9, Mk XVI 13)

6 *Audhrī*

Audhri is the same as Śābarī It becomes Audhrī only when

some local words of the Odhra country are added to it. (Mk. XV 9),

7 *Ābhīrī*

Ābhīrī is the same as Śābarī The only distinction is that the gerundive ends in *ia* or *ua* (Mk.XV 10) e g Skt gatvā> gaś-cia, or gadua, Skt, pathitvā<paḍhia, or padhua

8 *Prācyā*

The pracya, a variety of bhāsā, is derived from Śaurasenī for its basis (Pu X 1 & 14, RT II 2 2 1, Mk X 1) In this dialect proverbs, contradictory sentences and vulgar expressions are profusedly used (Pu X 13, RT II 2 3) Markandeya (X 1) quotes a couplet .

pūrvāparahatam kvāpi kvacicchekotisundaram |
grāmyābhyām upamoktibhyām yuktam vakti vidūṣakah ||

According to the canons of dramaturgy, the Prācyā dialect is to be spoken by the Vidūṣaka (jester) of the play Markandeya quotes from Bharata-prācyā vidūsakādīnām (NS 17 51) (RT II 2 4, Mk X 1) The characteristics of Prācyā are noted below

I The nominative singular of the word *bhavat* is *bhavam* (Pu X 2, RT II 2 1, Mk X.4 comm)

II The feminine of *bhavat* is *bhodī* (Pu X 3, RT II 2 1, Mk X 4)

III The vocative of a-bases, in addressing a person of lower rank, ends in *ā* (Pu X 5, RT II 2 2, Mk X.8)

IV The neuter pronoun *idam* becomes *imam* (Pu X 6, RT. II 2 4)

V The changes in the following words are noticed in Prācyā Skt mūrkha> murakkha (RT II 2 2), murukkha (Mk X 3), duhitā> dhīdā (Pu X 4, RT II 2 2)

VI The Future participial form of the root *bhū* is *hattamāno* (Pu X 9, RT II 2 2) and *otthamāno* (Pu X 9, RT II 2 2) and *okkhamāno* (Mk X 2).

VII The following is used in the sense noted below
(a) *hihibho* (in the sense of satisfaction) Mk X 9
(b) *hīmānahe* (in the sense of surprise) Mk X 11.
(c) *avida avida* (as an expression of sorrow) Pu X 12, Mk X.12
(d) (*v*) *bankuda* (Pu X 7) in the sense of crooked, *vaknu* (Mk X 5), *vankubha* (Mk X 6) also *vahana* ? (Mk X 7)
(e) *avahada* (in the sense of upakrta, favoured) Pu X.8

VIII *eva* is substituted by *ppeva, cia* and *cea* (Pu X 10) and *jjea, jjia* (Mk X 10)

IX *āre* is used in the vocative and *upekṣā* (deplore) (Pu X 11)

X The peculiarities of this dialect should generally be gathered from the usuage of the people (Pu.X 13, RT II 2.3,

9. *Āvantī*

Puruṣottama derives Āvantī from an admixture of Mahārāṣtri and Śaurasenī (Pu XI 1) But according to Rāmaśarma (II 2.5) the Avantī and the Bāhlikī dīalects are practically the same The only difference is that they are used by different characters in a drama Basically the forms of Bāhlīkī are derived from an admixture of Śauraseni and Prācyā (II 2 5) But Mārkaṇḍeya (XI 1) follows the view of Puruṣottama when he says—"*Āvantī syān Mahārāṣṭrī-Saurasenyostu sankarāt*" In this commentary he adds that the countries Malavá, Ujjayini etc, constitute the Avantīdeśa, and says—"*tad bhavā Āvantī-Dāndikādi-bhāsā*" He quotes a verse from Bharata which is not found in the Nātyśāstra

Dāndika-pānika-pāntika-nagarādhipa-dāndapānika sadṛksesu |
madhyama-pātresu sadā yojyāvantī tu nāṭyavidhau ||

As for example "esa kirādo maam anusaranto vedasalaā-gahaṇam paittho atro hirādo vedasa iti Śaurasenī anyāni padāni Mahārāstri" According to the Canons of dramaturgy the Avanti is spoken by characters of medium rank, a town mayor,

a door-keeper and a knove, and also by constables and merchants (RT.II 2 10) The characteristics of Avanti are noted below

I The intervocal *t* and *d* are optionally elided leaving behind their accompanying vowel (Pu XI 3, RT.II 2 6)

II The word *sadṛksa* is replaced by *sariccha* (RT II 26, Mk XI 2)

III The pronominal substitute for *tava* is *tuha* (text *tuddhu*, Pu XI 10) and *mama* is *muha* (Pu. XI 10)

IV In Āvantī the active voice (parasmaipada) and middle voice (ātmanepada) are used side by side.
bean>bhannaī, bhannae (Mk XI. 11)
vrdh>vaddhai, vaddhae (Mk XI 11)

V Puruṣottama says that in the present and future tenses and in the imperative mood *jja* and *jjā* are used for conjugational suffixes (Pu XI. 4, RT II 26, Mk XI 4) e g bhojja, bhojjā

VI. The suffixes *jja* and *jjā* are also used between the verb and the conjugational suffix (Pu. XI 5, RT. II. 2 6, Mk XI 5) e g dejjau, dejjāu

VII The following verbal substitutes are found —
(a) Active *bhū>ho*, (Pu XI. 8, RT II. 2 7, Mk XI 6) and *hoi* (Pu XI 8)
dṛś>pekkha (RT II 27) *peccha* (Mk XI.7).
dṛś (causal)>darisa (RT II 2 7; Mk XI 8) also *darasa* (according to some, Mk XI 8 comm)
(b) Passive *śru>suvia* (Pu XI 6, RT. II 2 8, Mk XI 9)
ji>jippa RT. II. 2 8)
bhan>bhanna (RT II. 2 8).
gam>gamma (RT II 2 8, Mk XI 9)
kr>kijja (RT II 28)
jñā>munijja (RT II 28).
lih>lijja (Mk. XI 9)
dru>duvva (Mk XI 9)
darbh>dubbha (Mk XI 9)

VIII. The following verbal substitutes are found in the Future

śru>soccham (Pu XI 7, RT II 29, Mk XI 10)
bru>voccham (Mk. XI 10)
ruc>roccham (Mk XI 10)

IX. In Avantī the suffix *tvā* is tūna (RT. II. 27; Mk XI 3) e g *laṅkam gantūna sīa diṭṭhā*

X. The word *ccea* and *ccia* are used in the sense of *iva*. (RT II. 26, M7 XI 12)

10 *Bāhlīkī*

Mārkaṇḍeya says Bāhlīkī is the same with that of Avantī, the only difference is—*ra* becomes *la* in it (Mk XI 13) e.g. *salasi-luhaso-laha-nibbhalo māludo* vahai. It is the language of dhūrta and others

11 *Nāgaraka Apabhraṃśā*

Purusottam recognises three clear dialects of Apabhraṃśa, e g Nāgaraka, Vrācadaka and Upanāgaraka, besides less remarkable local variants Rāmaśarmā and Mārkaṇḍeya also follow him, but mention some other varieties without giving their characteristics These are—Vrācada, Lāta, Vaidarbha, Upanāgara, Nāgara, Vārvara, Āvantya, Pāñcāla, Ṭākka, Mālava, Kaikeya, Gauda. Auḍra, Daiva, Pāścātya, Pāndya, Kauntala, Simhala, Kālinga, Prācya, Kārnāta, Kāñca, Draviḍa, Gaurjara, Ābhīra, Madhyadeśīya and Vaiḍāla (=27 in all) Kramadīśvara's Śrāvanti (or Śrāvasti) is not mentioned by any of them He has given also twelve varieties of Apabhraṃśa which will be found in the classification of Rāmaśarmā and Mārkaṇḍeya Of these Nāgara is regarded as the main dialect The chief charcteristics of Nāgara are given below

I The following consonantal changes are noticed
k>g, nāka>nāgu,
kh>gh, sukha>sughu,
t>d, patita>padida,
th>dh; śotha>sodha.
(Pu XVII. 3,13; RT. III 1 2, Mk XVII 2)

II ṣk and sk>kk, puṣkara >pukkara,
maskara>makkara
(RT III 1 3).

III The suffixes *dā*, *dī*, *ulla*, *ullī* and *a̱* are added to the noun and adjective stem As, *hiadā*, *goladī* etc
(Pu XVII 16-19, RT. III 1-6-7, Mk XVII. 5-8)

VI In all genders the declensional termination is elided, and the termination of the base is optionally lengthened As, *aggi*, *aggi*, *vanadam*, *vanādām*
(Pu XVII 41, RT III 1 8-9, Mk XVII. 10)

V The nominative singular may be in *o*, as, *narao*, *narao*
(Pu XVII 41)

VI *u* is added to *a* and *ā* bases. as *kanhu*, *kilantu*, *mālāu*.
(Pu XVII. 42, RT. III. 1.11, Mk XVII 15-16)

VII. In all genders Instrumental singular termination is *e*, as, *vanae vahue*, *panāhe*, but in *i* and *u* base it is *ena*.

VIII The ablative singular termination is *he* and *ho*, as, *gharahe*, *gharaho*
(Pu XVII 43, III 1.12, Mk XVII 18-19).

IX The following substitutes are noticed:
stokam>thodam,
bhadram>bhallam,
tvadīyam>teram, toharam,
madīyam>meram, moharam,
kīdṛśi>kehī
(Pu XVII. 30, RT III 1 5)

X Some pronominal substitute
yat>jadru (m),
tat>tadru (m)
idam>imu,
etad>eha, e,
(Pu XVII 56-57, RT III 1 20-21; Mk XVII 34-38)

XI *yusmad* is declined as follows·

	Singular	*Plural.*
Nom	tuham	tumbhaim
Acc.	paim	tumbhaiṃ
Inst.	paim	tumhahim

Abl	tumha, tumhe
	tuha, tuṃbha.
Gen	tumha, tumhe,
	tuha, tumbha
Loc	paim

(Pu XVII 63 64, RT III 1 23, Mk. XVII 41-46)

XII. *asmad* is declined like the following.

	Singular.	*Plural*
Nom	humu	amhaim
Acc.	maim	amhaim
Inst.	maim	amhahim, amhehim, amhe
Abl	maha, majjha majjhu	amha
Gen	maha, majjha, majjhu, amha	no
Loc.	maim	ahmāsu, ahmasu (should be amhāsu, amhasu)

(Pu. XVII. 65-67, RT. III 1 23,Mk. XVII 48-55).

XIII The terminations of the third person singular and of the first person plural are *di* and *hum* respectively As, *so hasedi, hasahum amhaim*
(Pu XVII 70-71, RT III. 1 26, Mk XVII 57-58)

XIV The suffix of the future is *ihi* and *isu,* as, *bālau edu hasihii, ehu hasisai kanha*
(Pu XVIII 73-75, RT III 1 28, Mk XVII 59-61)

XV The following dhātvādeśas are found in Nāgaraka Apabhraṃśa -

sthā>thakka, thā,	sthāpaya>thāva, thǎvva,
pra-viś>paisara,	ā-śliṣ>ārunḍa (=ārunṇa?),
tim>timma,	dṛś>dekkha, passa,
vad>volla;	darśaya>dākkha, darasa,
vraj>vañca,	muc>mukkha, mua, mulla,
grah>gunha,	kr V kada,
ānaya>āṇāva;	ā-cakṣ>akkha

XVI The following Apabhramśa words occur in the meanings described thereon —

tvām=tomme, adhunā=muehı,
tesām=tāṇna, amībhıh=ehım,
dvı=duı, trı=tınnı>mod Beng tın
catur=cārı>mod. Beng. car.

12 *Vrācadaka Apabhraṁśa*

The basıs of Vrācada Apabhraṁśa, whıch ıs current ın the Sındhu country, ıs recorded as beıng nothıng but Nāgara. The followıng are ıts chıef characterıstıcs

I ṣ, s>ś

II The c-varga ıs pronounced as clear palatals, (spaṣṭa-talavsaḥ), *t* and *dh* are pronounced as slurred (aspaṣta)
(Pu XVIII. 2-4, RT III. 2 2-3, Mk XVIII. 2-4)

III. t and d> ṭ and ḍ respectıvely.

IV. Some substıtutes.
eva>je, jjı, śaıva>sojjı,
bhū>bho; ohaḍgaḥ>khaṇḍu,
brū>bro; vrṣ>varha,
vraj>vañja

3. *Upanāgaraka-Apabhraṁśa*

Puruṣottama says that Upanāgara ıs an admıxture of Nāgaraka and Vrācada, and ıt has several other local speeches, such as, Vaıdarbhī, Lātī, Auḍrī, Kaıkeyī, Gaudī and the speeches of the countrıes such as Ṭakka, Varvara, Kuntala, Pāṇḍya, Sımhala etc The characterıstıcs of these dıalects as found ın Purusottama (XVIII 16-23) and Rāmasarmā (III 2.5-13) have been summed up by Mārkanḍeya ın hıs commentary on XVIII.12 There are the followıng

I. tu-bahulā *Mālavī*
II vāḍī-bahulā *Pāncalı*
III ulla-prāyā *Vaıdabrhī*
IV. sambodhanāddyā *Lātī*
V īkāro'kāra-bahulā *Audhrī*
VI savīpsā *Kaıkeyī*
VII. samāsādhyā *Gaudī*

VIII da-kārabahulā *Kauntalī*
IX. ekārinī ca *Pāndyā*.
X yuktādhyā *Saimhalī*.
XI. himyuktā *Kālingī*.
XII. *Prācyā* tad-desīya-bhāsādhyā
XIII. bhattyādi-bahulā *Ābhīrī*.
XIV varna-viparyayāt *Kārnātī*
XV *Madhyadeśīya* tad-deśiyādhyā.
XVI samskrtādhyā ca *Gaurjarī*
XVII. ca-kārāt pūrvo'kta-*Takka*-bhāṣāgrahanam
XVIII ra-la-ha-bhyām vyatyayena *Pāścātyā*
XIX repha-vyatyayena *Drāvidī*
XX dha-kāra-bahulā *Vaitālikī*.
XXI e-o bahulā *Kāñcī*.

14. *Kaikeya Paiśācī*

The easterners describe the Paiśācī dialect much more fully than the westerners Grierson (The Prakrit Dhātvādeśas, p 84) says that "when we come to Paiśācī we find two very different dialects described. Vararuci, Rāmśarmā and Mārkanḍeya all agree in their accounts of a language which they call 'Paiśācī' or "Paiśācika', and which is not the same as the langage described under that name by Trivikrama, Hemacandra, Lakṣmīdhara and Simharāja" They have mentioned numerous Paiśācī dialects, such as, Kaikeya, Śaurasena, Pāñcālā, Kāñca, Gauḍa, Dāksiṇātya, Drāvida, Pāṇḍya, Māgadha, Vrācada and Śābara, but they did not mention Cūlikā-paiśācī Of these the Kaikeya-paiśācī is the basis of all other varieties, excluding Cūlikā-paiśācī The chief characteristics of Kaikeya-paiśācī, corrupt form of Śaurasenī mixed with Sanskrit, are given below.

I ś and ṣ>s
II cerebral n> dental n,
(Vr X 5-8, Pu,XIX 8,12, RT.III 3.3, Mk.XIX 3-7)
III Generally intervocative—
g>k, and similarly, gh>kh,
j>c, „ „ jh>ch,
ḍ>t, „ „ ḍh>th,

e>t, „ „ dh>th,
b>p, „ „ bh>ph

IV Conjuncts are treated like the following :
ny, jñ, ny>ñ ñ,
ry>ria
(Vr X 11-12, Pu XIX 21-22, Mk XIX 6-12)

V r>l (RT III 3 7)

VI Some words are substituted like the following ·

grham>kiham,	iva>piva,
prthivī>pṛthumī,	hrdayam>hitapakam,
parthamam>prthumam,	vismayaḥ>pisumao;
kvacit>kupaci,	suksma>sukhama,
kāryam>kaccam,	paksma>pakhamam;
rājan>rāci,	krta>kada:
mrta>maḏa,	gada gada (analogically).
	(RT.III 3 4-8)

15 *Śaurasona Paiśācī*

The Śuarasena-paiśācī is based on Kaikeyapaiśāci Its chief characteristics, as given by Purusottama, are given below

I r>l (Pu XX 2),

II s and s>s (Pu XX 3)

III The pronunciation of ca-varga is clear palatal (cu-vyakta-tālavya, Pu XX.4)

IV ks>śk (Pu XX 5)

V cch>śc (Pu XX 6)

VI tth>śt (Pu XX 7)

VI. st, ṣt, remain unchanged (Pu XX 8-9).

VIII piba>pia (Pv XX 10) *kada, mada* and *gada* are also used in this dialect (Pu XX 11)

IX adhunā>ohunā (Pu XX 12)

X Declensional engine :—(Pu.XX.14-16)
ah>o, a, am>am, o. a

16 *Pāñcāla Paiśāci*

The Pāñcāla-paiśācī is strictly based on the Kaikeya and Śaura-

sena-paiśācī It does not vary very much from these to standard of speeches of Paiśācī He mentions only one characteristics of Pāñcāla l>r(P.XX 19, RT III 3 11, Mk XX 14) Rāmaśarmā (III 3 11) says that in Gauda Paiśācika either r or *l* may be used for r or for l According to Rāmaśarmā (III 3 13-17) Paiśāci can mainly be divided into two groups suddha and asuddha

Lastly it may be added that in the works of Kramadīśvara, Puruśottoma, Rāmaśarmā and Mārkandeya, we find some interesting modern Bengali forms These forms though can be derived directly from Prakrit, are still important, because the eastern grammarians recorded them a few centuries ago Some forms are directly mentioned by them, and some can be obtained with easy phonetic equations As these forms will be interesting, I have noted them below. [As all the forms are mentioned by them, I have avoided references, except in some particular cases which are not mentioned by all]

āthī<atthi (seed) (RT.I.3 9)
kāna<kanha<krsna
kāndha<khandho<Skt. skandha (shoulder)
kāhana>*k*āhāvano<Skt kārsāpana (an aggregate of eighty articles)
keha<Skt kīdrśa (RT III 1 7)
khām<khambho<Skt stamba (post)
khāḏā<khanḏu<khadga (RT III 2 3).
gūi<gomia<Skt gomika (RT II 2.24) which probably goes back to *gaumalkā*, an officer in charge of a *gulma*, a small part of an army
ghol (buttermilk)<gholla<Skt ghūrṇa
gholā (turbid)<gholla<ghūrṇa
cār<cāri<catur (RT III 1 31)
cikhila<cikhilla Kramadīśvara's sūtra *cikhilla picchile* Compare Caryāpada 5/2 cikhila
chādan<chandānia (>chādani) <Skt sandānita (fetters) (RT III 1 3)
jokār<jaakkāra, jokkāra<jayakāra
tin<tinṇi<tri (RT III 1 31)
nāc(h)<racchā lacchā<Skt rathyā lakṣmi Beng lāch, nāch. cf nāc(h)-duār (front door) RT I.3 5)

pālam<pallanka<Skt paryanka (cushioned bed)

pirthimi<prthumi (>pirthumi) <pṛthivī Beng dialectal pirthimi (RT III 3 4)

bej (a surname)<vejjo >Skt. Viadya

be (y)ādā viaddha<Skt vitardi (obstinate) (RT I 3 10)

maḍā<madaa<mrtaka. RT II 2 29)

māchi<macchiā<Skt mrkṣikā

mājā-ghasā (cleaning and subbing)<cf Skt mrj>(maj) and ghrs>(ghas)

michā<micchā<Skt mithyā

meye (daughter)<maiā<mātr (a mother) RT II 2 24) 'women', then daughter.

vīlā (in the sense of creeper)<vallī, vellī, vellā<Skt vallī

sej<sejjā<Skt śayyā

Old Beng. sanā (hint)<sannā.

hārāy (loses)<hārāvedi<Skt hārayati

APPENDIX

Alphabetical list of Prakrit Languages

[This index is prepared to facilitate the study of Prakrit dialects The references are in two column which stand for the two schools of Prakrit grammarians]

Apabhraṁśa	Kī V 1-113	C III 41
	Pu 17-18 chapters	NŚ KV II 11-12
	RK III 1-2	
	Stavakas	HC IV. 329-448.
	MK 17-18 chapters	Tr III 3 1-58.
		III 4 1-71.
Ardhamāgadhi	Bh XVII	HC IV 287.
(cf Ārsam)	KT V 98	
	RT II 2-12	
	MK. XII. 38	
Atibhāṣā	Bh XVII 26-28	
Avahatta bhāṣā		Pischel § 28
Ābhirā'pabhraṁśa	KT V 99 (vrthi)	
	RT III 2 11	
	MK (Introduction)	
Āndhrā	Bh XVII	
Ārṣam (=Ardhamg.)		HC. 1 3
Ābhira }	Bh XVII	
Ābhīrikā }	RT II 3 23-26	
Ābhīrī }	MK. XV 1-10	
Āvantī	Bh XVII	
	KT V 99 (Vrtti)	
	Pu XI 1-10	
	RT II 2 5-10	
	MK XI 1-13.	
Āvantyā' pabhraṁśa	KT V 99 (vṛtti)	
	MK (Introduction)	

Inscriptional Prakrits		Mehendale-Historical Grammar of Inscriptional Prakrits
Udīcī	MK (Introduction)	
Upanāgarā' pabhramśa	KT V 99 (Vrtti)	
	Pu XVII 14-15	
	RT III 2-5	
	MK XVIII 1-12	
Audhrā' pabhramsa	MK (Introduction)	
Odhra	KT V 99 (Vrtti)	
	RT III 2 9	
Audhrī (cf Audhra)		
Audhrīyā		
Kāñcyā' pabhramśa	RT III 2 12.	
	MK (Introduction)	
Kāñcya-paiśācī	MK (Introduction)	
Kālingā' pabhramśa	RT III 2 10	
	MK (Introduction)	
Kārnatā' pabhramśa	RT III 2 11	
	MK (Introduction)	
Kīrāta		Nitti-Dolci p 77
Kaikayā, pabhramśa	Pu XVII 21	
Kaikeyī ,,	RT III 2 9	
	MK (Introduction)	
Kaikaya-paiśācī (cika)	Pu XIX 1-24	
Kaikeya-paiśācī (cika)	RT III 3 1-6	
	MK XIX 1-21	
Kauntalā' pabhramśa	Pu XVIII 23	
	RT III 3 9	
	MK (Introduction)	
Kharoṣṭhi-Prakrit } Khotanese Prakrit }		Burrow-Language of the Kharoṣṭhī documents
Gathā Dialect		Leumann, 2 DMG XXIX. 212-34

		Macdonell, HSL, 25-26
Gandhāri Dialect		Brough, The Gandhari Dhammapada
Grāmyā' pabhramśa		Nitti-Dolci p 164
Grāmya-bhāsā		Pischel § 27
Gauḍā' pabhramśā (cf Gaudī)	Pu XVIII 22 RT III 2 9 MK (Introduction)	
Gaudā-pai sācikā	RT. III 3 11 MK (Introduction)	
Gaurjā' pabhramśā	RT III 2-11 MK (Introduction)	
Cāṇḍāla } Cāṇḍālī }	Bh XVII. Pu XIV 1-9 RT II 3 10-15. MK XIV. 1-9.	
Cūlikā-paiśācī		HC. IV 325-28 Tr III 2. 63-67.
Jātibhāsā	NŚ. XVII 26, 28.	
Jaina Prakrit		Pischel § 16 Nitti-Dolci p 172
Jaina Mahārāṣtrī		Pischel §§ 16, 20 Nitti Dolci pp-172, 174
Jaina-Śauraseni		Pischel § 21
Jaina-Saurāṣtri		Pischel § 20
Takkā' pabhramśa	Pu XVIII 23 RT III. 2 6 MK (Introduction)	
Ṭakkī	Pu XVI. 1-10 RT. II 3 27-31 MK XVI 1-13	
Ḍhakkī		Pischel § 25 Grierson, JRAS, 1913, pp 875-83
Dākṣinātyā	Bh XVII Kī V 99 (Vitti)	

	RT. II. 2. 11-32	
	MK XII. 38.	
Dākṣinātyā Paiśācī	MK (Introduction)	
Dramila }	Bh. XVII	Nitti-Dolci p. 77
Drāmīlī }		Nitti-Dolci p. 122.
Drāviḍā }		
Dravida }		
Drāviḍā' pabhramśa	KĪ V 99 (Vrtti)	
	RT III 2 12	
	MK (Introduction)	
Drāviḍa-paiśācī	MK (Introduction)	
Drārīdī		Nitti-Dolci pp. 120-22
Desaja }		
Deśa bhāṣā }		Nitti-Dolci pp 73, 77, 118
Deśi }		
Deśī bhāṣā }		
Deśya	KĪ V 99 (Vṛtti)	
	Pu IV 36	Tr III-IV 72.
Daiva (cf. Haiva Haimavat)		
Nāgarā' pabhramśa	KĪ V 70	
	Pu XVII 1-90	
	RT III 1 1-31.	
	MK XVII 1-78	
Niyā Prakrit		
Pāñcālā' pabhramśa	Pu XVIII 16-17	
	RT III 2 7-8	
	MK (Introduction)	
Pāñcālā-paiśācī	Pu XX. 18	
	RT III 3 11.	
	MK XX 1-16	
Pāṇdyā' pabhramśa	Pu XVIII 23	
	RT II 2-10.	
	MK (Introduction)	
Pānḍya-Paiśācī	MK. (Introduction)	
Pāli		
Pāścātyā' pabhramśā	RT III 2 12,	
	MK (Introduction)	

Paiśācika Paiśācī	Vr. X 1-14 KĪ V 96, 102 Pu XIX-XX RT. III 3 1-21 MK, XIX-XX.	C. III 42. HC IV. 303-24 Tr III. 2. 43-62.
Prākrta-Dhamma-pada bhāṣā (See Kharosthī Prakrit)		
Prācyā	Bh XVII KĪ V. 99 (Vrtti) Pu X 1-14 RT II. 2 1-4. MK X 1-12	
Prācyā'pabhramśa	KĪ. V. 99 (Vṛtti) RT III. 2-10 MK (Introduction)	
Baṛbarā' pabhramśā	Pu XVIII 23 MK (Introduction)	
Bāhlīkī	KĪ. V. 99 (Vrtti) Bh XVII RT. II 2 5-10 MK. XI 13	
Buddhist Hybrid Sanskrit		
Bhāsā		
Bhūtabhāsā		Daṇḍin, KV. I. 38. Pischel § 27
Madhyadesiyā' pabhramsa	R̀T III 2 11 MK (Introduction)	
Māgadha-Paiśācī (Cikā)	RT III 2 12 MK (Introduction)	
Māgadhī	Bh XVII Vr XI 1-17 KĪ V. 86-97 Pu XII 1-38 RT. II 2. 11-32 MK. XII 1-13.	C IV 43 HC IV 287-330 Tr III. 2 27-42.

Mālrā' pabhramśa	MK (Introduction)	
Mahārāṣṭrī	Bh XVII 6-25	C I-III 1-40.
	Vr I-IX chaptas	HC I-IV. 259
	Kī I-IV ,,	Tr. I-III.
	Pu III-VIII. ,,	
	RT I 1-9 Stabakas	
	MK I-VIII chapters.	
	Jī 38 sūtras	
	La 38 sūtras	
Miśrārdhamāgadhī	Kī	
Rantikā		
Lātā' pabhramśa	Pu XVIII 19 (Lātī)	
	RT III 2 8	
	MK. (Introduction)	
Lena Dialect		Pischel § 27
Vārendra Bhāsā		Pischel § 28
Vibhāsā		Grierson, JRAS, 1918, pp. 489-517.
Vibhrasta		Pischel § 8
Vrācata-Apabhramśa } Vrācada Apabhramśa }	MK (Introduction)	
	Kī V 99	
	Pu XVIII 1-13	
	RT III 2 1-13	
	MK XIII 1-12	
Vrācada Paiśācikā	RT III 3 12	
	MK (Introduction)	
Vaidāla		
Vaitāla Apabhramsa	RT III. 2 12	
	MK (Introduction)	
Vaidarbhī Apabhramsa	Pu XVIII 18	
	MK. (Introduction)	
Śākkī } Sākkī }		Pischel § 3, 28
Śākāri } Śākārikā }	Bh. XVIII	
	Kī V 99 (Vrtti)	
	Pu XIV 1-15	
	RT. II 3 1-9.	
	MK XIII 1 9.	

Śabara } Sàbarī } Śābarī	Bh XVII	
	Kī V 99 (Vrttı)	
	Pu XV 1-7	
	RT II 2 16-22	
	MK XV 1-10	
Śaurasena Paıśācī	Pu XX 1-20	
	RT III 3. 7-10.	
	MK XX 1-16	
Śaurasenī	Bh. XVII	C III. 44
	Vr XII 1-32	HC IV 260-86.
	Kı V	Tr III 2 1-26
	Pu IX 1-93	
	RT II I 1-38	
	MK IX 1 158	
Śrāvantī } Srāvastī }	Kī V 99 (Vrttı)	
Sarı Kīrna Paıśācı	RT III 3	
Saıppalā'pabhramśa	RT III 2 10	
Saımhalā'pabhramśa	Pu XVIII 23	
	MK (Introductıon)	
Haıva }	cf Daıva Ap	
Haımarat }	MK. (Introductıon)	

Abbreviations used in the Appendix

Bh =Bharata's Nātya-Śāstra
C =Canda's Prākrta-laksanam
HC =Hemacandra's Prakrit grammar
HSL =History of Sanskrit literature.
JĪ =Jīva Gosvāmī's Prakrit grammar
JRAS =Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland
Kī =Kramadīśrvara's Prakrit grammar
Kv =Dandin's Kāvyādarśa
La =Rāvana Lankeśvava.
MK =Mārkandeya's Prāhrtasarvasva
MK (Introduction)=Introductory verses of Mārkandeya's Prakṛta Sarvasra
NŚ =Nātya-Śāstra of Bharata
Nitti-Dolci =Nitti-Dolci's Les Grammairiens Prakrit
Pu =Purusottama's Prakrtānu Śāsana
Pischel =Pischel's Grammatik der Prakrit Sprachen
RK =Rāmatarkavāgīśa's Prākrta Kalpatarum
Tr =Trivikrama's Prakṛta-Prakāśa
Vr =Vararuci's Prākrta-Prakāśa
ZDMG =Zeitschift der Deuschen Morgenlandischen Geseuschaft

SEMANTIC CHANGES IN KRTA, TRETA, DVAPAR AND KALI

DR RAM PRAKASH PODDAR

The words *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kali* denote the four consecutive ages *Viz* *Kṛtayuga*, *Tretāyuga*, *Dvāparayuga* and *Kali yuga* According to the *Pauranic* reckonings *Kṛtayuga* consists of 1728000 years, *Tretā* of 1296000 years, *Dvāpara* of 864000 years and *Kali* of 432000 years The present age is *Kali* which began on 18th February 3102 B C

In early references to these ages the periods assigned to them are respectively 4000, 3000, 2000 and 1000 years To these main periods are added mornings and evenings each comprising of 400 years in case of *Kṛta*, 300 years in case of *Tretā*, 200 years in case of *Dvāpara* and 100 years in case of *Kali* Thus together with their mornings and evenings the four ages extended respectively to 4800 years, 3600 years 2400 years and 1200 years, the whole cycle was complete in a period of 12000 years

Dr. Fleet[1] assumes that the mornings and evenings are latter additions to convert the decimal system of the earlier reckoning into the duodecimal one for astronomical purposes He further suggests that the extension of the periods from 4800 years *etc.* to 1728000 years *etc* pertains to the astronomical period *viz* 4th century A D. when the astronomers reckoned a coincidence of the planets about 3500 years back and took it as the beginning point of the current *yuga viz kali* Dr Fleetś contention is further corroborated by the retrograde nature of dating as evinced by the some what vague etymology of these words *Kali* may be associated with the $\sqrt{kal}$=to count, and may be interpreted as the initial point of counting *viz* one *Dvāpara*

and *Tretā* can be easily associated with two and three respectively on the basis of their phonetic similarity with *Dvi* and *Tri* Though etymological association of *Kṛta* with four is not evident yet it may be concluded that *Krta, Tretā, Dvāpara* and *Kali* dating is going backward into the past, the present is marked as the first, the immediate past as the second and farther and farthest pasts as the third and the fourth respectively

Apart from the etymological associations as suggested above the words *Kṛta, Tretā, Dvāpara* and *Kali* were connected with the numbers 4, 3, 2 and 1 respectively from very early times. These four words were primarily associated with the game of dice The ancient practice of playing with dice was to pick up tiny *Vibhītaka* nuts, which were thrown on the board for this purpose, and to count them If the number picked up by a player happened to be the multiple of four he had obtained *Kṛta* which was the highest score If it was not so the score was determined according to the remainder three fetched *Tretā*, two *Dvāpara* and one *Kali* The first three scores *viz* *Kṛta, Tretā* and *Dvāpara* were winning once in descending order The last *viz* *Kali* entailed lose [2] In the *Vedas* these words have been used to denote scores in the game of dice as mentioned above[3] where as they have not been used to denote the four ages

The ancient practice of playing with dice underwent a change, centuries before the beginning of the Christian era and the place of the *Vibhītaka* nuts was taken by the four-faced metallic or earthern die marked with the digits 4, 3, 2, and 1 or bearing as many points on the respective faces After the throw by the player the figure or points on the upward face decided the score, *i e* it was *Krta* when the face bearing the digit 4 or as many points was upward and so on down to *Kali*

These words are met with in ancient *Jaina Āgamas viz.* *Ācārāmga* and *Bhagavatī* [4] Here they have been used to denote different organizations of the atoms in matter When the number of atoms is a multiple of four the organization is called *Kaṭajumma* (*Sanskrit Kṛtayugma*) When it is not so the nomen clature follows the remainder after a division by four, being

Tretā when the remainder is three, *Dvāpara* when it is two and *Kali* when it is one

In the *Pāli* canonical literature also these words have been used in the context of the game of dice In the *Vidhura Pandita Jātak Kaṭa* (Sanskrit *Kṛta*) denotes the highest score in the game of dice and *kali* occurs as its antonym [5] These words have also been used figuratively Thus *Kaliggaha* means unlucky and *Kaṭaggaha* lucky Here they are in compound with *gaha* (Sanskrit *graha*)=Score So the literal meanings will be 'one who scores *Kali*' and 'one who scores *Kaṭa*' respectively In the *Theragatha* (1 462) we come across the phrase '*ubhayattha kaṭaggaha*' meanig lucky in both the worlds i e here and beyond *Vinaya* (6 93 360) uses '*Kaliñ āropeti*' in the sense of putting allegation on somebody

The lexicons have not recorded any use of these words in the sense of the ages (*yugas*) either in the *Ardhamāgadhi Jaina* canons or in the Pāli canonical literature But by this absence we should not be led to conclude that the four ages came to be denoted by these words at a date later than the compilation of the *Pāli* and *Ardha māgadhī* canons Utmost this can prove, is the comparative immunity of these conons from the *Brahmanical* tradition in which we find the above denotations occurring much earlier

In the late *Brahmanas* the words *Kṛta, Tretā, Dvāpara* and *Kalī* have been used to denote the four consecutive ages The *Sadvimśe Brahmana* mentions the four ages *kṛta khārvā, Dvāpara* and *Pusya* [6] *Dvāpara* as denoting the third age in mentioned in the *Gopatha Brahmana* As regards the mention of these names in the famous '*Kali sayāno bhavati* [7], verse of the *Aitareya Brahmana* it may be noted that some scholars interpret them in the context of the game of dice while thus regard this verse itself as a later interpolation But the verse has been adapted in the *manusmṛti* (1× 302)[8] and explicitly interpreted as the consecutive ages Commenting on ch 231 verses 19 onwards of the *Mahābhārata Nīlakanṭha* refers to the *Kali sayāno bhavati—*' verse of the *Aitareya Brahmana* and explains the words *kṛta etc.*

of the verse as standing for the four ages but used figuratively in that context

Stray references to *Kṛta, Tretā, Dvāpara* and *Kali* as denoting the ages are met with in the *upanisads* In the *Ramāyana* these words seem to have settled down as the names of the four consecutive ages But here we do not come across any deliberations regarding their nature and extent

In the study of the semantics of these words the *Mahābhārata* is of immense importance Here we find the words used to denote different throws in the game of dice At the same time they have also been used to denote the consecutive ages with elaborations upon their nature and extent. In between these two denotations there are also abundant evidences of their figurative uses which form a sort of bridge between the two denotations and indicate the process of transition

In *Udyoga Parva Krishana* intending to cow down *karna* and avert the war describes to him the feats and fury, the *Pāndavas* would exhibit, in the ensuing war This description runs through ten verses and each pair is concluded with the refrain '*Na tadā bhavitā Tretā na kṛtam Dvāparam na ca* [9] Obviously the words *kṛta, Tretā* and *Dvāpara*, here are figuratively used in the sense of winning scores in the game of dice *Kṛishna* makes an oblique reference to the game in which *Duryodhana* and his friends including *Karnā*, had got an easy victory securing frequently *Kṛta, Tretā* and *Dvāpara* In the battle field it was not going to be like that where they would not secure *Kṛta etc* as they had done in the game of dice On the contrary here they would face the wrath of the brave *Pāndavas* which would utterly rout and ruin them The allusion here to the game of dice is quite apt and pointed Of such oblique hints to the game, there is no dearth in the epic In the *Virāṭa Parva* (50-24) *Aśvatthāmā* warns *Duryodhana*

Nakṣānkṣipati gāndīvam na kṛtam Dvāparam na ca|
Jvalato niśitānbanāmstīkṣnānkṣipati gāndivam||

But the commentator *Nīlakaṇṭha* interprets the words *Kṛta etc* of the line

Na tadā bhavitā Tretā etc

as the names of the ages and misses the mark It is through an exalted strain of ingenuity that he fits the 'ages' into the context He says that *krta* implies *Moksa* for in this age it is *Moksa* alone which is coveted, the other three '*Purusārthas*' being always at hand. In the same way he interprets *Tretā* as *Dharma* and *Dvāpara* as *Artha* and *Kāma* Thus the whole line according to him means that the war will not deliver any *Purusārtha* to *Duryodhana* and his friends It will only bring about their annihilation A very ingenious interpretation indeed![10] But it is obstructed by the last verse of *Krishna's* speech in the same chapter When *Karna* would not be dissuaded *Krishna* concludes that in the inevitable war '*Duryodhana's* followers would die and attain the highest course Now the highest course for the dead is obviously *Moksa* The above interpretation of *Nīlakaṇṭha* denies all the *Purusārthas* to *Duryodhana* and his side but the original vouchsafes the highest one!"[11]

This meandering on the part of the commentator is on account of the original denotations of the words *viz* those associated with the same of dice becoming comparatively obsolete in course of time

In the *Mahābhārata* there are numerous examples of these words being used as the names of the four consecutive ages with elaborations upon their respective nature and extent In chapter 188 of the *Vana Parva Mārkaṇḍeya* relates to the *Pāndavās* the duration of the ages *viz Krta, Tretā, Dvāpara* and *Kali* He says, "There are four thousand years in *Kṛtayuga*, its morning and evening each comprises four hundred years In *Tretā* there are three thousand years, its morning and evening each comprises three hundred years, *Dvāpara* has two thousand years, its morning and evening each has two hundred years *Kali* proper lasts for one thousand years, its morning and evening each consists of one hundred years *Kali* having been spent up *Kṛta* sets in again and thus the cycle consisting of twelve thousand years

goes on The reckoning of time is again taken up and elaborated in the *Shanti Parva* at chapter 231 Verses 19 onwards. It compares with the reckoning of time given in the *Manusmṛti* at chapter I Verses 69 onwards

Neither the *Mahābhārata* nor the *Manusmṛti* contains any suggestion to warrant that the texts mean the celestial years and not the human years But the commentators invariably impose the celestial years each of which, according to them, consists of 360 human years

This sort of reckoning of the four ages is a recurrent theme in the *Purānas, Linga, Kūrma, Vāyu, Brahmānda, Matsya, Visnu* and *Bhāgavata*—all these *Purānas* contain the *yuga*-reckoning which falls in with that of the *Mahābhārata* cited above, except that *Visnu, Matsya* and *Bhāgavat* explicitly mention the celestial years

It seems that the imposition of the celestial years is a post-*Mahābhārata* manipulation Dr. Fleet assums that the astronomers of the 4th century India found a coincidence of planets some 3500 years thence which they took as the beginning point of the *Kali* era Now the 1000 years duration for Kali not reconciling with the astronomical reckonings the celestial years were imposed to make it sufficiently accomodating Since one human year contained 360 days, one celestical year come to 360 human years At this rate the whole periods of *Kṛta, Tretā, Dvāpara* and *Kali* came to 1728000, 129600, 864000 and 432000 years respectively [12]

At this stage these words are so metamorphosed that they cannot be easily traced back to the primary denotations in the game of dice, nay, it is difficult to believe that they had ever anything to do with the game of dice But a close examination would reveal that the genii of the primary meanings are not extinct for the ratio of the total periods of duration of the ages is 4 3 2 1 which reminds one of the primary denotations of the terms *Kṛta, Tretā, Dvāpar* and *Kali* In the game of dice these words were associated with the numbers 4, 3, 2 and 1 respectively Moreover they also denoted the best, second best,

third best and the worst in the game If a player obtained Krta he won all the five points at stake If he obtained *Treta* or *Dvāpara* only 3 or 2 points respectively were won over all the participants *Kali* was not only a barren score but also entailed loss of one's own stake Now in the *Kṛta* age there is unsullied good which goes on diminishing till the worst is reached in *kali* Thus it may be assumed that through a process of figurative denotations the words *Kṛta etc*, which primarily denoted different throws at the game of dice, also implied the best, second best, third best and the worst of the ages In course of time, the ancient practice of playing with dice dwindling and ultimately disappearing the primary denotations became obsolete and the secondary ones survived and gained popularity This conclusion is corroborated by the fact that the consecutive order of the ages *Kṛta etc*, which was later strictly established, seems to be in a state of fluse in their earlier occurrences According to the reckoning of time in terms of *Kṛta, Tretā, Dvāpara* and *Kali* the *Mahābhārata* war was fought in the twilight period of *Dvāpara* and *Kali*[13] So *Dhṛtrāshtra Pāndu* and *Vidura* were born towards the end of *Dvāpara* But in the *Ādiparva* of the *Mahābhārata* chapter 109, werses 5 onwards, it has been said that when these children -*Dhṛtarāṣṭra etc* - were born, *Kṛta* prevailed, not only in the vicinity but also among the nations[14] This shows that in denominating the period as *Kṛta* what is taken into account here is the nature of the period rather than its consecutive order In the *Udyogaparva* chapter 132 verse 16, it is said that the king (by virtue of his deeds) causes *Kṛta* etc among his people.[15] The same idea is found in the *Manusmṛti* at IX 301[16] In the *Mahābhārata* this theme is taken up again and celebrated in the *Shantiparva*, chapter 69 The account begins with the statement that it is the king who brings about the periods designated as *Kṛta etc* When he administers justice in its entirety he causes the *kṛta* age But when he administers only three out of the four parts of justice, he brings in *Tretā* and when he employs only two parts he causes *Dvāpara* and *Kali* comes in when the king is altogether bereft of justice Here the terms *Kṛta etc* have been used to denote periods of time But these do not seem to be fixed and consecutive ones So the secondary denotations of the words still remain in a state of flux The pri-

mary ones somehow linger in the fact that all the *four* parts of justice are employed by the king to causes the *Kṛta* age, *three* to cause the *Tretā* and *two* to cause the *Dvāpara* To *Kali* not even the *one* part of justice, which would have been its due on the basis of analogy, is vouchsafed This theme is repeated at many places in the *Shanti Parva* [17]

The *Dharmavṛsa*, as described in the *Mahābhārata* at several places in course of delineating the nature of the ages (*Yuga-dharma*), stands on all four legs in *Kṛta* age He loses one leg as he proceeds to subsequent ages, having three in *Tretā* two in *Dvāpara* and only one in *Kali* [18] This bull allegory is found in the *Manusmṛti* also Besides, the *Manusmṛti* further adds that in the *Kṛta* age human life span was 400 years It diminished by one fourth in subsequent ages and thus came to 300 years in *Tretā* 200 years in *Dvāpara* and 100 years in *Kali* All these facts evince the primary association of these words with the numbers 4, 3, 2 and 1 as in the game of dice and also suggest the process of semantic transition from the context of the game of dice to that of the reckoning of time

In the *Nala* episode the two meanings of the word *Kali*, the one related with the game of dice and the other with the age of this name, move side by side The personified *Kali* brings defeat to *Nala* in the game of dice So he can be taken as the *Kali* of the game Nevertheless he has all the evil intentions of the *Kali* age *Kali* and *Dvāpara*, going to participate in *Damayanti's Svayamvara* were informed by the deities of the quarters that *Nala* had already won her hand Infuriated at this they conspired to ruin *Nala* *Kali* entreated *Dvāpara* to assist him by entering into the dice and he himself possessed *Nala*. Further he encouraged *Puskara* to play at the game of dice with *Nala* and assisted him in completely routing the latter Later when *Nala* learnt the mystery of the dice from *Rtuparna* he could get rid of *Kali* The episode is concluded with the remark that the tab of *Nala* annihilated all the evils of the *Kali* (age)

In the encounter of king *Parīksita* with *Kali* as described in the *Bhāgavata* the two meanings of *Kali* are combined The king saw *Kali* in the form of a *Śūdra's* kingship tormenting a cow

bull. Here the *Śūdra's* kingship indicates that the order of the castes had suffered reversion The cow and the bull being tormented are the symbol of righteousness So what is suggested here is the disorder of *Kali* age The king washing to restore order aimed an arrow at *Kali* and subjugated him But *Kali* entreating for a shelter, he bade him live in gambling drinking, women, murder and gold The places of shelter indicate that here two meanings of *kali viz* the losing throw in the game of dice and strife are at the focus *Kali* lives in gambling in the form of the losing throw and also in the form of strife strife has always been an usual feature of the game of dice Since drunken people, women, murderers and those covetous of gold are all prove to lighting, *Kali* lives in them in the form of strife Strife a denotation of *Kali* may be a figurative one and derived from its primary meaning in the game of dice—association of strife with this game is very natural, the more so with the throw *Kali* which is the worst in the game

Besides the main semantic transition from the context of the game of dice to that of the reckoning of time, the words *Kṛta etc* have had some derivatives associated with their primary meanings Thus the word *kitava*=clever, shrewd, may be a *Prakritization* of *Krtavid*<*Krti*=one who is skilled in obtaining *kṛta* in the game of dice, by unfair mean as well '*Kitava's*' essential association with the game of dice is a well established fact. The *Pāli* expression '*kaṭañ alāto ganhāti Kīṭavā sikkhitô jāthā*' (*Jātaka* VI-228) evidently connects it with *Kaṭa* (*Sanskrit Krtā*) The hybrid *Sanskrit* from *Kṛtāvin* (*Divyāvdāna*-58-28, 100-13, 442-9)=having worldly skills, too, seems to have evolved from *Kṛta* in the same process The word, '*Catura*'=skilled, may be a syncope of '*Caturvāna*=the possessor of the four *viz Kṛta* for *Kṛta* in the game of dice stands for four and its multiples In the *Rgveda* (I-41-9) it has been said that 'one should fear him who holds all four The text runs as follows

Caturaś cid dadamānāt bibhīyād

The scholiast explains it as—

Caturoksān dhārayath Kitavāt Here it seems that the

holder of all four is the holder of *Krta* throw, everybody should fear him for he will Vanquish them all In this context the use may be a figurative one as many commentators have opined But it is plain that the holder of the four is the holder of the *Kṛta* throw, so it is not far-fetched to assume that the word '*Catura*' is a syncopation of '*Caturvān*'=holder of the four *viz* *Kṛta* Generally the lexicons connect this word with the √*cat* or √*cad* in the sense of asking or begging. But one fails to establish any direct semantic link between the root and the derivative

The form *Kata* as noted above is a *Prakritization* of *Kṛta* obtained through the cerebralization of the dental proceded by *ṛ* Later this form seems to have been absorbed in *Sanskrit* for *Darduraka* of the *Mṛcchakatika*, a *Sanskrit* speaker says, '*Kaṭena Vinipātito yāmi*'.

In the same way it can also be concluded from the speech of the same person that '*Pāvara*' a derivative from *Dvāpara* (*Dvāpara* +assimilation >**Vāpara*+metathesis>*pāvara*) has also been absorbed in *Sanskrit*, for the same speaker says,
'*pāvara patanacca Sōsitaśarīrah*'

The game of dice in course of time, beoming more popular among the *Prakrit* speaking people, the *Prakrit* names of the terms associated with the game ousted their *Sanskrit* counter-parts It should be investigated if the phrase '*pau bāraha*' is not a popular etymology of the above mentioned '*Pāvara*'—doubtless it is connected with the game of dice, they say, '*pade pāsā pau vāraha*' etc

Now one may ask : 'Was the game of dice so extensive and popular that the terms primarily connected with it yielded such rich harvest of semantic expansions?' If one looks into the *Vedic* literature and the ancient *Sanskrit* literature in general and the *Mahābhārat* in particular one cannot but conclude that the game of dice was fairly wide-spread in ancient India The *Apabhramsa* literature testifies that the tradition continued in the medieval period too Anyway, for undergoing a semantic expansion it is not necessary that the term should be wide-spread On the

contrary its being wide-period may hinder the process of semantic change The word '*kuśala*' initially meant 'one who was an expert in uprooting the *Kuśa* grass'. The present popularity is hardly commensurate with its limited scope at the initial stage Another example is '*Pravīna*' and there may be numerous others.

Notes

1 Dr J F Fleet THE KALIYUGA ERA OF B C 3102 Journal of the Royal Asiatic Society 1911 (pp 479-496 and 675-698)

2 H. Luders THE GAME OF DICE IN ANCIENT INDIA ("Das Wurfelspiel in alter Indian" an article collected in "Philologica Indica" Gottingen 1940 pp 106-175)

3. *Ṛgveda* 1 112 24
10 42 9
10 43 5
Atharvaveda 7 50. 8

4 *Ācārāmga* 1 1 1
Bhagavatī 34 1
25 3

5 ते पाविसु अक्खमदेन मत्ता राजा कुरुन पुण्णको चापि यक्खो ।
राजा कलि विचिन अग्गहेसि कटमग्गही पुण्णको नाम यक्खो ।।

ते तत्थ जूते उभयो समागते रञ्ञ सकासे सखिनञ्च मज्झे ।
अजेसि यक्खो नरवरियसेट्ठ तत्थप्पनादो तुमुलो वभूव ।।

Vidhura Pandita Jātaka
(91-92)

Here one fact may be noted that the game of dice referred to in the gathas is the one played with the *Vibhītaka* nuts But the prose explanation imposes the type played with the four-

faced earthen or metallic dice, which fact evinces that by the time of the prose explanation the earlier type had grown abso lute so the commentator imposed upon it the later type.

6. *Sadvimśa Brāhmana* . V. 6

6 कलि शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृत संपद्यते चरन् ॥

8 कलि प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापर युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरस्तु कृत युगम् ॥

9 उद्योग, १४२ (६-१५)
यदा द्रक्ष्यसि सङ्ग्रामे श्वेताश्व कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्र विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ॥६॥

गाण्डीवस्य च निर्घोष विस्फूर्जितमिवाशने ।
न तदा भविता त्रेता न कृत द्वापर न च ॥७॥ इत्यादि ।

10 न तदेति । कृते हि सर्वे कृतकृत्या एवेति न त्रिवर्ग कश्चिदपेक्षते । त्रेताया तु धर्म-प्राधान्येनार्थकामावानुषङ्गिकत्वेन चापेक्षन्ते । द्वापरे तु अर्थकामौ प्राधान्येन धर्म च तदङ्गत्वेन । तत्र कृत न भवितेति मोक्षाद् भ्रश उक्त । न त्रेतेति । धर्माद् भ्रश उक्त स च दुर्योधनादिनामस्त्येव । द्वापर न भवितेति तेषामर्थकामावपि न भविष्यतो युद्धेन मरणस्यावश्यम्भावादित्यर्थ ।

11. राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगा ।
प्राप्य शस्त्रेण निधन प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥

12. All those *Purānas* which do not specifically mention the celestical years need not be taken to be interior to the so called astronomical period These may not be aware of the new reckonings of time cooked up by the astrono mers On the contrary those which impose the celestical years can be safely placed in the post-astronomical period. The *Vīṣnu Purāna* contains clear evidence of its awareness of the approach of the astronomers It talks of a co-relation between the coincidnce of planets and the extent of the ages (4-24-102)

13 अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धे कुरुपाण्डवसेनयो ॥
महाभारत 1-2-13

14 तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम् ।
. . .. ..
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणा कृत युगमवर्तत ।
महाभारत 1-109-5

15 कालो वा कारण राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते सशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥

16 कृत त्रेतायुग चैव द्वापर कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥

17 कालो वा कारण राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते सशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥
दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक्कात्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुग नाम कालसृष्ट प्रवर्तते ॥
. ...
दण्डनीत्या यदा राजा त्रीनशाननुवर्तते ।
चतुर्थमशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥
. .
अर्ध त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापर नाम स काल सप्रवर्तते ॥
. . .
दण्डनीति परित्यज्य यदा कात्स्न्येन भूमिप ।
प्रजा क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तत तदा कलि ॥
. . . .

× × ×

कृत त्रेता द्वापर च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥
महाभारत १२-६१-६

× × ×

कृत त्रेता द्वापर च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र सशय ॥
महाभारत १२-१४१-१०

18 कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जित ।
वृष प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ॥
अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशै प्रतिष्ठित ।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥
त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।
तामस युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ॥
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।

. . . .

महाभारत वनपर्व अध्याय १९० — (९-१२)

× × ×

चतुष्पात्सकलो धर्म सत्य चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागम कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥
इतरेष्वागमाद्धर्म पादशस्त्ववरोपित ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादश ॥
अरोगा सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुष ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादश ॥
मनुस्मृति १ (८१-८३)

IMPORTANCE OF JAIN LITERATURE FOR THE STUDY OF DESYA PRAKRIT

Dr *H C BHAYANI*

[1]

The term *deśī* (alternatively, *deśya*, *deśaja* etc) has been used in several distinct but interconnected meanings Ancient Indian works on poetics defined Sanskrit and Prakrit as languages of literature The latter comprised a cluster of literary idioms (Sanskrit-dependent, considerably 'artificial' and highly stylized) like Māhārāstrī, Apabhramśa, Paiśācī, Śāurasenī, Māgdhī etc Sanskrit and Prakrit had to be learnt through formal instruction, and manuals of grammar and dictionaries were periodically composed by way of text books Prakrit grammars provided a set of rules for Sanskrit poets for turning Sanskrit into Prakrit of different varieties On the basis of phonological difference and derivability from Sanskrit, Prakrit words were traditionally into three categories Tatsama, Tadbhava and Deśya Those words which had the same sounds and meaning as their corresponding words in Sanskrit were Tatsamas, those which had modified sounds but the same meaning as their Sanskrit correspondents were Tadbhavas, those which were not derivable from Sanskrit i e not accountable either as tatsamas or as Tadbhavas and hence considered to be substitutes for Sanskrit words of correspondingly same meanings were Deśya words

The Deśya class of words, traditionally used in literary works, were listed with meanings in special lexicons, like Hemacandras *Rayaṇāvalī* (also popularly known as *Deśīnāmamālā*), which itself refers to numerous earlier similar compilations The

term *deśya* or *deśī* was usually and most frequently employed in this sense It designated that stock of Prakrit words which was found in the works of standard Prakrit authors, but which, unlike the rest of Prakrit words, was not derivable (according to the then accepted grammatical canons) from Sanskrit

Manuals of Prakrit grammars had started to be composed from about the second century A D as shown by Vararuci's *Prākrta prakāśa.* Deśya lexicography too seems to have its beginnings there-about Among the earlier authorities on Deśya words cited by Hemacandra we find the name of *Sālāhana,* the famous royal poet and campiler of an anthology Prakrit lyrics, the Saptaśataka, who is generally assigned to the period of the second century A D From Hemacandra we also know that a dozen or more Deśya lexicographers preceded him, but their works are lost to us we are completely in dark about them, excepting a few citations and allusions in later works

The importance of the Jain writings for studying Deśya words is twofold Some Jain writers have made direct contribution to Deśya lexicography But the indirect contribution of the Jain literature in this regard is even much greater In sanskrit and Prakrit there is vast amount of literature, religious, exegetical and narrative, composed by the Jainas It camprises canonical texts and their commentaries (Cūrnis, Bhāsyas, etc), religious monographs (prakaranas) and the enormous amount of narrative works legendary biographies, tales, parables, anecdotes etc The language of these works is marked by causal or liberal use of Deśya words Hence they are an invaluable source for studying the character, function and history of the Deśis But so far very little work has been done in this regard. Hence, in the present short sketeh, no precise or reliable account the materials available from those sources can be given We offer just a few observations and rather haphazard illustrations with a view to impress on the readers the importance of studying the Jain writings from this view-point.

[2]

We came across a considerable number of Deśya words in

the language of the Jain canonical texts The following few words casually gleaned from only two or three texts may serve to illustrate[1]

અલ્લિય	to resort to
અચ્છભલ્લ	bear
ઈસત્થ	archery
ઉડ્ડાહ	censure
ઉચ્છિપય	thiefs accomplice
ઉદ્દેહિયા	termite
ઓમયિય	headlong
કક્ખડ	harsh, fat
કડય	curtain
કુટ	with maimed hands
ખઉર	gum
ખડ્ડા	pit
ખરટ	to smear
ખાડહિલા	squrrel
ખિસ	to censure
ખેલ	spittle
ખોડ	log of wood
ગડી	cart
ગુઠો	bad horse
ગોલ્લ	olibanum
ગોલ્હા	the Bimba plant
ઘયસાલા	mendicanté home
ચડિક્કિય	angry
ચડગર	multitude, pomp
ચડવેલા	slap
ચમ્મેટ્ઠ	whip
ચિક્ખલ્લ	mud
ચિલિમિલી (ણી)	curtain
ચિલિચ્ચિલ	wet and sticky
ચોય	skin, bark

छल्ली	bark
छाण	cow-dung
छिक्क	touched
छुक्करण	shooing
छिवाडिया	sort of book
छुरधर	razor-case
छोड्	to release
झाम्	to burn
झोड	to cause to shed
झोसण	search
टिट्टियाव्	to rattle
डगल	slice
डहर	child, small
डाल	branch
ढिंक	crane
तप्पण	groats
तुयट्ट्	to turn on sides
थक्क	occassion
थिग्गल	patch
दवदवस्स	quickly
पहकर	multitude
पाणालि	slap
पामिच्च	borrow
पाराई	pickase
पिरिपिरिया	kind of musical instrument
पिरिली	,, ,, ,, ,,
पुलपुल	continuous
पेहुण	peacock's feather
पोड	fruit
पोक्क	swollun and depressed
पोग्गल	flesh
पोट्ट	belly
पोलड	to cross over
पोल्ल	hollow

પોત્તી	loin cloth, piece of cloth
फिप्फिस	lung
बप्प	father
વરુડ	matmaker
विलकोली	deceptive change of voice
बोदि	body
વોડ	shaven-headed
ભડી	cart
भिलिंग्	to ammount
मंगुस	mongoose
મક્કોડય	large ant
माढि	armour
मिसिमिस्	to flare up
મેરા	boundary
रूअ	cotton
રોહ	rice flour
લંચા	bribe
લડહ	beautiful
લેચ્છારિય	smeared
વંઘાડી	hooting
વંઘારિય	hanging down
વલ્લર	field
वहिलग	beast of burden
સએજ્ઝિગ	neighbour
સયરાહ	quickly
હુડ	deformed

Similarly a much bigger list can be easily prepared from the huge commeterial literature Not only words but new formative suffixes and postpositions are found which after-wards gained wider currency in New Indo-Aryan Several past passive participles extended with *-ella-* (like *gaellaya-*, *jāellaya-*., *laddhellaya-*. *siddhellaya*, *kahiellaya* are found in Haribhadra's commentaries *tanaina* used with genetive to signify 'due to, an account of' *mūla* meaning 'near' and *ccāya* as a possessive suffix are also attested from the same source,

The proportion of Deśya words in the Kathā-literature is still greater We may note some Deśya words from the *Vasudevahimdī* and the *Kuvalayamālā*

From the *Vasudevahimdī*

અવારી	shop
આલ	useless
ઉમ્મત્તિ	infaluation
કડિલ્લ	jungle
કુલ્લરિય	sweetmeat seller
ખોટ્ટી	servant girl
ગણિયારી	cow elephant
ઘત્	to throw
ડિંડિય	vagaband
નહરણ	nailcutter
પઇરિક્ક	lonely
પરિયદણય	lullaby
વેંટલિય	bundle
મયહરય	headman chief
મેહુણયા	maternal uncle's daughter

Past passive participles in-ella

આણિએલ્લિય, ઉદ્દાલિયલ્લિય, દિણ્ણેલ્લય, પડિહત્થેલ્લિય, હએલ્લિય ।

From the *Kuvalayamālā*

અલીઢ	untouched
આડિયત્તિય	agent
આયલ્લય	yearning
આલપ્પાલ	meaningless, prattle
આલય	niche
આલુખ્	to touch
આહોડ્	to strike, to beat

उक्कठुल्लेय	longing
उक्कुरुड	garbage heap
उक्खुड	to pluck
उत्तावल	hurrying
उप्पित्थ	frightened
उप्पील	multitude
उप्फाल	to tell
उरुपुल्ल	cake
ओड्ड	earth digger
ओरल्लि	roar
ओरुप	scraping
ओलग्ग्	to serve
ओलेहड	fond of
ओहट्ट्	to decrease
कंकेल्ली	Asoka tree
कदोह	lotus
कडप्प	multitude, Stock
कडित्त	gambling board
कणिक्का	dough
कल्ल	dumb
कालवट्ठ	bow
किट्ट	dirt
कुभीरय	aquatic creature
कुडंग	bower
कुडिच्छ	hole, opening
कुहय	magic trick
कुहाड	axe
कोटी	sort of veapon
कोल्लुय	jackal
कोसल्लिय	present
खल	oil cake
खल्लइय	contracted
खुट्ट	to fall short
खेडय	shield

खेड्ड	sport
गद्दभ	harsh noise
गोदी	cluster of blossoms
गोस	morning
गोसग्ग	morning
घेप्प्	to seize
चच्चिक्क	adorned
चट्ट	pupil
चडप्फड	to be restless
चमढ्	to destroy
चिलीणय	sticky dirt
चीरि	cricket
चुपालय	round window
चोपालय	,, ,,
छप्पण्णय	man of taste and culture
छिव्	to touch
छूढ	thrown
छेंछइया	unchaste woman
जंपाण	palanquin
जामइल्ल	watchman
झोलिया	bag
ठक्कुर	village chief
डिंभ, डिंभरुय	child
डोंविलय	domb
ढड्ढा	drum
तडविय	spread
तड्डविय	,,
तरवारि	sword
तल्लिच्छ	eager
निगिच्छि	pollen
थुहुड्डविडय	sulky
दिल्लिदिलिय	child
दुप्परियल्ल	unfathomable
दोज्झ	offense, treachery

द्रग	village
निकमण	sewage
निघोल	to scowl
निलुक्क्	to hide
निव्वड	to result
नेडालि	head ornament
पच्चल	able
पच्चुप्फिडिय	bounced back
पडियग्ग्	to serve
पत्तट्ठ	expert
पुअड	youthful
पुल्लि	tiger
पोट्टलय	bundle
वइल्ल	ox
वलामोडिय	forced
वोल्ल	to speak
भल्लुकी	vixen
भेल्लिय	attacked
मउद	musical instrument
मंगुल	bad, ugly
मडह	small
मुट	having bodily defect
मुम्मुर	chaff fire
मुसुमूर	to found
मूयल	dumb
मेढी	supporting beam
मेल्ल	to leave, to place
रग्	to crawl
रक्खवाल	guard
रम्माउल	beautiful
रिंछोलि	row
रुट्	to hum
रेह	to appear beautiful

लल्ल	speaking
लल्लाय	indistinctly
लीव	child
वकिय	eaten
वच्च	ordure
वज्जर	to say
वट्टड	to be sure
वणे	possibly
वलग्ग्	to mount
वलत्था	horse's stable
वव्वीसय	musical instrument
वारुआ	quickly
वाहियाली	riding ground
विरय	rivulet
विसट्ट	bloomed
विहडप्फड	agitated
वुण्ण	dejected
वेगसर	mule
वेल्लहल	tender
वोक्किल्ल	boasting
वोद्रह	youth
वोल्लाह	kind of horse
मवच्छर	astrologer
सिलिका	small stick, chip
सिलिव	child
सुढिय	exhausted
सेराह	kind of horse
सोवणय	bed room
हलवोल	din
हलहल	agitation
हल्ल्	to stir
हल्लफल	agitated haste
हिरिमथ	gram

Next we pass on to the most extensive and outstanding extent work of Deśya lexicography, viz, Hemacandra's *Rayaṇāvalī* or *Deśīnāmamālā* Hemacandra aimed at preparing an up-to-date authentic lexicon of Deśya words for Prakrit writers and readers on the basis of various previous works It was a very difficult and taxing task in view of the fact that something like utter confusion prevailed at that time in the field of Desya lexicography owing to disagreement among authorities, immature writers, ignorent scribes and poor condition of preservation of old texts It highly rebounds to Hemacandra's credit that, owing to his scientific attitude and practical approach, he succeeded in introducing considerable measure of order where disorder reigned As a consequence the *Deśīnāmamālā* had such a suceess that it eclipsed almost all the earlier Deśī lexicons, which in course of time went out of use and eventually disappeared altogether The success achieved by Hemacandra in this regard owes much to his adoption of some definite principles and methods in compiling his work

He set up five criteria for defining the character and scope of the Deśya words

(*i*) Those words which were confined to the ordinary speech of the peoples in various regions like Mahārāstra, etc (i e words of regional dialects) were to be ignored.

(*ii*) Those prakrit words only which were handed down through the tradition reaching back to a hoary past were to be noted

(*iii*) Of these words only those were Deśya which were not analysable as complexes of root and suffix, and which could not be derived from Sanskrit through the grammatical processes of Loss, Intrusion, Modification etc

(*iv*) Certain Prakrit words inspite of being analysable and derivable from Sanskrit, were to considered Deśya, if, in their Sanskrit form they were not found recorded in standard Sanskrit lexicons

(v) If the meaning of a Prakrit word could be explained through metaphorical transfer as compared with the meaning of the corresponding Sanskrit form of that word, that word was not be considered Deśya

Hemacandra introduced certain methodological innovations in the arrangement and presentation of his lexical material This made for greater orderliness and clarity and enhanced the reference value of his work He adopted an alphabetical order for the items selected, and under each latter-head he arranged the words according to the number of syllables Items with multiple meanings were separately grouped He composed verses to illustrate the use of the recorded items these also provided the necessary context to remove ambiguities where the glossing word (in Prakrit or Sanskrit) had several meanings Against the former practice, he excluded the verbal substituted (*dhātvādeśas*) from the lexion and assigned them to the Prakrit grammar, because of their special characteristic of combinability with derivative affixes of Sanskrit origin But for the sake of convenience and to avert any sudden break with the tradition, he noted them in his commentary on the *Deśī* nāmamālā

This commentary also served the purpose of a clearing house Hemacandra critically evaluated earlier work in Deśya lexicography, distinguishing between inaccurate and authentic ones on the other In his work he incorporated the materials from the latter sources In numerous cases of doubt or disagreement, he selected and rejected after properly weighing the available evidence, noted the alternatives where he found them equally authoritative and left the choise open where no decisive evidence was available. We can well imagine the enormous effort involved in this sort of task, and appreciate the high scholarly spirit which saved the Deśya lexicography from utter confusion and threatened oblision

Hemacandra's *Deśīnāmamālā* gives the meanings of about four thousand words. If we count a word with multiple meanings as so many separate words, then the number may go up by a thousand On the other hand the total would go down by a

few hundreds if we leave out those items which are mere orthographic or phonological variants[6] of some other items, or are such as can be shown to be the result of some confusion or error [7]

Even a superficial examination of the Deśīs recorded by Hemacandra makes obvious some of its striking characteristics. A majority of these words are such that they are not known so far from any other source The *Pāiasaddamahaṇṇavo* (and other modern Prakrit dictionaries) do not cite for them any other authority It is however a fact that a considerable amount of Prakrit and Apabhraṁśa literature has remained as yet unpublished Our experience so far shows that newly published Prakrit works are found to contain Deśya words which had remained so far unattested from the published literature

A considerable number of words of the *Deśīnāmamālā* are such that though technically considered Deśya by Hemacandra's criteria, are quite good Tadbhavas and Hemchandra himself is fully aware of this alternative opinion The following are a few instances out of hundreds ·

अइठारा		
अइरजुवई	अचिरयुवति	नववधू
अगुज्झहरो	अ-गुह्यधर	रहस्यभेदी
अग्गक्खंधो	अग्रस्कन्ध	रणमुखम्
अग्गवेओ	अग्रवेग	नदीपूर
अग्गिओ	आग्निक.	इन्द्रगोपकीट.
अंकुसइअ	अंकुशित	अंकुशाकारम्
अजुअलवण्णो	अयुगलपर्ण	अम्लिकावृक्ष
अज्जो	अर्य	जिन
अणेकज्झो	अनेक + ध्य	चञ्चल
अत्थग्घ	अस्ताघम्	अगाधम्
अधधू	अन्धान्धु	कूप
अधज्झो	आत्म + ध्य	आत्मवश
अरिहइ	अर्हति	नूनम्
अवंगो	अपाङ्ग	कटाक्ष

अभिण्णपुडो	अभिन्नपुट	रिक्तपुट
अवरज्जो	अपर + द्यु	अतिक्रान्तं दिनम्
अविणयवरो	अविनयवर	जार
अहिहर	अहिगृहम्	वल्मीक
आउरं	आतुरम्	सग्राम
आउलं	आकुलम्	अरण्यम्
आलयण	आलयनम्	वासगृहम्
आलासो	आलास्य	वृश्चिक
आलीवण	आदीपनम्	प्रदीप्तम्
इदग्गी	इन्द्राग्नि	तुहिनम्
इदमहकामुओ	इन्द्रमहाकामुक	श्वा
उण्होदयभडो	उष्णोदकभाण्ड	भ्रमर
ऊआ	यूका	यूका
एक्कघरिल्लो	एक + गृह + 'इल्ल'	देवर
एक्कसाहिल्लो	एक + शाख्य + 'इल्ल'	एकस्थानवासी
ओरत्तो	अवहृप्त	गविष्ठ
ओलुग्गो	अवरुग्ण	नि स्थामा
ओसीस	अपशीर्ष	अपवृत्तम्
कमणी	क्रमणी	नि श्रेणि
कुट्टाओ	कुट्टक	चर्मकार
कुडीर	कुटीरम्	वृत्तिविरम्
कुड्डुलेवणी	कुड्यलेपनी	सुर्पा
कुलफसणो	कुलपासन	कुलकलङ्क
कोलो	क्रोड	ग्रीवा
कोसलिय	कौशलिकम्	प्राभृतम्
खज्जोओ	खद्योत	नक्षत्रम्
खुड्ड	क्षुद्रम्	लघु
खेआलू	खेदालु	नि सह
गणेत्ती	गणयित्री	अक्षमाला
गडीव	गाण्डीवम्	धनु
गय	गतम्	मृतम्
गयणरइ	गगनरति	मेघ
गयसाउलो	गतस्वाद + 'उल'	नि स्नेह
गामेणी	ग्रामैणी	छागी

गोसण्णो	गोसज्ञ	मूर्ख
घणवाही	घनवाही	इन्द्र
घरघंटो	गृहघण्ट	चटक
घरयंदो	गृहचन्द्र	आदर्श
चउरंचिंधो	चतुरचिह्न	सातवाहन
चक्खुरक्खणी	स्वक्षूरक्षणी	लज्जा
चिंधाल	चिह्न 'आल'	मुख्यम्
छडक्खरो	षडक्षर	स्कन्द
छप्पण्णो	षट्प्रज्ञ	विदग्ध
छाइल्लो	छाया । 'इल्ल'	प्रदीप
छिण्णोब्भवा	छिन्नोद्भवा	दूर्वा
छुद्दहीरो	क्षुद्रहीर	शिशु शशी
छुरमड्डी	क्षुरमदी	नापित.
छुरहत्थो	क्षुरहस्त	नापित
छेत्तसोवणय	क्षेत्रस्वपनम्	क्षेत्रे जागरणम्
जच्छंदओ	यच्छन्दः	स्वच्छन्द्
जपेच्छिरमग्गिरो	यद् + प्रेक्ष् + 'इर । म + मार्ग + 'इर'	यो यद् दृष्ट तदेव मृगयते
जहणरोहो	जघनरोह	ऊरु
जहाजाओ	यथाजातः	जड
जालछडिआ	जालघटिता	चन्द्रशाला
जेमणय	जेमनकम्	दक्षिणहस्त
जोइंगणो	ज्योतिरिङ्गण.	इन्द्रगोप
डम्भिओ	दाम्भिक	द्यूतकार
णंदिणी	नन्दिनी	गौ
णक्खत्तणेमी	नक्षत्रनेमि	विष्णु
णहमुहो	नभोमुख	घूक
णहवल्ली	नभोवल्ली	विद्युत्
णाहिदाम	नाभिदाम	उल्लोचमगध्यदाम
णाहिविच्छेओ	नाभिविच्छेद	जघनम्
णिअसण	निवसनम्	वस्त्रम्
णिअडी	निकृति	दम्भ
णिम्मसू	निः श्मश्रु	तरुण
णिव्वित्ता	निर्वृत्त	सुप्तोत्थित

णिहुअ	निभृतम्	तूष्णीकम्
णीसीमिओ	नि सीमित	निर्वासित
तवकिमी	ताम्रकृमि	इन्द्रगोप
तवकुसुमो	ताम्रकुसुम	कुरवक
तिव्व	तीव्रम्	अत्यर्थम्
तोवट्टी	त्रपुपट्टिका	
थिण्णो	स्त्यान	दृप्त
थिरसीसा	स्थिरशीर्षा	निर्भीक
थूलघोणो	स्थूलघोण	सूकर
थेणिल्लिअ	स्तेन + 'इल्लिअ'	हृतम्
थेरासण	स्थविरासनम्	पद्मम्
दहिउप्फ	दधिपुष्पम्	नवनीतम्
दिअधुत्तो	द्विजधूत	काक
दिअहुज	दिवाभुक्तम्	पूर्वाह्णभोजनम्
दिआहमो	द्विजाधम	भासपक्षी
दिव्वासा	दिग्वासा	चामुण्डा
दुअक्खरो	द्व्यक्षर	षण्ड
दुद्दमो	दुर्दम	देवर
दुम्मुहो	दुर्मुख	मर्कट
दुरालोओ	दुरालोक	तिमिरम्
धवलसउणो	धवलशकुन	हस
धारावासो	धारावाश	भेक
धारावासो	धारावर्ष.	मेघ
धुअगाओ	ध्रुवगाय	भ्रमर
धूमगो	धूमाङ्ग	भ्रमर
धूमद्दार	धूमद्वारम्	गवाक्ष
धूमद्धओ	धूमध्वज	तटाक
धूमधयमहिसीओ	धूमध्वजहिष्य	कृत्तिका
धूममहिसी	धूममहिषी	नीहार
धूमसिहा	धूमशिखा	नीहार
पक्कग्गाहो	पक्वग्राह	मकर
पक्कसावओ	पक्वश्वापद	शरभ
पक्को	पक्व	समर्थ
पचंगुली	पञ्चाङ्गुलि	एरण्ड

पंडरंगो	पाण्डुराङ्ग	रुद्र
पयलायभत्तो	प्रचलाक-भक्त	मयूर
पल्लट्टजीहो	पर्यस्तजिह्व	रहस्यभेदी
पवरंग	प्रवराङ्गम्	शिर
पाडलसउणो	पाटलशकुन	हंस
पायप्पहणो	पादप्रहण	कुक्कुट
पिअमाहवी	प्रियमाधवी	कोकिला
पिट्ठंत	पृष्ठान्त	गुद
पिंगंगो	पिङ्गाङ्ग	मर्कट
पुडइअं	पुटकितम्	पिण्डीकृतम्
वप्फाउल	वाष्पाकुलम्	अत्युष्णम्
वहुमुहो	वटुमुख	दुर्जन
वंभहर	ब्रह्मगृहम्	कमलम्
वहुरावा	वहुरावा	शिवा
भयवंगामो	भयवंगामो	मोढेरकम्
भाउज्जा	भ्रातुर्जाया	
भिसिआ	वृसिका	
भुक्खा	वुभुक्षा	
भूअण्णो	भू + यज्ञ	कृष्टे खले यज्ञ
भूमिपिसाओ	भूमिपिशाच.	ताल
माइमोहणी	मतिमोहिनी	सुरा
मउअं	मृदुकम्	दीनम्
मंगलसज्झं	मङ्गलसाध्यम्	वीजवापशेष क्षेत्रम्
मज्जा	मर्यादा	
मज्झिमगंड	मध्यमकाण्डम्	उदरम्
मडवोज्झा	मृत + वाह्या	शिविका
मडो	मृत	
मणिणायहर	मणिनागगृहम्	समुद्र
मणिरइआ	मणिरचिता	कटिसूत्रम्
मधाओ	मान्वाता	आढ्य
मयणिवासो	मदनिवास	कन्दर्प
महंगो	महाङ्ग	उष्ट्र
मसिण	मसृणम्	रम्यम्
महानडो	महानट	रुद्र

महाविल	महाविलम्	व्योम
महालवक्खो	महालयपक्ष	भाद्रपदे श्रद्धपक्ष
महावल्ली	महावल्ली	नलिनी
महासउणो	महाशकुन	उलूक
महासद्दा	महाशब्दा	शिवा
महुमुहो	मधुमुख	पिशुन
माउआ	मातृका	दुर्गा
मारिलग्गा	मारीलग्ना	कुत्सिता
माह	माघम्	कुन्दकुसुमम्
मुहरोमराई	मुखरोमराजि	भ्रू
मुहल	मुख + 'ल'	मुखम्
मूअलो	मूक + 'ल'	मूक
मेरा	मर्यादा	
मेहच्छीर	मेघक्षीरम्	जलम्
रइलक्ख	रतिलक्ष्यम्	जघनम्
रच्छामओ	रथ्यामृग	श्वा
रत्तच्छो	रक्ताक्ष	हस
रत्तय	रक्तक	बन्धूकम्
रयणिद्धय	रजनीध्वज	कुमुदम्
रसाओ	रसाद	भ्रमर
रसाल	रसाल	मार्जिता
रिच्छीभल्लो	ऋक्ष + भद्र	ऋक्ष
रिट्ठो	अरिष्ट	काक
रेवईओ	रेवत	मातर
रोमलयासय	रोमलताशयम्	उदरम्
लासयविहओ	लासकविहग	मयूर
वइरोअणो	वैरोचन	बुद्ध
वंको	पङ्क	कलङ्कम्
वग्गच्छा	वक्राक्षा	प्रमथा
वच्छ	पक्ष	पार्श्वम्
वणसवाई	वनश्वपाकी	कलहकण्डी
वत्थउडो	वस्त्रकुट	वस्त्राश्रय
वायण	उपायनम्	भोज्योपायनम्
वायाडो	वाचाट	शुक

वालवासो	वालपाश	शिरआभरणम्
वासंदी	वासन्ती	कुन्द
वासवालो	वासपाल	श्वा
वाहगणओ	विवाहगणक	मन्त्री
विलुत्तहिअओ	विलुप्तहृदय	य काले कार्यं कर्तुं न जानाति
विसमय	विषमयम्	भल्लातकम्
विसारओ	विशारद	धृष्ट
विहुडुओ	विधुन्तुद	राहु
वेआलो	वेताल	अन्धकार
वेणुणासो	वेणुनाश	भ्रमर
सअरवसहो	खेरवृषभ	धर्मार्थिल्मवनोवृषभ
सआलासओ	सदालक्षक	मयूर
सअसिलिपो	त्सनीशिशु	स्कन्द
सत्तावीसजोअणो	सप्तविंशतिद्योतन	इन्दु
सद्दाल	शब्द + 'आल'	नूपुरम्
समुद्दणवणीअ	समुद्रनवनीतम्	अमृतम्, चन्द्र
सिंगिणी	शृङ्गिणी	गौ
सिसिर	शिशिरम्	दधि
सिहंडइल्लो	शिखण्ड | 'इल्ल'	बाल, मयूर
सिहरिणी	शिखरिणी	मार्जिता
सिहरिल्ला	शिखर | 'इल्ला'	मार्जिता
सिहिण	शिखिन्	स्तन
सिही	शिखी	कुक्कुट
सीरोवहासिआ	शिरउपहासिका	लज्जा
सीहणही	सिंहनखी	करमन्दिका
सुरजेट्ठो	सुरज्येष्ठ	वरुण
सुहसाणी	सुखस्वापा	मयूरी
सूरद्धओ	सूर्यध्वज	दिन
सोल्हावत्तओ	षोडशावर्तक	शङ्ख
हरिचंदण	हरिचन्दनम्	कुङ्कुमम्
हरी	हरित्	शुक
हिरगो	हय	कल्यम्

Allied to the above, and more or less distinguishable from it is another growth of words, whose Sanskritic origin is not so obvious, but which can be made out with some effort Note for example the following words

उलुहलिआ	उदूखलिक words	तृप्तिरहित
अअ	ततम्	विस्तारितम्
अअखो	अकाक्ष	नि स्नेह
अइगय	Vedic अपिगतम्	प्रविष्टम्
अइरो	अतिराजा	आयुक्त
अहणिअ	Vedic अतिनीनम्	आनीतम्
ईसओ	ऋष्यक	मृगविशेष
निउक्कणो	नि+बुक्क् । अन	वायस

So also वुक्कणो=काक ,उव्वुक्क—प्रलपितम्, बुक्कासारो=भीरु वोकिल्लो = अलीकशूर contain बुक्क 'to boast' 'to babble'

दवहुअ	=दवाभिमुखम्	ग्रीष्ममुखम्
दुग्घुट्टो	। घुट्ट = पिष्	हस्ती
देहणी	from दिह 'smear'	पङ्क
आसिअओ	=आअसिओ=आयसिक	लोहमय
ओहसो ओहरिसो	अवघर्ष	चन्दनघर्षण शिला
झत्थ	ध्वस्तम्	नष्टम्
पाडवण	=पावडण	पादपतनम्
पव्वज्जो	पर्वज	नख
वउहारी	=बहुआरी=बहुकारी	सम्मार्जनी
भसुआ	from भष् + उका	शिवा
भुक्कणो	from भुक्क	श्वा
माभीसिअ	from मा भैषी	अभय प्रदानम्
मग्गणिरो	मार्ग+अनु+इ+इर	अनुगमनशील
खओ	खव from रु to roar	मन्थान
रोअणिआ	रोदनिका	डाकिनी
वऊ	Vedic वपु	लवण्यम्
वम्मीसरो	मर्मेश्वरे	काम
वलयगी	वलयाङ्गी	वृतिमती

सिद्युओ	(from सिह + उक)	राहु
सिण्ता	(from स्नुह)	हिमम्

Past passive participles like खण्ण (खात), खद्द (खादित), रिद्द (रद्द) etc are to be explained as analogical formations

A very large number of words from those recorded by Hemacandra have been inherited by the New Indo-Aryan languages. They are very valuable for the History of non-Aryan element of the NIA vocabulary and convessely, some uncertainties about the proper form and meaning of the Desya words can be cleared with the help of the corresponding NIA words सिटा and not सिढा is the correct form (DN 8 29. सिढा = नासिकानाद) as shown by Gujarati सीटी etc, पडद is the correct form and not पडु (DN 6, 66 पडुो = ज्ञातरस) in view of Gujarati पेद्यो पड्डुआ (6, 8 = चरणाघात) Should be पट्टुआ as shown by Gujarati पाटु Besides this lexical importance, the Desya materials of the Desinamamala prove to be a valuable source for data on Middle Indo Aryan word-formation in view of several suffixes like °ल, °ल्ल °ड, °उअ, °आल, °इअ, °इर, °इल्ल, °क्क etc

From quite a different angle the Desinamamala proves further its great importance for us Numerous items are useful for sheding light on the cultural condition prevalent in the later part of the first millenium Names of several popular festivals, customs and games are recorded by Hemacandra We may draw attention to the explanations of words like अइराणी, अभिण्णपुडो, आइप्पण, आणदवडो, उड्डिआहरण, कत्ता, गदीणी, छिछटरमण, णवलया, पैंवरिअ पोअलओ, महालवक्खो, फग्गु, वोरल्ली, सडखसहो, सुगिम्हओ etc We have here very rich materials for studying religious, sociological and economic aspects of the society of those times

Trivikrama's Prakrit grammar almost wholly depends upon Hemacandra for its section on the Desya words, and it is quite obvious that Hemcandra standing at the dawn of New Indo-

Aryan also symbolized the end of fresh lexicographical activity in Prakrit

Before we close this brief account it is necessary to point out a third source of information about the Deśya expressions, for which all the credit goes to the Jain writers Since the period of the Cūrnis Jain writers practised a style of writing in which Prakrit was liberally interspersed with Sanskrit From about the eighth century another style becomes current in which the Sanskrit is characterized by an under current of Prakrit that becomes in course of time more and more pronounced and vigorous The narratives found in the Bhāsya, Carīta, Dharmakathā, Kāvya and Prabandha literature of the Jainas are composed in a peculiar kind of Sanskrit, called Jain Sanskrit, which contains numerous Prakrit (and later on, New Indo-Aryan) words, expressions and idioms in a Sanskritic garb *Upamitibhavaprapañcakatha* of Siddharṣi, the canonical commentaries of Abhayadeva and others, Hemcandra's *Trisastiśalākāpuruṣacarita*, Hariṣena's *Bṛhatkathākosa* and the Prabandha's Merutunga, Rājaśekhara and others are the typical examples

Some of these texts have been already studied from this point of view,[8] but the literature being vast much remains still to be done

It is hoped that even this sketching account would not fail to impress upon the readers the great value of Jain writings for the study of the Desya words and hence for the history of middle and New Indo-Aryan This field of study has unfortunately attracted very few scholars So long as this area is not fully explored, we cannot hope to fill large gaps in the history of Indo-Aryan.

Notes

1. For two small efforts by way of making a beginning in this direction, see the following two articles of mine

2 तीन अर्धमागधी शब्दो की कथा (मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ),
त्रण देश्य आगमिक शब्दो (मोहनलालजी स्मारक-ग्रन्थ)
तो उच्चेऊण गाहाओ पालित्तएण रइआओ।
देसी-पयाइ मोत्तु सखित्तयरी कया एसा ॥
(सखित्त-तरगवई-कहा, ८)

3 See the word index to the three volumes of Svayambhū. deva's *Paumacariya* edited by H C Bhayani, 1953, 1960

4 See R. N Shriyan, A critical study of the Deśya and rare words from Puspadanta's Mahāpurāna, and other Apabhraṁśa works, 1969 The *Paumasiri Cariya* of Dhāhila (ed by M C Modi and H C Bhayani,) has Deśya words The number for the Vilāsavaikahā of Sādhārana (ed Shah to be shortly published) is about one hundred and fifty.
The word index given in other Apabhraṁśa works take the *Karakanda Cariya*, the Jambūsami Cariya of Vīra etc. also Deśya words

5 See the word index (prepared by R N Shriyan) to Śāntīsūri's *Puhaicamdacariya* edited by Muni Ramnikvijaya, 1972 In the Index of Deśya word given in the third Appendix to Śīlānka's *Caupannamahapusisacariya* (ed by A M. Bhojaka, 1961), composed in 869 A D same five hundred items are listed Similarly from the Ākhyanakamanikośa-vrtti of Āmradeva (ed by Muni Punyavijaya, 1962), composed in 1134 A D about four hundred Deśya words are noted in the third Appendix to that work Actually both those works contain many more Deśya words

6 See H C Bhayani, Studies in Hemcandra's Deśīnāmamālā, 1966

7. See H C Bhayani, 'Origins of multiple meanings of Deśya words', Vidya, 9 1967, pp 30-37